एक

महान् नैतिक चुनौती

सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुइ फ़िशर की
THE GREAT CHALLENGE का हिंदी अनुवाद

प्रधान विक्रेता
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली।

सूची

भाग—१
व्यक्ति, राजनीति और युद्ध

एक महान् नैतिक चुनौती

: १ :

डन्कर्क के बाद

युद्ध लहू से रँगी हुई राजनीति है। इसके आरम्भ होने से पहले धारीदार पाजामा पहने हुए कूटनीतिज्ञ एक-दूसरे से शब्दों की लड़ाई लड़ते हैं और जब उन्हें सफलता नहीं मिलती तो वरदी पहने हुए सिपाही बम सम्हाल लेते हैं। दूसरा महासमर युद्ध से पहले की ही राजनीति का फल था।

युद्ध ने एक बात जो निश्चित कर दी, वह यह कि जर्मनी, इटली और जापान का इस भूमंडल पर राज नहीं होगा। फिर भी कई दूसरी समस्याएँ ज्यों-की-त्यों रह गईं और वे अब या तो राजनीति द्वारा हल की जायँगी या उन पर सैनिक दृष्टिकोण से विचार किया जायगा।

शस्त्रीकरण की बढ़ती हुई भयंकरता शांति की कोई गारंटी नहीं है। दूसरा महासमर पहले से ज्यादा लम्बा था और उसमें धन और जन की भी अधिक आहुति चढ़ी। तीसरा महासमर इससे भी बढ़कर होगा। हरेक युद्ध अपने से पहलेवाले युद्ध से ज़्यादा मँहगा रहा है, लेकिन इस बात के अच्छी तरह मालूम होने पर भी युद्ध कभी रुका नहीं। उसकी बढ़ती हुई भीषणता के कारण कुछ देशों को लड़ने से बस हिचक भर होती है, जो कि आक्रमणकारी देश के लिए बड़े लाभ की बात है।

साधारण लोगों को युद्ध से इतना अधिक भय लगता है कि जनतंत्री सरकारें शांति की आशा दिलानेवाले हर तिनके का सहारा लेने को खुशी के साथ तैयार हो जाती हैं। तुष्टीकरण का यह एक महत्वपूर्ण साधन है।

सन् १९३१ और १९४० के बीच सभी बड़े तानाशाहों ने किसी-न-किसी देश पर चढ़ बैठने का अपराध किया। ध्यान रहे कि यह अपराध ताना-

शाहों ने ही किया, किसी जनतंत्री सरकार ने नहीं। आजकल की जनतंत्री सरकारों को अपनी जनता की भावनाओं के साथ चलना पड़ता है; तानाशाहों पर ऐसा कोई बन्धन नहीं।

युद्ध का रुकना तानाशाहों और जनतंत्री सरकारों के भावी सम्बन्ध पर निर्भर है। तानाशाह अपना काम बड़ी फुर्ती के साथ करते हैं क्योंकि उनके निर्णय में किसी नैतिकता या जनमत का अड़ंगा नहीं रहता। जनतंत्री सरकारें अपना निर्णय देर से करती हैं और जब कई जनतंत्री सरकारें अपनी-अपनी कूटनीति को एक-साथ मिला देती हैं तो या तो वे कोई निर्णय ही नहीं कर पातीं या "कुछ न करने" का निर्णय करती हैं। सन् १९३९ से पहले यह बात अक्सर हुई।

सवाल शक्ति का नहीं है। जिन जनतंत्री सरकारों की शान्ति को सर्वसत्तावादी देशों के हमले से संकट पैदा हुआ था और अन्त में जिनकी शान्ति नष्ट हो गई थी उनमें चीन पर जापान के, हब्श, अल्बेनिया और स्पेन पर इटली के और आस्ट्रिया और चेकोस्लोवेकिया पर नाज़ियों के आक्रमण को रोकने की काफ़ी से ज़्यादा ताक़त थी। अकेले फ़्रांस में इतना बल था कि वह मार्च १९३६ में हिटलर को राइनलैंड का पुन: शस्त्रीकरण करने से रोक देता।

महान् चुनौती

मूर्खतावश तानाशाह यह समझ न सके कि आक्रमण करने और पैर फैलाने से उनकी अपनी ही जड़ कट जायगी। उधर जनतंत्री सरकारों ने अपनी समस्याओं का सामना कर सकने में बड़ी अक्षमता दिखाई। उनके कुछ कूटनीतिज्ञों को ख़तरा नहीं दिखाई दिया, किन्तु कुछ को—मसलन, प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट को—दिखाई दिया। सन् १९३६ के आरम्भ में ही उन्होंने आनेवाले युद्ध की ओर सार्वजनिक रूप से संकेत किया।

पार्लमेंट या मतदाताओं की सशस्त्र संघर्ष की ओर बढ़ने की अनिच्छा के कारण बहुधा कूटनीतिज्ञ चुप बैठ जाते थे। सच पूछिये तो अधिकांश मामलों में सैनिक कार्रवाई की आवश्यकता ही नहीं थी। राजनीतिक या आर्थिक कार्रवाई से ही काम चल सकता था, और इस दिशा में सरकारी दफ़्तरों को आज़ादी भी ख़ूब थी। उन्होंने भूलें इसलिए कीं कि तब—और अब भी—कूटनीतिज्ञता में बड़ा मोलभाव करना पड़ता है; बहुत कुछ लेना और बहुत कुछ देना पड़ता है, जिसका नतीजा यह होता है कि छोटे-छोटे और अल्पकालीन राष्ट्रीय स्वार्थों पर इतना अधिक ध्यान केन्द्रित हो जाता है कि

दूर तक असर रखनेवाला अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य, अर्थात् शान्ति, दृष्टि से ओझल हो जाता है। इसके अलावा, जब कभी किसी संकट के बादल फट जाते हैं तो कूटनीतिज्ञ और बहुत-से साधारण लोग भी हर्ष मनाने लगते हैं। समस्या हल हुई या नहीं, इसकी उन्हें इतनी चिन्ता नहीं होती जितनी इस बात की, कि चलो इस समय तो तनातनी कम हुई। एक दिन एकाएक ये ही उलझी हुई समस्याएं आकर खड़ी हो जाती हैं।

पहले और दूसरे महासमर के बीच जो समय बीता उसमें धुरी राष्ट्र-समूह से बाहर के किसी भी देश ने लगकर या विशेष रूप से युद्ध रोकने की चेष्टा नहीं की। उलटे राजनीतिज्ञों ने कहा—"हिटलर युद्ध के लिए उतारू है, इस समय हमें उसकी बातें मान लेनी चाहिएँ; बाद में जब वह जड़ जमाकर बैठ जायगा तो रूस-विरोधी शक्ति के रूप में उसकी मित्रता हमारे लिए बहुमूल्य सिद्ध होगी।" उन्होंने यह भी कहा—"इटली का हब्श पर हमला करना एक जुर्म है, फिर भी यदि हम मुसोलिनी को अधिक न भींचें तो सम्भव है कि वह हिटलर के विरुद्ध हमारा साथ दे।" इसके अलावा भी उन्होंने कहा—"यदि स्पेन वामपक्षी रहा तो उससे सब जगह वामपक्ष को ही प्रोत्साहन मिलेगा। फ़्रैन्को मुसोलिनी या हिटलर का पिट्ठू है तो होने दो, हम उसे रुपये उधार देकर, उसके साथ दया दिखाकर और उसके मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति बरतकर उसे ख़रीद सकते हैं।" इस तरह की बातों से तात्कालिक लाभ तो अवश्य हुआ किन्तु ये सिद्धान्त की बातें नहीं थीं।

इस प्रकार लल्लो-चप्पो करने से हिटलर, हिरोहितो और मुसोलिनी को बिना रक्त बहाये ही विजयी बनने में सहायता मिली, जिसके फलस्वरूप युद्ध अधिक दिनों तक चला और उसमें ख़ून की नदियाँ भी ख़ूब बहीं। राजनीति केवल युद्ध की सृष्टि ही नहीं कर सकती बल्कि उसे दीर्घकालीन भी बना सकती है। साथ ही साथ वह विजय को निरर्थक भी कर सकती है।

युद्ध से पहले जो राजनीतिक हिचकिचाहट थी वह उसके आरम्भ होजाने पर भी चलती रही। तुष्टीकरण की नीति संक्रामक सिद्ध हुई। जहाँ एक सरकार ने उसे छोड़ा वहीं दूसरी ने अपना लिया। फ़्रांस और ब्रिटेन को छोड़कर धुरी-राष्ट्र-समूह के बाहर ऐसा कोई दूसरा देश नहीं था जिसने अपने पर आक्रमण होने से पहले युद्ध की घोषणा की हो। फ़्रांस ने ३ सितम्बर, १९३९ को ५ बजे सन्ध्या समय युद्ध घोषित किया; वह भी इसलिए कि उसी दिन सवेरे ११ बजे इंग्लैण्ड ऐसा कर चुका था। सदा की तरह फ़्रांस को अकेले रहने से डर लगता था। ग्रेट ब्रिटेन ही एक ऐसा देश था जहाँ जनता में इस

बात की राष्ट्रीय भावना देर से किन्तु पर्याप्त मात्रा में पैदा हो चुकी थी कि ब्रिटिश भूमि और जनता पर नाज़ी हथौड़े के गिरने से पहले ही नेविल चैम्बर-लेन की सरकार को, जो फ़ाशिज़्म की कट्टर विरोधी नहीं मालूम पड़ती थी, युद्ध में शामिल होने के लिए विवश किया जाय। इतने पर भी, युद्ध घोषित करने के बाद इंग्लैण्ड और फ़्रांस दोनों ही प्रतीक्षा करते रहे। महीनों तक ब्रिटेन की हवाई-सेना ने बमों के होते हुए भी केवल काग़ज़ के पर्चे ही गिराये। २ फ़रवरी, १९४० को 'न्यूयार्क टाइम्स' में युद्ध का जो समाचार छपा उसे दूसरे पृष्ठ के दूसरे कॉलम में सबसे नीचे केवल छः इंच का स्थान मिला और उसका शीर्षक यह था—"पच्छमी मोर्चे पर सर-गरमी बढ़ी।" तीन दिन बाद फिर उसी पत्र में उसी दूसरे पृष्ठ पर यह सूचना छपी—"एक हल्की-सी भिड़न्त में फ़्रांसीसियों को विजय मिली।" १० फ़रवरी को एक दूसरे समाचार का शीर्षक यह था—"इंग्लैण्ड के सब से भयंकर हवाई-युद्ध में अंग्रेज़ों ने जर्मनी के तीन हवाई जहाज गिरा दिये और बीस को तहस-नहस कर डाला।" अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ३१ जनवरी, १९४० को नेविल चैम्बरलेन ने पार्लमेंट में इस बात की शिकायत की, कि यदि कोई व्यक्ति केवल ब्रिटिश लोक-सभा (हाउस आफ कामन्स) की बहसें और समाचारपत्रों में छपी हुई कुछ अधिक सनसनीपूर्ण ख़बरें ही पढ़े तो वह समझेगा कि ब्रिटेन की सरकार लड़ाई जीतने के लिए बहुत ही कम प्रयत्न कर रही है।

यह एक झूठमूठ की लड़ाई थी। नाज़ियों और बोलशेविकों ने पोलैंड को रौंद डाला था। उसके बाद जर्मनी की लड़ाई कुछ समय के लिए स्थगित रही और फिर हिटलर स्कैंडिनेविया और पश्चिमी यूरोप की ओर बढ़ा।

सच पूछिये तो उस समय असली युद्ध केवल यूरोप के उत्तरी बर्फ़ीले भाग में रूस और फ़िनलैण्ड के बीच हो रहा था। ३० नवम्बर, १९३९ को फ़िनलैण्ड पर रूस का आक्रमण और उसी दिन रात्रि के समय रूसी विमानों द्वारा हेलसिंकी पर बम-वर्षा— ये दो ऐसी घटनाएँ थीं, जिनसे सारे संसार में सोवियत् रूस के विरुद्ध एक लहर-सी दौड़ गई। प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने रूस के साथ व्यापार पर नैतिक प्रतिबन्ध लगा दिया। राष्ट्र-संघ (लीग ऑव नेशन्स) ने रूस को सदस्यता से हटा दिया। उसी संस्था ने जिसने चीन, स्पेन, आस्ट्रिया और चेकोस्लोवेकिया पर फ़ाशिस्टों द्वारा आक्रमण होनेके समय अपनी आँखें बन्द कर रखी थीं रूस के विरुद्ध दृढ़प्रतिज्ञ रहकर काम किया। न्यूयार्क में बिशप मैनिंग ने फ़िनलैण्ड को सहायता देने की अपील की। लथेरियन गिरजा ने फ़रवरी, १९४० में ५ लाख डालर एकत्र करने का कार्य आरम्भ किया।

हरबर्ट हूवर ने, जो स्पेन पर फ़ाशिस्ट आक्रमण के समय चुप थे, फ़िनों को पूर्ण सहायता देने का प्रस्ताव किया।

फ़िनों ने युद्ध करते हुए अपने शक्तिशाली पड़ोसी को कई बार पीछे हटाया और रूस के अनगिनत नौजवानों का काम तमाम कर दिया। १ फरवरी, १९४० को फ़िनलैण्ड के प्रेज़िडेन्ट क्योस्टी कैलियो ने रूसियों के बर्बरतापूर्ण और अर्थहीन आक्रमण का अन्त करने के लिए "सम्माननीय संधि" की याचना की। किन्तु इसका उत्तर देते हुए मास्को के पत्र 'प्रवदा' ने लिखा—"फ़िनलैण्ड के लुटेरों का नाश कर दिया जायगा; हम अपने महान् नेता स्टालिन की अधीनता में काम करते हुए उन पर विजय प्राप्त करेंगे।" स्टालिन के सम्बन्ध में 'प्रवदा' ने लिखा—"इनका हृदय विद्वान्-जैसा है और चेहरा मज़दूर-जैसा; देखने में यह सिपाही मालूम पड़ते हैं।" किन्तु 'न्यूयार्क टाइम्स' ने स्टालिन को "पूर्व देश का एक निर्दय तानाशाह" कहकर पुकारा। "स्टालिन बदला लेनेवाला एक क्रूर व्यक्ति है।" वाल्टर लिपमैन ने लिखा और फ़िनों को सहायता देने की अपील की। १ दिसम्बर, १९३९ को जोसेफ़ बार्न्स ने 'न्यूयार्क हैरल्ड ट्रिब्यून' में, जिसके कि वह मास्को में प्रतिनिधि रह चुके थे, लिखा—"फिनलैण्ड एक पुरानी राष्ट्रीय परम्परावाला जनतंत्री देश है, वह उस अर्थ में भी फ़ाशिस्ट नहीं जिस अर्थ में रूसवाले फ़ाशिस्ट शब्द का खींच-तानकर प्रयोग करते हैं।"

फ़रवरी, १९४० में जब ब्रिटेन में जनता का मत लिया गया तो ७४ प्रतिशत व्यक्तियों ने फ़िनलैण्ड को शस्त्र देने और ३३ फ़ीसदी लोगों ने वहाँ सेना भेजने के पक्ष में राय दी।

बहुत-से विद्वानों ने कम्युनिस्ट दल से इस्तीफा दे दिया, क्योंकि रूस आक्रमणकारी बन गया था। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन डेलीगेशन के नेता सर वाल्टर सिटरीन ने दस दिन तक फ़िनलैण्ड के शहरों और युद्ध के मोर्चे की देखभाल करने के बाद हेलिसकी पहुँचकर कहा कि फ़िनलैण्ड को सामान और शायद योद्धाओं—दोनों की विस्तृत सहायता देने की आवश्यकता है।

सन् १९३६ में सिटरीन ने एक पुस्तक लिखी थी जिसमें उन्होंने रूसी शासन और घरेलू कार्य-पद्धति की बड़ी कड़ी आलोचना की थी। अब उन्होंने फ़िनलैण्ड के कारण रूस का विरोध किया। बाद में जब हिटलर के आक्रमण के पश्चात् रूस भी युद्ध-क्षेत्र में उतर आया तो वह रूस के पक्षपाती बन गए। राजनीति में समय की आवश्यकता और देशभक्ति सिद्धान्त से अधिक शक्तिशाली होती है। हिटलर के आक्रमणों, अधार्मिक कार्यों और अत्याचारों के

बावजूद भी ब्रिटेन के बहुत-से प्रसिद्ध और साधारण तुष्टिकर्त्ताओं ने ३ सितम्बर, १९३९ तक हिटलर को "काफ़ी ग्राह्य" ही समझा। उसके बाद युद्धकालीन परिस्थिति के कारण उनकी प्रवृत्ति बदल गई और उन्होंने अपने विश्वास नहीं बल्कि सरकार के आदेश के अनुसार कार्य किया।

२७ फ़रवरी, १९४५ को सर विलियम बेवरिज ने, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक सुरक्षा के पक्षपाती थे, ब्रिटिश लोक-सभा में कहा—"विदेशी मामलों में हमें सिद्धान्त का पालन करना चाहिए और यदि मित्रता और सिद्धान्त दोनों का साथ-साथ ध्यान रखना सम्भव न हो तो हमें (मित्रों को छोड़कर) सिद्धान्त की ही चिन्ता करनी चाहिए; क्योंकि सिद्धान्त कभी बदलते नहीं और मित्र कुछ समय के लिए युक्ति-संगत न होने पर भी बाद में बदलकर युक्तिसंगत बन सकते हैं। अवसरवादिता, तुष्टीकरण, स्वार्थपूर्ण नीतियाँ, शक्ति–राजनीति—इन सबसे हमारी आशाओं का हनन होता है।"

फिर भी अधिकतर लोग सिद्धान्त को भूल जाते हैं और यही कारण है कि वे उलझन और प्रचार के शिकार बनते हैं।

विदेश-नीति के मामले में एक साधारण व्यक्ति की तुलना एक ऐसी दुकान से की जा सकती है जहाँ सभी तरह की चीज़ें पड़ी रहती हैं। सन् १९३७ में एक दिन संध्या समय मुझे न्यूयार्क में निर्धनों की बस्ती में रहनेवालों से बातचीत करने का अवसर मिला। वे समझदार लोग थे और अख़बार पढ़ा करते थे। उन्होंने रूसी कमिश्नर मैक्सिम लिटविनाफ़ की सामूहिक सुरक्षा के लिए अपीलें पढ़ीं और वे सामूहिक सुरक्षा के पक्ष में हो गए। उन्होंने प्रधानमन्त्री चैम्बरलेन के वे भाषण पढ़े जिनमें हिटलर आदि के तुष्टीकरण के लिए क्षमा माँगी गई थी और वे इस बात को अच्छी तरह समझ गए कि जो ब्रिटेन लड़ाई के लिए तय्यार नहीं था और केवल शान्ति का आकांक्षी था उसने युद्ध से बचने की चेष्टा क्यों की। उन्होंने हिटलर के भाषण भी पढ़े और अनुभव किया कि उसका यह कहना सत्य है कि जर्मनी में रहने की जगह की तंगी है, जर्मनी को व्यापार के लिए बाज़ार चाहिए और वारसाई में सन्धि करते समय उसके साथ अन्याय हुआ था।

राजनीति की एक बड़ी भारी समस्या यह है कि आजकल के लोग बड़ी आसानी से विदेशी और घरेलू प्रचार के शिकार बन जाते हैं। जनतंत्री देशों में लोग जो बातें दिन-रात सुनते और पढ़ते हैं उनसे उनका अचम्भा बढ़ता ही चला जाता है। तानाशाही देशों में, जहाँ सरकार सभी समाचारों, भाषणों आदि का सेन्सर करती है, जनता धीरे-धीरे पूर्ण रूप से ऐसी बन जाती है कि

उससे जो कुछ कहा जाता है उसे ही वह मान और ग्रहण कर लेती है।

शासनसंस्थाएँ चाहे वे तानाशाही हों चाहे जनतंत्री--युद्ध को जीतने और लोगों को लड़ने में समर्थ बनाने के लिए सब तरह के शस्त्र तैयार करती हैं। कुछ तोपखानों में लोहे और इस्पात के शस्त्रों का निर्माण होता है, तो कुछ में इतिहास को तोड़-मरोड़कर तलवार का रूप दिया जाता है। ऐसा करते समय इतिहास की घटनाएँ विकृत बनाई जाती हैं, यहाँ तक कि अन्त में लोगों के मस्तिष्क तक विकृत हो जाते हैं।

जनता के मस्तिष्क पर सरकार का नियंत्रण संसार के लिए एक बढ़ता हुआ संकट है। तानाशाही राष्ट्रों में इस नियंत्रण की प्राप्ति के लिए बड़ी असभ्यतापूर्ण युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं। वैसे सभी दूसरे देशों में भी सत्य का तोड़ने और उसका गला घोंटने के लिए बड़े उत्साह के साथ चेष्टाएँ की जा रही हैं।

"युद्ध इंग्लैण्ड चाहता था," मार्शल गायरिंग ने २ जनवरी, १९४० को कहा। साथ-ही-साथ उसने यह भी कहा, "जर्मनी के निवासी 'वृहत्तर जर्मनी' की स्वतन्त्रता के लिए एक विकट युद्ध में तल्लीन हैं।" इसके अतिरिक्त, नाज़ी दल के सन् १९४० के कैलेण्डर में यह बात दृढ़तापूर्वक कही गई कि आक्रमण का आरम्भ पोलैण्ड ने किया और यहाँ तक झूठ बोला गया कि "जर्मनी की सीमा पर पोलैण्ड ने अपने अनेक आक्रमणों में जिस बल का प्रयोग किया है उसका बल द्वारा उत्तर देने के लिए जर्मनी विवश हो गया है।"

१ जनवरी, १९४० को हिटलर के निजी दैनिक पत्र "वोयलकिशर बीओबाश्टेर" में नाज़ीवाद के लाभ इस प्रकार गिनाये गये—मज़दूरों को अधिकार, मूल्य-नियंत्रण, माताओं को सहायता, स्वास्थ्य की देखभाल, बच्चों का बीमा, कारख़ानों में खेलकूद, मनोरंजक यात्राओं द्वारा बलवृद्धि, जर्मन मजदूरों के लिए शास्त्रीय संगीत।" उसी पत्र में यह भी लिखा गया--"इन बातों से युद्ध का कारण साफ़-साफ़ समझ में आ जाता है। इंग्लैण्ड और फ़्रांस के पूँजीपतियों को इस बात का भय हो गया कि निकट भविष्य में उनके मज़दूर भी उनसे ऐसी ही माँगें करेंगे। यह बात उनके लिए असह्य थी, इसलिए इसके अंकुर को नष्ट कर देना आवश्यक था।"

हिटलर के पत्र ने सुर छेड़ा और दूसरे नाज़ी पत्र तथा रेडियो-आलोचक उसके ताल पर नाच उठे। २ जनवरी, १९४० के "बीओबाश्टेर" में मोटे-मोटे अक्षरों में यह शीर्षक छपा—"ब्रिटिश संकट से यूरोप की मुक्ति।" ४ जनवरी को उसी पत्र ने 'हमारा साम्यवाद' नाम से एक लेख छापा। तीन दिन

बाद उसने लिखा —"पिछले एक हज़ार वर्ष से फ़्रांस का उद्देश्य जर्मन-एकता को भंग करना रहा है।" ८ जनवरी को छपा—"जर्मनी में बेकारी नहीं है" और ९ जनवरी को प्रथम पृष्ठ पर सब से मोटे अक्षरों में यह शीर्षक दिखाई दिया—"पोलैंण्ड के पाशविक हत्यारों ने जर्मनी के सख़्त घायल हवाबाज़ों को सताया।" उसी दिन यह भी छपा—"इंग्लैण्ड सिद्धान्त-विहीन पूँजीवाद का गढ़ है।"

हिटलर जर्मन जनता का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। जनता केवल उसकी झूठी बातें ही सुन सकी। मजदूरों में उसने समाजवाद का विष बोया और सारे देश में इंग्लैण्ड और फ़्रांस के विरुद्ध घृणा की आग फैलाई। फ़्रांस में उसने ब्रिटेन के विरुद्ध प्रचार किया, ब्रिटेन में फ़्रांस के विरुद्ध और अमेरिका में यूरोपियनों के विरुद्ध। अमेरिकावासियों में उसने युद्ध से अलग रहने का भी प्रचार किया।

बदमाश जितना ही बड़ा होता है उतने ही उत्तरदायित्व से हीन उसके तर्क होते हैं। सदा कोई-न-कोई उसका विश्वास कर ही लेता है।

बहुत-से दक्षिणपक्षी फ़्रांसीसियों ने हिटलर की चेतावनी सुनी। फ़्रांसासी कम्युनिस्टों के कान में मास्को की आवाज आई; रूसियों ने उन्हें बताया कि यह युद्ध साम्राज्यवादियों का युद्ध है।

फ़्रांस को प्रभावान्वित करने और सारे यूरोप में आतंक फैलाने की चाल चलने के बाद नाज़ियों ने अपनी सेना आगे बढ़ाई और नारवे, डेनमार्क, हालैण्ड तथा बेलजियम को मार गिराया। २१ मई, १९४० को नाज़ी सैन्य-दल बड़ी तेज़ी के साथ इंग्लिश चैनेल की ओर बढ़ा; ब्रिटिश आकाश-सेना ने ऐकेन पर भीषण बम-वर्षा की, प्रेज़िडेण्ट रूज़वेल्ट ने कांग्रेस को अमेरिका के रक्षा-प्रबंध को शीघ्र-से-शीघ्र पूर्ण करने का आदेश देते हुए एकता के लिए अपील की और महारानी विल्हेलमिना हालैण्ड से भागकर लंदन पहुँचीं।

१२ मई, १९४० को 'कम्युनिस्ट सन्डे वर्कर' नामक पत्र ने एक लम्बी सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा—"यह युद्ध हमारा नहीं है; यह दो ठगों का युद्ध है—एक ओर ब्रिटेन और फ़्रांस का दल है और दूसरी ओर हिटलर का। हमें इस युद्ध से अलग रहना चाहिए।" २२ मई को न्यूयार्क में टाइम्स स्क्वायर में युद्ध-विरोधी प्रदर्शन किया गया और कम्युनिस्ट दलवाले जो तख़्तियाँ लिये फिर रहे थे उन पर लिखा था—"रूज़वेल्ट, डेवी और हूवर ने युद्ध के लिए एक गुट बना लिया है", "भगवान् हमारे राजा की रक्षा करें", "अमेरिकन नहीं लड़ेंगे" आदि।

दूसरी ओर, सिनेटर जेम्स बर्न्स ने कर्नल चार्ल्स लिंडबर्ग की युद्ध से अलग रहने की पराजयसूचक नीति के विरोध में भाषण दिया। वेन्डेल विल्की ने कहा—"हिटलर केवल बल जानता है। जब हम अपने उद्योगों की मशीनें चला देंगे और एक करोड़ आदमियों को काम पर जुटा देंगे तो उसकी आंखें खुल जायँगी।" फ्लोरिडा के सिनेटर पेप्पर ने इस बात पर ज़ोर दिया कि अमेरिका के हवाई जहाज़ यूरोप के जनतंत्री देशों को बेचे जायँ।

अमेरिका के लोग बहस करते रहे। उधर नाज़ी सैन्य-दलों के चलने से, जर्मन ग़ोताखोर हवाई जहाज़ों के शोर से और टैंकों की खड़खड़ाहट से यूरोप काँप उठा।

और फिर डन्कर्क का युद्ध हुआ। २८ मई को बेलजियम के राजा लियोपोल्ड ने अपने सिपाहियों को हथियार डाल देने का आदेश दिया। इससे ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाएँ भयानक संकट में फँस गईं। "हमें कठोर समाचारों को सुनने के लिए तैयार हो जाना चाहिए," विन्सटन चर्चिल ने पार्लमेण्ट में कहा। गहनतम निराशा के समय वह प्रधान मंत्री बनाये गये थे। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सिपाहियों की एक छोटी-सी टुकड़ी समुद्र की ओर पीठ किये डन्कर्क में साहस के साथ लड़ती रही जिससे कि शेष ३॥ लाख ब्रिटिश सैनिक इंग्लैण्ड लौट जाने की चेष्टा कर सकें। जब कि वे डन्कर्क के तट पर जहाज़ों की प्रतीक्षा कर रहे थे, जर्मन विमानों ने उनपर धुँआधार गोले बरसाये। ब्रिटेन से जहाज़ आये—विध्वंसक यान, छोटी नावें, स्टीमर, केलिपोत, मछली फँसानेवाली बोटें, छोटे-छोटे बच्चों द्वारा रस्सी से खींचकर चलाई जानेवाली नावें—जो भी आ सके, आये। जर्मन-विमानों ने उन पर टूट-टूटकर बम बरसाये। छोटे जहाज़ों पर चढ़ने के लिए सिपाहियों ने गर्दन-गर्दन तक पानी पार किया। घायलों को लोग हाथों और कन्धों पर उठा-उठाकर ले गये। जहाज़ बोझ से झुक गये। फिर वे ब्रिटिश तट की ओर लपके। जर्मन हवाई-सेना ने उनपर फिर आक्रमण किया। केवल एक दिन में, अर्थात् पहली जून को, ६जहाज़ बमों से आहत होकर डूब गये। इनमें से कइयों पर सिपाही खचाखच भरे हुए थे। लोगों ने अपने पास की प्रायः सभी चीज़ें फेंक दी, किंतु उन्होंने अपने सिरों पर से इस्पात के टोप नहीं हटने दिये। समुद्र में विस्फोटक सुरंगों और टारपीडो का जाल बिछा हुआ था। अस्पताली जहाज़ों तक पर आकाश से बम गिराये जा रहे थे। जो सैनिक घावों पर फटी और गंदी पट्टियाँ बाँधे बुरी दशा में तट पर पहुँचते थे, उन्हें लोग हर्ष और दुःख के मिश्रित आँसू बहाते हुए हाथों-हाथ ले जाते थे। इंग्लैण्ड में खुशी मनाई गई। अमेरिका में भी ऐसा ही हुआ। जहाज़ कई बार

आये और कई बार गये और हर उस जहाज़ को देखकर जो सिपाहियों को लोग लिये कुशलतापूर्वक इंग्लैण्ड पहुँचता था, हर्ष से पागल हो उठते थे। ब्रिटेन ने इस प्रकार बचाये गये अपने सिपाहियों की संख्या गिनी। वही उसकी एकमात्र सेना थी, एक निःशस्त्र सेना—हिटलर के आक्रमण से देश को बचाने की एक मात्र व्यवस्था।

४ जून को चर्चिल ने उत्साह और कृतज्ञता से भरी लोक-सभा में घोषणा की—"एक हज़ार जहाज़ ३ लाख २५ हज़ार सैनिकों को मौत के पंजे से छुड़ाकर अपने वतन वापस ले आये हैं।" १ लाख १० हज़ार फ़्रांसीसी सैनिक भी बचाकर लाये गये थे। फिर भी चर्चिल ने लोगों को सावधान किया—"यह एक सफलता है, विजय नहीं।" वह जानते थे कि आगे क्या होने वाला है, उन्हें पता था कि ब्रिटेन को जीवित रखने के लिए अभी लड़ाई लड़नी बाक़ी है।

इंग्लैण्ड अकेला था, किंतु ४ जून को चर्चिल ने सारे संसार को विश्वास दिलाते हुए लोक-सभा में कहा—"हम न विचलित होंगे, न पैर पीछे हटायँगे; बल्कि अन्त तक दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते रहेंगे। हम फ़्रांस में लड़ेंगे, सागरों और महासागरों में लड़ेंगे और बढ़ते हुए विश्वास तथा बल के साथ आकाश में भी मोर्चा लेंगे। चाहे कुछ भी हो, हम अपने द्वीप की रक्षा अवश्य करेंगे और कभी घुटने नहीं टेकेंगे। यदि कभी इस द्वीप को या इसके किसी बड़े भाग को दासता और भूख का सामना करना भी पड़ा, जिसकी कि मुझे लेशमात्र भी आशंका नहीं है, तो सात समुद्र-पार हमारा साम्राज्य हमारी जल-सेना की सहायता से उस समय तक संग्राम करता रहेगा जब तक कि नया संसार अपने पूर्ण बल और पौरुष के साथ पुराने संसार की रक्षा और मुक्ति के लिए निकल नहीं पड़ेगा।"

चर्चिल अपने स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति से ही आशावादी थे। उन्हें इस बात का विश्वास था कि किसी-न-किसी दिन अमेरिका युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश अवश्य करेगा।

डन्कर्क के पलायन के समय ब्रिटेन की शक्ति अपने न्यूनतम स्तर पर थी, किंतु उस घटना ने राष्ट्रीय पौरुष और आत्मबल के गुप्त स्रोतों को खोलकर विजय का सूत्रपात किया। उसके पश्चात् कई सप्ताह तक ब्रिटिश नर-नारियों ने अपनी-अपनी मशीनों के पास बैठकर इतनी कड़ी मेहनत की कि अंत में वे थककर चूर हो गये। मशीनों पर काम करते-ही-करते उन्होंने भोजन किया, दिन भर काम पर जुटे रहने के पश्चात् रात को वे अपनी बेंचों के पास ही फ़र्श पर सो रहे और फिर तड़के उठते ही बम और बन्दूक बनाने में लग गये।

प्राण-रक्षा के लिए मनुष्य बहुधा अतिरिक्त श्रम करने को तैयार हो जाता है। यहाँ तो राष्ट्र-का-राष्ट्र जीवित रहने के संकल्प से प्रेरित हो इतना श्रम करने में जुटा हुआ था, जितना साधारणत: मानवी क्षमता से परे है।

इंग्लैण्ड की रक्षा का श्रेय इंग्लिश चैनेल, चर्चिल और ब्रिटिश हवाई-सेना को है। चर्चिल के भाषणों ने जनता में कार्य करने की प्रेरणा भरी। चूँकि आजकल की शासन-संस्थाएँ पहले की शासन-संस्थाओं से अधिक शक्तिशाली होती हैं, इसलिए उनमें उन महान् पुरुषों की तूती बोलती है जिनके हाथों में अत्यधिक अधिकार होता है और जिनका जनता पर अद्भुत प्रभाव भी होता है। तानाशाही देशों में उन महान् पुरुषों का प्रभाव उनके अधिकार के कारण पड़ता है, किंतु जनतन्त्री राष्ट्रों में उन्हें अपने प्रभाव के कारण अधिकार प्राप्त होता है और वे उस अधिकार का प्रयोग अपने प्रभाव की वृद्धि में करते हैं। चर्चिल ने ब्रिटिश जनता को अपने उच्चतम स्तर तक पहुँचने में सहायता दी।

छोटे-छोटे लोगों ने निराशा प्रकट की। कर्नल चार्ल्स लिंडबर्ग ने तो समझ लिया कि इंग्लैण्ड हाथ से निकल गया और उन्होंने इस पर शोक भी प्रकट नहीं किया। वीर मार्शल पेताँ को, जिनकी आत्मा भयातुर हो गई थी, फ़्रांस या इंग्लैण्ड पर बिलकुल भरोसा नहीं था। फिर भी चर्चिल, रूज़वेल्ट और चार्ल्स डी गाल को इन पर विश्वास था और उनके साथ बलशाली हृदयवाले छोटे-छोटे लाखों व्यक्ति थे।

डन्कर्क के चार साल बाद, ६ जून, १९४४ को ब्रिटिश सेना अमेरिकन सेना के साथ फ़्रांस में फिर उतरी और इस घटना के एक वर्ष पश्चात् ही यूरोप में विजय-दिवस मनाया गया। ये पाँच वर्ष करोड़ों नर-नारियों और बच्चों के लिए रक्त-पात, भूख, ठंढ और चिन्ता से भरे हुए वर्ष थे। मनुष्य भी कैसा अद्भुत आविष्कार है! निस्संदेह वह उत्तमतर सौभाग्य का अधिकारी है।

मनुष्य कम-से-कम युद्ध-विहीन संसार का अधिकारी अवश्य है। मैं युद्ध की भयंकरता को देख चुका था, इसीलिए प्रतिदिन प्रकाशित होनेवाली युद्ध-विज्ञप्तियों को पढ़ते ही मेरी आँखों के सामने गोलियों से क्षत-विक्षत शरीरों या जले हुए टैंकों और विमानों में झुलसे हुए मनुष्यों के चित्र खिंच जाते थे। जब विज्ञप्ति में लिखा होता "दो हवाई जहाज़ वापस नहीं आ सके" तो मेरे नेत्रों के सामने नाच उठता १२ नवयुवकों की मृत्यु का दृश्य और उनके साथ-साथ १२ माता-पिताओं, १२ परिवारों और अनेक मित्रों का चित्र जो उस विज्ञप्ति को सदा याद रखेंगे और जब कभी उन्हें उसकी याद आयगी तभी उनका हृदय शीतल और शिथिल हो बैठने-सा लगेगा। यदि युद्ध वस्तुतः इस योग्य है कि हम

उसके लिए इतनी यातनाओं, इतने कष्टों और इतनी मृत्युओं का भोग भोगें तो निस्संदेह उसका अंत महान् और कल्याणकारी होना चाहिए।

यदि दूसरा महासमर वस्तुतः किसी उद्देश्य से लड़ा गया था तो उसे एक संसारव्यापी गृह-युद्ध का रूप लेना चाहिए था, वह दासता के विरुद्ध और एक ऐसे अखंड भूमण्डल की स्थापना के लिए लड़ा जाना चाहिए था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समान स्वतन्त्रता और न्याय प्राप्त होता। किसी एक देश की भूमि, तेल या व्यापार को छीनकर दूसरे देश को देने के लिए युद्ध करना एक महान् और मूर्खतापूर्ण अपराध है।

: २ :

अमेरिका भी युद्ध के चंगुल में

विन्सटन चर्चिल का कोई भी वक्तव्य इतिहासकारों को उतना महत्त्व-पूर्ण नहीं मालूम होगा, जितना कि उनका फ़्रांस और इंग्लैण्ड की शासन-सत्ताओं को एक में मिला देने का १६ जून, १९४० का प्रस्ताव। उस समय फ़्रांस का पतन होने ही वाला था। चर्चिल फ़्रांस और अपने देश, दोनों की रक्षा करना चाहते थे। उन्होंने प्रस्ताव किया कि ब्रिटेन और फ़्रांस इस बात की घोषणा कर दें कि "हमारी सरकारें अलग-अलग न रह कर एक संघ का रूप ले लेंगी और फ्रांस के प्रत्येक निवासी को ब्रिटेन की तथा ब्रिटेन के प्रत्येक निवासी को फ़्रांस की नागरिकता तत्काल प्राप्त हो जायगी।"

चर्चिल कट्टर राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी थे; फिर भी जीवित रहने की आकांक्षा ने उन्हें संकट के समय विभिन्न राष्ट्रीय सत्ताओं के एकीकरण और अन्तर्राष्ट्रीयता का पक्षपाती बना दिया। उन्होंने यह समझ लिया कि अपने अस्तित्व की रक्षा सबसे अच्छी उस समय हो सकती है जब सार्वभौम सत्ताएँ पृथक्-पृथक् न हों।

वर्षों बाद, यूरोप की विजय से कुछ दिन पहले, जब चर्चिल से पूछा गया कि क्या आप अब भी फ़्रांस को ब्रिटेन में मिलाने को तैयार हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया—"नहीं!" पराजय को रोकने के लिए अंतिम प्रयत्न करते समय वह जिस कार्य के लिए तैयार होगए थे उसीसे वह विजय का आश्वासन मिलते ही मुकर गये। सन् १९४० में सर्वनाश से बचने की व्यावहारिक आवश्यकता का अनुभव करने के कारण वह आदर्शवादी बन गये थे, किंतु सन् १९४४ तक यह आदर्शवाद कपूर की तरह उड़ गया। जब तक स्थिति गम्भीर रही तब तक चर्चिल अच्छे बने रहे।

युद्ध की असुन्दरता पहले हममें सुन्दर शांति की एक आदर्शवादी आशा जाग्रत कर देती है और फिर बाद में ऐसा विष उत्पन्न करती है जो उस आदर्श-

वाद को ले बैठता है। दुःख के द्वारा उन्नति की आशा करना एक मृग-मरीचिका है। यदि दुःखभोग से मनुष्य बुद्धिमान बन सके तो इस संसार में इतनी बुद्धिमत्ता व्याप जायगी कि दुःख हो ही नहीं पायगा।

फ़्रांस को बचाना चर्चिल के बस की बात नहीं थी। यदि जून, १९४० में ब्रिटेन या अमेरिका के १० लाख ताज़े सिपाही अस्त्र-शस्त्र से पूरी तरह लैस हो नारमैंडी में उतर पड़ते या रूस पूर्व की ओर आक्रमण कर देता, जैसा कि ज़ार ने अगस्त १९१४ में किया था, तो फ़्रांस बच जाता और बाद में खून की जो नदियाँ बहीं वे भी न बहतीं। किंतु ऐसा नहीं हो सका। नाज़ी सैन्य-दल निर्दयता के साथ आगे बढ़ता रहा; पेरिस ने बिना लड़े ही घुटनें टेक दिये और १० जून को इटली भी अखाड़े में उतर आया।

इटली के युवक विदेश-मंत्री काउन्ट चियानो ने, जो मुसोलिनी का दामाद था, अपने देश को युद्ध से अलग रखने की चेष्टा की। बाद में इस अपराध के लिए नाज़ियों ने उसे गोली से उड़ा दिया। मई, १९४० में प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने मुसोलिनी के पास तीन बार निजी संदेश भेजे और उसपर लड़ाई-झगड़े से दूर रहने का ज़ोर डाला। २४ अप्रैल, १९४० को पोप पायस १२ वें ने मुसोलिनी को एक पत्र लिखकर युद्ध में भाग न लेने की सलाह दी। युद्ध के विरोध में सार्वजनिक प्रदर्शन भी किये गये। किन्तु ये सारी युक्तियाँ बेकार रहीं, क्योंकि मुसोलिनी मार-धाड़ में हिस्सा बँटाने के लिए इच्छुक थे। उन्हें इस बात का विश्वास था कि जल्दी ही फ़्रांस, और कुछ ही सप्ताह में ब्रिटेन भी आत्म-समर्पण कर देगा और तब इटली सरलता से प्राप्त की गई उस विजय के मीठे फल चख सकेगा। किन्तु, कैसी भयंकर भूल की उसने? उसके भाग्य में सन् १९४० में विजयी बनना नहीं, बल्कि सन् १९४५ में हारना और मरना लिखा था।

जनता के अधिकांश दुःख शासन-संस्थाओं की भूलों के ही कारण उत्पन्न होते हैं।

फ़रवरी १९४० में मुसोलिनी और हिटलर ने ब्रेनर-पास में मिलकर इटली को युद्ध के अखाड़े में उतारने का निश्चय किया था। कर्नल-जनरल गस्टाव जॉड ने, जिसकी मेधा-शक्ति ने दस वर्ष तक जर्मन-सेना का पथप्रदर्शन किया था, जून १९४५ में गिरफ़्तार किये जाने पर इस बात का प्रमाण दिया कि जर्मनी के सैनिक अधिकारी इटली के युद्ध में सम्मिलित होने के पक्ष में नहीं थे। फ़ील्ड-मार्शल कीटेल ने भी अपनी गवाही में यही बताया। सच पूछिये तो यदि इटली तटस्थ बना रहता और मित्र-देश के नाते जर्मनी को जहाज़ों द्वारा

माल भेजता रहता तो वह हिटलर के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होता और भार न बनता, जैसा कि बाद में वह शीघ्र ही बन गया। किन्तु हिटलर ने, जो राजनीतिज्ञ अधिक था और सैनिक कम, निश्चय ही यह सोचा होगा कि उचित अवसर पर इटली के युद्ध में प्रवेश करने पर फ़्रांस के पतन का मार्ग प्रशस्त हो जायगा और ब्रिटेन भी हतोत्साह हो शीघ्र मस्तक झुका देगा। हिटलर को भरोसा था कि ब्रिटेन की प्रतिरोध-शक्ति भंग हो जायगी और इटली का युद्ध में आना अंतिम क्रूर प्रहार सिद्ध होगा।

फ़्रांस के सन् १९४० के पतन का आरम्भ सन् १९१४ में ही हो चुका था। प्रथम महासमर में उसके अनगिनत नवयुवक काम आये। फ़्लैन्डर्स के पोस्तों के खेत स्वस्थ लाल लहू से सिंच गये जिससे तुष्टिकर्त्ताओं की एक फ़सल-सी खड़ी हो गई। विजय बिलकुल स्पष्ट थी। अमेरिका ने फ़्रांस की सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं ली और कुछ फ़्रांसीसियों ने अनुभव किया कि ब्रिटेन जर्मनी का पक्षपाती हो गया है। उन्होंने कहा कि और नहीं तो कम-से-कम युद्ध-क्षतिपूर्ति और रूहर पर अधिकार करने के प्रश्न पर ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ फ़्रांस के विरुद्ध जर्मनी का पक्ष ले रहे हैं। इंग्लैण्ड के प्रति इस अविश्वास से मार्शल पेताँ की सरकार को २१ जून, १९४० को हिटलर से संधि करने के लिए तैयार हो जाने में बड़ा प्रोत्साहन मिला। कुछ फ़्रांसीसियों का यह अनुमान था और कुछ ने अपने पागलपन में यह आशा तक कर ली थी कि ब्रिटेन भी शीघ्र ही घुटने टेक देगा। इसीलिए उन्होंने सोचा कि क्यों न जल्दी ही हथियार डाल दिये जायँ और तत्परता के लिए नाम कमाया जाय।

फ़्रांस को इंग्लैण्ड की प्रतिरोधक-शक्ति के सम्बन्ध में शंका थी। जर्मनी और रूस की २३ अगस्त, १९३९ की सन्धि मानो मौत की घंटी थी क्योंकि रूस और अमेरिका के तटस्थ रहते हुए और ब्रिटेन में युद्ध की तैयारी न होने के कारण फ़्रांस का विजया बनना असंभव था। ऐसी दशा में फ़्रांसीसियों ने सोचा कि एक ऐसे देश के विरुद्ध लड़ने से लाभ ही क्या जो फ़्रांस से बड़ा ही नहीं है, बल्कि आर्थिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली और सैनिक अस्त्र-शस्त्रों में भी अधिक सम्पन्न है। अकेली इस बात से ही फ़्रांस के पतन का रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

जनरल चार्ल्स डी गाल जानते थे कि फ़्रांसीसियों का संसार के अन्य सभी देशों पर से विश्वास उठ गया है। इसलिए १८ जून, १९४० को लन्दन से अपना पहला प्रसिद्ध भाषण ब्राडकास्ट करते हुए उन्होंने इस प्रश्न का विशेष रूप से उल्लेख किया और कहा—"फ़्रांस अकेला नहीं है, उसके पास एक महान् साम्राज्य है। फ़्रांस चाहे तो उस ब्रिटिश साम्राज्य के कन्धे से-कन्धा मिला सकता

है, जिसका समुद्रों पर प्रभुत्व है और जो साहस के साथ लड़ता चला जा रहा है। इंग्लैण्ड की तरह वह भी अमेरिका के विशाल औद्योगिक साधनों से लाभ उठा सकता है।........यह युद्ध एक संसारव्यापी युद्ध है इस......संसार में इतने साधन हैं कि उनकी सहायता से एक दिन हम अपने शत्रु को कुचल देंगे। आज दूसरों के यांत्रिक बल ने हमारी चूल अवश्य हिला दी है लेकिन भविष्य में हम इससे भी श्रेष्ठ यांत्रिक बल का प्रयोग कर विजय प्राप्त करेंगे। संसार का भाग्य इसी पर निर्भर है।"

जब रूस और अमेरिका भी युद्ध-क्षेत्र में उतर आये और ब्रिटेन ने अपनी विशाल वैमानिक शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण दिया तो फ़ांस की आशाएँ फिर जाग्रत हो उठीं और भीतर-ही-भीतर हिटलर के प्रति विरोध की भावना बढ़ने लगी।

फ़्रांस को जितनी कम सहायता बाहर से मिली उतनी ही अल्प उसकी आंतरिक शक्ति भी थी। समाजवादी दल का एक शक्तिशाली भाग संधि का पक्षपाती था और सन् १९३८ में म्यूनिख में किये गये चेकोस्लोवेकिया के विभाजन की प्रशंसा कर चुका था। इसके विपरीत बहुत-से मज़दूरों का मत था कि फ़्रांस के ऐश्वर्यशाली नेताओं का आचार भ्रष्ट हो गया है, फ़ाशिस्टों से उनकी सहानुभूति है और चेकोस्लोवेकिया और स्पेन को बेचकर उन्होंने फ़्रांस के साथ विश्वासघात किया है। अनगिनत फ़्रांसीसियों ने अपने कूटनीतिज्ञों और जनरलों के प्रति अविश्वास की भावना प्रकट की। राष्ट्र अपनी सेना की डींगें मार रहा था, किन्तु विशेषज्ञों को पता था कि फ़्रांसीसी सेना की यांत्रिक सामग्री कितने पुराने ढंग की है। फ़्रांस के पास अच्छे हवाई जहाज़ों की इतनी ज़्यादा कमी थी कि वह जर्मन हवाई-सेना को रोकने में बिलकुल असमर्थ था। फिर भी फ़्रांस के राष्ट्रीय कोष में सोना पड़ा सड़ रहा था। वह अमेरिका से हवाई जहाज़ ख़रीदने के काम में लाया जा सकता था। किंतु अर्थ-मंत्री ने रुपया देना मना कर दिया और लोगों को इस बात की शंका हुई कि शायद फ़्रांस के उद्योगवाले ही स्वयं आर्डर पूरा करना चाहते हैं। जब युद्ध आरम्भ हुआ तो बेचारे देशभक्त विमान-चालक ठठरी-जैसे हवाई जहाज़ों को लेकर यह सोचते हुए ऊपर उड़े कि हम आत्म-हत्या करने जा रहे हैं। चार्ल्स डीगाले ने, जो उस समय तक एक कर्नल ही थे, टैंकों के निर्माण पर ज़ोर दिया था, किंतु मार्च १९४२ में रिओम के मुकदमे में गवाही देते हुए फ़्रांस के भूतपूर्व प्रधान मंत्री दलादिये ने बताया कि स्पेन के गृह-युद्ध में इटली की बख़्तरबन्द टुकड़ियों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था उससे फ़्रांसीसी विशेषज्ञों को

इस बात का प्रमाण मिल गया था कि बख्तरबन्द मोटरगाड़ियों द्वारा युद्ध करने का विचार ग़लत है। फ्रांसीसी जनरलों को टैंका नहीं, बल्कि मैज़ीनी लाइन में विश्वास था।

रियोम के ही मुकदमे में गुबला चैम्बर ने जो महासभा के आरम्भ होने के समय फ्रांस के हवाई-मंत्री थे, कम्युनिस्टों पर इस बात का दोषारोपण किया कि रूस और जर्मनी में सन्धि होने के बाद उन्होंने फ्रांस की हवाई जहाज बनाने वाली फैक्टरियों के काम में बाधा डालीं। उन्होंने हवाई जहाज़ के निर्माताओं पर भी विमान-निर्माण-योजना में विलम्ब करने का दोषारोपण किया। दलादिये ने गवाही देते हुए कहा कि निर्माताओं के काम न करने का उद्देश्य प्रमाणित करना था कि हवाई जहाज़ बनाने वाली फैक्टरियों का राष्ट्रीयकरण एक मूर्खता है। जैसा कि पॉलरेनाँ ने अपने संस्मरण में लिखा है, "इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि फ्रांस के पास न टैंकों की कोई टुकड़ी रही न हवाई जहाज़ों की"। (पॉलरेनाँ सन् १९४० में मार्च से जून तक फ्रांस के प्रधान मंत्री थे)।

इन, और सहस्रों दूसरी बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि द्वितीय महासमर के आरम्भ होने से वर्षों पहले से ही फ्रांस में एक भयंकर गृह-युद्ध चल रहा था, जिसके कारण उसके अनेक खण्ड तो हो ही गये थे, साथ-ही-साथ उसकी शक्ति भी नष्ट हो गई थी और उसका प्रवृत्ति पराजय-सूचक बन गई थी।

फ्रांसीसी अपनी जल-सेना की सहायता से अफ्रीका और एशिया में युद्ध जारी रख सकते थे, किन्तु पेताँ न तो प्रजातंत्रवादी थे न फाशिस्ट-विरोधी; इसलिए उन्हें फ़ाशिज़्म के विरुद्ध युद्ध करने की कोई आन्तरिक आवश्यकता नहीं थी।

सन् १९४२ में नव वर्ष के अवसर पर ब्राडकास्ट करते हुए पेताँ ने कहा—"मुझे अपने देश के लिए न मार्क्सवाद की ज़रूरत है न उदार पूँजीवाद की। रहा केवल फाशिज़्म; सो,इस प्रकार के नाज़ी विचारों वाला नेता नाज़ियों का विरोध नहीं कर सकता था।

फ्रांस का पतन उसके आन्तरिक दूषण और विदेशी सहायता की कमी के कारण हुआ। उसके घुटने टेक देने से जनतंत्री शासन-प्रणाली के मौलिक दोष स्पष्ट होगये और उसका आत्म-समर्पण किसी विशेष जनतंत्री सरकार का अन्त नहीं बल्कि स्वयं जनतंत्र के उपहास का आरम्भ माना गया।

इस प्रश्न पर मैंने २२ जून १९४० की शार्लट्सविले में वर्जीनिया विश्वविद्यालय की सार्वजनिक मामलों की संस्था के वार्षिक अधिवेशन में

विचार किया था। तभी हमें फ्रांस के जर्मनी से संधि कर लेने की सूचना मिली थी। उस पर अपने विचार प्रकट करते हुए मैंने कहा—"जनतंत्री सरकारों और जनतंत्र को दफ़नाकर सारे संसार में नाज़ी पताका के फहराये जाने में अभी बहुत देर है।....फाशिज़्म उस समय तक विजयी नहीं हो सकता जब तक कि सारी जनतंत्री सरकारें हरा न दी जायं; ऐसा होने से पहले इंग्लैंड और अमेरिका को पराजित किया जाना अनिवार्य है।"

फ्रांस के पतन की सूचना मिलने पर भी मैं आशावादी ही बना रहा। "अगर जर्मनी इंग्लैंड को फ़ौरन नहीं कुचल सकता" मैंने कहा...."तो गतिरोध उत्पन्न हो सकता है और मित्र-राष्ट्रों की विजय निश्चित हो सकती है, क्योंकि यदि जर्मनी इस समय नहीं जीत सकता तो वह बाद में भी नहीं जीत सकेगा और इसके विपरीत, यदि मित्रराष्ट्र इस समय विजय नहीं प्राप्त कर सकते तो बाद में अमेरिका की सहायता से कर सकेंगे।"

सन्धि के लक्ष्य के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए मैंने लिखा—"जनतंत्र अभी निर्दोष नहीं है, फिर भी जितनी तानाशाहियों से मैं परिचित हूँ उन सबसे वह अच्छा है। किसी भी तानाशाही राज्य में जनता को स्वतंत्रता नहीं मिली। इस संसार का विभाजन सफेद और काले के आधार पर नहीं हुआ है। सफेद कोई भी नहीं, किंतु दुर्भाग्यवश काले बहुत हैं। यदि आप सफ़ेद की ही चिन्ता करेंगे और किसी दूसरे वर्ण का समर्थन नहीं करेंगे तो आपको उसकी प्रतीक्षा में अपने हाथी दाँत के मीनार में क़यामत तक बैठना पड़ेगा। हमें तो भूरे रंग के जनतंत्र और काले रंगके एकाधिकारवाद में से किसी एक को चुनना है। शांति का सबसे बड़ा लक्ष्य काले का अन्त करना और साथ-ही-साथ भूरे को अधिक सफेद बनाना है।"...."मेरी योजना अब भी यही है" उस समय मैंने यह सुझाव रखा था कि "मित्रराष्ट्रों के विजयी होने के बाद यूरोप को एक संघ के रूप में संगठित करना चाहिए। संघ में आर्थिक, राष्ट्रीयता या संकीर्ण राजनैतिक राष्ट्रीयता का कोई स्थान नहीं होता। इतिहास इस बात को सिद्ध कर चुका है कि राष्ट्रों का उद्धार अन्तर्राष्ट्रीयता में है। पुरुष या देश के लिए व्यक्तिगत सुरक्षा का कोई साधन नहीं।"

मेरे लेख के अन्त में एक छोटा-सा रूपक था, किन्तु समय समाप्त हो जाने के कारण मुझे उसे बिना सुनाये ही छोड़ देना पड़ा। मैंने लिखा था—"'अ' नाम के एक युवक व्यक्ति ने अपने रहने के लिए एक सुन्दर और मज़बूत मकान बनाया और उसे जनतंत्र कहा। कुछ समय पश्चात् 'ब' नाम के एक दूसरे व्यक्ति ने उस मकान के पास वाले दूसरे मकान में आने की अनुमति

माँगी। उसके मालिक ने 'अ' से सलाह ली और उसे बताया कि 'ब' अग्नि द्वारा शकुन बताने वाला एक प्रसिद्ध व्यक्ति है और आग लगाने के अपराध में दण्ड भी पा चुका है, किन्तु 'अ' ने 'ब' का पक्ष लेते हुए कहा कि मैं जानता हूँ कि यह एक बहुत ही नेक आदमी है।—इस प्रकार 'ब' मुसोलिनी वहाँ आ गया।

"कुछ ही दिनों बाद 'स' नामक एक तीसरा व्यक्ति जनतंत्र के सामने वाले मकान में आकर रहा। यह व्यक्ति बम और दूसरे विस्फोटक पदार्थ बनाने का प्रयोग किया करता था। पड़ोसियों ने 'अ' को सावधान करते हुए कहा कि जनतंत्र संकट में है। 'अ' इस पर हँसा और बोला कि असल में मैं ही तो उस प्रयोगशाला के लिए रुपए दे रहा हूँ जो 'स' ने मेरे 'जनतंत्र' के सामने बनाई है। एक दिन 'ब' और 'स' 'अ' के पास जनतंत्र में आये। उन्होंने पूछा कि क्या आप हमारे एक साझीदार को कुछ समय के लिए अपनी प्रयोगशाला में ठहरने की अनुमति दे सकते हैं।" 'अ' सहर्ष तैयार हो गया और नये व्यक्ति (फ्रेंको)ने उसकी छत पर तम्बू तान दिया। उसने पानी की बड़ी टंकी को खाली कर बुरादे से भर दिया और अन्त में जनतंत्र में आग लग गई और 'अ' अपनी स्त्री और बाल-बच्चों के साथ उसी में जलकर राख हो गया।—तो क्या आप कहेंगे कि 'जनतंत्र' एक बुरे ढंग से बनाया गया मकान था? नहीं; आप कहेंगे कि 'अ' मूर्ख था।"

फ्रांस के पतन से अधिकांश अमेरिकनों के हृदय में परिवर्तन हो गया। इनमें अनेक व्यक्ति वे थे जो युद्ध से अलग रहने की पुकार उठाया करते थे। यह लोग साधारणतया विस्तृत महासागरों को अपनी रक्षा का साधन मानते थे और इसीलिए समुद्र पार के झगड़ों में फँसना नहीं चाहते थे। सच पूछिये तो महासागरों से इतना नहीं बनता-बिगड़ता था जितना उनके दूसरे तट पर होने वाली घटनाओं से। जब तक कि फ्रांसासी सेना और ब्रिटिश समुद्री बेड़े में आक्रमणकारी देश को यूरोप के अटलांटिक तट पर पैर जमाने से रोकने की शक्ति थी तब तक निस्संदेह महासागर रुकावट का काम कर सकता था। किंतु जर्मनों के डियेप कैले और ब्रेस्ट तक पहुँच जाने के कारण इस बात का भय था कि कहीं ऐसा न हो कि अन्त में यही सागर जर्मनों के आने का साधन न बन जाय। फ्रांस के पतन के बाद जर्मनी और अमेरिका की सशस्त्र सेनाओं के बीच का बल ब्रिटेन का समुद्री-बेड़ा ही रह गया था। अतः ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न में योग देने के लिए अमेरिका के पास यह एक ज़बरदस्त तर्क था।

इसीलिए प्रेजिडेण्ट रूज़वेल्ट ने आज्ञा दी कि अमेरिकन तोपखानों और

कारखानों को सुव्यवस्थित कर ब्रिटिश सेना के लिए हथियार बनाये जायं। विन्सटन चर्चिल के १४ मई १९४५ के एक वक्तव्य से पता चला कि जून १९४० के बसन्त के आरम्भ होने तक अमेरिका ने दस लाख राइफलें और एक हजार तोपें मय बारूद के अटलांटिक के पार भेजीं। इनके अलावा हवाई जहाज़ भी भेजे गये और इस सामान से ब्रिटेन को जर्मन-आक्रमण से अपनी रक्षा करने में बड़ी सहायता मिली। डन्कर्क के पलायन के बाद ब्रिटेन के पास सेना का एक भी डिवीज़न ऐसा नहीं रह गया था जो शस्त्र-अस्त्र से लैस हो।

इस संकट के समय प्रेजि़डेण्ट रूज़वेल्ट का ध्यान प्रधानतः किस बात पर केन्द्रित था, इसका पता हमें उनके उस पत्र से लगता है जो उन्होंने २० दिसम्बर १९४० को एडमिरल लीही के पास भेजा था और जो बाद में ७ अक्टूबर १९४३ को अमेरिका के स्टेट विभाग द्वारा प्रकाशित हुआ। एडमिरल लीही उस समय विची (फ़्रांस) की पेतां सरकार में अमेरिका के राजदूत थे। प्रेजीडेण्ट रूज़वेल्ट ने उन्हें लिखा था—"अमेरिकावासियों की प्रधान दिलचस्पी ब्रिटेन को विजयी देखने की है।" स्पष्टतः अमेरिका अपनी तटस्थता छोड़ चुका था।

पर्लहार्बर पर जापान द्वारा आक्रमण होने से पहले ही अमेरिका यदि सरकारी रूप में नहीं तो व्यावहारिक रूप में अवश्य ही युद्ध में प्रवेश कर चुका था। ३ सितम्बर १९४० को, जिस दिन युद्ध की पहली वर्ष-गांठ थी, रूज़-वेल्ट ने घोषणा की कि चर्चिल के साथ एक समझौता हो गया है, जिसके अनु-सार अमेरिका ने अपने पचास पुराने विध्वंसक जहाज ब्रिटेन को दे दिये हैं और ब्रिटेन ने बदले में अमेरिका को अन्धमहासागर में सैनिक और समुद्री अड्डे दिये हैं। पूछा जा सकता है कि यदि विध्वंसक जहाज बहुत पुराने हो गये थे तो ब्रिटेन ने उन्हें क्यों मांगा। असलियत यह है कि ये जहाज बड़े अच्छे जंगी जहाज थे और युद्ध में उन्होंने सभी जगह बड़ी अच्छी तरह काम दिया। ११ मार्च १९४१ को प्रेजि़डेन्ट रूज़वेल्ट ने उधार पट्टे कानून पर हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार दसियों करोड़ों डालर के शस्त्र धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ने वाले देशों को दिये गये। जैसे ही हिटलर या मुसोलिनी ने किसी नये देश पर आक्रमण किया वैसे ही उसे भी उधार पट्टे की सुविधा प्रदान की गई। ५ अप्रैल १९४१ को अमेरिका ने डेनिस ग्रीनलैंड की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। ७ जुलाई १९४१ को अमेरिका ने आइसलैंड पर अधिकार करने में इंग्लैंड का साथ दिया और वहीं की ब्रिटिश टुकड़ियों की शक्ति बढ़ाने और उनके बदले अमेरिकनों को लाने का भी उत्तरदायित्व ग्रहण किया। सन्

१९४१ में अमेरिकन जल-सेना अन्धमहासागर में व्यापारिक जहाजों को सुरक्षा पूर्वक लाने व ले जाने का काम करने लगी और नाज़ी पनडुब्बियों को ढूंढ़-ढूंढ़-कर नष्ट करने में अंग्रेजों के हाथ बंटाने लगी। अमेरिका की कूटनीति भी जर्मनी, इटली और जापान के विरुद्ध प्रवाहित होने लगी। उदाहरणार्थ अमेरिका के स्टेट विभाग ने विची की पेतां सरकार को इस बात की बार-बार चेतावनी दी कि वह हिटलर को फ्रांसीसी समुद्री बेड़े का प्रयोग न करने दे। लेकिन अमेरिका में धुरी राष्ट्रों की सैनिक और व्यावसायिक युक्तियों को विफल करने का प्रबन्ध किया गया। प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट, विदेश-मंत्री कार्डल हल और दूसरे छोटे अफ़सरों ने अपनी घोषणाओं से बार-बार धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध भावना प्रकट कर अपने तटस्थ न रहने का प्रमाण दिया।

पर्ल हार्बर की घटना से कई महीने पहले अमेरिका के सैनिक अधिकारियों ने धुरीराष्ट्रों को हराने में योग देने के सम्बन्ध में एक विस्तृत, व्यावहारिक, व्यापक और काल्पनिक योजना बनाई थी। साथ-ही-साथ रूज़वेल्ट ने युद्ध से अलग रहने की माँग करने वाले सिनेटरों और प्रतिनिधियों से मतभेद होने पर भी अमेरिका की सशस्त्र सेना और दूसरी रक्षात्मक व्यवस्थाओं को दृढ़तर बनाया।

इन युक्तियों को और इंग्लैंड की पूर्ण सहायता देने की योजना को भी अमेरिका की अधिकांश जनता का समर्थन प्राप्त था, फिर भी अमेरिकनों को युद्ध-क्षेत्र में जाने से रोकने की भावना बलवती ही बनी रही और १९४० के अन्त में प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट और वेन्डल विल्की दोनों ही ने राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव लड़ते हुए अपने-अपने भाषणों में देश को इस बात का आश्वासन दिया कि जब तक अमेरिका पर आक्रमण नहीं होगा, तब तक अमेरिका का एक बच्चा भी समुद्रपार नहीं भेजा जायगा।

७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने अमेरिका पर आक्रमण कर इस अड़-चन को भी दूर कर दिया। सम्भव है कि इतिहास में यह घटना जापान की प्रथम आत्मघातक भूल कही जाय। इसने अमेरिकन धन-जन को नष्ट तो अवश्य किया; किन्तु साथ-ही-साथ स्वयं जापान के लिए मृत्यु को भी निमंत्रण दिया।

३ सितम्बर १९३९ से, या ठीक-ठीक यों कहिए कि फ्रांस के पतन से, लेकर पर्ल हार्बर के आक्रमण तक अमेरिका में एक कोने से दूसरे कोने तक उन दो दलों में संघर्ष चलता रहा जिनमें से एक युद्ध से अलग रहना चाहता था और दूसरा प्रवेश करने के पक्ष में था।

मैं लिंकन, नेबरासका, एन्डर्सन, इंडियाना, कैन्टन, ओहियो और अनेक

दूसरे शहरों की शान्त गलियों में से होकर दोपहर से पहले के शांत वातावरण में कई बार गुज़रा हूँ। उद्यान से घिरा हुआ लकड़ी का सफ़ेद मकान, बरामदे में पड़ी हुई झूलेदार कुरसियां, छाया देने वाले वृक्ष और खिड़कियों में रखे हुए फूलों के गमले—ये सब चीज़ें एक सन्तुष्ट, सुखी और आरामदेह जीवन का चित्र खींच देती थीं। किन्तु खिड़की में एक झण्डा दिखाई दिया करता था जिस पर एक या दो तारों के सैनिक चिह्न होते थे। कभी-कभी तारों का नीला रंग सुनहला रंग दिखाई देता था जो मृत्यु का सूचक था। मैं बड़ी ही सरलता के साथ कल्पना कर सकता हूँ कि उस मकान में कोई माता या पत्नी बैठी-बैठी डाक से आने वाली किसी दूसरे पत्र की प्रतीक्षा कर रही है या किसी पुराने पत्र को पाँचवीं बार पढ़कर यह सोच रही है—"मेरे पुत्र या पति को इस सुन्दर भूमि को छोड़कर ऐसी जगह क्यों जाना पड़ा जिसके सम्बन्ध में मैंने पहले कभी नहीं सुना था! वहाँ जाकर उसे क्यों गोलों और गोलियों की चोट खाने के लिए मिट्टी में खुला पड़ा रहना पड़ा? कौन जाने वह मर ही गया हो।" उसकी समझ में ऐन्जियो, वस्टोन आदि नामों का अर्थ ही क्या था, सिवा इसके कि इनसे उसके हृदय में पीड़ा, आकांक्षा और एकाकीपन जाग्रत हो उठे।

एक बार मैं श्रीमती रूज़वेल्ट से मिलने उनके घर न्यूयार्क गया। बातचीत करने के बाद वह मुझे दरवाज़े की ओर ले गईं। बाहर बरामदे के फ़र्श पर दोपहर बाद का अख़बार पड़ा हुआ था। उसे उठाकर मैंने श्रीमती रूज़वेल्ट को दिया और उसमें हमने गुआडल नहर में जल-सेना के प्रथम बार उतरने का समाचार मोटे-मोटे अक्षरों में मुख्य शीर्षक के रूप में छपा देखा।

"उसमें मेरा भी एक लड़का है," श्रीमती रूज़वेल्ट ने कहा। उनका अभिप्राय अपने लड़के जेम्स से था। युद्ध के समय राजा से लेकर रंक तक सेना में जाने से नहीं बच पाते।

गुआडल नहर, सिसली, ओकीनाव, कैसीनो, नारमंडी ये सब स्थान अमेरिकावासियों को बहुत दूर और महत्त्वहीन मालूम पड़ते हैं। फिर भी कितने आश्चर्य की बात है कि वहां हज़ारों अमेरिकन क़ब्रों में गड़े पड़े हैं और बहुतों की आँखें या हाथ-पैर जाते रहे हैं। यह आश्चर्य की ही बात नहीं, बल्कि पागलपन है। फिर भी इस पागल संसार के युद्ध में अमेरिका को हाथ बँटाना ही था और वह अपने उत्तरदायित्व से किनारा नहीं कर सकता था।

हम एक छोटे-से द्वीप में रहते हैं, जिसका नाम पृथ्वी है। यह आवश्यक नहीं कि किसी एक देश की समस्या से किसी दूसरे देश का सम्बन्ध हो ही, फिर-

भी यदि वह समस्या हल नहीं होती तो उसमें सबका संबंध हो ही जाता है।

कर्नल लिंडबर्ग और अमेरिका के प्रमुख व्यक्तियों का यह विश्वास था कि यदि अमेरिका की रक्षा का प्रबन्ध उत्तम रीति से किया जाय तो उस पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता। इसलिए अमेरिका के सैनिक-दृष्टि से शक्ति-शाली रहते हुए उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं थी कि किस विदेशी राष्ट्र का पतन हुआ और किसका नहीं। ऐसी दशा में युद्ध में किसी एक देश का पक्ष ग्रहण करना उनकी समझ में अनावश्यक और तटस्थता के विपरीत था। यही कारण था कि युद्ध से अलग रहने के पक्षपातियों ने अमेरिकन कांग्रेस में उधार-पट्टा और ऐसे ही दूसरे कानूनों के विरोध में राय दी।

कर्नल लिंडबर्ग ने इस बात पर ज़ोर दिया कि अमेरिकन आकाश-सेना में दस हज़ार हवाई-जहाज़ होने चाहिएं। २३ जनवरी १९४१ के उधार-पट्टा बिल पर विचार होते समय उन्होंने प्रतिनिधि सभा की विदेशी मामलों की कमेटी के सामने कहा—"यूरोप के वर्त्तमान युद्ध का परिणाम चाहे कुछ भी हो, मैं समझता हूं कि इतने हवाई जहाज़ अमेरिका की सुरक्षा के लिए काफ़ी होंगे। आकाश-सेना के इस विस्तार के साथ-ही-साथ न्यूफ़ाउन्डलैंड, कनाडा, पश्चिमी इंडीज़, दक्षिणी अमेरिका के कुछ हिस्सों,मध्य अमेरिका, गलापैगोरु द्वीप, हवाई द्वीप और अलास्का में हवाई अड्डे भी बनाने चाहिएं।"

लेकिन हवाई अड्डे क्यों? निश्चय ही लिंडबर्ग ने सोचा होगा कि इससे दुश्मन को रोकने या डराने का काम लिया जा सकता है। जब हम अमेरिका पर आक्रमण होने की सम्भावना का स्वीकार कर लेते हैं—जैसा कि लिंडबर्ग ने अड्डों के लिए ज़ोर देकर किया—तो प्रश्न केवल यह रह जाता है कि सम्भावित शत्रु का सामना किस प्रकार से अच्छी तरह किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय विचार वाले व्यक्तियों का मत था कि शत्रु का सामना उसके समस्त यूरोप और एशिया पर विजय प्राप्त करने के बाद नहीं, बल्कि पहले ही करना चाहिए।

यदि ब्रिटेन को अमेरिका का माल न मिलता और उसे अमेरिका से भविष्य में भी सहायता मिलने की आशा न होती तो अवश्य ही वह घुटने टक देता। इसलिए उस समय जब कि जर्मनी पर अंग्रेजों द्वारा बमबारी नहीं हो रही थी और अमेरिका ने रूस को उधार-पट्टे की सुविधा दी थी, यदि हिटलर रूस पर आक्रमण कर देता तो निश्चय हा रूस पराजित हो जाता। उस स्थिति में चीन का पतन अवश्यम्भावी हो जाता और जर्मनी, इटली और जापान ये तीनों ही यूरोप, अफ्रीका और एशिया पर अधिकार जमाकर निश्चितता के साथ बैठे रहते। फ्रैंको के स्पेन की सहायता से वे व्यापार और प्रचार के मार्गों द्वारा

लैटिन अमेरिकन में भी घुस जाते ।

इन सम्भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए स्वभावतः प्रत्येक अमेरिकन की यह इच्छा हो सकती थी कि उसके देश का कोना-कोना शस्त्र-सज्जित हो जाय, अमेरिका एक दुर्ग बन जाय और सदा सावधान रहे—चाहे इसके लिए उस पर कितना ही ज़ोर क्यों न पड़े।

फ़ाशिस्टों की सैनिक सफलता से प्रभावित होकर अमेरिका के लोग एकाधिकारवाद के पक्षपाती बन सकते थे। लोग कहते कि देखो हिटलर को कामयाबी हो ही गई। कुछ लोगों ने तो ऐसा कहा भी।

अमेरिका को या तो हिटलर, मुसोलिनी और जापान के साथ उनकी शर्तों पर व्यापार करना पड़ता, या निर्वासित होकर रहना पड़ता। इस प्रकार युद्ध से अलग रहने के पक्षपाती अमेरिका को एक संकटजनक अवस्था की ओर ले जाते।

सौभाग्यवश अधिकांश अमेरिकनों ने धुरीराष्ट्रों के शत्रुओं को सहायता देने के पक्ष में निर्णय किया। यह कहना ज़्यादा सही होगा कि अमेरिका के लिए विजयी शत्रु के सामने आकर खड़े होजाने के समय तक प्रतीक्षा करने की अपेक्षा भावी शत्रुओं के साथ दूसरों की भूमि पर दूसरों की ही सशस्त्र सेना की सहायता से लड़ना ज़्यादा अच्छा था। उधार-पट्टा क़ानून अमेरिकन लोहा देकर अमेरिकन प्राण बचाने की एक बड़ी चतुराईपूर्ण और ऐतिहासिक युक्ति थी। अंग्रेज़ों और रूसियों द्वारा अधिक जर्मनों के मारे जाने का मतलब जर्मनों द्वारा कम अमेरिकनों का मारा जाना भी था।

अमेरिकावासियों ने यह बात समझी और फ़्रांस के पतन के बाद से उनकी इंग्लैंड को सहायता देने की प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गई। सन् १९४० के बसन्त में "ऐम्पोरिया गज़ट" के सम्पादक विलियम ऐलेन ह्वाइट ने "मित्र-राष्ट्रों को सहायता देकर अमेरिका की रक्षा करने" की एक समिति बनाई। सैकड़ों अमेरिकन इस समिति में शामिल हुए। २६ मई १९४० को मैंने भी उसमें अपने को शामिल करने के लिए मिस्टर ह्वाइट को तार दिया। उन्होंने मेरे पास कई तार और पत्र भेजे। १३ जून १९४० के पत्र में उन्होंने लिखा—

"मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होरही है कि हमारे हवाई जहाज, बन्दूक और गोला-बारूद यहाँ से काफ़ी बड़ी मात्रा में भेजे जा रहे हैं। हम मित्रराष्ट्रों को युद्ध में डटे रहने में सहायता दे सकते हैं।" 'सकते हैं' शब्द के नीचे उन्होंने लाल स्याही से निशान बना दिया था।

जनवरी १९४० में श्रीमती वेल्स लैथम ने ब्रिटेन के लिए सामान इकट्ठा करने का आन्दोलन आरम्भ किया और कुछ ही दिनों में इस एजेन्सी द्वारा

न केवल कपड़ा, चिकित्सा के अस्त्र और दूसरी आवश्यक वस्तुओं का एकत्र किया जाना आरम्भ हो गया,बल्कि उसनेअमेरिकन शहरों और गाँवों के हज़ारों व्यक्तियों में बमों के नीचे अकेले पड़े हुए एक वीर राष्ट्र को सहायता देने और उत्साहित करने का जोश भी भर दिया।

अमेरिकन जनता केवल अनुकरण नहीं कर रही थी। "जनमत इन्स्टीट्यूट" के संचालक विलियम 'ए लिडगेड ने १६४१ में लिखा कि आम जनता अपने राजनीतिक नेताओं से अधिक चुस्त और आगे है। इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि अमेरिकन जनमत ने यह सिद्ध कर दिया है कि––(१) अमेरिकी जनता स्पेन पर से प्रतिबन्ध उठा लेना चाहती थी (२) उसने म्यूनिख के समझौते की निंदा उस समय की थी जब कि फ्रांस और ब्रिटेन के नेता उस समझौते में की गई मूर्खता को समझ भी नहीं पाये थे, (३) उसने कांग्रेस की स्वीकृति से ५ महीने पहले ही तटस्थता-कानून में से शस्त्र-अस्त्र सम्बन्धी प्रतिबन्ध को निकाल देने की राय दी थी, (४) पिछले सात वर्ष अर्थात् नवम्बर १९३५ से ही वह जल, थल और नभ-सेनाओं, विशेषतः हवाई-बेड़े में वृद्धि करने के पक्ष में रही है।"

श्री लिडगेड ने यह भी लिखा कि सम्भव है कि अभी तक जनता के विचारों की ओर किसी ने पर्याप्त ध्यान ही न दिया हो। बात भी यही थी। कांग्रेस ने शोर मचाने वाले अल्पसंख्यकों की अपेक्षा बहुसंख्यकों की चिन्ता कम की। जैसा कि जनतंत्र-विरोधी देशों में हुआ करता है।

फिर भी अमेरिका एक ऐसे युद्ध में विजयी बनने के लिए,जिसका उससे सम्बन्ध तो था, किन्तु जिसमें अभी वह निरत नहीं हुआ था, संघीय शासन-विधान को चलाता रहा।

सन् १६४४ में एक दिन सन्ध्या समय आन्तरिक मामलों के प्रसिद्ध लेखक जॉन गन्थर के मकान पर कुछ विरोधी सम्वाददाताओं ने हार्पर के प्रेज़िडेन्ट कैस कैनफील्ड, विदेशी मामले (फारेन अफ़ेयर्स) नामक तिमाही पत्र के सम्पादक हैमिल्टनफिश, आर्मस्ट्रॉग, "न्यूयार्क हेरैल्ड ट्रिब्यून" के इरीटावान डोरेन और वैन्डल विल्की ने आपस में बैठकर राजनीतिक समस्याओं पर विचार किया और अपने-अपने अनुभव बताये। विल्की ने कहा—"सन् १९४१ में मेरे इंग्लैंड से लौटने के बाद "रीडर्स डाइजेस्ट" के प्रकाशक डीविट वैलेस ने मुझसे टेलीफोन करके कहा कि मैं फ्रैंडा ऊटले के उस लेख के उत्तर में कुछ लिखूं जिसमें ब्रिटेन को सहायता देने के विरोध में प्रचार किया गया था। वैलेस ने मुझे इस काम के लिए पांच हज़ार डालर देने का प्रलोभन दिया। मैंने उनसे

कहा कि आजकल में एक मुकदमे के सिलसिले में फँसा हुआ हूँ और मेरे पास लेख लिखने के लिए समय नहीं हैं। इस पर वैलेस ने कहा कि—"बस १५०० शब्दों से काम चल जायगा,हम आपको ६ हज़ार डालर देंगे।" मैंने उनसे फिर कहा कि "मै लेख लिखने में असमर्थ हूँ" किन्तु वैलेस ने हठ करते हुए कहा —"मिस्टर विल्की, मैं आपको इस लेख के लिए ८ हजार डालर दूंगा।

आप जानते हैं कि ८ हज़ार डालर एक छोटी रक़म नहीं है।" विल्की ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए मुसकराहट के साथ कहा—"मैंने लेख लिखन के लिए वचन दे दिया।" अपने सम्बन्ध में इस प्रकार की कहानियाँ कहने में विल्की बड़े निपुण थे।

उस लेख में विल्का ने लिखा—"अमेरिका के सामने सबसे बड़ी समस्या यह हैं कि जनतंत्री संस्थाएँ किस प्रकार जीवित रहें, किस प्रकार एक ऐसी जीवन-प्रणाली की रक्षा हो जो हमारे लिए इस संसार में अन्य सभी पदार्थों से अधिक महत्त्व रखती है।···हम ब्रिटेन को सहायता इसलिए दे रहे हैं कि जो लड़ाई वह लड़ रहा है वह हमारे लिए बहुत लाभदायक है। हिटलर की नीति, जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक–सभी क्षेत्रों में जनता को शासक का दास बनाये रखना चाहती है, स्वभावतः और स्पष्टतः स्वतंत्रता के विरुद्ध है।"
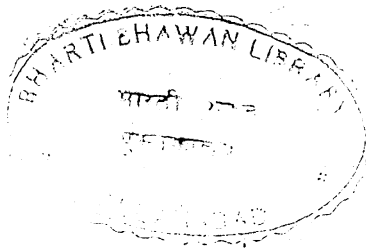
: ३ :

स्टालिन और हिटलर--एक पुनरध्ययन

फ़्रांस के पतन से अमेरिका इंग्लैंड और युद्ध-दोनों के निकटतर आ गया। उससे रूस का आक्रमण भी जल्दी हुआ। प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने दो साल पहले ही इसकी भविष्यवाणी कर दी थी। भूतपूर्व राजदूत जोसेफ़ ई० डेविस नें अपनी "मास्को यात्रा" (मिशन टू मास्को) नामक रिपोर्ट में लिखा है--"१८ जुलाई १९३९. को मैंने प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के साथ ह्वाइट हाउस में भोजन किया। उस समय चारों ओर चर्चा फैली हुई थी कि स्टालिन और हिटलर में गुटबन्दी होने वाली है। प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने मुझे बताया कि उन्होंने रूसी राजदूत औमांस्की से मास्को के लिए रवाना होते समय कह दिया था कि आप स्टालिन को बता दीजियेगा कि यदि रूस नें हिटलर का साथ दिया तो यह निश्चय है कि फ़्रांस पर विजय प्राप्त करनें के बाद हिटलर रूस की ओर मुड़ेगा और फिर रूस की बारी आयगी। उन्होंने मुझसे कहा कि यदि हो सके तो मैं ये शब्द स्टालिन और मोलोटोव तक पहुँचा दूँ।"

यहाँ हम एक ऐसी कूटनीतिज्ञता का उदाहरण देखते हैं जिसमें भविष्य की छाया पहले ही देख ली गई थी। रूज़वेल्ट भूगोल, हिटलर और युद्ध को समझते थे। फ़्रांस को जीतनें के बाद और इंग्लैंड के जर्मन-सेना की पहुँच से बाहर होने के कारण हिटलर के सामनें रूस पर आक्रमण करनें के सिवा और कोई चारा ही नहीं था।

सन् १९४१ में हिटलर ने देखा कि इस समय इंग्लैंड यूरोप पर आक्रमण नहीं कर सकता, लेकिन बाद में अमेरिका की सहायता से कर सकता है। यह सोचकर हिटलर नें रूस पर आक्रमण करने की तिथि निश्चित कर ली। उसने अमेरिका के युद्ध में प्रवेश करने से पहले ही रूस को कुचल देना चाहा।

दो बातें हिटलर की शक्ति से बाहर थीं, एक तो इंग्लैंड पर आक्रमण

करना और दूसरे अमेरिका की बढ़ती हुई सहायता को देखकर चुप बैठे रहना। वह दो बातें कर सकता था, एक तो इंग्लैंड पर उसके साम्राज्य में से होकर आक्रमण करना या दूसरे रूस पर धावा बोलना। हिटलर ने अनुमान लगाया कि सम्मिलित ब्रिटेन और अमेरिका की तुलना में रूस का पतन अधिक सरल होगा। उसे आशा थी कि चूँकि जर्मनी ने "बोलशेविज़्म के भयानक संकट के केन्द्र" रूस पर आक्रमण कर दिया है इसलिए पश्चिम के पूँजीवादी राष्ट्र कृतज्ञतावश जर्मनी पर आक्रमण करने का विचार त्याग देंगे।

घटनाओं ने अक्सर यह सिद्ध किया कि हिटलर के अनुमान ग़लत थे। हिटलर को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि फ़्रांस और इंग्लैण्ड, पोलैण्ड के कारण युद्ध नहीं करेंगे। उसने अपने सेनाधिकारियों के सामने एक गुप्त भाषण देते हुए कहा कि फ़्रांस और इंग्लैण्ड बड़े डरपोक हैं। जर्मन-रूसी सन्धि का मुख्य अभिप्राय ही फ़्रांस और इंग्लैण्ड को युद्ध की ओर से हतोत्साह करने का था। इसी बात का समर्थन मास्को के अधिकृत पत्र 'प्रवदा' ने २३ अगस्त १९४० की जर्मन-रूसी सन्धि का प्रथम वार्षिकोत्सव मनाते हुए अपने सम्पादकीय स्तम्भ में किया। उसने लिखा—"रूस और जर्मनी की सन्धि का समाचार साम्राज्यवादी युद्ध के संयोजकों और प्रेरकों के लिए अन्तिम चेतावनी थी। किन्तु इस चेतावनी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और युद्ध आरम्भ हो गया।"

न्यूरेमबर्ग में युद्ध-अपराधियों के मुकदमे में जर्मनी में पाये हुए जो सरकारी पत्र पेश किये गये, जिन्हें ७ दिसम्बर १९४५ को अमेरिकन समाचार-पत्रों ने उद्धृत किया, उनसे पता चलता है कि हिटलर ने जर्मन-सेना को पोलैण्ड पर आक्रमण करने का आदेश रूस से सन्धि करने के एक दिन बाद, अर्थात् २४ अगस्त १९३९ को दिया, जब कि उसे विश्वास हो गया कि इस संधि से पश्चिमी देश डर गये हैं और वे युद्ध से अलग रहेंगे।

हिटलर ने एक और भूल की। उसने यह आशा की कि पोलैण्ड की सैनिक-पराजय के साथ-ही-साथ युद्ध का भी अन्त हो जायगा। सितम्बर और अक्टूबर सन् १९३९ में हिटलर ने फ़्रांस और इंग्लैण्ड से कई बार सन्धि का प्रस्ताव किया। गोयरिंग ने बर्लिन की एक सभा में कहा कि पोलैण्ड के चार हफ़्ते की लड़ाई के बाद हम अब एक सम्मानपूर्ण सन्धि के लिए तैयार हैं।" पोलैण्ड को हड़पने के बाद नाज़ी कुछ देर के लिए साँस लेना चाहते थे। बाद में उन्होंने औरों को भी शिकार बनाया।

पोलैण्ड की विजय के बाद रूस ने भी युद्ध को समाप्त करने की चेष्टा की ३० नवम्बर १९४० के 'प्रवदा' में स्टालिन ने लिखा कि इंग्लैण्ड और फ़्रांस

के शासकवर्गों ने जर्मनी के सन्धि-प्रस्ताव और रूस के युद्ध को शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त करने के प्रयत्नों को रुखाई के साथ ठुकरा दिया।

रूसी सरकार ने हिटलर के विरुद्ध युद्ध करना निरर्थक समझा। ९ अक्टूबर १९३९ को रूस के सरकारी समाचार-पत्र 'मास्को इज़वेस्टिया' ने लिखा कि हिटलरवाद को नष्ट करने के अभिप्राय से युद्ध आरम्भ करना एक भयंकर राजनीतिक मूर्खता करना है।" इसीलिए रूस के विदेश-मन्त्री मोलोटोव ने फ़्रांस और इंग्लैण्ड को 'आक्रमणकारी' कहकर पुकारा।

द्वितीय महासमर का उद्‌गम रूस और जर्मनी का समझौता ही था; लेकिन यह कहना ठीक नहीं कि रूस को किसी बड़े युद्ध की आशंका थी। रूसी अधिकारियों ने सोचा कि रूस और जर्मनी में समझौता हो जाने से इंग्लैण्ड और फ़्रांस पोलैण्ड के सम्बन्ध में वही करने को तैयार हो जायंगे जो उन्होंने म्यूनिख में चेकोस्लोवेकिया के सम्बन्ध में किया था, और वे लड़ाई से दूर रहेंगे। बोल्शेविक जानते थे कि यदि ब्रिटेन और फ़्रांस पोलैण्ड के आत्म-समर्पण के लिए तैयार नहीं हुए तो हिटलर पोलैण्ड पर आक्रमण करके उसे कुचल डालेगा और रूस के साथ उसका बटवारा कर लेगा। स्टालिन ने यह भी सोचा कि इसके बाद ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सरकारों को झख मारकर जर्मनी के साथ सन्धि करनी पड़ेगी। उसे आशा थी कि इस प्रकार जर्मनी और पश्चिमी देशों में जा शत्रुता उत्पन्न होगी वह रूस की सुरक्षा का साधन बनेगा। यही कारण था कि स्टालिन ने हिटलर के साथ सन्धि कर ली।

घटनाओं ने सिद्ध किया कि स्टालिन ने भी भूल की। उसनें यह नहीं सोचा कि अब लन्दन में, और इसलिए पेरिस में भी, शान्ति-याचकों का राज नहीं है। इंग्लैण्ड और फ़्रांस संधि नहीं करेंगे, फ़्रांस का पतन होगा और, जैसी कि प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट नें भविष्य-वाणी की थी, रूस को भी उससे नुकसान उठाना पड़ेगा।

शासन के अधिकारी और उच्च सरकारी अफ़सर भी अक्सर साधारण व्यक्तियों की ही भाँति ढुलमुल नीति का अनुसरण करते हैं। मैं यह बात इस-लिए कहता हूं कि मैं इस प्रकार के अधिकारियों के साथ बैठ चुका हूँ और भावी घटनाओं पर विचार भी कर चुका हूँ। कभी-कभी इन लोगों के अनुमान ठीक होते हैं, किन्तु वे भूलें भी करते हैं, जिसका दंड जनता को भुगतना पड़ता है।

सितम्बर १९३८ की म्यूनिख वार्त्ता के बाद शत्रु को शान्त रखने की चेष्टा में जो ग्यारह महीने का समय बीता उसमें फ़्रांस और इंग्लैण्ड को युद्ध से बचे रहनें में उतनी ही कम सहायता मिली जितनी कि रूस को जर्मनी से संधि

करने के बाद के २२ महीनों में। मान-मनौअल से युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है घटती नहीं।

यह बात आँकड़ों द्वारा सिद्ध की जा सकती है कि हिटलर को संतुष्ट रखने की चेष्टा में ब्रिटेन और फ़्रांस ने न तो इतने शस्त्र बनाये न ख़रीदे ही कि उनसे चेकोस्लोवेकिया की खोई हुई सेना, शस्त्रों और शस्त्र-फैक्टरियों की क्षति-पूर्ति हो सकती। यह बात कही जा सकती है कि चेम्बरलेन और दलादिये की संतुष्टीकरण की नीति के बावजूद भी ग्रेट-ब्रिटेन विजयी हुआ और फ़्रांस मुक्त कर लिया गया। किन्तु सोचना यह है कि इस बात के लिए ब्रिटेन और फ़्रांस को कितना अतिरिक्त मूल्य चुकाना पड़ा।

रूस ने तुष्टीकरण की अवधि में शस्त्र बनाये तो ज़रूर, लेकिन इतने नहीं कि उनसे एक ओर तो फ़्रांस की क्षति-पूर्ति हो जाती और दूसरी ओर जर्मनी और पराजित देशों ने इस बीच जितना शस्त्र बनाया उसकी बराबरी की जाता। यह तो ठीक है कि अन्त में रूस को विजय प्राप्त हुई, किन्तु बताया जाता है कि युद्ध में रूस के दो करोड़ २० लाख नागरिक मारे गये। किसी भी देश ने इस संख्या को डेढ़ करोड़ से कम नहीं कूता है। यह संख्या उन दस लाख स्त्रियों और बच्चों से अलग है, जो घायल, रोग-ग्रस्त या अपंग बन गये। रूस की औद्योगिक और कृषि-सम्बन्धी अपार क्षति भी इसमें शामिल नहीं है। अंतिम विजय का अर्थ यह नहीं है कि जल्दी-से-जल्दी लोगों को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की जाय। हो सकता है कि शान्त प्रकृति वाले विजय को सिर्फ एक अख़बारी सुर्खी या किसी आपसी बहस में जीतने के लिए तर्क-मात्र समझें, किन्तु सभ्य व्यक्तियों के सामने जो असली सवाल होते हैं, वे ये हैं—विजय के लिए हमें कितनी क़ीमत चुकानी पड़ेगी? अगर कुछ ज्यादा चतुराई के साथ काम किया गया होता तो कम मूल्य देना पड़ता।

रूस ने अगर कुछ अधिक बुद्धिमत्ता से काम लिया होता तो वह युद्ध से अलग रहता और सन् १९३९ में फिलैण्ड में फँसने के बजाय फ़्रांस पर संकट आने के समय लड़ता। रूज़वेल्ट ने सन् १९४० में समझ लिया कि ब्रिटेन को अधिक-से-अधिक सहायता देने में ही अमेरिका की भलाई है। स्टालिन को भी यह समझ लेना चाहिए था कि रूस की भलाई फ़्रांस को अधिक-से-अधिक सहायता देने में है।

सन् १९४० के बसन्त-काल में यदि रूस ने दूसरा मोर्चा खोल दिया होता तो उससे जर्मनी की सेनाएँ बँट जातीं, फ़्रांस के विरुद्ध जर्मनी की आकाश-सेना इतनी तीव्रता से काम नहीं कर सकती और सम्भवतः फ़्रांस का पतन भी एक

गया होता, ठीक उसी तरह जैसे सन् १९१४ की गरमी में रूस ने जर्मनी पर आक्रमण कर देने से मार्न में फ्रांस का सँभलना सम्भव हो गया था। रूस की सहायता के बिना सन् १९१४ में भी फ्रांस का उतनी ही शीघ्रता से पतन हो गया होता जितनी शीघ्रता से १९४० में हुआ।

युद्ध को रोके रखने की यह नीति ख़तरे से भरी हुई थी। मसलन, सम्भव था कि रूसियों के हस्तक्षेप करने पर भी फ्रांस घुटने टेक देता और उस दशा में हिटलर बालकान देशों को हड़पने के बाद रूस पर टूट पड़ता। फिर भी उसने जो किया वह हमारे सामने है। यदि रूस ने पूर्वी मोर्चे पर युद्ध छेड़ दिया होता तो फ्रांस को बचाने का कम-से-कम अवसर अवश्य मिलता। स्टालिन का सबसे बड़ा दुःसाहस फ्रांस को हरवाना और फिर यूरोप में हिटलर के साथ अकेले लड़ना था।

स्टालिन ने यह अनुमान लगाने में भूल की कि इंग्लैण्ड और फ्रांस पोलैण्ड पर आक्रमण होने से पहले हिटलर की बातें मान लेंगे। उसने यह अनुमान भी ग़लत लगाया कि पोलैण्ड के पतन के बाद फ्रांस और इंग्लैण्ड युद्ध से अलग हट जायंगे। इसके अलावा उसने फ्रांस को सहायता न देने की भी भूल की।

स्टालिन ने हिटलर की युद्ध-नीति के केन्द्रीय तत्त्व को भी समझने में ग़लती की। इस सम्बन्ध में हमें बड़ा दिलचस्प प्रमाण रूस के भुतपूर्व विदेश-मंत्री मैक्सिम लिटविनाव से मिलता है जो दूसरे कूटनीतिज्ञों की तुलना में विश्व-स्थिति को ज्यादा अच्छी तरह समझ पाता था। १३ दिसम्बर १९४१ को उसने वाशिंगटन के सम्वाददाताओं को एक वक्तव्य में बताया—"मेरी सरकार को हिटलर के विश्वासघातपूर्ण विचारों की चेतावनी मिल चुकी थी, किन्तु उसने उस पर अधिक गम्भीरता के साथ विचार नहीं किया। इसका कारण यह नहीं था कि रूस को हिटलर के हस्ताक्षरों की पवित्रता में विश्वास था या वह यह समझता था कि हिटलर जिन संधियों पर हस्ताक्षर कर चुका है और जो पवित्र प्रतिज्ञायें उसने बार-बार दुहराई हैं उन्हें वह भंग नहीं करेगा। रूसियों ने सोचा कि अगर पश्चिम में युद्ध समाप्त करने से पहले हिटलर पूरब में हमारे-जैसे शक्तिशाली देश से भिड़ेगा तो यह उसका पागलपन होगा।"

हिटलर ने पागलपन किया ही। लेकिन क्या स्टालिन को यह मालूम नहीं था कि हिटलर के सामने और कोई चारा ही नहीं था? स्टालिन को आशा थी, और इसीलिए विश्वास भी था, कि फ्रांस की लड़ाई के बाद जर्मनी इंग्लैण्ड के मृत्यु-पाश में फँस जायगा और वह उस समय तक नहीं निकल पायगा जब तक कि

दोनों में से एक का पतन न हो जाय। रूस को यह भी आशा थी कि इन दोनों में से जो देश जीतेगा वह इतना थक जायगा कि उसमें रूस को छेड़ने की शक्ति न रह जायगी। स्टालिन को यह बात तो समझ में नहीं आई कि सन् १६४० और ४१ में ब्रिटेन की शक्ति की परीक्षा लेने के बाद और उसे बलवान पाकर हिटलर उधर से अपना पंजा ढीला कर देगा और वह रूस की छाती पर चढ़ बैठेगा।

स्टालिन न हिटलर और विश्व-स्थिति दोनों ही को ग़लत समझा और यही कारण था कि उसने हिटलर के साथ गुटबंदी की।

इस गुटबंदी से और बाद के समझौते से भी दोनों दलों को लाभ की आशा थी, कुछ सच्ची और कुछ भ्रामक। २३ अगस्त १९४० को 'प्रवदा' ने कहा कि इस सन्धि से जर्मनी को पूरब में अखण्ड सुरक्षा की गारंटी मिल गई है।" यह बात सच थी और इसके कारण हिटलर को पश्चिम में विजय-ही-विजय प्राप्त हुई। नाज, चरी, जूट, पेट्रोल आदि अपरिमित मात्रा में सीधे रूस से और रूस के ज़रिये जापान से जर्मनी आये। १९४० में जर्मनी को सात लाख टन तेल प्राप्त हुआ।

यूरोप और दूसरे देशों के कम्युनिस्ट-दल एकाएक सुलह, समझौते और युद्ध से अलग रहने के पक्षपाती बन गये। उन्होंने अपना क्रोध जर्मनी के शत्रुओं पर उतारा और स्वयं जर्मनी की ओर से चुप्पी साध ली। समझौते के बाद ऐसा होना अनिवार्य था। रूसी समाचार-पत्रों ने डेन्मार्क और नार्वे पर किये गये हिटलर के आक्रमणों का समर्थन किया। ३० नवम्बर, १९४० के 'प्रवदा' में स्टालिन ने लिखा—"जर्मनी ने फ्रांस और इंग्लैण्ड पर आक्रमण नहीं किया, बल्कि फ्रांस और इंग्लैण्ड ने जर्मनी पर आक्रमण किया। वर्त्तमान युद्ध का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है।" चूँकि स्टालिन ने युद्ध का दोषारोपण फ्रांस और इंग्लैण्ड पर किया, इसलिए यह कैसे हो सकता था कि जनतंत्री राज्यों के कम्युनिस्ट फ्रांस या ब्रिटेन का पक्ष लेते। जर्मनी और रूस में जब तक सन्धि रही तब तक सारे रूस में फ़ाशिस्ट और जर्मन-विरोधी प्रचार रुका रहा। फ्रैडरिक वुल्फ़ के "प्रोफ़ेसर मेमलौक" जैसे नाज़ी-विरोधी और आइन्सटीन के 'अलकज़ेण्डर नेवेस्की' जैसे जर्मन-विरोधी फ़िल्मों का दिखाया जाना बन्द कर दिया गया। आइन्सटीन ने वेगनर के "डाइवाक्वुरे" नाम का नाटक खेला और नाज़ी अफ़सरों ने उससे—एक यहूदी से—हाथ मिलाया और बधाई दी, रूसी खम्भों पर रूस के हथौड़े और हँसिया वाले झंडे के साथ-साथ जर्मनी का स्वस्तिक झंडा फहरा देने के बाद ऐसा होना अनिवार्य था। ९ अक्तूबर, १९४१ को 'इजवेस्तिया' ने विरक्तभाव से लिखा—"प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है

कि वह किसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करे और उसे स्वीकार करे या न करे। हिटलरवाद या किसी भी दूसरी राजनीतिक विचार-प्रणाली का सम्मान करना भी सम्भव है और घृणा की दृष्टि से देखना भी। यह सब अपनी-अपनी पसन्द की बात है।" जब स्वयं मास्को में फाशिज्म का विरोध रोका जा रहा था और नाज़ियों के प्रति सहिष्णुता का प्रचार किया जा रहा था, तो बाहर के कम्युनिस्ट किस प्रकार नाज़ी-विरोधी हो सकते थे! उन दिनों नाज़ीवाद का विरोध करना या युद्ध का समर्थन करना वास्तव में स्टालिन का विरोध करने के समान था। इसलिए जनतंत्री देशों के कम्युनिस्टों ने रक्षात्मक यंत्र तैयार करने वाले कारखानों में हड़ताल की आग फैलाई। अमेरिकन कम्युनिस्ट दल ने 'जर्मनी के बनाये हुए' माल पर से बहिष्कार उठा लिया और हिटलर के रूस पर आक्रमण करने के दिन तक वे ह्वाइट हाउस पर धरना देते हुए रूज़वेल्ट की नाज़ी-विरोधी नीति के विरुद्ध प्रदर्शन करते रहे। ब्रिटिश कम्युनिस्टों ने तो उन दिनों भी, जब ब्रिटेन पर जर्मनी द्वारा धुआँधार बम बरसाये जा रहे थे, ब्रिटिश प्रयत्नों में बाधा डाली। फ्रांसीसी कम्युनिस्टों ने अपने देश को शीघ्र पराजित होने में यथासाध्य सहायता की। यदि स्टालिन ने रूस की शक्ति को बढ़ाने के लिए अवकाश निकालने के अभिप्राय से हिटलर के साथ समझौता किया था, तो समझ में नहीं आता कि कम्युनिस्टों ने क्यों हिटलर को सहायता दी और जर्मनी के विरुद्ध लड़ने वाले देशों के युद्ध-प्रयत्न में बाधा डालकर रूस को दुर्बल बनाया!

जो रूस किसी समय फ़ाशिज़्म का सबसे बड़ा विरोधी और सामूहिक सुरक्षा का पक्षपाती था, उसी ने उस देश से व्यापक संधि कर ली, जहाँ कम्युनिस्टों, यहूदियों और जनतंत्र के प्रति अनाचार होते थे और जहाँ की फ़ाशिस्ट सरकार जातीयता, लालच और बर्बरता की भावना से भरी हुई थी। स्वभावतः उसके इस कार्य से, चाहे वह किसी भी प्रलोभन या आकर्षण से प्रेरित क्यों न हुआ हो, सिद्धान्त के उस अपमान और राजनीतिक व्यभिचार के फैलने में सहायता मिली जिसके कारण पेताँ को शीघ्र ही हिटलर के सामने सिर झुकाना पड़ा और जो अब भी हम में पाया जाता है। रूस और जर्मन की सन्धि ने कितने ही सिद्धान्तहीन कार्यों और विचारों को जन्म दिया। सार्वजनिक मामलों में किसी के शिष्टता से गिरने से हिटलर को अपनी तानाशाही चक्की पीसते रहने के लिए मसाला मिल जाता था और वह अब भी एकाधिकारवादियों के लिए लाभदायक है।

हिटलर को रूस से सन्धि करने से ये लाभ हुए। अब देखना है कि

रूस को क्या लाभ हुआ। रूस को दूसरों की भूमि पर अधिकार प्राप्त हुआ। सबसे पहले उसने पूर्वी पोलैण्ड के उतने भाग पर अधिकार किया जितने के लिए दोनों देशों में आपस में समझौता हुआ था। १४ अक्तूबर १९३९ को रिबनट्राप ने डैनज़िग में एक भाषण देते हुए बताया कि पोलैण्ड में युद्ध आरम्भ होने के कुछ ही दिनों बाद "रूसी सेनायें सारे मोर्चे पर आगे बढ़ीं और उन्होंने पोलैण्ड पर उस रेखा तक अधिकार कर लिया जो पहले ही रूस के साथ बात-चीत करके तै कर ली गई थी।"

मैं रिबनट्राप के शब्दों पर उस समय तक विश्वास करने को तैयार नहीं होता जब तक कि वे वस्तुतः कार्यरूप में परिणत न हो जायं। सत्य यह है कि पोलिश सेना का पीछा करते हुए जर्मन-सैनिक अक्सर निर्धारित सीमा को पार कर जाते थे और जब कभी ऐसा होता था तो रूसी सेना के वहाँ पहुँचते ही जर्मनी के सशस्त्र सैनिक फ़ौरन पीछे हट जाते थे। निश्चय ही जर्मनी के विजयी सैनिक नाज़ी सरकार से पहले से ही हिदायत पाये बिना ऐसा कदापि न करते।

जब हिटलर ने पोलैंड को बहकाने और बिना लड़े ही हार मानने के लिए विवश करने के अभिप्राय से प्रचार आरम्भ किया तो रूस के विदेश-मंत्री लिटविनाव ने २७ नवम्बर १९३८ को मास्को के पोलिश-राजदूत के सामने पोलैंड के साथ की हुई अनाक्रमण-संधि का फिर से समर्थन किया। इसका अभिप्राय पोलैंड निवासियों को दृढ़ बने रहने के लिए प्रोत्साहन देना था। २९ जून १९३९ को मोलोटोव ने, जो इस बीच रूस के विदेश-मंत्री बन गये थे, मास्को-स्थित पोलिश-राजदूत को सरकारी रूप से विश्वास दिलाया कि यदि पोलैंड पर आक्रमण हुआ तो रूस उसे न केवल आर्थिक सहायता देगा बल्कि पुर-मान्स्क बन्दरगाह के रास्ते रूसी प्रदेश को पार कर सामान मँगाने का भी अधिकार देगा। व्यापार के कमिश्नर मीकोयाँन जो एक उच्च-पदासीन कम्यु-निस्ट थे, पोलिश अधिकारियों को एक बार फिर यही आश्वासन दिया। जब तक कि रूसी सरकार को पश्चिमी देशों के साथ समझौते की सम्भावना दिखाई दी, तब तक उसने पोलैंड से होकर रूसी सेना के गुज़रने का—सम्भवतः जर्मनों से लड़ने के लिए—प्रश्न नहीं उठाया। जैसा कि सन् १९३८ में म्यूनिख-संकट के समय लिटविनाव ने मुझसे बार-बार कहा था, प्रत्येक रूसी अफ़सर को यह बात मालूम थी कि पोलैंड की कोई भी सरकार रूसी सैनिकों को अपने देश में नहीं घुसने देगी। सन् १९३९ में जब मास्को में रूस, इंग्लैंड और फ्रांस के बीच समझौते की बातचीत चली तो रूस ने अपनी सेना के पोलैंड में प्रवेश करने की बात १५ अगस्त से पहले नहीं उठाई। उस समय तक २३ अगस्त के

रूसी-जर्मन समझौते का मसविदा तैयार हो चुका था और यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि रूस पोलैंड की सहायता नहीं करेगा। यही बात उस समय वार्त्ता को भंग करने के लिए कारण बन गई।

स्टालिन जानता था कि सीधे पोलैंड से समझौता करने से या फ़्रांस और ब्रिटेन से बातचीत करके पोलैंड का एक टुकड़ा भी नहीं मिल सकेगा। हिटलर से संधि करने से उसे पोलैंड में हिस्सा मिला। यही बात बाल्टिक राज्यों के सम्बन्ध में भी हुई। फ़्रांस और इंग्लैंड से बातचीत करते समय रूसी सरकार ने इन राज्यों में अपने लिए विशेष अधिकार माँगे। ब्रिटेन और फ़्रांस उन्हें स्वतंत्र राष्ट्र समझते थे और इसीलिए उन्होंने स्टालिन को वहाँ सैनिक अड्डे बनाने का अधिकार नहीं दिया किन्तु हिटलर ने स्टालिन को यह अधिकार दे दिया।

इस प्रकार कार्य करना स्टालिन की विशेषता थी। जब वह अपनी मन-चाही वस्तु को पाने का एक रास्ता बन्द देखता था तो वह कुछ देर के लिए रुक जाता था और फिर चक्कर काटकर उस वस्तु को दूसरे रास्ते से प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। यह ढंग वह केवल अपनी घरेलू नीति में ही नहीं बल्कि विदेशी नीति में भी अक्सर काम में लाता था। स्टालिन टेढ़े-तिरछे रास्तों से होकर सीधे आगे बढ़ा करता है। उसने जब देखा कि अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों की नैतिकता रास्ते में रुकावट डाल रही है तो उनके साथ बातचीत बन्द कर दी और हिटलर के साथ सन्धि कर ली, जिसके फलस्वरूप उसे पोलैंड के एक भाग पर अधिकार मिल गया और बाल्टिक के छोटे-छोटे देशों पर अपना संरक्षण स्थापित करने में भी सफलता मिली। बाद में यह सोवियत् रूस में अन्तर्हित कर लिया गया।

२२ जून १९४१ को रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हुए हिटलर ने बताया कि रूसी-जर्मन सन्धि की बातचीत करते समय एक विशेष समझौता उस स्थिति के लिए किया गया था जो ब्रिटेन के भड़काने से पोलैण्ड के जर्मनी के विरुद्ध शस्त्र उठा लेने पर उत्पन्न होती। यदि पौलैण्ड लड़ता नहीं तो रूस को उसका एक हिस्सा मिलता और यदि लड़ता, तो विशेष समझौते के अनुसार रूस को बाल्टिक में कुछ अतिरिक्त अधिकार दिये जाते। इस सम्बंध में हिटलर ने कहा—"जर्मनी ने मास्को में यह बात गम्भीरतापूर्वक कह दी थी कि एस्थीनिया, लैटबिया, फिनलैंड और बेसेरीबिया तो जर्मनी के राजनीतिक प्रभाव से बाहर अवश्य हैं किन्तु लिथुएनिया नहीं। जर्मनी इस क्षेत्र को रूस से प्रभावित समझता था।"

लाभ हुआ। इसी तरह उसके पश्चिमी यूरोप पर आक्रमण करने से रूस को रूमानिया और बाल्टिक देशों में हिस्सा मिला। रूस ने युद्ध की तैयारी के लिए समय प्राप्त करने के अभिप्राय से नहीं बल्कि दूसरे देशों पर अधिकार प्राप्त करने की इच्छा से जर्मनी के साथ संधि की। उसने लिटविनाव को पद-च्युत कर और १९३९ में जर्मनी से सन्धि कर साम्राज्य-विस्तार का मार्ग प्रशस्त कर लिया और अब भी वह उसी पथ पर बढ़ता चला जा रहा है।

जून १९३६ में स्टालिन ने कहा था—"हमें दूसरों की एक फुट भी ज़मीन नहीं चाहिए, लेकिन हम अपनी ज़मीन का एक इंच भी दूसरों को नहीं लेने देंगे।" रूसी विदेश-नीति का सदा यही मुख्य सिद्धान्त रहा है। ध्यान रहे कि स्टालिन ने यह नहीं कहा कि हमें पूर्वी पोलैण्ड या बाल्टिक-राज्यों या फ़िनलैण्ड के एक भाग को छोड़कर और किसी देश की एक फुट ज़मीन भी नहीं चाहिए। उसने कहा कि "हमें किसी भी दूसरे देश की ज़मीन नहीं चाहिए।" स्टालिन के समर्थकों को यह निश्चय करना होगा कि स्टालिन सचमुच अपनी कही हुई बात पर विश्वास करता था या १९३६ में उसने यह बात केवल इसलिए कही थी कि उस समय उसमें आक्रमण करने की क्षमता नहीं थी और फिर सन् १९३९ में इस सिद्धान्त को इसलिए त्याग दिया कि तब तक दूसरे देशों को हड़पने की उसमें शक्ति आगई थी।

यद्यपि क्रान्ति की चपेट में पूर्वी पोलैण्ड, बाल्टिक राज्य, फ़िनलैण्ड और बेसेरेबिया रूस के हाथ से निकल गए फिर भी सन् १९२० के बाद रूस पर कोई आक्रमण नहीं हुआ। सन् १९४१ में उस पर तब आक्रमण हुआ जब वह इन देशों को फिर से जीत चुका था। वह आक्रमण जर्मनी का हुआ था जिसकी सहायता से उसने इन देशों को पुनः प्राप्त किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह एक स्वाभाविक नियम है—और शायद आजकल का सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है कि विस्तार के साथ विस्तार की भूख बढ़ती जाती है। सन् १९४० की गर्मियों तक रूस उन सभी स्थानों पर अधिकार कर चुका था जो पहले ज़ार के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इनके अतिरिक्त उसने पूर्वी गैलीशिया और उत्तरी बुकोविना पर भी, जो पहले कभी रूसी आधिपत्य में नहीं थे, क़ब्ज़ा कर लिया था। फिर भी, रूस के रक्षा-कमिश्नर टिमोशैंको ने ७ नवम्बर १९४० को मास्को में कहा—"सोवियत् रूस ने अपनी सीमाएँ बढ़ा ली हैं, लेकिन हम इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते।" स्वभावतः रूस ने बालकान में फैलने की चेष्टा की।

सितम्बर १९४० में फ़्रांस हिटलर के काले जूते की एड़ी तले दबा पड़ा

था और ब्रिटेन पर जर्मन हवाई जहाज़ धुआंधार बम बरसा रहे थे। 'यू' बोटों की सरगरमी ने अन्धमहासागर में एक भयानक संकट उपस्थित कर दिया था। स्टालिन ने इस अवसर को एक दूसरा महान् प्रयत्न करने के लिए बड़ा उपयुक्त समझा किन्तु जर्मनी पश्चिम में फँसे रहने पर भी पूरब की ओर से सतर्क था। पत्रकार लेलैण्ड स्टो ने, जो नाज़ियों के कट्टर विरोधी थे, २० सितम्बर, १९४० को बुख़ारिस्ट से न्यूयार्क को निम्नलिखित तार दिया—"जर्मनी ने रूस के रूमानिया में और अधिक विस्तार करने के आयोजन को सफलता पूर्वक रोक दिया है।... इसमें संदेह नहीं कि रूस का बलगेरिया और काले समुद्र-तटवर्ती प्रदेश पर सितम्बर में अधिकार कर लेने की आशा पर तुषारपात होगया है। इसका यह मतलब नहीं है कि रूस ने बालकान में विस्तार की आकांक्षाएँ छोड़ दी हैं।" १४ अक्तूबर, १९४० को बुडापेस्ट से भेजे गये एक दूसरे पत्र में स्टो ने अपने उक्त कथन का समर्थन किया। उसने तार देते हुए लिखा—"स्टालिन की लाल सेना अब बालकान से बाहर निकाल दी गई है।"

इस रक्तहीन राजनीतिक युद्ध को जीतने के बाद हिटलर ने रूस के विदेश-मंत्री मोलोटोव को बर्लिन आने का निमंत्रण दिया। मोलोटोव वहाँ १२ नवम्बर को पहुँचे। उस समय उनका जो चल-चित्र तैयार किया गया उसमें वह अपना टोप उठा-उठाकर रास्ते में हर जर्मन अफसर का अभिवादन करते हुए दिखाये गये। लेकिन उनका चपटा चेहरा गम्भीर मालूम होता था; वह हिटलर के साथ महत्त्वपूर्ण बातचीत करने वाले थे।

उस समय यह चर्चा फैली थी कि हिटलर से बात करते समय मोलोटोव जिस कोच पर बैठे थे उसमें जर्मनी की खुफ़िया पुलिस ने माइक्रोफ़ोन (ध्वनिविस्तारक यंत्र) लगा दिये थे। कहा जाता है कि बाद में जर्मनों ने यह सिद्ध करने के लिए कि हिटलर ने किस प्रकार रूस के विरुद्ध तुर्की के हितों की रक्षा की—माइक्रोफ़ोन के रिकार्डों को तुर्क और दूसरे अफ़सरों को सुनाया। यह बात ठीक थी या ग़लत यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नाज़ियों के लिए ऐसा करना असम्भव नहीं था।

हिटलर और मोलोटोव ने अपनी ऐतिहासिक मुलाक़ातों में किन-किन विषयों पर बातचीत की, इसके सम्बन्ध में हमें केवल उतना ही मालूम है जितना कि हिटलर और रिबनट्रॉप ने २२ जून १९४१ को बताया। हिटलर ने कहा—"रूस के विदेश-मंत्री ने हमसे संधि के सम्बन्ध में चार बातों का स्पष्टीकरण चाहा। मोलोटोव का पहला प्रश्न यह था—जर्मनी ने रूमानिया को जो गारंटी दी है वह क्या रूस द्वारा रूमानिया पर आक्रमण किये जाने पर रूस के विरुद्ध

भी लागू होगी ? मैंने उत्तर दिया—जर्मनी ने एक आम गारंटी दी है और वह हमारे लिए बिना किसी शर्त के बाध्य है। रूस ने हमें यह कभी नहीं बताया कि बेसेरेबिया के अलावा भी उसकी रूमानिया में कोई दिलचस्पी है।"......दूसरे शब्दों में यों कहिये कि हिटलर ने मोलोटोव को बताया कि जर्मनी रूस से रूमानिया की रक्षा करेगा।

हिटलर ने आगे कहा—"मोलोटोव का दूसरा प्रश्न यह था—फिनलैण्ड एक बार फिर रूस के लिए संकट बन गया है। क्या जर्मनी फिनलैंड को किसी तरह की भी सहायता न देने के लिए तैयार है ?"

मैंने उत्तर दिया—"जर्मनी को अब भी फिनलैण्ड में किसी प्रकार की राजनीतिक दिलचस्पी नहीं है। फिर भी अल्पसंख्यक फ़िनिश जनता पर रूस का कोई नया आक्रमण जर्मन सरकार को अब सह्य नहीं होगा, विशेषत: इसलिए कि हम इस बात पर कभी विश्वास नहीं कर सकते कि रूस को फिनलैण्ड से ख़तरा हो सकता है।"

मोलोटोव का तीसरा सवाल यह था—"क्या जर्मनी यह मानने को तैयार है कि रूस बल्गेरिया को सुरक्षा का आश्वासन दे और वहाँ इस कार्य के लिए रूसी सेना भेजे ? इस सम्बन्ध में मोलोटोव यह कहने को तैयार थे कि रूस बल्गेरिया के राजा को गद्दी से उतारना नहीं चाहता।"

मैंने उत्तर दिया—"बल्गेरिया की सत्ता सार्वभौमिक है और मुझे पता नहीं कि उसने रूस से कभी ऐसे आश्वासन के लिए प्रार्थना की है जैसी रूमानिया ने जर्मनी से की थी।"

मोलोटोव का चौथा सवाल यह था—"हर हालत में रूस दर्रे दानियाल से होकर आने-जाने का स्वतन्त्र रास्ता चाहता है और अपनी रक्षा के लिए दानियाल और बॉसफ़ोरस के कई महत्त्वपूर्ण अड्डों पर अधिकार भी चाहता है। क्या जर्मनी इससे सहमत है ?"

मैंने उत्तर दिया—"जर्मनी मॉनट्रियो संधि में कालेसागर के तटवर्ती राज्यों के अनुकूल परिवर्तन करने को हर समय तैयार है, किन्तु जलडमरूमध्यों के अड्डों पर रूस का अधिकार होने देने के लिए तैयार नहीं।"

हिटलर का यह बनावटी भोलापन और अपने को फ़िनलैण्ड और बालकान देशों का रक्षक सिद्ध करने का प्रयत्न किसी से छिप नहीं सका। बालकान के सम्बन्ध में उसकी अपनी योजनाएं थीं और उसे रूस का हस्तक्षेप बुरा मालूम होता था। फिर भी, दोनों ने बालकान की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया और इसमें सन्देह नहीं कि हिटलर ने मोलोटोव की माँगों की जो रूपरेखा बताई

वह उस नीति से बिलकुल मिलती-जुलती है जो रूस ने अपनी सेना की शानदार जीतों के बाद सन् १९४४ में ग्रहण की।

१६ नवम्बर को मोलोटोव मास्को लौट गया। हिटलर ने फ़ौरन स्लोवेकिया, हंगरी और रूमानिया के प्रतिनिधियों को बुलाकर धुरी-राष्ट्रों का साथ देने का आदेश दिया और उन्होंने उसकी आज्ञा का पालन किया। जब हंगरी ने ऐसा किया तो रूस की सरकारी तार एजेंसी 'टास' ने २२ नवम्बर को घोषणा की कि हंगरी ने मास्को की स्वीकृति लिये बिना ही यह कार्य किया है। 'टास' ने इन शब्दों द्वारा रूस की अस्वीकृति का संकेत किया, किन्तु हिटलर ने उस पर ध्यान नहीं दिया और वह बालकान की क़िलेबन्दी करने लगा। इस काम में उसे मुसोलिनी की वाहवाही भी मिली, किन्तु इटली से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई।

बाल्कान की क़िलेबन्दी का अभिप्राय क्या था? एक बड़ी घटना घटने वाली थी। इस बार हिटलर ने अपनी तैयारी धीरे-धीरे की। बलगेरिया पर मार्च १९४१ में उसने अधिकार किया। उसी महीने की तीसरी तारीख़ को रूस ने सरकारी रूप से उसके इस कार्य की निन्दा की। मोलोटोव की बर्लिन-यात्रा के बाद से रूस और जर्मनी का सम्बन्ध स्पष्टतः बिगड़ता जा रहा था और अब वह एक संकट की स्थिति में पहुँच गया था।

रूस के प्रवेश-द्वार को चकनाचूर करने से पहले हिटलर बालकान में अपने पीछे के द्वार में ताला डालना चाहता था, किन्तु अभी यूगोस्लेविया और यूनान का सफ़ाया करना बाकी था। यूगोस्लेविया ही जर्मनी के यूनान में घुसने का मार्ग था, जहाँ (जनवरी और फ़रवरी सन् १९४१ में) महान् मुसोलिनी की सेनाएँ साधारण अस्त्र-शस्त्र से सज्जित यूनानी योद्धाओं द्वारा अपमानित की जा रही थीं।

अतः मार्च १९४१ के अन्त में हिटलर ने अपनी 'भींचने और भय दिखाने' का प्रसिद्ध रीति से काम लिया और यूगोस्लेविया की सरकार को धुरीराष्ट्रों का साथ देने के लिए विवश किया। बेलग्रेड के प्रतिगामियों और राजभक्तों ने कोई आपत्ति नहीं की, किन्तु वहाँ की जनता और सैनिक कार्यकर्त्ता चुप नहीं बैठे। उन्होंने एक साथ मिलकर विप्लव किया और हिटलर के साथ हिटलर की इच्छानुसार संधि करने वाले मंत्रिमंडल को उखाड़ फेंका। अमेरिका के सरकारी क्षेत्रों में कहा गया कि यह घटना अंग्रेज़ों की प्रेरणा से हुई है। नाज़ियों ने कहा इसमें रूस का हाथ है। रूस और ब्रिटेन दोनों ही यूगोस्लेविया को जर्मनों की आँखों की किरकिरी बना देना चाहते थे। यूगोस्ले-

विया की रक्षा कर अंग्रेज स्वेज़ और भारत की तथा रूसी मास्को की रक्षा कर रहे थे।

२७ मार्च को जनरल डूसाँ सिमोविच के नेतृत्व में यूगोस्लोविया में धुरी-राष्ट्र-विरोधी एक नई सरकार बनी और उसने जर्मनी के विरुद्ध लड़ना आरम्भ किया। ५ अप्रैल को रूसी सरकार ने यूगोस्लोविया की इस नई सरकार के साथ मित्रता की संधि की। यह हिटलर का खुल्लम-खुल्ला विरोध था।

९ अप्रैल को रूस के सैनिक पत्र 'रैड स्टार' ने लिखा कि जर्मनी को यूगोस्लोविया में कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। साथ-ही-साथ उसने यूगोस्लावों के परम्परागत सैनिक गुणों का भी उल्लेख किया और बताया कि जनरल सर आर्कीबाल्ड वेवेल के नेतृत्व में ब्रिटिश कमान ने यूगोस्लोविया को सहायता देने का गम्भीर प्रबंध कर दिया है।

रूस को आशा थी कि यूगोस्लोविया और यूनान जर्मनी से डटकर मोर्चा लेंगे और ब्रिटेन उनकी सहायता करेगा।

बालकान का युद्ध रूस के लिए युद्ध और शान्ति दोनों का कारण बन सकता था। इस बात की सम्भावना थी कि जर्मनी यूगोस्लोविया और यूनान दोनों को कुचलने के बाद उसी दिशा में क्रीट, मिस्र, सीरिया, ईराक और भारत की ओर बढ़ता रहे। बहुत से जर्मन जनरलों ने इस कार्य-क्रम का समर्थन किया भी था। उस दशा में रूस के लिए कोई तात्कालिक संकट न होता।

अप्रैल सन् १९४१ में ईराक़ में रशादअली ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध विप्लव किया। उससे अगले महीने में विची (फ़्रांस) के अधिकारियों ने जर्मनों को सीरिया में फ़्रांसीसी हवाई अड्डों को प्रयोग में लाने की अनुमति दे दी, अलेप्पो का हवाई अड्डा तो बिलकुल नाज़ियों के लिए ही छोड़ दिया गया। सीरिया से जर्मनों ने रशीदअली को सैनिक सहायता भेजी, उधर उत्तरी अफ़्रीका में इटली और जर्मनी का एक संयुक्त सेना अंग्रेज़ों से जूझ पड़ी।

अब प्रश्न यह था—क्या हिटलर भारत को ओर बढ़कर जापानियों का साथ देगा? सीधे ब्रिटिश द्वीप समूह पर आक्रमण करने में असफल होने के कारण सम्भवथा हिटलर ब्रिटिश-साम्राज्य का अंग-भंग करने का प्रयत्न करता। उस समय हिटलर का ध्यान रूसी प्रदेश से बहुत दूर चला जाता।

रूस की ये आशाएं निष्फल रहीं। हिटलर ने अपनी सारी शक्ति यूगोस्लेविया और यूनान के विरुद्ध केन्द्रित कर दी और अप्रैल का अन्त होते-होते दोनों देश पद्-दलित कर दिये गए। उसके बाद शीघ्र ही सारे यूरोप में यह अफ़वाह फैल गई कि जर्मन-सेनाएँ बालकान और फ़्रांस से हटाकर रूसी सीमा

की ओर भेजी जा रही हैं। जर्मन टुकड़ियां फ़िनलैण्ड में दिखाई भी दीं।

मास्को में सनसनी फैल गई। स्टालिन ने बड़ी तत्परता और पौरुष के साथ काम किया। ये ही वे गुण हैं जिनसे उन्हें शक्ति और ख्याति मिला है। ६ मई को उन्होंने मोलोटोव को हटा दिया और वह स्वयं सोवियत् सरकार के प्रधान बन गए। उस समय स्टालिन की आयु ६२ वर्ष की थी।

८ मई १९४१ को मैंने अमेरिका के अंडर-सेक्रेटरी समनर वेल्स को एक पत्र में लिखा; "यदि हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया या उस पर युद्ध के सहायतार्थ अधिक सामान देने का दबाव डाला तो उससे यह सिद्ध हो जायगा कि २३ अगस्त सन् १९३९ के समझौते में तुष्टीकरण की जिस नीति का आरम्भ किया गया वह खोखली थी। युद्ध आरम्भ हो जाने पर या घटनाओं द्वारा रूसी कूटनीतिज्ञता की असफलता सिद्ध हो जाने पर स्टालिन की इच्छा सारी शक्ति और अधिकार अपने हाथ में ले लेने की होगी और वह किसी दूसरे के हाथ में शक्ति नहीं रहने देना चाहेंगे।"

संकट के समय सर्वोच्च अधिकार का मोलोटोव जैसी गुड़िया के हाथ में छोड़ देना दुर्बलता का निर्देशक होता। इसीलिए स्टालिन ने रूसी शासन का अध्यक्षता अपने हाथों में ले ली। साथ-ही-साथ, उन्होंने युद्ध के लिए अपनी सेना भी तैयार की। फिर भी उन्होंने हिटलर को एक बार फिर तुष्ट करने और उसकी चेष्टा को ब्रिटिश-अधिकृत पूर्वीय देशों की ओर मोड़ने की आशा नहीं छोड़ी थी। एकाएक रूस की नीति बदल गई और वह विरोध की बजाय आज्ञापालन की ओर झुकी। ९ मई को रूसी सरकार ने नार्वे और बेल-जियम पर से स्वीकृति वापिस ले ली और उनके मास्को-स्थित कूटनीतिक प्रति-निधियों के विशेषाधिकार भी रद्द कर दिये। नार्वे और बेलजियम साल भर से हिटलर के आधिपत्य में थे फिर भी रूस उनके राज-दूतों को स्वीकार करता आया था। अब उसने उन्हें अस्वीकार कर दिया और यूगोस्लोविया पर से भी स्वीकृति वापिस ले ली। स्मरण रहे कि उसने एक मास पहले यूगोस्लोविया के साथ मित्रता की संधि की थी। हिटलर को तुष्ट करने के विशेष अभिप्राय से उसने ईराक़ के ब्रिटिश-विरोधी राजद्रोही रशीदअली की सत्ता स्वीकार कर ली।

स्थिति अब अंत पर पहुँचती जा रही थी। लोग रोमांचकारी घटनाओं के समाचार सुनते-सुनते कुन्द हो गये थे। एकाएक और भी बड़ी रोमांचकारी घटना हुई। हिटलर का डिप्टी रूडोल्फ़ हेस हवाई जहाज़ में बैठकर स्काटलैण्ड गया और १० मई को एक हवाई छतरी के ज़रिये हेमिल्टन के ड्यूक की बड़ी

रियासत के पास उतरा। वहां के एक आश्चर्य-चकित किसान ने, जो खेत में दोदांता फावड़ा चला रहा था, उसे पकड़ लिया।

कई महीने बाद मैंने लंदन में हेस-रहस्य के सम्बन्ध में ब्रिटेन के विदेश-मंत्री एन्थेनी ईडेन, गृह-मंत्री हरबर्ट मॉरिसन, डिप्टी प्रधान-मंत्री क्लेमेंट एटली, मजदूर-नेता प्रोफेसर हेराल्ड लास्की और कई अन्य व्यक्तियों के साथ बातचीत की। ईडन से जो बातचीत हुई वह इस प्रकार थी।

ईडन—"जर्मन-आक्रमण के सम्बन्ध में हमने रूसियों को तीन सप्ताह पहले ही आगाह कर दिया था।"

मैं—"यह बात उन्हें पहले से ही मालूम होगी। जब हेस स्काटलैंड आया तो अवश्य ही जर्मनी ने रूस पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया होगा।"

ईडन—"क्यों?"

मैं—"हेस १० मई को आया। उस समय तक २२ जून के आक्रमण की तैयारी अवश्य आरम्भ हो गई होगी। कोई भी देश ऐसा आक्रमण छः हफ्ते की तैयारी के बिना नहीं कर सकता।"

ईडन—"तो क्या आप समझते हैं कि हेस रूस पर आक्रमण करने के विरुद्ध था?"

मैं—"नहीं; लेकिन वह चाहता था कि ब्रिटेन जर्मनी के साथ लड़ाई बन्द कर दे।"

इसके बाद कुछ देर के लिए निस्तब्धता छाई रही और मैंने अनुभव किया कि मैंने विजय पा ली है।

प्रमाणस्वरूप मैंने जो बातें कहीं उनसे स्थिति बिलकल स्पष्ट हो गई। हेस को रूस पर किये जाने वाले आक्रमण की जानकारी थी। हिटलर की पुस्तक "मीन कैम्फ़" (मेरी जीवनी) में जिसके लिखने में हेस ने सहायता दी थी, ब्रिटेन का विरोध नहीं किया गया था। उसमें यूक्रेन को प्राप्त करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था और ब्रिटेन के साथ ऐसी व्यवस्था करने का उल्लेख किया गया था जिससे जर्मनी उस सम्पन्न क्षेत्र पर अधिकार कर सके। अतः जब जर्मनी रूस पर आक्रमण करने वाला था तो यह बिलकुल स्वाभाविक था कि वह ब्रिटेन के साथ कोई-न-कोई प्रबन्ध करता।

हेस ने सोचा कि जर्मनी के साथ ब्रिटेन की काफ़ी लड़ाई हो ली। किसी सर्वसत्तावादी को यह नहीं मालम कि जनतंत्री देशों में किस प्रकार कार्य होता है। हेस को ब्रिटेन के उन लार्डों की याद थी, जो तुष्टीकरण के पक्षपाती थे। और युद्ध से पहले उसके पास गये थे। उसे विश्वास था कि ब्रिटेन में उनका

अब भी प्रभाव है। उसे यह नहीं मालूम था कि ब्रिटेन में जर्मनी को तुष्ट रखने की भावना मर चुकी है। उसने सोचा कि अंग्रेजों को रूस के भावी आक्रमण की बात बताकर मैं उनमें तुष्टीकरण की भावना फिर जाग्रत कर सकूँगा, किन्तु उसका यह सोचना ग़लत निकला। चर्चिल ने उसके बताये हुए महान् समाचार को स्टालिन तक पहुँचा दिया और हेस ब्रिटेन की एक जेल में पड़ा रहा।

स्टालिन को जर्मन-आक्रमण की निश्चित सूचना केवल चर्चिल के ही तार से नहीं मिली, बल्कि २२ अप्रैल और २१ जून के बीच जर्मन हवाई जहाज़ों ने रूसी सीमा को १८० बार पार किया। कुछ हवाई जहाज़ तो फोटो लेते हुए रूस में ४०० मील अन्दर तक घुस गये। यह समाचार मास्को के संवाददाताओं को रूस के विदेशी मामलों के असिस्टेन्ट कमिश्नर सालामन लोज़ोवस्की ने २८ जून को बताया।

फिर भी नाज़ी-आक्रमण के समय रूस मनोवैज्ञानिक रूप से युद्ध के लिए तैयार नहीं था। पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण होने से दो दिन पहले मेक्सिम लिटविनाव वाशिंगटन में रूसी-राजदूत का अपना नया पद ग्रहण करने के लिए हवाई जहाज द्वारा प्रशान्त महासागर को पार कर जाते हुए होनोलूलू में ठहरे। वहां अमेरिकन जल और थल सेनाओं के बड़े-से-बड़े अफ़सरों ने उनका स्वागत किया। लिटविनाव ने उन्हें रूस पर अकस्मात् किये गए नाज़ी प्रहार की बात बताई और कहा कि एक शान्त देश को इस बात की कल्पना करने का अभ्यास नहीं हो सकता कि उस पर शीघ्र आक्रमण हो सकता है और यही कारण है कि वह अचभे में रह जाता है। हो सकता है कि इस समय जापान भी अमेरिका पर आक्रमण करने का आयोजन कर रहा हो और वह होनोलूलू पर प्रहार करे। इसीलिए लिटविनाव ने अमेरिकन अफ़सरों को दिन-रात सचेत रहने की सलाह दी। रूस के पर्ल हार्बर से उन्हें अक्ल आ गई थी।

२२ जून १९४१ को सवेरे चार बजे नाज़ियों ने बिना कोई चेतावनी दिये ही रूस पर आक्रमण कर दिया। पहले दिन रूस के एक हज़ार हवाई-जहाज़ अधिकतः ज़मीन पर खड़े-खड़े ही नष्ट हो गये। इस सम्बन्ध में हैरी-हॉपकिन्स ने प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के विशेष दूत की हैसियत से रूस की यात्रा करने के बाद दिसम्बर १९४१ के 'अमेरिकन मैग्ज़ीन' के अंक में लिखा कि हिटलर ने स्टालिन को किसी प्रकार का संकेत दिये बिना ही रूस पर आक्रमण कर दिया। हिटलर ने रूस के सामने कोई माँग उपस्थित नहीं की, क्योंकि ऐसा करना एक चेतावनी समझा जाता। हिटलर रूस से कुछ लेना नहीं चाहता था, वह स्वयं रूस को चाहता था। हॉपकिन्स ने लिखा है कि जर्मन-आक्रमण के

कारण मास्को में हिटलर के विरुद्ध घृणा की ऐसी भावना उत्पन्न हो गई जिसे हिटलर की मृत्यु के अलावा कोई दूसरी वस्तु कम नहीं कर सकती थी। उसके आक्रमण को रूसियों ने एक साझीदार का विश्वासघात कहकर पुकारा जो एकाएक कुत्ते की तरह पागल हो गया है।

हॉपकिन्स ने अपने लेख में हिटलर के प्रति स्टालिन की निराशा का भी उल्लेख किया। उन्होंने बताया—"स्टालिन ने एक बार मुझसे कहा था कि हम (रूसी) कभी इस आदमी (हिटलर) पर विश्वास करते थे और जर्मनी के साथ सीधा-सादा व्यवहार करने के अलावा मेरा और कोई विचार नहीं था। रूसी जर्मनी पर आक्रमण नहीं करते।"

स्टालिन को अन्त तक यह विश्वास रहा कि हिटलर रूस-जर्मन संधि का पालन करेगा और ब्रिटिश साम्राज्य को कुचलने की चेष्टा करेगा। यही कारण था कि उसने हिटलर को बार-बार तुष्ट करने की चेष्टा की। किन्तु उसकी आशाओं के बिलकुल प्रतिकूल हिटलर ने "मीन कैम्फ" के अनुसार कार्य किया और रूस को कुचलने की चेष्टा की।

: ४ :

मेरी भविष्यवाणी

निकट अतीत की घटनाओं का सिंहावलोकन करने में मुझे अनन्त रोमांच का अनुभव होता है। एक ही प्रकार की घटनाएं भिन्न रूप ग्रहण कर लेती हैं। ८ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर का कुछ और चित्र था, जब कि प्रत्येक अमेरिकन को ऐसा लगता था मानो उसका सिर किसी कठोर पत्थर से टकरा गया है और वह गिर पड़ा है। किन्तु जब हम कुछ वर्ष बाद के पर्ल हार्बर का स्मरण करते हैं तो हमें अपनी बाद की सफलताओं पर अभिमान होने लगता है और हम अपना सिर ऊंचा कर लेते हैं।

आज से कुछ वर्ष पहले मोलोटोव, हिटलर, लिंडबर्ग, स्टालिन, रूज़वेल्ट और दूसरे लोगों के भाषणों को पढ़कर कुछ और ही भावना होती थी और अब उन्हीं को पढ़कर कुछ और भावना होती है। अब मैं उन भाषणों को जितनी अच्छी तरह से समझने लगा हूं उतनी अच्छी तरह से स्वयं उनके देने वाले उन्हें देते समय न समझ पाये होंगे। मेरे सामने कई वर्षों की घटनाएं हैं, जिनकी कसौटी पर उन भाषणों को कस सकता हूं।

इतिहास हमारे सामने घटनाओं का एक चित्र-सा खींच देता है, किन्तु अर्द्ध शताब्दी पूर्व के इतिहास का संबंध ऐसी घटनाओं से होता है जिनका आज भी हमारे जीवन पर असर तो अवश्य होता है, किन्तु जो स्वयं समाप्त हो चुकी हैं।

उदाहरण के लिए स्पेन के साथ अमेरिका की लड़ाई या प्रेजिडेण्ट क्लीवलैंड के शासन को ले लीजिए। ये अतीत की बातें हैं, हो सकता है कि जो घटनाएं आज से दो या तीन वर्ष पहले घटी थीं वे अब भी अपूर्ण हों। मसलन, यूरोप में विजय का दिवस तो मनाया जा चुका है। किंतु अभी यूरोप का युद्ध समाप्त नहीं हुआ है। हम उसके राजनीतिक परिणाम को नहीं जानते। हिटलर चला गया है, किंतु जर्मनी किस रास्ते जा रहा है? भविष्य अतीत के अर्थ को बदल देगा।

नीति निर्धारित करने वाला कूटनीतिज्ञ अक्सर भविष्य को समझने की अपनी योग्यता पर ही प्रधानतः निर्भर रहता है। वह पहले से ही मान लेता है कि भविष्य में अमुक घटनाएं होंगी और सोचता है कि जो युक्तियां मैं कर रहा हूं वे उन घटनाओं का सामना करने के लिए काफी होंगी। वह कहता है कि भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं है; सिवा इसके कि भविष्य स्वयं अनिश्चित है। फिर भी अक्सर भविष्य निश्चित होता है। सन् १६४० में प्रेजिडेण्ट रूज़वेल्ट यह तो नहीं जान सकते थे कि भविष्य में ब्रिटेन के भाग्य में क्या लिखा है, किन्तु उन्हें इस बात का निश्चय था कि अमेरिका की सहायता से ब्रिटेन और साथ-ही-साथ अमेरिका का भी भाग्य उज्ज्वल हो जायगा। ऐसी स्थिति में यदि नीति-निर्माता को जनता का समर्थन प्राप्त हो तो नीति का निर्माण सरल हो जाता है।

अतीत का कुछ-न-कुछ तत्त्व भविष्य में सदा विद्यमान रहता है। इसी तत्व के आधार पर भविष्य निश्चिय किया जाता है और नीति भी बनाई जाती है। जो भविष्यवाणी केवल कल्पना-मात्र होती है—अधिकांश भविष्यवाणियां ऐसी ही होती हैं—वह रचनात्मक नहीं होती और उसका कोई मूल्य नहीं होता। जो भविष्यवाणी कुछ महत्त्व रखती है वह अन्धकार में अज्ञात को टटोलने के लिए ज्ञात का विश्लेषण करती है। अतीत की उपलब्ध घटनाओं को वह शृंखला-बद्ध करती है और ऐसा करने से खोई हुई कड़ी का रूप स्पष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि बाद में उस कड़ी से सम्पर्क रखने वाली दूसरी कड़ियों को ध्यान पूर्वक देखने से और भी बातों का पता चल जाता है। संसार की सभी राजधानियों में कूटनीतिज्ञ और पत्रकार इसी प्रकार की राजनीतिक भूल-भुलैयां के अध्ययन में लगे रहते हैं।

"युद्ध कब समाप्त होगा?" सब लोग यही प्रश्न पूछा करते थे। किंतु इसका उत्तर देने का प्रयत्न कोई ठग या मूर्ख ही कर सकता था। उत्तर देने के लिए बहुत-सी अज्ञात बातों का ध्यान रखना आवश्यक था। अनेक राजनीतिक स्थितियां इतनी अस्पष्ट और धुंधली होती हैं कि उनका विश्लेषण करना

और उनके भविष्य को समझना असम्भव हो जाता है। फिर भी कुछ ऐसी होती हैं जिनका भविष्य दिखाई दे जाता है।

हम सभी भविष्यवाणी करते हैं, चाहें वह हम तक सीमित हो चाहे दूसरों को सुनाई दे जाय। जो भविष्यवाणी सत्य निकलती है उस पर हम अभिमान करते हैं और जो नहीं निकलती उसे भूल जाना ही ठीक समझते हैं।

सन् १९४१ के आरम्भ में जापान और रूस का रहस्य अमेरिकन प्रेक्षकों के लिये बड़ा दुखदायी बना हुआ था, वाशिंगटन को टोकियो और मास्को का भावी-नीतियों के सम्बन्ध में कुछ संकेत की आवश्यकता थी। अतः अमेरिका ने रूस के साथ अपने सम्बन्ध इस आशा में घनिष्ठतर बनाने की चेष्टा की कि स्टालिन हिटलर से विमुख हो जायगा। चूंकि रूस ने फिनलैंड के शहरों पर बमबारी की थी, इसलिए २ दिसम्बर १९३९ को प्रेज़िडेंट रूज़वेल्ट ने रूस के साथ व्यापार पर नैतिक प्रतिबंध लगा दिया था। किन्तु लगभग दो साल बाद २९ जनवरी १९४१ को अमेरिका के अन्डर-सेक्रेटरी समनर वेल्स ने राज-दूत कान्सटैन्टाइन अमानस्की को सूचित किया कि प्रतिबन्ध उठा लिया गया है। देखने में यह एक छोटा-सी बात थी जिससे कुछ थोड़े से अमेरिकन व्यापारियों को रूस के लिए सामान भेजने की छूट मिल गई। किन्तु मुझे ऐसा लगा कि यह काम बड़ा ग़लत सिद्ध हो सकता है। इसके सम्बन्ध में मैंने जो आलोचनाएं पढ़ीं, उनमें मुझे ऐसा लगा कि इस कार्य के महत्त्व का ग़लत अनुमान लगाया गया है। उदाहरणार्थ, आर्थर नॉक ने न्यूयार्क टाइम्स के २३ जनवरी १९४१ के अंक में लिखा कि यथार्थवादी लोग इस कार्य का स्वागत करेंगे। इससे इस बात का और भी अधिक प्रमाण मिलता है कि ब्रिटेन को पूर्ण सहायता देने का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हुए अमेरिका की सरकार अपने सुदूर पूर्वीय पिछवाड़े और अंधमहासागर के सामने के मोर्चे का भी ध्यान रख रही है। इसके विपरीत मुझे ऐसा भान हुआ कि अमेरिका दूर पूरब में अपनी स्थिति को भयानक संकटों में डाल रहा है। इसलिए मैंने समनर वेल्स को अपने विचार लिखकर भेजने का निश्चय किया। उनसे मैं कभी मिला नहीं था, न उन्हें कभी पत्र ही लिखा था इसलिए समझ नहीं सका कि मेरे लिखने की उन पर क्या प्रतिक्रिया होगी। फिर भी मैंने चूकना ठीक नहीं समझा और उन्हें २४ जनवरी १९४१ को निम्नलिखित पत्र भेजा:—

प्रिय मिस्टर वेल्स,

मैं मास्को में १४ वर्ष तक एक अमेरिकन पत्रकार की हैसियत से रह चुका हूं और मैंने रूस के विदेशी सम्बन्धों का इतिहास दो भागों में

लिखा है। इस पत्र में मैं अमेरिकन सरकार के अभी हाल के उस निर्णय पर पर विचार करूंगा जिसके अनुसार अमेरिका से रूस भेजे जाने वाले कुछ पदार्थों पर से प्रतिबन्ध हटाने की घोषणा की गई है।

मैं समझता हूं कि यह निर्णय एक बुरा निर्णय है, विशेषत: इस कारण कि इसका परिणाम अमेरिका के हितों के विपरीत हो सकता है। इससे रूस और जापान के पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठतर होने में बड़ी सरलता पूर्वक सहायता मिल सकती है।

इस निष्कर्ष पर मैं कैसे पहुँचा इसका विवरण नीचे देता हूँ—

रूस की वर्तमान घबराहट और अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयों का कारण यह है कि जहाँ एक ओर उसकी पश्चिमी सीमा पर जर्मनों के दबाव का डर है वहाँ पूर्वी सीमा पर जापान है। रूस में जर्मनी का सामना करने या उसे शत्रु बनाने की शक्ति नहीं है, किन्तु यदि वह जापान को दुर्बल बना सके या उसका ध्यान किसी और दिशा में लगा सके तो उसकी स्थिति सुधर जायगी और जर्मनी का भय भी कम हो जायगा।

चीन की सैनिक सहायता कर रूस जापान को दुर्बल बना सकता है। यही उसने किया भी है, किन्तु यह काम मँहगा है।...इसलिए रूस पर से जापानी दबाव को कम करने की ज़्यादा अच्छी युक्ति यह होगी कि रूस जापान का विस्तार दक्षिण दिशा में स्याम और डच पूर्वी इन्डीज़ की ओर लक्षित करने का प्रयत्न करे। इससे जर्मनी का भी हित सिद्ध होगा। चीन में यदि जापान को काई महान् विजय भी प्राप्त हो जाय तब भी उससे हिटलर को यूरोप में शीघ्र ही सहायता नहीं मिल पायगी, किंतु यदि चीनी युद्ध समाप्त हो जाय तो उससे अवश्य सहायता मिलेगी, क्योंकि तब जापान अपना ध्यान दक्षिण की ओर केन्द्रित करेगा जहाँ से हमें और ब्रिटेन को महत्वपूर्ण सामान मिलता है। बोल्शेविकों को यह आशा होगी कि दक्षिण सागरों में प्रयत्नशील होने पर जापान अमेरिका या ब्रिटिश साम्राज्य के साथ संघर्ष में फँस जायगा और दुर्बल बन जायगा।

चूँकि हम चीन को सहायता दे रहे हैं, इसलिए जापान के लिए रूस के साथ समझौता करना और भी आवश्यक है। चीन को अमेरिका और रूस की सहायता जापान के सर्वनाश का कारण बन सकती है। यदि रूस चीन की सहायता करना बंद कर दे तो अकेले हमारी सहायता सफल नहीं होगी। इसी प्रकार, अमेरिका और रूस के सम्बंध में सुधार होने से रूस और जापान में समझौता होना सरल हो जायगा। यदि जापान को अमेरिका और रूस की मैत्री

का भय होगा तो वह रूस की लल्लो-चप्पो करेगा। यदि हम किसी प्रकार रूस को जर्मनी से अलग कर सकें तो सब बातें ठीक हो जायं। किंतु रूस इतना अरक्षित है और उसे युद्ध के अंतिम परिणाम के सम्बंध में इतनी अधिक शंका है कि वह खुल्लम-खुल्ला या क्रियात्मक रूप से हिटलर को विरोध नहीं कर सकता। अतः हमारे रूस के प्रति मित्रता प्रदर्शित करने से जापान डरकर रूस के साथ समझौता कर लेगा।

औमांस्की के लिए, जिन्हें मैं पिछले दस साल से बहुत अच्छी तरह जानता हूं, रूसी व्यापार पर से प्रतिबंध का हटना एक सम्मान की बात होगी और शायद इसीलिए उन्होंने इस पर इतना जोर दिया। किंतु आपको अवश्य ही याद होगा कि सन् १९३९ की गर्मियों में रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा दी गई प्रत्येक रियायत और मैत्रीपूर्ण संकेत से लाभ उठाकर अपने को हिटलर की दृष्टि में अधिक बहुमूल्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। रूस और हमारे बीच समझौते के लिए हाल ही में जो कदम उठाया गया है उसके प्रति मेरी सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि उससे लाभ उठाकर रूस जापान पर अपने साथ समझौता करने के लिए दबाव डालेगा, जिससे जापान के आक्रमण का मार्ग दक्षिण की ओर मुड़ जायगा, चीन की स्थिति बिगड़ जायगी, रूसियों को चीन पर आधिपत्य जमाने के लिए एक कम्युनिस्ट क्षेत्र मिल जायगा और पौलैण्ड की भाँति चीन का विभाजन हो जायगा, यद्यपि उस समय भी स्टालिन हिटलर के चंगुल से मुक्त नहीं हो पायगा।

यह पत्र अब बहुत बड़ा हो गया है और मैं समझता हूँ कि अब मुझे इसे समाप्त कर देना चाहिए। मुझे आशा है कि मैंने अपने विचार ठीक से व्यक्त कर दिये हैं।

मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि मैं आपसे मिलकर इस विषय पर और कई दूसरे प्रश्नों के सम्बंध में बातचीत कर सकूं। मैं यहाँ (वाशिंगटन में) एक व्याख्यान-माला के सम्बंध में कुछ दिन ठहरूँगा। यदि इस बीच आपसे मिलने का अवसर मिल सके तो बड़ा अच्छा हो। हमारी आपकी भेंट प्रकाशित या उद्धृत किये जाने के लिए नहीं होगी। दुर्भाग्यवश, मैं केवल ३ फ़रवरी को सवेरे ९॥ से बजे से ११ बजे तक आपसे मिलने का समय निकाल सकूंगा। क्या आप मुझसे उस समय मिल सकते हैं? या यदि आप कहें तो मैं ११ फरवरी को एक भाषण का कार्य-क्रम रोककर वाशिंगटन आ जाऊं। फिर भी मैं ३ फरवरी ही पसन्द करूँगा। क्या आपको उस दिन मुझसे मिलने में सुविधा होगी?

भवदीय— (हस्ताक्षर) लुई फिशर

मैं कह सकता हूँ कि पत्र में मैंने जो कुछ लिखा वह एक सच्चा भविष्य-वाणी थी। उस समय रूस और जापान में समझौता होने की कोई चर्चा नहीं थी और जापान द्वारा ब्रिटेन और अमेरिका पर आक्रमण होने की सम्भावना भी दूर मालूम होती थी। किंतु १३ अप्रैल १९४१ का रूस और जापान ने एक व्यापक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये और कम-से-कम ५ वर्ष तक दोनों ने एक-दूसरे से न लड़ने की प्रतिज्ञा की। उसी समय से सिंगापुर, मलाया और हवाई द्वीप पर जापान के आक्रमण आरम्भ हुए।

समनर वेल्स ने ३० जनवरी को उत्तर देते हुए लिखा, "आप अपने पत्र में सुझाई गई किसी भी तिथि पर आकर मुझसे मिल सकते हैं।" मैंने ११ फ़रवरी को जाना ठीक समझा, क्योंकि मैंने सोचा कि उस दिन समनर वेल्स बातचीत के लिए अधिक समय दे सकेंगे। मैं उनसे विदेश-विभाग में उनके दफ़्तर में मिला।

समनर वेल्स का क़द लम्बा और शरीर छड़ की तरह सीधा है। उनके कन्धे चौड़े हैं, गठन अच्छी है और वह बड़े ही निर्मल वस्त्र पहनते हैं। सिर लम्बा और विशेषता लिये हुए है। आवाज़ गहरी और भारी है। एक कूट-नीतिज्ञ होने के नाते उनकी सहज गम्भीरता और भी बढ़ गई है। साधारण बातचीत करने की क्षमता उनमें बिलकुल नहीं है, किंतु उन्हें विद्वत्ता-पूर्ण सम्भाषण पसन्द है और ऐसे सम्भाषणों के समय किसी समस्या की तह तक पहुँचने की उनकी इच्छा उनके महान् आन्तरिक संयम पर विजय पा लेती है। जब उन्हें यह मालूम हो जाता है कि उनकी बात कोई ठीक से समझ सकता है तो वह बड़ी निष्कपटता के साथ बातचीत करते हैं। उनका मस्तिष्क यंत्र के समान अचूक है और उनकी स्मृति दिव्य। अभिमान उनमें तनिक भी नहीं है, यद्यपि उनसे सहानुभूति न रखने वाले व्यक्ति को इसके प्रतिकूल धारणा हो सकती है। अपने लेखों के सम्बंधमें वह बड़े ही नम्र हैं।

जब मैं उनसे पहली बार बातचीत करनेके लिए उनके दफ़्तर में घुसा तो उन्होंने बढ़कर हाथ मिलाया और मुझसे खिड़की के पास बैठने को कहा। एक लम्बे लहमे के लिए उन्होंने मुझे दृष्टि जमाकर देखा और फिर एक सिगरेट निकालकर उसे एक सोने के डिब्बे पर उछालते हुए कहा—"महाशय फ़िशर मैंने आपके पत्र को बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा।" इसके बाद वह एकदम मेरे पत्र के मुख्य विषय पर आगये। वहाँ से अपने होटल के कमरे में आकर मैंने उनसे की गई बातचीत ज्यों-की-त्यों लिख डाली। महत्त्वपूर्ण राज-नीतिक मुलाक़ातों की एक डायरी बना लेने की मेरी आदत पड़ गई है। प्राय:

में उन्हें उसी दिन लिख लेता हूँ और मेरा ख़याल है कि मैं उन्हें शब्दशः लिखने में सफल हो जाता हूँ।

वेल्स ने आरम्भ में पूछा—"आपकी राय में दूर पूरब में रूस का लक्ष्य क्या है ?"

मुझे अपना उत्तर तैयार करने में थोड़ा समय लगा। मैंने कहा—"जापान को दुर्बल बनाना।"

"और उसका दीर्घकालीन उद्देश्य क्या है ?"

"चीन पर आधिपत्य करना।"

"क्या आपको विश्वास है कि रूस समस्त चीन पर प्रभुत्व जमाना चाहता है ? या वह उसे केवल विभाजित करना चाहता है ?"

मुझे इस प्रकार की खुली जिरह अच्छी लगी। उनके प्रश्नों से मुझे पता चल जाता था कि उनका अपना क्या विचार है। मैंने सोचा कि बाद में मैं भी उनसे कुछ प्रश्न करने की चेष्टा करूँगा।

मैंने उन्हें बताया कि रूस को पहले अपने निकटवर्ती चीनी कम्यु-निस्ट प्रान्तों पर अधिकार करने की आशा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह चीन के दूसरे भागों पर अपना प्रभाव नहीं चाहता।

"मैं समझता हूँ कि यह ठीक है," वेल्स ने कहा। उन्होंने रुककर सिगरेट का कश खींचा और फिर कहा—"तो क्या आप समझते हैं कि मध्य पूर्व में रूस का उद्देश्य जापान को अमेरिका से लड़ाना है ?"

"हां, जापान को दुर्बल बनाने के लिए," मैंने उत्तर दिया।

"मैं आपसे सहमत हूँ," वेल्स ने कहा।

"विदेशी मामलों में रूसियों ने अकसर दीर्घकालीन दृष्टिकोण से ही काम किया है," मैंने अपनी बात जारी रखते हुए कहा—"लेकिन इस समय मैं उन्हें ऐसा करते नहीं देखता। हिटलर के साथ सन्धि करने के बाद से वे अल्पकालीन पद्धति के अनुसार कार्य कर रहे हैं और अपनी दृष्टि वर्त्तमान स्थिति के अन्त तक भी नहीं दौड़ा पा रहे हैं।"

इस बीच वेल्स ने एक दूसरी सिगरेट सुलगाई। वह एक के बाद दूसरी सिगरेट पीने के अभ्यस्त मालूम होते थे।

"रूसी व्यापार पर से नैतिक प्रतिबन्ध हटाने के सम्बन्ध में मेरी मुख्य आपत्ति यह है कि रूसी हमारे मैत्रीपूर्ण संकेत से लाभ उठाकर जापान के साथ समझौता करने का प्रयत्न कर सकते हैं," मैंने उनके सिगरेट सुलगा लेने पर कहा।

वेल्स—"यह तो होना ही है।"

मैं—"आपको पता है कि स्टालिन जापान से क्या चाहते हैं ?"

वेल्स—"रूस ने दक्खिनी सखालीन और चीन के उन प्रांतों की मांग की है जिनका उल्लेख आपने अभी किया था।"

मैं—"क्या आप समझते हैं कि जापानी रूस के मंचूरिया से बाहर रहने के वचन पर विश्वास करेंगे ?"

वेल्स—"जहाँ तक 'विश्वास' का सवाल है वह कई बातों पर निर्भर है, जैसे जापान का यह सोचना कि जर्मनी रूस को यूरोप की ओर दबाये रखकर एशिया में उसकी सरगर्मियों को रोक सकता है। यह भी बात सही है कि पिछले दो महीनों में रूस ने जितने शस्त्र च्यांग-काई-शेक को भेजे हैं उतने उसने पिछले दो साल में किसी समय भी नहीं भेजे।"

मैं—"तो क्या आप समझते हैं कि इस प्रकार रूस अपने साथ समझौता करने के लिए जापान पर दबाव डाल रहा है ?"

वेल्स—"मैंने इसका अर्थ यही लगाया है। दक्षिण में विस्तार का काम जापान की जल-सेना को करना होगा। लेकिन वह ऐसा करने के लिए बिलकुल इच्छुक नहीं मालूम होती। फिर भी राजनीतिक दृष्टिकोण से उसकी सेना अधिक शक्तिशाली है।"

मैं—"जल-सेना अनिच्छुक क्यों है ?"

वेल्स—"अगर आप मेरी राय साफ़-साफ़ जानना चाहते हैं तो मैं कहूँगा कि जापानी जल-सेना का दक्षिण की ओर विस्तार कर लेने के लिए इच्छुक न होने का मुख्य कारण यह है कि उसके अफसरों को राजनीति का बहुत अच्छा ज्ञान है और वे विश्व-स्थिति को अधिक गम्भीरता के साथ समझ सकते हैं।"

मैं—"मैं समझता हूँ कि नीति को निर्धारित करने में आजकल जिस बात का सबसे अधिक महत्त्व है, वह है "कार्य करनें के लिए अवसर का मिलना।" स्याम की घटनाओं और हिन्द-चीन में फ्रांसीसियों के पतन ने जापान को कार्य करने के लिए अवसर प्रदान किया और जापान के अंतिम निर्णय पर जितना प्रभाव इन अवसरों का पड़ा उतना टोकियो में किये गए किसी विचार-विमर्श या आयोजन का नहीं।"

वेल्स (ज़ोर देते हुए)—"मैं समझता हूँ कि आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं।"

इसके पश्चात् हमनें चीनी और भारतीय जनता के प्रति अमेरिका

और ब्रिटेन के रुख के सम्बन्ध में बातचीत की। मैंने भारत के राष्ट्रीय नेता जवाहरलाल नेहरू का उल्लेख किया।

वेल्स—"हम पंडित नेहरू को जानते हैं और उनका बड़ा आदर करते हैं। यदि जापान इंग्लैंड और अमेरिका पर आक्रमण कर दे तो नेहरू पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ?"

मैं—"मैं समझता हूं कि नेहरू जापान का बड़ा विरोध करेंगे। यह उनकी भावुकता-जनित प्रतिक्रिया होगी। जहां तक उनकी नीति का प्रश्न है वह तो अंग्रेजों के कार्य पर निर्भर होगी। अंग्रेज अपने घर में तो जनतंत्री बनते हैं, लेकिन भारतवर्ष में उन्होंने काफ़ी मूर्खता के साथ काम किया है। भारत में ब्रिटेन की प्रतिक्रिया सबसे बाद में हुई है और मैं समझता हूँ कि अनुदार दल वाले उस पर अंतिम सांस तक अधिकार जमाये रखना चाहेंगे।"

वेल्स—"यहां के लोगों में भारत के प्रति उदार नीति बरतने की बड़ी प्रबल भावना है। आप नेहरू से अखिरी बार कब मिले थे ?"

मैं—"सितम्बर १९३८ में जिनेवा में और उससे पहले पेरिस और लन्दन में।"

"आपकी समझ में आजकल रूस की स्थिति कैसी है ? उसकी सेना की शक्ति कितनी होगी ?" वेल्स ने मुझसे एकाएक पूछा।

मैं—"रूसी सेना और हवाई बेड़े की शक्ति को कम कूतना भूल होगी। फिर भी अगर जर्मन चाहें तो वे यूक्रेन और काकेशिया के भी कुछ हिस्से को जीत सकते हैं।"

वेल्स—"वे ऐसा करना क्यों चाहेंगे ?"

मैं—"अगर हिटलर ब्रिटेन पर आक्रमण नहीं कर सकेगा तो वह यह सोच-कर कि लड़ाई लम्बी चलेगी शायद पहले रूस का सफाया करने का निश्चय करेगा।"

वेल्स—"तो क्या उसके कारण जर्मनी को दो मोर्चों पर नहीं लड़ना पड़ेगा ?"

मैं—"नहीं ! हिटलर का ख्याल है कि यद्यपि ब्रिटेन पर सफलता पूर्वक आक्रमण नहीं किया जा सकता तथापि ब्रिटेन में कम-से-कम साल भर तक यूरोप पर आक्रमण करने की क्षमता नहीं है। इसके अलावा रूस पर आक्रमण करने में हिटलर का उद्देश्य उसे पीछे ढकेलना होगा ताकि अधिकृत यूरोप पर ब्रिटेन के भावी आक्रमण के समय रूस दूसरा मोर्चा न खोल सके।"

वेल्स—"लेकिन बात यहीं तो समाप्त नहीं होगी।"

मैं––"नहीं, किन्तु उससे हिटलर की कठिनाइयां टल सकती हैं।"

वेल्स––"यदि जर्मनी इंग्लैण्ड पर आक्रमण करने की चेष्टा करे तो क्या उससे रूस को जापान पर अधिक दबाव डालने में सहायता नहीं मिलेगी।"

मैं––"उसका उलटा असर भी तो पड़ सकता है क्योंकि अगर हिटलर को ब्रिटेन पर आक्रमण करने में सफलता न मिली तो वह अपनी शक्ति रूस पर केन्द्रित करेगा और उस दशा में जापान की स्थिति अच्छी हो जायगी।"

वेल्स––"यह सब कोरी कल्पना है। अगले कुछ महीनों की घटनाओं से पता चल जायगा।"

मैं––"और भी बातें हैं जिन पर विचार करना होगा। जर्मनी की बलगेरिया पर विजय होने से भी रूस दुर्बल हो जायगा और जापान को सहायता मिलेगी।"

वेल्स––"यह ठीक है। मैं समझता हूं कि रूस जर्मनी को बलगेरिया पर आधिपत्य जमाने से किसी तरह रोकेगा नहीं।"

मैं––"यही बात मैं आजकल अपने भाषणों में कह रहा हूं। किन्तु क्या बलगेरिया से तुर्की का सवाल नहीं उठ खड़ा होता? हो सकता है कि रूस और जर्मनी तुर्की को बांट लेने का निश्चय करें।"

वेल्स––"जर्मनी ने यह प्रस्ताव रूस के सामने पिछले अक्तूबर में ही रखा था।"

मैं––"विभाजन की रेखा कहां होगी, यह मैं नहीं कह सकता। असली महत्त्व का स्थान इस्तम्बूल है, और सवाल यह है कि उसे कौन पायगा।"

वेल्स––"इसका जवाब मैं नहीं दे सकता।"

मैं––"मैंने रूस के विदेशी मामलों का एक इतिहास लिखा है......।"

वेल्स––"बड़ी अच्छी किताब है।"

मैं––"उसमें से मैंने रूस के लन्दन और पेरिस-स्थित भूतपूर्व राजदूत क्रिश्चियन राकोवस्की द्वारा दी गई कुछ सामग्री निकाल दी थी क्योंकि ऐसा करने से स्टालिन और राकोवस्की के सम्बन्ध के बिगड़ने का भय था। राकोवस्की ने मुझे बताया था कि तुर्की और ईरान में स्टालिन की विशेष दिलचस्पी है। यह बड़े मार्के की बात है कि स्टालिन जैसे बोल्शेविक पर भी विदेश-नीति निर्धारित करते समय अपने जन्म-स्थान जार्जिया के भूगोल का प्रभाव पड़ा था। सन् १९१९ के बाद से सभी बोल्शेविक तुर्की के पक्षपाती रहे हैं, क्योंकि कमालपाशा साम्राज्यवाद और पादरियों का विरोधी था। किंतु जार्जियन बोल्शेविकों के हृदय में सदा शंका की भावना बनी रही,

क्योंकि वे इस बात को भूले नहीं कि मार्च १९२१ में तुर्कों ने जार्जिया के बन्दरगाह बातूम पर कब्जा कर लिया था। यही कारण है कि जार्जिया के कम्युनिस्ट तुर्की सीमा को पीछे ढकेलना चाहते हैं। स्टालिन की उत्तरी ईरान में भी दिलचस्पी रही है जो कि जार्जिया की सीमा पर है।"

वेल्स ने सिर हिलाकर स्वीकृति की सूचना दी। मुझे पता नहीं था कि वह मुझसे और कितनी देर बात करेंगे, इसलिए मैंने नैतिक प्रतिबन्ध की चर्चा छेड़ते हुए कहा—"चूँकि स्टालिन के लिए हिटलर से मिलकर काम करना जरूरी है और रूस के प्रति हमारे मित्रतापूर्ण संकेत से रूस और जापान में समझौता होने में सहायता मिलेगी, इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि प्रतिबन्ध क्यों उठाया जाय ?"

वेल्स—"क्योंकि जुलाई १९४० से पहले छत्तीस महीने तक रूस से बातचीत करना असम्भव था। इसलिए मैं सम्पर्क स्थापित करने में विश्वास करता हूँ और अब भी समझता हूँ कि सम्पर्क वांछनीय है।"

मैं—"मैं समझता हूँ कि औमांस्की खुश है, वह एक छोटा आदमी है।"

वेल्स—"हो सकता है कि वह छोटा आदमी हो, लेकिन वह तेज़ है और उसे मालूम है कि प्रतिबन्ध के हटाने से पदार्थिक वस्तुओं पर कोई खास असर नहीं पड़ेगा।"

मैं—"हाँ, वह बड़ा तेज आदमी है। आपने देखा होगा कि मैंने अपने पत्र में उन चीज़ों का उल्लेख भी नहीं किया है, जो रूस को नई व्यवस्था के अनुसार प्राप्त होंगी। मैं समझता हूँ कि उसे कुछ अधिक नहीं मिल पायगा; किन्तु मुझे इस बात का भय है कि वह हमारी मैत्री का प्रयोग जापान पर दबाव डालने में करेगा।"

वेल्स—"आपने पहले कहा था कि अगर जर्मनी इंग्लैण्ड पर आक्रमण नहीं कर सका तो लड़ाई लम्बी चलेगी और इंग्लैण्ड यूरोप पर आक्रमण नहीं कर सकेगा। मैं समझता हूँ कि इंग्लैण्ड इटली के रास्ते यूरोप पर चढ़ाई कर सकता है।"

यह सुनकर मैं सीधा बैठ गया। "वेल्स कोई रहस्य तो नहीं बता रहे हैं" मैंने सोचा और उनसे कहा—"हिटलर मुसोलिनी के कंधेसे-कंधा मिला देगा और आक्रमण को रोकने का प्रयत्न करेगा।

वेल्स—"किन्तु एक पूरे समुद्र-तट की रक्षा करना कठिन काम है।"

वेल्स ने अपना हाथ अपनी कुर्सी के हत्थे पर रखा और मुझसे पूछा—"क्या आप वाशिंगटन बराबर आया करते हैं!" मैं जाने के लिए उठ खड़ा

हुआ। वेल्स ने मुझसे कहा कि "अगली बार वाशिंगटन आने से पहले आप मुझे पत्र लिख दीजिएगा। मुझे आपसे फिर मिलने में खुशी होगी।"

यह समनर वेल्स से मेरी पहली मुलाकात थी। उसके बाद उनसे कई बार दफ्तर में और दफ्तर से बाहर भी बड़ी लाभदायक और दिलचस्प बातचीत हुई।

जिन दिनों ब्रिटेन यूरोप के साथ युद्ध में उलझा हुआ था, जापान ने दक्षिण की ओर हालैण्ड और ब्रिटेन के साम्राज्य में बढ़ने का अभूतपूर्व सुअवसर देखा। इसीलिए उसने रूस के साथ समझौता करना चाहा, ताकि उत्तर में वह सुरक्षित रह सके।

जर्मनी जापान को दक्षिण की तरफ़ मोड़ना चाहता था, क्योंकि ऐसा करने से ब्रिटेन को कुछ शक्ति और साथ-ही-साथ अमेरिकन सहायता भी यूरोप की ओर से हटाई जा सकती थी। इसीलिए उसने जापान को रूस के साथ समझौता करने में सहायता दी। उसे इस बात की चिन्ता नहीं हुई कि इस कार्य से रूस की स्थिति दृढ़तर बन जायगी। हिटलर ने सोचा कि रूस से तो मैं अकेला ही निपट सकता हूँ।

अमेरिका ने रूस से अच्छे संबन्ध बनाने चाहे, क्योंकि उसे आशा थी कि बाद में रूस धुरीराष्ट्रों के गुट से तोड़ लिया जायगा। इसीलिए उसने रूसी व्यापार पर से नैतिक प्रतिबंध उठाकर रूस को अपनी सद्भावना का परिचय दिया।

स्टालिन ने अमेरिका की इस सद्भावना से लाभ उठाया। साथ-ही-साथ उसने जापान के उत्तर की ओर बढ़ने की प्रेरणा से और जर्मनी की उसे उत्तर की ओर बढ़ाने की इच्छा से भी लाभ उठाया और जापान के साथ तटस्थता की संधि कर ली। स्टालिन को इस संधि की आवश्यकता थी, क्योंकि जापान के दक्षिणी प्रशान्त में फँस जाने से रूस को केवल एक सक्रिय शत्रु—जर्मनी-का भय रह जाता।

अप्रैल १९४१ में रूस और जापान में जो संधि हुई उसमें दोनों देशों की सीमा के संबन्ध में कुछ समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार रूस ने जापान को मंचूरिया पर अधिकार करने की छूट दे दी, यद्यपि पहले उसने इसका विरोध किया था और बदले में जापान ने बाहरी मंगोलिया पर रूसी संरक्षण स्वीकार कर लिया था। बाहरी मंगोलिया का प्रदेश बड़े ही कूटनीतिक महत्त्व का है। उसे चीनी अपना समझते हैं, किन्तु कितने ही वर्षों से उस पर उनका राज्य नहीं रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रूस और जापान जैसे दो

बारूदी साम्राज्यों ने संधि कर चीन के व्यय पर एक-दूसरे के लिए गुंजाइश निकालने की चेष्टा की

संधि करने के बाद जब जापान के विदेश-मंत्री मत्सुओका मास्को से लौटे तो स्टालिन उन्हें विदा करने के लिए स्टेशन तक गये। इतिहास में यह पहला उदाहरण था कि स्टालिन ने किसी को स्टेशन पर जाकर विदा किया। स्टालिन के प्रत्येक कार्य की रूपरेखा किसी निश्चित ध्येय को दृष्टि में रखकर पहले से ही तैयार कर ली जाती है। एसोसिएटिड प्रेस के प्रतिनिधि हेनरी कैसीडी ने, जो स्टेशन पर मौजूद थे, बताया है कि स्टालिन ने मत्सुओका का चुम्बन लेकर विदा किया। इसके बाद स्टेशन पर ही स्टालिन की मुलाकात जर्मनी के सैनिक उपाधिधारी कर्नल हैन्स क्रेब्स से हुई। उनसे हाथ मिलाकर स्टालिन ने कहा—"हम मित्र बनकर रहेंगे।"

२६ मार्च १९४१ को समनर वेल्स से जब मेरी दूसरी मुलाकात हुई तो हमने फिर रूस पर जर्मन आक्रमण की सम्भावना पर विचार किया और प्रशान्त महासागर की गम्भीर स्थिति के संबन्ध में ध्यानपूर्वक बातचीत की। जब मेरी उनसे १९ मई को बातचीत हुई तो रूस और जापान में संधि हो चुकी थी, हेस हवाई जहाज़ में बैठकर स्काटलैण्ड पहुँच चुका था और यूरोप की प्रत्येक राजधानी में रूसी सीमा पर दोनों दिशाओं से सैनिक तैयारी के समाचार फैल रहे थे। रूस और जर्मनी में युद्ध छिड़ने के ६ दिन बाद विदेश कार्यालय में मेरी समनर वेल्स से फिर बातचीत हुई। हमने उस समय की परिवर्तित युद्ध-स्थिति के कई पहलुओं का सिंहावलोकन किया। जाने से पहले मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे ग्रेट ब्रिटेन जाने की व्यवस्था करा दीजिए।

: ५ :

लिटविनाव और जॉसेफ़ ई० डेविस

अक्तूबर १९३९ में जब लंदन में मेरी विन्सटन चर्चिल से बातचीत हुई तो हमने आध घंटे तक इस प्रश्न पर विचार किया कि किस प्रकार रूस को ब्रिटेन के पक्ष में लाया जा सकता है। फिर भी यह काम किसी नाज़ी-विरोधी को नहीं दिया गया। स्वयं हिटलर ने ऐसा कर दिया।

रूस और जर्मनी में लड़ाई छिड़ जाने के कारण स्टालिन और लिट-विनाव में शाब्दिक द्वन्द्व आरम्भ हो गया। क्रान्तिवादी अक्सर राजद्रोही और अवज्ञाकारी माना जाता है; किंतु रूसी नागरिक इस संसार के सबसे कट्टर राज्यानुयायी माने जाते हैं। तानाशाही देशों में या तो प्रजा को शासक के आदेश का आंख बंद करके पालन करना पड़ता है या फिर......। वहां कोई शासक संस्था की आलोचना नहीं करता; या यों कहिए कि आलोचक का प्रथम विरोध में ही अन्त कर दिया जाता है। मैक्सिम लिटविनाव इन दोनों नियमों का अपवाद हैं।

लिटविनाव एक प्रतीक हैं और स्टालिन उनका महत्त्व जानते हैं। लिटविनाव का नाम सामूहिक सुरक्षा का द्योतक है। वह न तो तुष्टीकरण के पक्षपाती थे, न आक्रमण के। जब रूस को जर्मनी के साथ संधि करने की संभावना दिखाई दी तो उसने लिटविनाव का सामने से हटा दिया। लिट-विनाव रूस का सबसे प्रतिभाशाली हिटलर-विरोधी था। बाद में जब हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया तो स्टालिन ने लिटविनाव को फिर सामने कर दिया और उनसे अंग्रेज़ों से अपनी सुन्दर अंग्रेज़ी भाषा में रेडियो पर बात-चीत करने के लिए कहा। बाद में स्टालिन ने उन्हें राज-दूत बनाकर वाशिं-गटन भेज दिया।

दो वर्ष तक बेकार रहने के बाद एक दिन लिटविनाव मास्को के निकट काठ के एक कमरे में बैठ हुए अपनी पत्नी ईवी के साथ ताश खेल रहे थे कि एकाएक नाजियों ने रूस पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी के इस निर्दयता-पूर्ण आक्रमण के फलस्वरूप पुनः नौकरा पर बुला लिये जाने पर भी लिट-विनाव ने अपने को रूस का "अपनी पीठ पर आप कोड़ा मारने" की नीति

से अलग रखा। उन्होंनें कभी भी स्टालिन की हिटलर के साथ संधि करने की नीति का समर्थन नहीं किया। सन् १९४१ में जब सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स मास्को में ब्रिटिश राज-दूत के पद पर काम कर रहे थे, लिटविनाव ने उनसे कहा कि जर्मनी के साथ संधि करके हमने अपनी उंगली जला ली है। ८ जुलाई १९४१ को मास्को रेडियो पर बोलते हुए लिटविनाव ने बड़ी गूढ़ता के साथ स्टालिन को डांटा और कहा—"हिटलर और उसके पिट्ठुओं के साथ की गई किसी भी संधि, उनके द्वारा दिये गये किसी भी आश्वासन या तटस्थ रहने की घोषणा, या यों कहिए कि उनके साथ किये गये किसी भी प्रकार के सम्बन्ध से इस बात की गारन्टी नहीं मिल सकती कि वे अकस्मात् या अकारण हम पर आक्रमण नहीं करेंगे। विश्व-विजय के अपने स्वप्न को पूरा करने के अभिप्राय से दूसरे देशों पर आक्रमण करने के अपने कुटिल आयोजनों में हिटलर ने सदा फूट डालकर आक्रमण करने की ही नीति का ध्यान रखा है। वह अपने शिकारों को एक साथ मिलकर विरोध करने से रोकने के लिए घृणित-से-घृणित युक्तियां प्रयोग में लाता है और इस बात का विशेष रूप से प्रयत्न करता है कि उसे यूरोप के सबसे शक्तिशाली देशों के साथ दो मोर्चों पर न लड़ना पड़े। उसकी चाल हमेशा यह होती है कि अपने शिकारों को पहले से हीं ताक लो और परिस्थिति के अनुसार उनमें से एक-एक पर प्रहार करा।"

रूस-सम्बन्धी नीति का यह एक बिलकुल सत्य चित्रण है। इसमें इस बात की आलोचना की गई है कि स्टालिन ने हिटलर को, इस नीति को कार्यान्वित करने में, सहायता दी।

लिटविनाव ने अपने भाषण में यह भी कहा कि हिटलर ने पहले पश्चिमी देशों से निबटने का विचार किया ताकि वह रूस पर प्रहार करने के लिए बिलकुल स्वतंत्र हो जाय। यह बात उसके प्रतिभाशाली विदेश-मंत्री ने उन कूटनीतिज्ञों के गाल पर चपत लगाने के लिए कही, जो आरोप लगाया करते थे कि स्टालिन ने हिटलर के साथ संधि इस उद्देश्य से की है कि सन् १९३९ में पोलैण्ड को जीतने के बाद जर्मनी रूस पर आक्रमण न करने पाय। लिटविनाव ने कहा कि यह बात ग़लत है; हिटलर की योजना पहले पश्चिम की ओर बढ़ने की है। यह बात उस समय कुछ लोगों को स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थीं जिनमें से रूज़वेल्ट भी एक थे।

फिर भा, जैसा कि लिटविनाव ने बताया, कहीं कोई रुकावट थी। हिटलर को इंग्लिश चैनल पार करने की शिक्षा नहीं मिली थीं; वह इंग्लैंड पर

आक्रमण करने में असमर्थ था। अत: उसके मस्तिष्क में एक नई योजना ने जन्म लिया। यह सोचकर कि पश्चिम में मैंने एक प्रकार से विराम-संधि स्थापित कर दी है उसने पूरब की ओर विद्युत् की भाँति तीव्र गति से युद्ध करने का निश्चय किया, ताकि वहाँ विजय प्राप्त करने के शीघ्र बाद ही वह वर्धित शक्ति के साथ ग्रेट ब्रिटेन पर टूट पड़े और उसका अन्त कर दे।

लिटविनाव स्थिति को समझते थे। ८ जुलाई को उन्होंने अपने ब्राड-कास्ट में स्टालिन के ३ जुलाई के उस रेडियो-भाषण का विरोध किया, जिसमें स्टालिन ने अपनी जार्जियन उच्चारण वाली रूसी भाषा में रूस और जर्मनी की संधि का समर्थन किया था। रूस के आलोचक और अवज्ञाकारी या तो गोली से उड़ा दिये जाते हैं या उनका देश से निष्कासन कर दिया जाता है। किंतु लिटविनाव एक ऐसे व्यक्ति थे, जो अपने देश में प्रभावहीन होते हुए भी विदेशों के लिए अद्वितीय और अनिवार्य थे। जब हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया और स्टालिन को पश्चिमी देशों से अच्छे सम्बंध स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो लिटविनाव उस अज्ञातवास से बाहर निकाले गये जिसमें वह ज़बरदस्ती डाल दिये गये थे। किंतु जब रूस की सैनिक-विजयों के फल-स्वरूप स्टालिन को ब्रिटेन और अमेरिका पर अधिक निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह गई तो लिटविनाव को एक बार फिर अवकाश ग्रहण करा दिया गया। वह निष्क्रिय पड़े रहे फिर भी ऐसी जगह रखे गये कि जब कभी रूस को अमेरिका या ग्रेट ब्रिटेन को फिर से मैत्री का आश्वासन दिलाने की आवश्यकता प्रतीत हो तो वह इस काम के लिए आसानी से उपलब्ध हो सकें। प्रेज़ीडेन्ट रूज़वेल्ट तो हमेशा यही कहते थे कि स्टालिन लिटविनाव को पसंद नहीं करते। इसका कारण सम्भवत: यह था कि स्टालिन को लिटविनाव की ज़रूरत थी।

रूस पर जर्मनी का आक्रमण होने से अमेरिकन सरकार के सामने दो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं—एक, रूस को शस्त्र भेजने की और दूसरी अपने देश में रूस के पक्ष में जन-मत तैयार करने की। इस दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए अमेरिका के विदेश विभाग ने अपने भूतपूर्व मास्को-स्थित राज-दूत जॉसेफ़ ई० डेविस को सोवियत् रूस पर एक पुस्तक लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने उन्हें कई प्रकार की सहायता प्रदान की और अपने गुप्त कूटनीतिक पत्रों के कुछ उद्धरण भी छापने की अनुमति दी। शासन-संस्थाओं को प्राय: अपने पक्ष में जनमत को मोड़ने की चेष्टा करनी पड़ती है। युद्ध-काल में इसका प्रलोभन विशेष रूप से बढ़ जाता है।

जॉसेफ ई० डेविस की पुस्तक को बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई। एक दिन वह अपनी रूपवती धनी पत्नी को लेकर मास्को के बाजारों में घूमने निकले। वे फूल की कई दुकानों पर होकर गुज़रे और उन्हें देखकर उनके हृदय में दार्शनिक भावना जाग्रत हो उठी। डेविस ने सोचा कि रूस का प्रत्येक युवक वासना के वशीभूत होकर अपनी प्रेयसी विशेष के सामने अपने को अपने प्रतिद्वन्द्वी से ज्यादा अच्छा और बड़ा सिद्ध करना चाहता है। अपने प्रतिद्वन्द्वी की तुलना में वह अपनी प्रेयसी को जितने अच्छे और बड़े फूल अर्पित करता है उतनी ही वह अपेक्षाकृत वांछनीयता भी सिद्ध कर पाता है। इसीलिए उसे रुपया कमाना पड़ता है, और रुपया कमाने का काम लाभ की भावना से प्रेरित होने पर ही होता है, जो कि शुद्ध साम्यवाद के लिए घातक है। साम्यवाद का अर्थ ही एक वर्गहीन समाज है। किन्तु प्रेम से तो वर्गगत समाज के निर्माण को ही प्रोत्साहन मिलता है।

अतः डेविस के कथनानुसार प्रेम और समाजवाद में विरोध है, बड़े फूल स्त्रियों को मोह लेते हैं। डेविस को यह बात मालूम होनी चाहिए थी कि रूसी फूलों से ऐसा कार्य नहीं लेते। वे प्रायः फूलों या फूल के गमलों को अपने अतिथियों के पास ले आते हैं। परन्तु रूस की नारी साधारणतः फूल के बड़े गमले के कारण किसी पर मुग्ध नहीं होती। यदि रूस में अलग-अलग जातियों या वर्गों का निर्माण हो रहा है तो उसका कारण प्रेम-प्रदर्शन की पूँजी-जनित आवश्यकताएँ नहीं हैं।

डेविस से अक्सर रूसियों का बड़ा मनोरंजन होता था, विशेष रूप से लिट-विनाव का, जिनमें विनोद की एक बड़ी प्रांजल भावना निहित है। १ जून १९३७ में रूसी सेना के उच्चतम जनरलों के कत्ल किये जाने के बाद एक दिन डेविस ने इस सम्बन्ध में लिटविनाव से बातचीत की। डेविस ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"मैंने लिटविनाव से साफ-साफ पूछा, "क्या रूसी सरकार को अपनी सेना की सहायता और राज-भक्ति पर पूरा-पूरा भरोसा है।" आप सोच सकते हैं कि उन्होंने क्या उत्तर दिया होगा? उन्होंने कहा—"हां, रूसी सरकार अपनी सेना की राज-भक्ति पर विश्वास कर सकती है।" क्या डेविस ने उम्मीद की थी कि लिटविनाव यह कह देंगे कि सेना राजद्रोही है?

बोल्शेविक नेता डेविस को पसन्द करते थे। वे रूस के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के पक्षपाती थे। और एक अच्छे राज-दूत का यही प्रमुख गुण है। रूस डेविस जैसे कामकाजी और पेशेवर आदमियों को, जो पक्के पूंजीवादी होते हैं, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स जैसे वाम-पक्षी विद्वानों की तुलना में

अधिक पसन्द करता है। फिर भी रूस पूंजीवादी डेविस के विचारों को समाजवाद में नहीं बदल सका। उनकी "मास्को यात्रा" (मिशन टू मास्को) नामक पुस्तक रूस-विरोधी है। उदाहरण के लिए उसमें डेविस ने एक स्थान पर लिखा है—"सच पूछिए तो रूस की सरकार अकेले एक आदमी स्टालिन में केन्द्रित है; जिन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय पाई और उनका पूर्ण रूप से अन्त करके सर्वोच्च अधिकारी बन गये।"

एक बार डेविस ने अमेरिका के विदेश विभाग को अपने गुप्त संकेत में तार दिया—"यहां भयानक आतंक फैला हुआ है। मास्को में इस बात के अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि यहां के निवासियों के प्रत्येक वर्ग में भय छाया हुआ है। एक भी घर ऐसा नहीं जिसे इस बात का लगातार डर न हो कि कहीं रात के समय (अक्सर एक और तीन बजे के बीच) गुप्त पुलिस धावा न बोल दे। पुलिस जब एक बार किसी को पकड़ लेती है तो उसके बारे में महीनों तक और अक्सर कभी भी, कुछ नहीं पता चलता......। यह अक्सर शिकायत की जाती है कि रूस की मजदूर तानाशाही की गुप्त पुलिस उतनी ही निर्दय और निर्मम है जितनी कि पुराने ज़ार के समय में थी।

डेविस ने अपनी पुस्तक में यह भी लिखा है कि साम्यवाद चल नहीं सकता, वह रूस में नहीं चला। सोवियत् शासन की निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "यहां दल के प्रति कर्त्तव्य की तुलना में व्यक्तिगत वफ़ादारी को महत्त्व नहीं दिया जाता। परिणाम यह होता है कि नेतृत्व के मामले में यहां के लोगों को एक दूसरे पर विश्वास नहीं हो सकता। यह एक गम्भीर और आधारभूत दुर्बलता है। इसके अलावा रूस की आर्थिक व्यवस्था रूसी उद्योग-धंधों पर सरकारी नियंत्रण होने के कारण सफल नहीं हुई है बल्कि इसके बावजूद भी उसे सफलता मिली है।"

तो फिर रूस के कम्युनिस्टों और दल-मित्रों ने डेविस की पुस्तक की इतनी प्रशंसा क्यों की? उस पुस्तक में रूसी सिद्धांतों और प्रणालियों के अस्वीकार किये जाने पर भी उसका रूसियों द्वारा स्वागत किया जाना सोवियत्-समर्थक विचारधारा की एक दिलचस्प कुंजी है। उसमें स्टालिन की व्यक्तिगत तानाशाही के बाल की खाल निकाली गई है, किन्तु उसमें स्टालिन और रूस की औद्योगिक सफलताओं की प्रशंसा की गई है और रूस की वैदेशिक नीति का समर्थन भी किया गया है। इसके अलावा स्वयं डेविस ने बाद में मास्को के मुकदमों का समर्थन किया और अपनी पुस्तक का एक ऐसा विकृत फिल्म बनने दिया जिसमें अभियुक्तों का दोष प्रदर्शित करने का

प्रयत्न किया गया है। डेविस के इस काम ने उसे स्टालिन के समर्थकों म प्रिय बना दिया।

मास्को के मुकदमे सन् १९३६, ३७ और ३८ में हुए, वे रूसी इतिहास के सबसे संकटपूर्ण परिच्छेद थे और स्वयं स्टालिन की करतूत थे। इसलिए रूसी सरकार अब भी इस बात की आशा रखती है कि संसार का जन-मत इन मुकदमों को केवल षड्यंत्र मात्र नहीं समझेगा। मास्को के मुकदमों और विरोधी-तत्त्वों के उन्मूलन के सम्बंध में बहस-मुबाहसा अब भी होता है।

रूस की गुप्त पुलिस आजकल उच्च श्रेणी के रूसी नेताओं की सावधानी के साथ निगरानी करती है। वह उनकी चाल-ढाल, टेलीफोन, वार्त्ता और डाक, इन सब पर दृष्टि रखती है। फिर भी मास्को के मुकदमों में सरकारी इस्तग़ासे की ओर से एक भी प्रमाण पेश नहीं किया जा सका। अभियुक्तों को उनके अपराध-स्वीकार के आधार पर ही दण्ड दिया गया।

मुकदमों की कार्रवाई को, जो अब अंग्रेज़ी में उपलब्ध है, ध्यान पूर्वक पढ़ने के बाद अभियुक्तों के अपराध-स्वीकार का रहस्य बिलकुल खुल जाता है। उससे पता चलता है कि इस्तग़ासे और अभियुक्तों में पहले से ही समझौता हो गया था। सफाई पक्ष वालों ने वे ही बयान दिये जो रूसी सरकार ने उनसे देने के लिए कहा। उदाहरणार्थ, बहुत से रूसी नेता स्टालिन के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने अनुभव किया कि स्टालिन रूसा क्रान्ति का सत्यानाश कर रहा है और रूस को आन्तर्राष्ट्रीय की बजाय राष्ट्रीय और प्रगतिशील की बजाय प्रतिगामी बना रहा है। फिर भी रूसियों की धारणा है कि स्टालिन अदूषित है और कोई भूल नहीं कर सकता। चूँकि वह कोई गलती नहीं कर सकता इसलिए लोग उस पर भूल करने का दोषारोपण नहीं कर सकते। मुकदमे में अभियुक्तों का स्वतंत्रता-पूर्वक अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का अधिकार है, फिर भी मास्को-मुकदमे के अभियुक्तों ने स्टालिन के सम्बंध में अपने भाव स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त नहीं किये। उन्होंने स्टालिन की कोई निन्दा न कर सरकारी प्रवक्ताओं की भाँति उसकी कीर्ति का गान किया। यदि वे अपने निजी विश्वास के अनुसार अपने भाव प्रकट करते तो वे निश्चय ही स्टालिन को लाञ्छित करते।

अभियुक्तों से अपराध स्वीकार कराने के लिए उन्हें प्रायः महीनों—कभी-कभी दस महीनों—तक रूसी गुप्त पुलिस के कारावास में बंद रखा गया। इस बीच वे अपना अपराध स्वीकार करनेसे इन्कार करते रहे और जब तक कि उनका आत्म-बल तोड़ न दिया गया तब तक वे टस-से-मस नहीं हुए। अन्त में अभियुक्तों और सरकार में समझौता हुआ—वह यह कि अभियुक्तों को मृत्यु या आजीवन

कारावास का दण्ड दिया जायगा, किन्तु यदि मुकदमे की सुनवाई के समय उनका व्यवहार अच्छा रहेगा तो उनके साथ दया दिखाई जायगी। मेरा अपना विश्वास है कि अभियुक्तों को इस बात का आश्वासन दिया गया कि उनको और उनके परिवार वालों को मारा नहीं जायगा। वे सचमुच छोड़े गये या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम; स्वयं अभियुक्तों को इस बात का पक्का भरोसा नहीं था कि रूसी पुलिस अपना वचन पूरा करेगी! फिर भी इतना पता है कि अभियुक्तों के कुछ बच्चे बाद में जीवित रहे। जो कुछ भी हो, जब पता चल जाता है कि बिना हाँ में हाँ मिलाये अपनी और अपने बच्चों की जान नहीं बचेगी तो स्वभावतः लोग उस अवसर से लाभ उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं।

अक्सर पूछा जाता है कि मास्को के अभियुक्तों ने ज़ार के शासन-काल और नाज़ी जर्मनी के अनेक क्रान्तिकारियों की भाँति मर जाना ही क्यों नहीं पसन्द किया। एक बोल्शेविक के लिए ज़ार की पुलिस की अवहेलना करना, उतना कठिन नहीं था जितना कि उस बोल्शेविक सरकार की उपेक्षा करना; जिसकी स्थापना में उसने स्वयं हाथ बंटाया था और जिसे वह संसार की अन्य सभी शासन-प्रणालियों से उत्तमतर समझता था, चाहे उसकी नीति के साथ कितना ही मतभेद क्यों न हो। जब वही सरकार उससे एक झूठे अपराध-स्वीकार-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए कहती है तो वह चिड़चिड़ा हो जाता है और उसमें अन्याय के विरुद्ध लड़ने की इच्छा नहीं रह जाती। मास्को-अभियुक्तों द्वारा मृत्यु का आह्वान न किया जाने का एक कारण यह भी था। जहाँ तक और कारणों का प्रश्न है, यह स्मरण रखना चाहिए कि जितने अभियुक्तों ने अपराध स्वीकार किया उनसे अधिक अभियुक्त बिना मुकदमे चलाये ही मार डाले गये। मुक़दमों की सुनवाई उन्हीं की हुई जिन्होंने अपराध स्वीकार कर लिया। ऐसे व्यक्तियों की संख्या ५० प्रतिशत से भी कम थी। हज़ारों नें अपराध स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और इसीलिए उन्हें मृत्यु-दण्ड भोगना पड़ा।

यह अपराध-स्वीकार रूसी इतिहास को झूठा बना देता है। इसमें वे परम्परागत रूसी इतिहास की प्रत्येक नई पुस्तक और नए रूसी कोषों के प्रत्येक भाग में या तो पहले संस्करणों में प्रकाशित अनेकानेक महत्त्वपूर्ण और सिद्ध घटनाएं निकाल दी गई हैं या उनमें अनगिनत मनगढ़न्त घटनाएँ जोड़ दी गई हैं और इस प्रकार रूस का इतिहास असत्य बना दिया गया है। 'असत्यवादिता' सभी डिक्टेटरों का संचित अस्त्र है। उसका प्रयोग पुस्तकों में, समाचारपत्रों में, कूटनीतिज्ञता में और मुकदमों में सभी जगह किया जाता है।

नागरिक बोल्शेविक नेताओं पर सार्वजनिक रूप से मुकदमा चलाने के

अलावा ११ जून १९३७ को रूसी सेनापति मार्शल टुखाचेवस्की और सात अन्य मार्शलों तथा जनरलों पर फ़ौजी मुकदमा भी चलाया गया। यह मुकदमा गुप्त रूपसे किया गया और यह मास्को म सबसे महत्त्वपूर्ण मुकदमा माना जाता है। किसी भी बाहरी आदमी को मालूम नहीं कि इस मुकदमे में क्या हुआ। उन आठ मार्शलों और जनरलों के मुकदमे की सुनवाई मार्शलों और जनरलों ने ही की। साल भर के भीतर-ही-भीतर स्वयं इन न्यायाधीशों में से अधिकांश मार डाले गये। मुकदमे के सम्बंध में जानकारी का पूर्ण अभाव है। हाँ, इतना अवश्य कहा जाता है कि मुकदमा कभी हुआ ही नहीं। लेकिन रूस में ऐसी बातों का पता चलना टेढ़ी खीर है। हमारी जानकारी तो बस उस संक्षिप्त सरकारी विज्ञप्ति तक सीमित है जो रूसी समाचारपत्रों में प्रकाशित हुई थी और जिसमें बताया गया था कि अभियुक्तों के मुकदमे की सुनवाई हुई, उन्होंने राजद्रोह का अपराध स्वीकार किया और उन्हें मृत्यु का दण्ड दिया गया। मुकदमे के बाद रूसी सेना के हज़ारों अफसर अपने पद से हटा दिये गये।

२७ जुलाई १९३७ को डेविस ने अमेरिका के विदेश विभाग को तार दिया—"जहाँ तक इन जनरलों के जर्मन सरकार से षड़यंत्र करने के कथित अपराध का प्रश्न है, यहाँ के लोग उसे साधारणत: न्याय-संगत मानते हैं। असली बातें अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं और इसमें सन्देह है कि वे एक लम्बे अरसे तक उपलब्ध हो सकेंगी। इसलिए यह बताना सम्भव नहीं कि मुकदमे में वस्तुत: क्या हुआ और रूसी सेना के अफसरों का असली अपराध क्या था? राय तो जानी हुई बातों द्वारा निकाले गये निष्कर्ष के ही आधार पर बन सकती है। किन्तु ऐसी बातें मालूम कब हैं?"

'अमेरिकन मैगज़ीन' के दिसम्बर १९४१ के अंक में मिस्टर डेविस ने अपनी भूल स्वयं स्वीकार की और लिखा कि मास्को के मुकदमे का तत्व मैं जाने नहीं पाया। डेविस मुकदमे में गये तो जरूर थे किन्तु अभियुक्तों के अपराध को ठीक-ठीक नहीं समझ सके। डेविस ने अपना अपराध किस आधार पर स्वीकार किया? निश्चय ही उन्हें कोई नया प्रमाण नहीं मिला होगा। किसी ने कोई नया प्रमाण दिया हो नहीं था। न तो सोवियत् सरकार ने, न उसके समर्थकों ने ही इस बात का रत्ती भर भी प्रमाण दिया कि रूसी सेना के जनरलों ने, जिनमें से दो यहूदी थे, रूस के विरुद्ध नाज़ी जर्मनी या जापान के षड्यंत्र में हाथ बँटाया। प्रमाण तो दूर रहे मुक़दमे की आरम्भिक बातों तक का पता नहीं। नागरिक नेताओं के अपराध के बारे में भी रूस के किसी सरकारी या ग़ैर सरकारी व्यक्ति ने कोई जानकारी नहीं दी है। मुक़दमे के बाद

से अब तक इतने वर्ष बीत गये किंतु रूसी राजधानी मास्को से एक भी बात ऐसी नहीं मालूम हुई जिससे अभियुक्तों के अपराध का समर्थन किया जा सके। इसका कारण सहज ही समझा जा सकता है।

मास्को के मुकदमे में सफ़ाई पक्ष वालों ने बताया था कि ट्राट्स्की ने हिटलर के डिप्टी रूडाल्फ़ हेस से स्वयं बातें की थीं और रूसी सरकार के तख़्ते को उलटने का षड्यंत्र रचा था। हेस के विरुद्ध यह एक बड़ा गम्भीर आरोप है लेकिन समझ में नहीं आता कि न्यूरेमबर्ग की अदालत में युद्ध-अपराधियों पर चलाए गए मुकदमे में हेस पर और आरोपों के साथ-साथ यह आरोप भी क्यों नहीं लगाया गया। उस मुकदमे में रूस का इस्तगासे का एक सरकारी वकील भी था। उसने हेस से ट्राट्स्की के साथ की गई बातों की बाबत पूछ-ताछ क्यों नहीं की? क्या इसका कारण यह था कि उसे पता था कि हेस और ट्राट्स्की में बातचीत हुई ही नहीं?

हिटलर की पराजय के बाद कितने ही गुप्त नाज़ी दस्तावेज़ प्रकाशित किये जा चुके हैं। अमेरिकन सरकार ने भी जर्मनी के अनगिनत सरकारी पत्र प्रकाशित किये हैं जिनसे अब तक अज्ञात और अत्यंत गुप्त मामलों पर बड़ा बहुमूल्य प्रकाश पड़ा है। रूसी सेना ने आधे जर्मन पर विजय प्राप्त की। उसने जर्मनी की राजधानी बर्लिन को जीता। किंतु क्यों उसे एक भी ऐसा पत्र नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो सकता कि मार्शल टुखाचेवस्की और उनके जन-रलों ने रूस पर आक्रमण करने के लिए नाज़ियों के साथ षड्यंत्र किया था, क्या यह एक दिलचस्पी की बात नहीं कि मास्को में अब तक कोई भी ऐसा पत्र प्रकाशित नहीं हुआ, जिससे अभियुक्तों पर लगाये गये आरोप या उनके अप-राध-स्वीकार का समर्थन किया जा सके?

तो फिर कौन-सी ऐसी बात थी जिसके कारण डेविस ने 'अमेरिकन मैगजीन' में अपनी भूल स्वीकार की। उनके लिखने के अनुसार इसका कारण रूस में भेदियों का न होना है लेकिन डेविस को इस बात का अधिकार है कि नई घटनाओं के प्रकाश में अपने मन में परिवर्तन करें। किन्तु रूस में भेदियों के न होने से यह बात कैसे सिद्ध होती है कि जो लोग गोली से उड़ाये गये वे भेदिये थे। बहुत-से दूसरे देशों—जनतंत्री और सर्वसत्तावादी—में भी भेदिये नहीं थे। सम्भवतः रूस में भी विरोधियों के उन्मूलन से पहले भेदिये नहीं थे।

कुछ आलोचकों ने कहा कि जर्मनी पर रूस की विजय होने से मास्को के मुकदमे और सैनिक अधिकारियों के उन्मूलन की वांछनीयता सिद्ध होती है। उनका मत था कि चूँकि रूसमें विरोधियों का उन्मूलन कर दिया गया है और

रूस नाजियों के विरुद्ध सफलतापूर्वक लड़ा है इसलिए यह सिद्ध होता है कि रूस के जर्मनी के विरुद्ध सफलतापूर्वक लड़ने का कारण यह था कि उसने अपने देश से विरोधियों का उन्मूलन कर दिया था। क्या खूब तर्क है यह। तब तो हम यह भी कह सकते हैं कि रूस में अकाल पड़ा और रूस नाज़ियों के साथ अच्छी तरह लड़ा, इस लिए रूस का नाज़ियों के साथ अच्छी तरह लड़ने का कारण अकाल है।

सच बात यह है कि रूस को अपने सैनिक विरोधियों के उन्मूलन के लिए बड़ी भयंकर क़ीमत अदा करनी पड़ी। छोटे-से फ़िनलैण्ड ने रूसी सेना को इतने दिनों तक क्यों रोके रखा ? उसने रूसी सेना को इतनी भारी क्षति क्यों पहुँचाई ! रूसियों ने सोचा कि वे फ़िनलैंड को बड़ी आसानी से कुचल डालेंगे। सम्भवत: फांसी पर लटकाये गये टुखाचेवस्की ने अपने को इस मृग मरीचिका से ग्रसित न होने दिया होता कि फ़िनलैण्ड में क्रान्ति करा देने से उस पर रूसी आक्रमण का मार्ग खुल जायगा।

रूसी सेना ने फिनलैण्ड में जो दुर्बलता दिखाई उससे हिटलर को रूस पर आक्रमण करने में प्रोत्साहन मिला और उन जनरलों की आपत्ति को भी दबाने में सहायता मिली जो रूस पर आक्रमण करने के विरुद्ध थे। इन जनरलों में फ़ील्ड मार्शल ब्राउखिख भी थे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रूसी सेना ने जर्मनों के साथ लड़ने में बड़ी प्रतिभा दिखलाई। किन्तु आरम्भ में उसका कार्य अच्छा नहीं था। रूस के बड़े-बड़े प्रदेश हाथ से निकल गये और लाखों रूसी मारे और पकड़े गये और घायल भी हुए। सच पूछिये तो रूस एक प्रकार से बिलकुल हार चुका था। मास्को के रक्षक और बर्लिन के विजेता मार्शल जूक़ाव ने २४ जून १९४५ को मास्को के रेड स्क्वायर में (जहाँ विजय-प्रदर्शन हुआ था) कहा—"ऐसे कितने ही अवसर आये जब स्थिति निराशाजनक हो गई थी।" ३ महीने बाद २४ अगस्त १९४५ को स्टालिन ने भी ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने क्रेमलिन (रूसी शासन-भवन) में सैनिक अधिकारियों का स्वागत करते हुए कहा—"सन् १९४१ और ४२ में ऐसे अवसर आये जब कोई आशा नहीं रह गई थी।"

दिसम्बर, १९४७ में नाज़ी सेना मास्को के उपनगर ख़िम्की तक पहुँच गई, जहाँ से बस द्वारा क्रेमलिन का रास्ता थोड़ी देर का है। स्टालिन-ग्राड तक में स्थिति अनिश्चित ही रही। राजनीतिक आलोचक तो केवल अंतिम विजय पर जोर देते हैं। किंतु रूसी जनता और सेना को पता है

कि युद्ध इतना सरल नहीं था। रूस को टुखाचेवस्की आदि के उन्मूलन के बाद सम्हलने में पांच वर्ष लग गये। रूसियों ने इस उन्मूलन का मूल्य लहू द्वारा चुकाया।

रूस के सम्बंध में बहुत-कुछ लिखा गया है। रूस की सब से बड़ी विशेषता उसकी जन-संख्या है। वहाँ १९ करोड़ ३० लाख आदमी रहते हैं। सदियों तक बुरी तरह रहते आने के बाद भी उनकी कार्य-क्षमता अपार है। उनका शरीर कठोर होता है और प्रकृति या इतिहास का उन पर बिलकुल प्रभाव नहीं पड़ा है। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा होता है और संतानोत्पत्ति बड़ी तीव्र गति से होती है। वे किसी बात से हतोत्साहित नहीं होते। युद्ध, रोग, दुर्भिक्ष और अपने नेताओं की भूल के कारण उपस्थित होने वाली स्थिति से वे जल्दी सम्हल जाते हैं। मैं उनके साथ १४ वर्ष तक रह चुका हूँ और उनसे प्रेम करता हूँ। वे नम्र और आज्ञाकारी होते हैं। वे मूल्य भी चुकाते हैं। मुकदमे और सैनिक उन्मूलन का भी उन्होंने मूल्य चुकाया।

मनुष्यों, विशेषतः युवकों, के मानसिक विकास के लिए आज सारे संसार में स्वतंत्रता और सर्वसत्तावाद में जो युद्ध हो रहा है उसका रूस के सैनिक-विरोधियों के उन्मूलन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। डेविस ने इस ताना-शाही के उन्मूलन की प्रशंसा कर जनतंत्र का बड़ा अहित किया। कत्लेआम का समर्थन करना सर्वसत्तावाद का प्रचार करना है। यदि वह सफल हो गया तो उससे जनतंत्र को धक्का लगेगा।

डेविस ने हमें यह नहीं बताया कि मास्को के मुकदमों और सैनिक उन्मूलन के सम्बन्ध में केवल दो ही बातें मानी जा सकती हैं—एक यह कि अभियुक्त निर्दोष थे और दूसरे यह कि वे अपराधी थे। अगर पहली बात सच मानी जाय तो यह कहना पड़ेगा कि सैनिक उन्मूलन राजनीतिक हत्याकाण्ड थे, जिनका आयोजन जान-बूझकर प्रतिद्वन्द्वियों और असुविधाओं से छुटकारा पाने के लिए किया गया था। अगर दूसरी बात मानी जाय तो इसका अर्थ यह है कि रूसी सर्वसत्तावाद के किसी पहलू ने, स्टालिन को छोड़कर, रूसी क्रांति की रचना करने वाले अन्य सभी प्रमुख व्यक्तियों को क्रान्ति और देश के प्रति द्रोही बना दिया था। इन दोनों म से एक बात भी रूसी शासन-प्रणाली के लिए प्रशंसनीय नहीं।

: ६ :

ब्रिटिश जनता और चर्चिल का इंग्लैण्ड

हिटलर के रूस पर आक्रमण करने के दो सप्ताह बाद, जुलाई १९४१ में मैं हवाई जहाज से इंग्लैण्ड गया। हवाई जहाज को न्यूयार्क से बरमुदा पहुँचने में पांच घंटे लगे, बरमुदा से होर्टा तक (जो पुर्तगाल एज़ोर्स में एक द्वीप है) १४ घंटे और फिर वहां से लिस्बन तक ७ घंटे।

समुद्र से ८ हज़ार फुट की ऊँचाई पर उड़ना उतना ही आरामदेह, मनोरंजक और आसान होता है जितना कि एक आधुनिक मोटर में चढ़ना। मैंने भोजन में शोरवा मांस, सलाद, डबलरोटी, मक्खन, आइसक्रीम और काफी ली और व्यायाम के लिए लम्बे बरामदे में टहलने लगा। एज़ोर्स को देखकर ऐसा मालूम होता था मानो ईश्वर ने चट्टानों को सागर में अललटप्प बिखेर दिया हो। हवाई जहाज नीचे उतरने लगा। दोनों तरफ़ पहाड़ थे, जिनकी चोटियाँ बादलों में छिपी हुई थीं। विमान ने उनमें से होते हुए नीचे की ओर ग़ोता लगाया। कुछ झटकों के बाद वह पानी पर उतरा और फिर धीरे-धीरे बाँध तक गया। 'आइल डि रे' नाम का एक पुराना जहाज़, जो रेड क्रास द्वारा भेजा हुआ भोजन अनधिकृत फ्रांस ले जा रहा था, लंगर पर आकर रुका। जब हम होर्टा के घाट पर जाकर लगे तो एक दूसरे जहाज़ ने अपना स्वस्तिक का चमकदार लाल और काला झंडा ऊपर उठाया।

जब ग्रीनलैंण्ड के आसपास हवा का दबाव कम हो जाता है तो वहां पश्चिमी अफ्रीका की हवा खिचकर आती है और उसके कारण एज़ोर्स के आस-पास का पानी हिल उठता है और ऊपर चढ़ने लगता है। पानी चढ़ने के कारण हमें होर्टा में २४ घंटे की देर होगई। वहां हम एक होटल में ठहरे, जिसका संचालन फुलमर नाम का एक अमेरिकन-दम्पति करता था। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और मैं अपने हवाई जहाज के कप्तान विन्सटन के साथ शतरंज खेल रहा था। उसी समय किसी ने रेडियो खोल दिया। जिसमें से यह आवाज आई--

"हम ५००० फुट की ऊंचाई पर हैं। आपको कितनी दूर कहां तक दिखाई दे रहा है ?"

कप्तान विन्सटन ने खेलना बन्द कर दिया और कहा—"लिस्बन से हवाई जहाज आरहा है।"

"यहां से हम १००० फुट ऊंचे तक देख सकते हैं" होटल के मैनेजर ने आने वाले हवाई जहाज के चालक को उत्तर देते हुए बताया।

"मैं अन्दाज़े से ही उतर रहा हूं" चालक की आवाज आई।

"उसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा है" कप्तान विन्सटन ने कहा।

एक मिनट बाद चालक ने फिर कहा—"३००० फुट पर उतर आया हूं।"

"बांध के पास लहरें ऊंची उठ रहीं हैं उनका ध्यान रखना। यहां बड़े जोरों की वर्षा हो रही है" होटल के मैनेजर ने सावधान करते हुए कहा।

"हरे राम" विन्सटन ने कहा और कांपते हुए हाथों से एक सिगरेट सुलगाई।

शंका से हृदय धड़कने लगा। हम सब चुप बैठे थे और हवाई जहाज की आवाज सुनने की प्रतीक्षा कर रहे थे, किन्तु कुछ सुनाई नहीं दिया।

"इस समय तुम कहां हो" मैनेजर ने पूछा।

"१००० फुट की निचाई पर, बाँध के पास पहुंच रहा हूं" चालक ने उत्तर दिया।

"मुझे कुछ दिखाई नहीं देरहा है, बन्दरगाह में काई जहाज तो नहीं है ?" उसने पूछा।

"बन्दरगाह के बीचों बीच 'आइल डि रे' खड़ा है, उसका ध्यान रखना। जमीन उस जहाज से पश्चिम की ओर है।"

"अब तुम हमें दिखाई देने लगे" चालक ने बताया।

"बहुत अच्छा" विन्सटन बोला। "लेकिन उतरना बड़ा मुश्किल होगा।"

"ऊंची लहरों का ध्यान रखना" मैनेजर ने फिर सावधान किया।

विन्सटन ने बेचैनी दिखलाई।

"उतर गये, धीरे-धीरे बांध की ओर जा रहे हैं" चालक ने बताया।

विन्सटन ने चैन की सांस ली और सीटी बजाता हुआ वह शतरंज की ओर घूमा। कुछ ही देर बाद चालक ने सूचना दी। "घाट पर पहुँच गये।"

होर्टा और लिस्बन के पुर्तगाल छोटे और दुबले दिखाई देते थे। ऐसा मालूम होता था कि जिन लोगों को अपना साम्राज्य वीर-नाविकों से मिला था

उन्हें अब भर-पेट भोजन नहीं मिलता। जहाजी घाट पर खड़े हुए स्त्री-पुरुष मानों हमसे पूछ रहे थे--"जब यूरोप के सब लोग अमेरिका जाना चाहते हैं तो आप लोग यूरोप क्यों आरहे हैं ?"

दूसरे महासमर के दिनों में पुर्तगाल, स्वीजरलैण्ड और स्वीडेन--विशेष रूप से पुर्तगाल--अन्तर्राष्ट्रीय भेदियों के छत्ते बने हुए थे। लिस्बन से बाहर एस्टोरिल में, जहाँ फ़ैशनेबिल लोगों का आना-जाना लगा रहता था, नाजी अफसर और ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ खेल-तमाशों में साथ-साथ बैठते थे; यहूदी शरणागत और जेस्टापो के अत्याचारी पास-पास मेज़ों पर बैठकर खाना खाते थे; जापानी एजेण्ट, अमेरिकन हवाबाज़, बेल्जियन उमरा, इटैलियन अफ़सर और तुर्क व्यापारी जुआघर में नम्रता के साथ एक-दूसरे का रुपया लेते थे। जुआ खेलते समय जापानी सबसे ज़्यादा घबराते थे, सफ़ेद रूसी सबसे अधिक गम्भीर रहते थे, नाजी-विरोधी जर्मन सबसे अधिक शान्त रहते थे और नाजी सबसे अधिक हुल्लड़बाजी करते थे। अमेरिकन थोड़े-से डालरों से ही जुआ खेलते हैं, वह भी मनोरंजन मात्र के लिए और उसके संबंध में अपने घर पत्र लिख सकने के लिए। मैंने देखा कि जब कभी मैं छोटे दाव लगाकर खेला तो नहीं हारा और जब कभी मैंने दाव पर ज़्यादा रुपये लगाये तो उसमें उत्तेजना तो अधिक हुई किन्तु जितना मैंने खोया उतना खोना मेरे-जैसे एक स्वतंत्र पत्रकार के लिए क़ल्याणकर नहीं था।

हॉलैण्ड का एक निःशस्त्र नागरिक हवाई जहाज हमें लिस्बन से ब्रिस्टल (इंग्लैण्ड) छः घण्टे में ले गया। वह फ़्रांस के नाजी अधिकृत तट के समानान्तर उड़ता हुआ गया। नाज़ी जानते थे कि इस प्रकार लोग बराबर इंग्लैण्ड आते-जाते रहते हैं किन्तु जब तक उन्हें किसी विशेष यात्री को रोकने की आवश्यकता नहीं होती थी तब तक वे किसी को छेड़ते नहीं थे। अंग्रेज़ भी जर्मनी के नागरिक हवाई जहाजों के साथ ऐसा ही करते थे।

ब्रिस्टल को जर्मनों की बमबारी से बड़ी क्षति पहुँची थी। टूटे-फूटे मकानों का मलवा ऐसे बिखरा पड़ा था जैसे जानवरों को काटने से उनकी आँतड़ियाँ निकल पड़ती हैं। रेलवे स्टेशन की दीवारें गिर पड़ी थीं और छत भी टूट गई थी। फिर भी लोग शान्त थे।

"रास्ते में कोई परेशानी तो नहीं हुई," जहां हम उतरे वहां के कारपोरल ने पूछा।

"कुरसी पर बैठ जाइये," सारजण्ट ने कहा। उस समय हम अपने पासपोर्ट की परीक्षा कराने की प्रतीक्षा में थे।

"क्या आप चाय पीना पसन्द करेंगे ?" एक अफ़सर ने पूछा। ऐसा मालूम होता था जैसे कोई एक हफ़्ते के लिए अपने देहात की रियासत में आ गया हो। सब लोग भद्रता और सहयोग की भावना दिखा रहे थे।

स्टेशन का दृश्य देखकर मुझे सन् १६१८ का स्मरण हो आया, जब कि मैं इंग्लैण्ड में एक ब्रिटिश सेना में स्वयंसेवक था। सब जगह वर्दियाँ-ही-वर्दियाँ दिखाई देती थीं। औरतें तक वर्दियों में थीं। यह एक नई बात थी जो कि पहले महासमर में नहीं दिखाई दी थी। सिपाही अपने सामान के मोटे थैलों पर बैठे गाड़ियों की प्रतीक्षा कर रहे थे। गाड़ियाँ खचाखच भरी रहती थीं।

प्लेटफ़ार्म के एक कोने में मैंने दो आदमियों को देखा जो स्पष्टतः बाप और बेटे मालूम होते थे। बाप जो लगभग पैंतालीस वर्ष का था, मेजर का बिल्ला पहने हुए था और उसके रिबनों से मालूम होता था कि वह पहले महासमर का एक पुराना सिपाही है। लड़का जो पच्चीस के आसपास था, शाही आकाश-सेना का नीला बिल्ला पहने हुए था। ब्रिटेन में कहीं भी मुझे पहले की तुलना में अधिक म्लानता नहीं दिखाई दी। वे दोनों आदमी उदास नहीं थे। बाप १९१७ का फ्रांस का अपना एक अनुभव सुना रहा था। बीच-बीच में लड़का मुसकरा उठता था। वे ही लोग जिन्होंने २५ वर्ष पहले 'युद्ध का अन्त' करने के लिए युद्ध किया था और बाद में शान्तिपूर्वक रहने के लिए लड़के और लड़कियाँ पैदा किये थे; आज अपने लड़के और लड़कियों के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर एक दूसरे विश्वव्यापी महासमर में कूद रहे थे।

एक टैक्सी में चढ़कर हम लंदन की उन गलियों में से होकर गये जिनसे मैं अच्छी तरह परिचित था। प्रत्येक गली में बम के निशान बने हुए थे। यह एक आधुनिक युद्ध था, एक ऐसा युद्ध जो नागरिकों से भी लड़ा जाता है, जो बच्चों के पालनों पर प्रहार करता है, जो भोजन करते समय चार व्यक्तियों के एक पूरे परिवार के प्राण हर लेता है और रसोई में तश्तरियों को चकनाचूर कर देता है।

लंदन में पहुँचने के थोड़ी देर बाद मैं स्टॉर्म जेम्सन से मिला। वह एक प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका हैं और मेरी पुरानी मित्र हैं। मैंने उनसे उनके ८८ वर्षीय बूढ़े बाप के बारे में पूछा। "वह विटबी में है," जेम्सन ने उत्तर दिया। विटबी इंग्लैण्ड के पूर्वी तट पर है। यह वही स्थान है जहाँ नाज़ी हवाई जहाज़ उत्तरी सागर को पार कर प्रायः अपने बम गिराया करते थे।

"वह बम से मारे तो नहीं गये ?" मैंने पूछा।

"नहीं सिर्फ घर की खिड़कियाँ टूटी हैं" जेम्सन ने जवाब दिया ।

"तो तुम उन्हें किसी भीतरी नगर में अधिक सुरक्षित स्थान पर क्यों नहीं पहुँचा देतीं" मैंने पूछा।

"क्या कहा आपने ?" वह ज़ोर से बोली। "वह उनका अपना मकान है। उसी में उनका जन्म हुआ था। क्या आप समझते हैं कि मैं अपना मकान सिर्फ हिटलर के बम के डर से छोड़ दूंगी।"

कुछ ऐसे भी लोग थे जो अपने मकान छोड़कर भाग जाते थे, किन्तु स्टॉर्म जेम्सन में मानों इंग्लैण्ड की आत्मा दृष्टिगत होती थी। सन् १९४३ में उसकी छोटी बहन एक उस बमबारी में मारी गई थी, जो छोटे-छोटे अरक्षित व्यापार-विहीन क़स्बों पर दिन-दहाड़े की जाती थी। उन क़स्बों में भोली जनता के अलावा और कुछ नहीं होता था जिससे बमबारी की सार्थकता सिद्ध की जा सकती!

"उसका अभाव मुझे सारे जीवन भर अखरेगा। लड़ाई के बाद मैं उसके बच्चों को ले आऊँगी और उनका पालन-पोषण करूँगी।" स्टार्म ने मुझे लिखा।

एक बार एक शाम की पार्टी में एक महिला ने सिगरेटों के घटियापन पर खेद प्रकट किया। एक दूसरी महिला ने अखबारों को दिये जाने वाले ख़राब क़िस्म के काग़ज़ का उल्लेख किया। "कपड़े भी अब पहले से बहुत ख़राब आने लगे हैं," एक मेहमान ने कहा।

"सभी चीज़ें पहले से ख़राब हो गई हैं," एक दूसरे व्यक्ति ने कहा, "सिर्फ़ आदमी पहले से अच्छे हैं।"

ब्रिटेन के निवासी सचमुच बड़े अद्भुत थे। वे यह अनुभव भी नहीं कर रहे थे कि वे बहादुर बन रहे हैं। मेरे ब्रिटिश प्रकाशक जोनेथन केप ने मुझसे कहा—"किया क्या जाय ? बम गिरने पर या तो हम चिल्लायं या पागल हो जायं या आत्म-हत्या कर लें या फिर धीरतापूर्वक चुपचाप शान्त बैठे रहें।"

अंग्रेज बड़ी मर्यादा के साथ कार्य कर रहे थे। फिर भी जब मैं थके-मांदे और शायद भूखे लंदन-निवासियों को पूर्ण अन्धकार में रास्ता टटोलते अपने घर जाते देखता तो मुझे ऐसा लगता कि यह युद्ध केवल अमानुषिक ही नहीं है बल्कि मानवी मर्यादा के ऊपर एक प्रहार भी है। मनुष्यों के रहने का यह तरीका नहीं होता। युद्ध मनुष्य के अच्छे-से-अच्छे गुण को बुरे-से-बुरे कार्य के लिए जाग्रत करता है।

लन्दन में मैं पार्लमेण्ट के मज़दूर-सदस्य जार्ज रसेल स्ट्रास के पास ठहरा। उनके साथ एक दूसरे मज़दूर-सदस्य अन्युरिन बेवन भी ठहरे हुए थे। साथ में उनकी पत्नी जेन्नो ली भी थीं जो कि स्वयं एक मज़दूर-नेत्री हैं। स्ट्रास और बेवन 'ट्रिब्यून' नाम का एक वामपक्षी मज़दूर साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करते थे। उसके लेख भी वे ही लिखा करते थे। एक इतवार को सवेरे रीजेण्ट गली से जाते समय मैंने एक आदमी को टहलते और 'ट्रिब्यून' पढ़ते हुए देखा। मैंने उससे पूछा—"इस अखबार के बारे में आपकी क्या राय है?" मेरी उसकी आध घण्टे तक बात हुई। घर लौटकर मैंने सारी बात स्ट्रास और बेवन को सुनाई। उन्हें मेरी इस अमेरिकन साहसिकता पर बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ वर्ष पहले मुझे ऐसा करने में बड़ा संकोच हुआ करता था। लेकिन मैं देखता हूँ कि लोग बात करना पसन्द करते हैं और अगर आप उन्हें रोककर कुछ पूछें तो वे बुरा नहीं मानते। ऐसा मैं कई देशों में कर चुका हूँ। सबसे ज़्यादा आसानी मुझे उस समय पड़ती है जब मैं किसी के साथ एकदम गम्भीरता से बातें करने लग जाता हूँ, जैसा कि 'ट्रिब्यून' पढ़ने वाले आदमी के साथ हुआ। इसके विपरीत जब मुझे भूमिका-स्वरूप—"बड़ी अच्छी सुबह है," या "ऐसा मालूम होता है, कि पानी बरसेगा," आदि कहना पड़ता है तो कभी-कभी मेरी ज़बान बन्द हो जाती है।

जब कभी मैं किसी देश को समझने की चेष्टा करता हूँ तो जिससे भी मिलता हूँ उससे अक्सर एक ही तरह के सवाल करता हूँ और उसके परिणामस्वरूप उस देश की नब्ज़ टटोल लेता हूँ, एक प्रकार से वहाँ का जन-मत प्राप्त कर लेता हूँ। मैंने दो सौ आदमियों से पूछा—"मान लीजिये, हिटलर आप से शान्ति का प्रस्ताव करे उस समय आप क्या सोचेंगे?" इस प्रश्न के उत्तर में केवल एक व्यक्ति ने कहा कि इस तरह का प्रस्ताव विचारणीय होगा, शेष सभी लोगों ने उसे अस्वीकार कर दिया, किसी ने अधिक जोश और घृणा के साथ और किसी ने कम।

उस समय तक रूस की विजय नहीं हो रही थी। अमेरिका सहानुभूति दिखा रहा था और सहायता भी दे रहा था, परन्तु युद्ध से बहुत दूर था। हिटलर के किसी समय भी आक्रमण करने का भय था, लेकिन जनता ने एकमत होकर आगे बढ़ने का संकल्प कर लिया था। यह बात नहीं थी कि ६० व्यक्ति पक्ष में हों और ४० विपक्ष में। प्रत्येक व्यक्ति ने शत-प्रतिशत दृढ़ता के साथ निश्चय कर लिया था।

"यहाँ के लोग डिगेंगे नहीं" चर्चिल ने मुझसे कहा था। जनता को

जीत का पूरा-पूरा विश्वास था, इसलिए वह दृढ़प्रतिज्ञ थी।

इंग्लैण्ड में नाज़ी बमों के शोरोगुल के बीच एक सामंजस्य दिखाई देता था; सामंजस्य, एकता नहीं। एकता तो सर्वसत्तावाद की परिचायिका होती है। सामंजस्य जनतन्त्र में होता है। सामंजस्य का अर्थ है भिन्न-भिन्न तत्त्वों का सहयोग। एकता इन सब का बलात् आत्मसमर्पण है। जनतंत्री देश के विजयी उम्मीदवार को एक वोट से भी विजय प्राप्त करने पर सार्वजनिक समर्थन प्राप्त हो जाता है, किन्तु नाजियों की "एकता" के लिए चुनाव में सत्तानवें प्रतिशत बहुमत की आवश्यकता होती है।

इंग्लैण्ड में रहते हुए मुझे जो बात सब से आश्चर्य-जनक मालूम हुई, वह थी एक जगह देश-भक्तों द्वारा व्यापक रूप से तोड़-फोड़। बेवन ने, जो बचपन में कोयले की खान में काम कर चुके थे, बताया कि कोयले की खानों के मालिक अपनी बुरी चट्टानों को खोद रहे थे और अच्छी चट्टानों को युद्ध के बाद लाभ कमाने के लिए बचा कर रख रहे थे। इस बात पर आसानी से विश्वास करना सम्भव नहीं था क्यों कि उसका अर्थ था युद्ध के प्रयत्नों को क्षीण बनाना। मैंने सरकारी खान विभाग के प्रधान अधिकारियों से बातचीत की। उन्होंने भी बेवन की बात का समर्थन किया। फिर भी मुझे इस बात का रीकार्ड रखने में हिचकिचाहट हुई। उन्हीं दिनों व्यापारियों के दैनिक पत्र "आर्थिक समाचार" (फाइनेन्शियल न्यूज़) ने लिखा--"यदि कोयले की खानों के मालिकों को अतिरिक्त आय-कर के सम्बन्ध में रियायतें दी जांय तो वे अपनी सब से अधिक उत्पादक चट्टानों को काम में लाने के लिए अधिक तत्परता दिखायंगे।"

खानों के मालिकों द्वारा खराब चट्टानों के काम में लाये जाने का कारण यह था कि वे जानते थे कि लड़ाई के दिनों में सब चीजें, यहां तक कि खराब कोयला, भी बिक जाता है। दूसरी बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार उनका प्रायः सारा-का-सारा लाभ युद्ध का खर्च चलाने के लिए ले लेती थी। तो फिर वे अपना अच्छा कोयला क्यों खत्म करते? क्यों न वे उसे शान्तिकाल के लिए संचित करके रखते जबकि उसके अच्छे होने के कारण ग्राहक आकर्षित होते और जो लाभ होता उसे वे अपने लिए बचा सकते? जो लोग ऐसा कर रहे थे शायद उनका कोई लड़का हवाई बेड़े में रहा होगा। राष्ट्र के लिए वे अपने बेटे के प्राण न्यौछावर कर देने को तैयार थे, लेकिन अपना अच्छा कोयला नहीं।

मालिकों और मजदूरों, अमीरों और गरीबों, उच्च-वर्ग के भद्र पुरुषों और निम्न-वर्ग के साधारण व्यक्तियों--सभी ने युद्ध में सहायता दी। हवाई रक्षा का काम करने वालों में ऊंच-नीच का भेदभाव जाता रहा। घरेलू-रक्षा दल

में जहाँ नागरिकों को आक्रमण रोकने का काम सिखाया जाता था वहां दफ्तर का चपरासी अपने अफसर के कंधे-से-कंधा मिला कर चलता था। राष्ट्र-रक्षा के कार्य में लगे हुए सभी नागरिकों के लिए ब्रिटेन एक मित्रों का राष्ट्र बन गया था। इसीलिए वहां सामंजस्य था मैत्री और सामंजस्य के कारण ही इंग्लैण्ड सुखी था।

फिर भी कोयले के मालिकों ने अपना खराब कोयला ही बेचा और अफसर—अफसर ही बने रहे। युद्ध के कारण समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में लोगों का सम्पर्क बढ़ गया। श्रेणीगत भेद-भाव टूटने लगे। जब बमों ने किसी का भेद-भाव नहीं किया तो भला आदमी ही ऐसा क्यों करते?

फिर भी इस बात को छोड़ कर कि ब्रिटिश सरकार ने युद्ध-कालीन उत्पादन में हाथ बंटाया और भिन्न-भिन्न नियंत्रण स्थापित किये, किंतु आर्थिक बल उन्हीं लोगों के हाथों में रहा जिनके हाथों में पहला था।

जब लोग संकट के समय समान स्थल पर आ जाते तो जीवन के सुख-भोग के समय वे असमान रहना नापसंद करते हैं। इंग्लैंड में चर्चिल के ढांचे में ढले हुए आम लोग हमेशा ही रहेंगे। किन्तु कैसे? घर होंगें या गन्दे झोंपड़े? काम होगा या आलस्य? जीवन के आरम्भ से अंत तक सुरक्षा? जिस युद्ध ने वर्त्तमान में सहयोग को प्रोत्साहन दिया उसी ने अतीत के प्रति विरोध उत्पन्न किया।

एक नवयुवक विमान-चालक ने, जो रात्रि के समय युद्ध करने वाले हवाई जहाज़ों के एक दल का नेता था, मुझे इंग्लिश चैनल की सैर कराने के बाद अपने नए जहाज का भीतरी हिस्सा दिखाया। फ्यूज़ के तारों के पास पीले रंग में १५ छोटे-छोटे स्वस्तिक बने हुए थे जिसका अर्थ यह था कि उस समय तक चालक जर्मनी के १२ हवाई जहाज़ नष्ट कर चुका था। उसने अपने जहाज़ को वैसे ही थपथपाया जैसे कोई प्यार से अपने घोड़े को थपथपाता है। सहसा वह मुझसे पूछ बैठा—"क्या आप समझते हैं कि यह युद्ध समाप्त हो जाने के बाद हम बेकार हो जायंगे?" वह चिन्तित उतना नहीं था जितना कि किंकर्त्तव्य विमूढ़। युद्ध के समय उसने जिस देश की इतनी सेवा की थी, वह क्या शांति-काल में उसके लिए कोई काम नहीं निकाल सकेगा? उसने यह बात स्वीकार की कि उसे मज़दूर दल में दिलचस्पी है।

मजदूर, विरोधी, विद्वान् और मध्यम श्रेणी के लोग जब यह देखते हैं कि उनकी अपनी आर्थिक शक्ति तो अत्यंत सीमित है और जिन लोगों के हाथ में आर्थिक अधिकार है वे उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं है तो वे सामाजिक

और आर्थिक उन्नति के लिए शासन-संस्था की ओर आशा की दृष्टि से देखते हैं। सच पूछिये तो आजकल उत्तम जीवन के लिए जो आंदोलन चलते हैं उनका मुख्य उद्देश्य शासन-संस्था को प्रभावित करना और रास्ता दिखाना होता है। यही कारण है कि मजदूरों की इच्छा राजनीति में प्रवेश करने की होती है। अपने वोटों के बल पर करोड़ों मज़दूर उन लोगों से जिनके हाथ में आर्थिक अधिकार होता है, राजनीतिक शक्ति छीनने की चेष्टा करते हैं।

अत: जिस युद्ध ने इंग्लैण्ड में सामाजिक सामञ्जस्य उत्पन्न किया उसी ने सामाजिक संघर्ष के भी बीज बोये।

जिन दिनों मैं इंग्लैण्ड में था, समाचार पत्रों ने चर्चिल का एक चित्र छापा जिसमें वह बमबारी से अत्यधिक क्षतिग्रस्त नगर प्लाइमाउथ का निरीक्षण करते दिखाये गये थे। वह एक तंग गली के बीच टहलते हुए जा रहे थे और उनके मुँह के एक कोने में उनका अभिन्न सिगार था। उस दिन उनके चेहरे पर अभूतपूर्व मुसकराहट थी। उनके सामने, उन के ठीक पीछे और उनके दोनों तरफ स्त्री-पुरुष और बच्चे भी टहल रहे थे। जनता आप-से-आप अपने हर्ष का प्रदर्शन कर रही थी। ठीक उनके सिर के ऊपर कुछ लोग कोठों पर से उनका स्वागत कर रहे थे। चर्चिल ने अपना हैट उतार कर बेंत पर रख लिया था। और उसे ऊपर उठा कर हिला-हिला कर वह लोगों के स्वागत का उत्तर दे रहे थे। यह एक जनतंत्र का चित्र था। इधर बहुत वर्षों से एक भी तानाशाह इस प्रकार के अज्ञात और अनगिनत नागरिकों के आकस्मिक प्रदर्शन के बीच घिरा हुआ नहीं देखा गया। भय और पत्थर की दीवारें तानाशाह को जनता से अलग कर देती हैं। चर्चिल को ब्रिटिश जनता का डर नहीं था, ना ब्रिटिश जनता को चर्चिल से डर था। भय तो तानाशाहों के खड़े होने का चबूतरा है।

फिर भी चर्चिल आम जनता के आदमी नहीं थे। युद्ध से पहले और सन् १९४१ में मेरे ब्रिटेन जाने पर वहां के निवासियों ने मुझसे अक्सर कहा कि पहले और दूसरे महासमरों के बीच ब्रिटेन में जो राजनीतिक दुर्बलता दिखाई दी थी उसका कारण यह था कि पहले महासमर में ब्रिटेन के अनगिनत आदमी मारे गये। उन्होंने यहां तक कहा कि आज के नेता कल खाइयों में मारे गये। यह सत्य का एक लघु अंश मात्र है। 'लंदन इकोनोमिस्ट'ने, जो अर्थ सम्बंधी एक गंभीर साप्ताहिक पत्र है, शेष वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए सन् १९४२ में लिखा—"यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि इस देश के प्राय: सभी प्रकार के नेता उस वर्ग के हैं जिसमें यहां की सम्पूर्ण जन-संख्या

का बीसवां भाग भी सम्मिलित नहीं। इससे भी बड़ी बात यह है कि इन नेताओं का चुनाव उनकी योग्यता के आधार पर नहीं होता।"

'इकोनोमिस्ट' ने यह भी लिखा—"अमेरिका में जहां ४ करोड़ ८० लाख व्यक्ति रहते हैं, ऐसे व्यक्तियों का शासन है, जो २० लाख जन-संख्या वाले देशों में पाये जा सकते हैं, सिवा उन विशेष व्यक्तियों के जिन्होंने अपने पथ की बाधा को नष्ट कर डाला है।" बाधा किस वस्तु की ? धन और सामाजिक सौभाग्य की ? "देश की प्रतिभा का यह कोई उपयोगी प्रयोग नहीं माना जा सकता"—'इकोनामिस्ट' ने निष्कर्ष निकाला। ब्रिटेन में जन-शक्ति की जो कमी है वह अंशतः मनुष्य की ही करनी का फल है। यह सत्य है कि सन् १९३५ से १९४५ के बीच के युद्ध-संलग्न १० वर्षों में ब्रिटेन की जनशक्ति का लगातार ह्रास होता रहा। किन्तु इससे तो बचे हुए व्यक्तियों की योग्यता को प्रयोग में लाने की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है और यही कारण है कि सामाजिक भेदभाव को हटाने की मांग की जाती है।

सन् १९१७ में, रूस में, राजसी और धनी शासकों के छोटे से दल और करोड़ों निर्धनों, मस्त मजदूरों तथा किसानों के विशाल समूह में महान् भेदभाव था। किंतु यह भेदभाव दुर्बल और कंच की तरह सहज ही टूट सकने वाला था। इसी लिए राइफलों, हथगोलों और शब्दों के थोड़े-से प्रहारों ने ही उसे चकनाचूर कर दिया। रूस एक पिछड़ा हुआ देश था, इसलिए उसके अनुकूल ही वहाँ छोटे-बड़े के बीच की दीवार लकड़ी की बनी हुई थी। अन्य देशों में यह बड़ी मज़बूती के साथ कंकरीट और इस्पात से बनाई गई है। इंग्लैण्ड के विशेषाधिकार-प्राप्त लोग खूब जमे हुए होते हैं और वे देश-सेवा, शिक्षा, शासन-योग्यता, व्यापारिक अनुभव और उद्योग, बैंक तथा व्यापार सम्बंधी साहसिकता के भी अलंकारों से आभूषित होते हैं। इन विशेष गुणों का देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। वे आसानी से टस-से-मस नहीं किये जा सकते। किन्तु दीवार की दूसरी ओर के ४ करोड़ ६० लाख निवासी जिन्हें बाल्डविन और चैम्बरलेन की संतुष्टीकरण सम्बन्धी भूलोंने शासकों का कम आदर करना सिखा दिया है और जिन्हें युद्ध ने अधिक अपनो आदर करना सिखाया है, ऐसे अधिकारों की मांग करते हैं जिनसे दीवार के इस ओर रहने वाले २० लाख निवासियों ने उन्हें अब तक वंचित रखा है।

ब्रिटेन का शासक वर्ग युद्ध करना जानता था, किन्तु वह युद्ध को रोकने में समर्थ नहीं हो सका था। इसलिए सन् १९४१ में ही लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया कि शांति-स्थापना का काम अनुदारदलियों को नहीं सौंपना चाहिए।

सन् १९४१ में इंग्लैण्ड से लौटने पर मैंने लिखा—"नाज़ियों के साथ युद्ध करने के प्रश्न पर तो सभी अंग्रेज एक मत हैं, किन्तु उनमें से कुछ थोड़े से लोग तो पुराने ब्रिटेन को, जो उन्हें बड़ा अच्छा लगता था—अक्षुण्ण रखने के लिए लड़ रहे हैं और शेष सब एक नए ब्रिटेन के निर्माण के लिए लड़ रहे हैं। सच पूछिये तो ब्रिटेन इस समय दो लड़ाइयों में संलग्न है—एक हिटलर केनये विधान के विरुद्ध और दूसरी नेविल चैम्बरलेन के पुराने विधान के विरुद्ध।" "और चर्चिल के पुराने विधान के विरुद्ध भी" मुझे यह भी लिखना चाहिए था।

इग्लैण्ड के वामपक्षी नाटककार जे० बी० प्रीस्टले ने अपनी "आउट आव दी पीपुल" नामक पुस्तक में लिखा—"आपको इस बात का कोई अधिकार नहीं कि पहले तो आप असली ब्रिटेन को युद्ध में रत कर दें और फिर बाद में घोषणा करें कि आप एक बिलकुल दूसरे और बहुत कम वास्तविक ब्रिटेन की रक्षा के लिए ऐसा कर रहे हैं।" उसके बाद से प्रीस्टले को रेडियो पर बोलने नहीं दिया गया। यहा बात हैरल्ड लास्की के साथ हुई। लास्की ने मुझे बताया कि उन्होंने जब चर्चिल से प्रतिबंध का कारण पूछा तो उत्तर मिला—"चूँकि आप जिस तरह का ब्रिटेन चाहते हैं वह उस ब्रिटेन से बिलकुल भिन्न है जो मैं चाहता हूँ।" फिर भी लास्की, प्रीस्टले और दूसरे द्रोहियों ने सेना और हवाई बेड़े के शिविरों में बातचीत की, लेख और पुस्तकें लिखीं और जो बातें वे इंग्लैंड के निवासियों से नहीं कह सकते थे वही उन्होंने रेडियो द्वारा उपनिवेशों के निवासियों से कहीं। मुझे भी बी० बी० सी० वालों ने लंदन से ब्रिटिश साम्राज्य और उत्तरी अफ्रीका के निवासियों से रेडियो द्वारा बातचीत करने का तो निमंत्रण दिया, किंतु अपने देशवासियों से बातचीत करने के लिए नहीं।"

युद्ध के कारण ब्रिटेन की कुछ नागरिक स्वतंत्रताएं कम अवश्य हो गईं, किन्तु अधिक नहीं। इंग्लैण्ड स्वतंत्र ही रहा। बाथ के निकट मैं ब्रिटिश आकाश-सेना के एक अड्डे पर जॉन स्ट्रैची से मिला। स्ट्रैची साम्यवाद के समर्थक रह चुके थे। स्टालिन और हिटलर के समझौते के बाद वह भी अन्य साम्यवादियों की भांति युद्ध के विरोधी हो गये थे। किन्तु सन् १९४० के बसंत में नारवे पर आक्रमण होने से उनके विचार बदल गए। उन्होंने अपना नाम हवाई आक्रमण के समय रक्षा करने वाले वार्डनों में लिखाया और जब श्रीमती मिलर बम के नीचे दबकर मर गईं तो उन्होंने उनके लिए कब्र भी खोदी। इसके बाद वह हवाई बेड़े में शामिल होगये और रात्रि के समय लड़नेवाले एक हवाई दल के एडजूटेन्ट नियुक्त कर दिये गये। उनके सोने के क्वार्टरों में एक पुस्तकालय था, कार्लमार्क्स, लेनिन और ट्राट्स्की की

अनेक पुस्तकों के अलावा समाजवाद सम्बन्धी उनकी स्वरचित पुस्तकें भा उसमें रहती थीं। अधिकारी इस बात को जानते थे फिर भी उन्होंने इसकी चिन्ता नहीं की। अंग्रेज सहिष्णु होते हैं। सहिष्णुता सभ्यता की परिचायक होती है। विचार, वर्ण, जाति, धर्म और राजनीति के भेदभाव के सहन किये बिना जनतंत्र एक मज़ाक भर रह जाता है।

राजनीतिक मतभेदों के होते हुए भी अनुदार और मज़दूर दलों के सदस्यों ने युद्ध-कार्य में संयुक्त सरकार के साथ पूरा-पूरा सहयाग किया। यदि कभी मजदूर दल के नेताओं को चर्चिल की नीतियां नापसन्द आती थीं तब भी वे मानते थे चर्चिल की ही बात। मंत्रिमंडल की बैठकों में चर्चिल की ही राय सर्वोपरि रहती थी। मंत्रियों ने मुझे बताया कि चर्चिल मंत्रिमंडल के सदस्यों से अधिक बोलते थे और कभी-कभी इतना बोलते थे जितना कि सब सदस्य मिलकर बोल सकते थे। लोगों को उनकी भाषा के प्रवाह में बड़ा आनन्द आता था। उन्होंने देखा, और मैंने भी चर्चिल के साथ अपनी मुलाकात में यही अनुभव किया, कि उनकी साधारण और बिना तैयार की हुई बातचीत के वाक्य भी उतने ही प्रांजल और शास्त्रीय होते हैं जितने कि उनके अधिक-से-अधिक सावधानी के साथ तैयार किये गये व्याख्यानों के वाक्य।

चर्चिल युद्ध-काल के एक अनिवार्य नेता थे, क्योंकि उनके पौरुष और भाषणों से जनता में स्फूर्ति भर गई। फिर भी उन्होंने उत्पादन और उससे सम्बन्ध रखने वाली दूसरी समस्याओं पर ठीक ध्यान नहीं दिया। उनका मस्तिष्क अर्थ-शास्त्र के अनुकूल था ही नहीं। यह बात उन्होंने स्वयं कई बार स्वीकार की। उन्हें एडमिरलों और जनरलों के साथ बैठकर नक्शों और ग्लोबों पर विचार करना और रसायन-शास्त्रियों से नये विस्फोटकों के सम्बंध में बातचीत करना अधिक प्रिय लगता था।

चर्चिल को भविष्य म भी अधिक दिलचस्पी नहीं थी, यह बात उनके शान्ति सम्बंधी समस्याओं पर दिये गये सार्वजनिक भाषणों से सिद्ध होती है। वह अतीत के साथ जकड़े हुए थे। वह १९ वीं सदी के व्यक्ति थे और उस पर उनकी अनुरक्ति थी। वह साम्राज्य, सम्राट् और जाति से प्रेम करते थे। उन्होंने ईंटें तो अवश्य पाथी थीं किंतु वह ईंट पाथने वालों तक पहुँचने वाला सामाजिक पुल नहीं बना सके। वह राजसी आदमी थे। लायड जार्ज को ब्रिटेन के उच्च-वर्गों, जनरलों और लार्डों आदि से घृणा थी और वह उनसे लड़े भी। किंतु चर्चिल ने इन्हें अमर बनाना चाहा। यह एक आश्चर्यजनक बात थी,

क्योंकि वह उनसे श्रेष्ठ थे। इसीलिए वे लोग चर्चिल से डरते थे और सन् १९४० के राष्ट्रीय संकट से पहले, उन्होंने चर्चिल को अधिकार के स्थान पर नहीं पहुँचने दिया। फिर भी चर्चिल ने उनके विशेषाधिकारों और धन की रक्षा करने की चेष्टा की। उनकी आत्मीयता उच्च वर्गों से उतनी नहीं थी जितनी कि १९ वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड से; जिसने कि उन्हें उत्पन्न किया था। उनकी दृष्टि में १९वीं शताब्दी एक अनुपम शताब्दी थी, अंग्रेजों की अपना शताब्दी वह नैपोलियनीय फ्रांस के पतन के बाद की और क़ैसरीय जर्मनी के उत्थान के पहले की शताब्दी थी जब कि चारों तरफ़ ब्रिटेन का बोल-बाला था। इसी शताब्दी में महारानी विक्टोरिया के अंतर्गत ब्रिटिश साम्राज्य का बिस्तार हुआ था। ब्रिटेन का पुराना प्रताप ही चर्चिल का ईश्वर था। उनकी समझ में उच्च वर्ग के लोग देश की महानता के परिचायक थे। ऐसा ही भारत था और ऐसा ही था १९वीं शताब्दी के इंग्लैंड का पार्लमेण्टरी जनतन्त्र भी।

चर्चिल ने इंग्लैंड की इसी परम्परागत मर्यादा की रक्षा करने के लिए लड़ाई की। जनतंत्र और निर्धनता के पारस्परिक विरोध के कारण उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती थी। इंग्लैंड का स्वतंत्रता और भारत की पराधीनता के पारस्परिक विरोध की भी उन्हें चिंता नहीं थी। जब तक मुसोलिनी ब्रिटेन का शत्रु नहीं बना था तब तक उन्होंने उसकी प्रशंसा करने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। जनरल फ्रैंकों के लिए भी उनके हृदय में दया का भाव था। चर्चिल नाज़ी शासन की बर्बरता को घृणा की दृष्टि से देखते थे। हिटलर उसकी समझ में ब्रिटेन के लिए जर्मन-संकट का प्रतीक था। यह बात उन्हें आरम्भ में ही समझ में आ गई थी और बहरे ब्रिटेन को उन्होंने चेतावनी भी दे दी थी।

चर्चिल को नता बनने में बड़ा आनन्द आता था। ब्रिटेन के नेतृत्व की बागडोर हाथ में आते ही उनके पांव जम गये। उनका समय बड़े मौज के साथ बीता। वह जानते थे कि लोग मुझे सुनना पसंद करते हैं। मैंने देखा है कि जब कभी लोगों ने लोक-सभा में उनके किसी चुटकुले को पसंद किया तो वह हर्ष से किलकारी मार उठे। उनमें अभिनेता के अनेक गुण थे और कुछ-कुछ हास्य की वृत्ति भी। उनमें बचपना भी था और कूटनीतिज्ञता भी। उन्हें फोटो खिचवाना बड़ा अच्छा लगता था। वह किसी बड़े रंगमंच का केन्द्रीय आकर्षण बनना भी पसन्द करते थे। कई ऐसे अधिकार-पूर्ण इतिहास लिखने के कारण, वह एक सिद्धहस्त इतिहास-निर्माता बन गये थे। निर्विवाद सर्वश्रेष्ठता और सार्वजनिक चाटुकारिता के फलस्वरूप उनकी शारीरिक

शक्ति बढ़ गई थी ।

चर्चिल को अतीत के रोमांस और वर्त्तमान की साहसिकता की अनुभूति तो अवश्य हुई, किन्तु वह भविष्य-द्रष्टा नहीं थे । वह राजनीतिक क्षेत्र में एक कवि थे -- बायरन के रूप में नैपोलियन । उन्हें वचन और कर्म दोनों से प्रेम था । वर्त्तमान युग में ऐसे गुणों का समन्वय निस्संदेह दुर्लभ है । यही समन्वय हिटलर में भी था ।

चर्चिल में पाशविक आनन्द की प्रवृत्ति और कितनी ही वासनाएं भी विद्यमान थीं । उनमें आंतरिक प्रेरणा भी थी । जनतंत्री देशों के कुछ नेता अपने देश को अपना अनुकरण करने के लिए तैयार कराने से पहले जनता के परिपक्व मन की प्रतीक्षा करते हैं । प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने कितने ही अवसरों पर ऐसा किया । किन्तु चर्चिल सीधे सिर के बल कूद पड़ते थे और आशा रखते थे कि इंग्लैण्ड की जनता उनके पीछे पीछे चली आयगी । उदाहरणार्थ, किसी भी व्यक्ति को जनमत को अपने साँचे में ढालने में इतनी सफलता नहीं मिली जितनी चर्चिल को रूस पर जर्मन-आक्रमण के दिन, जब कि उन्होंने फौरन माइक्रोफोन उठाकर रूसियों को तात्कालिक सहायता का वचन दिया ।

चर्चिल सब चीजों को विजय से हेय समझते थे । सन् १९१८,१९ और २० में उन्होंने बोल्शेविक शासन में हस्तक्षेप करने के अभिप्राय से अंग्रेजों का एक सशस्त्र संगठन तैयार किया था । वह सदा बोल्शेविज़्म के विरोधी रहे। दिसम्बर १९४१ में उन्होंने ह्वाइट हाउस में भोजन करते समय एक पड़ोसी से कहा कि रूस में भयंकर एकाधिकारवाद है । फिर भी इसकी चिन्ता नहीं की गई; विजय के लिए रूस का सहयोग आवश्यक था । लोग जानते थे कि चर्चिल युद्ध में जीतने के लिए तुले बैठे हैं । दृढ़ प्रतिज्ञता का औरों पर भी प्रभाव पड़ा । उसके कारण विरोधियों को अपना विरोध कोमल बनाना पड़ा । बेवन और लास्की जैसे लोग उन पर बार-बार कटाक्ष करते रहे और चर्चिल भी उन पर उलटकर वार करते रहे । फिर भी मजदूर-दल ने उनका मित्रता पूर्वक समर्थन किया और मंत्रि-मण्डल के कुछ सदस्यों, मसलन बिलकिंसन पर उनका जादू चल गया ।

इस दल के बीच मजदूर-दल के मन्त्री शासन करने की कला सीखते रहे । एक दिन मैं गृह-विभाग में हरबर्ट मॉरिसन के दफ्तर में गया और वहां से हम दोनों उनकी की कार में बैठकर एक गांव में एलेन बिलकिंसन के छोटे से घर में छुट्टी मनाने गये । मॉरिसन ने बताया कि उन्हें पुस्तकें पढ़ने के लिए काफ़ी समय मिल जाता था । किन्तु अपना अधिक-से-अधिक समय वह सर

कारी कागजों विशेषत: विदेश विभाग के पत्र-व्यवहार का अध्ययन करने में लगाते थे, ताकि वह शासन का ढंग ज़्यादा अच्छी तरह से समझ सकें। इसमें सन्देह नहीं दूसरे मजदूर मन्त्रियों ने भी अपने पद से इसी प्रकार का लाभ उठाया। पांच वर्ष तक एक ऐसी सरकार में कार्य करने के बाद, जिसने ब्रिटेन को विजय की ओर अग्रसर किया, मजदूर-दल पर शासन करने के अयोग्य होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता था। इसके कारण अनुदार दलियों के हाथ से वह बहाना जाता रहा जिसका उन्होंने पहले के चुनावों में काफी सफलता के साथ मजदूर-दल के विरुद्ध प्रयोग किया था। जुलाई १९४५ में मजदूर दल की जो इतनी शानदार विजय हुई उसका यह भी एक कारण था। 'नेशन' के १६ अगस्त १९४१ अंक में मैंने लिखा था—''मजदूर दल को इस बात का विश्वास है कि वह उन उच्च और मध्यम वर्गों के लोगों को अपना समर्थक बनाता जारहा है जिन्होंने कभी उसकी देश-भक्ति और योग्यता में विश्वास नहीं किया।

मॉरिसन ५३ वर्ष के थे। उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है और उनमें वाक् चातुरी और सहृदयता भी है। लन्दन के निवासी उनसे परिचित हैं। उनके साथा उन्हें 'अरबर्ट' या 'अर्ब' कहकर पुकारते हैं। पहले वह डाक ले जाया करते थे और बाद में टेलीफोन आपरेटर रहे। फिर वह लन्दन कौन्टी कौंसिल के नेता बने और १९४० में चर्चिल मंत्रि-मण्डल में गृह-मन्त्री नियुक्त हुए।

एक बार गृह-विभाग में मॉरिसन के वेटिंग रूम में बैठे-बैठे मैंने अंगीठी के संगमरमर के कार्निस पर एक लाल फ्रेम रखा हुआ देखा। वह लगभग पांच इंच चौड़ा और ९ इंच लम्बा था और उसके भीतर सफेद कागज पर मोटे मोटे लाल अक्षरों में 'मृत्यु-दण्ड' लिखा हुआ था। उसी के नीचे कुछ नाम, तारीख आदि अंकित थे। मैंने सोचा कि उसे पास जाकर देखना मेरे लिए ठीक नहीं। किन्तु मैं मॉरिसन के दफ्तर में गया तो उन्होंने अपनी सेक्रेटरी कुमारी मैक्डोनैल्ड से कहा—"इनको मृत्यु-दण्ड दिखा दो।" कुमारी मैक्डोनैल्ड ने मुझे १२ नामों की एक सूची दिखाई। प्रत्येक नाम के आगे जुर्म, दण्ड देने की तारीख, अपील की तारीख और अदालत का नाम भी लिखा हुआ था। पहले दो नाम लाल स्याही से काट दिये गये थे और उनके सामने अखीरी खाने में लिखा हुआ था—"फांसी दे दी गई।" मारिसन ने कहा—"शुरू-शुरू में जब मेरे मन में यह भावना उठा करती थी कि किसी मनुष्य के जीवन और मरण के बीच मेरे हस्ताक्षरों की ही रुकावट है तो मुझे अपने हस्ताक्षर करने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। किन्तु बाद में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि कुछ लोगों को मारना, विशेषत: युद्ध-काल में, सरकार के लिए

अनिवार्य होता है और अन्तिम आदेश पर हस्ताक्षर करने में मैं जितनी ही देर करूंगा उतनी ही रातें मैं जागकर बिताऊंगा।"

"केवल हस्ताक्षर ? अपना पूरा नाम भी नहीं लिखना पड़ता ? " मैंने पूछा।

"गृह-विभाग की परम्परा के अनुसार केवल हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। पूरा नाम लिखने की आवश्यकता नहीं।" मारिसन ने उत्तर दिया। सम्राट् द्वारा क्षमा की याचना अस्वीकृत हो जाने पर भी फाँसी देने वाले को मॉरिसन के हस्ताक्षर के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

मॉरिसन एक योद्धा हैं। वह केवल अपनी बाईं आँख से देखते हैं लेकिन देखते बहुत हैं। जिस निर्धनता के बीच उनका जन्म हुआ था उससे उन्हें घृणा है। वह सरल जीवन बिताते हैं और बनते नहीं। उनके मित्रों का कहना है कि यदि उनमें और अरनेस्ट बेविन में चलती न होती तो वही मजदूर दल के नेता होते। चूंकि ऐसी स्थिति में इन दोनों में से एक भी नेतृत्व नहीं ले सका था, क्लेमेंट एटली दल के नेता बने।

अरनेस्ट बेविन एक लड़ाकू प्रकृति के व्यक्ति हैं। उनका शरीर बलिष्ठ है। वह कठोर और हठी हैं और अमीर-उमराओं की तुलना में खुल्लम-खुल्ला मज़दूरों को ज्यादा अच्छा समझते हैं। चर्चिल के मंत्रि-मण्डल में वह उत्पादन के संयोजक थे और यह बात उनके शत्रु भी मानते हैं कि उन्होंने अपना काम बड़ी योग्यता के साथ किया। मंत्रि-मण्डल में सम्मिलित होने से पहले वह इंग्लैण्ड के सबसे बड़े मज़दूर-संगठन यातायात कर्मचारी संघ (ट्रान्सपोर्ट वर्कर्स यूनियन) के नेता थे और उसे उन्होंने अपने फौलादी पंजे में दबा रखा था। उनके साथ मेरी जो मुलाक़ात हुई वह मेरी सबसे असफल मुलाक़ात थी। मैंने शायद युद्ध से पहले की ब्रिटिश विदेश-नीति की कुछ निंदा करके उनकी ग़लत रग मल दी थी। वह देश-भक्त थे और देश की निन्दा सहन नहीं कर सकते थे। मैंने एक घंटे तक इस बात की चेष्टा की कि लड़ने के बजाय वह मुझसे सीधे मुँह बातें करें, किंतु बाद में निराश होकर मैंने यह प्रयत्न छोड़ दिया।

मजदूर-संघों और मजदूर-दल की भिन्न-भिन्न संस्थाओं के कम्युनिस्टों ने अपनी फूट और खिजलाहट पैदा करने वाली चालबाज़ियों से मॉरिसन बेविन और व्यापार बोर्ड के सभापति ह्यू डाल्टन को भी, जिन्हें मैं उनकी विदेशी मामलों में दिलचस्पी के कारण कई वर्ष से जानता था, कम्युनिस्टों का कट्टर विरोधी बना दिया है। किंतु ब्रिटिश मजदूर-दल के नेताओं और दूसरे

कार्यकर्ताओं का साम्यवाद का विरोध मुख्यतः उनके स्वतंत्रता प्रेम के कारण कम हो जाता है। कितने ही मज़दूर दली ऐसे हैं जिनका मार्क्स के सिद्धातों से विरोध है किंतु फिर भी वे समाजवाद में विश्वास करते हैं। वे अपने देश के कुछ प्रधान उद्योगों और बैंकों का राष्ट्रीय-करण चाहते हैं और शासन-संस्था का प्रयोग निर्धनों और अरक्षितों के त्राण के लिए करना चाहते हैं। उनके "समाजवाद" को हम दूसरे शब्दों में "मानवीय कल्याण" कह सकते हैं। उनके लिए समाजवाद कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि मनुष्य जाति की उन्नति का साधन-मात्र है।

मजदूर-दल वाले समाजवादी जनतंत्री हैं। वे समाजवादी होते हुए भी जनतंत्र में विश्वास करते हैं और इसीलिए उन कम्युनिस्टों से भिन्न हैं जो समाजवादी तो हैं किंतु जनतंत्र में न तो विश्वास करते हैं न उसका अनुकरण ही करते। यही कारण है कि कम्युनिस्ट समाजवादी जनतंत्रियों से घृणा करते हैं और जितना विरोध कम्युनिस्टों और मजदूर-दलीयों में आपस में होता है उतना उनका पूँजीवादियों से भी नहीं होता।

यह बात नहीं कि कम्युनिस्ट अत्यधिक वाम-पक्षी थे। बेवन का दल कम्युनिस्टों को अपने से अधिक दक्षिणपक्षी मानता था। बेवन; रसेल, स्ट्रास और उनके मित्रों को चर्चिल से अनुरक्ति नहीं थी। किन्तु कम्युनिस्टों का नारा था—"चर्चिल का अबाधित रूप से समर्थन करो।" लंदन में सूचना विभाग के बाहर मैंने एक खुली सभा में ब्रिटेन के प्रधान कम्युनिस्ट हैरी पोलिट को एक ऐसे झंडे के नीचे खड़े होकर बोलते देखा जिस पर "सरकार को मज़बूत बनाओ" लिखा हुआ था। कितने ही उप-चुनावों में कम्युनिस्टों ने मजदूर उम्मीदवारों के विरोध में अनुदारदलियों का समर्थन किया।

ब्रिटिश मज़दूर-दल के बुद्धिमान् और प्रतिभाशाली व्यक्ति उसके वामपक्षी दल में हैं और प्रभाव और शक्ति रखने वाले व्यक्ति दक्षिणपक्षी दल में। क्लेमेन्ट एटली मज़दूर-दल के "निर्जीव मध्य" माने जा सकते हैं। मज़दूर-दल के अधिकांश सदस्य तो उनके दाहिने पक्ष में हैं किन्तु जो लोग उनकी बाईं ओर हैं वे उनके नीचे आग लगा सकते हैं। मैंने एटली को कई बार पार्लमैण्ट में अपने दफ्तर में और लोक-सभा के भोजन-भवन में बैठे हुए देखा था। (एटली को विरोधी दल के नेता होने के कारण सरकार की ओर से एक दफ्तर मिला हुआ था और वेतन भी मिलता था।) गृह-युद्ध के समय हम दोनों स्पेन में थे। सन १९४१ में मैं उनसे नम्बर ११ डार्उनिग स्ट्रीट में मिला। यह जगह चर्चिल के सरकारी निवास-स्थान (१० डार्उनिग स्ट्रीट) के

बिलकुल पड़ोस में थी। एटली उन दिनों डिप्टी प्रधान मंत्री थे और प्रधान मंत्री चर्चिल प्रेज़िडेंट रूज़वेल्ट से मिलने के लिए अन्ध महासागर की एक खाड़ी में गये थे, जहाँ दोनों ने 'आगस्टा' नामक क्रूज़र में बैठकर एटलांटिक अधिकारपत्र तैयार किया था। यह बात १४ अगस्त की है। उस दिन सवेरे समाचार पत्रों और रेडियो ने रहस्यपूर्ण ढंग से और बड़ी ही गम्भीरता के साथ घोषणा की थी कि दोपहर बाद एटली एक महत्त्वपूर्ण घोषणा करेंगे। उस दिन मैंने रिफ़ार्म क्लब में एक अंग्रेज़ मित्र के साथ भोजन किया। अनुमान लगाये जा रहे थे कि एटली क्या कहेंगे। कुछ लोगों को आशा थी कि अमेरिका युद्ध में प्रवेश करेगा। अधिकांश लोगों का खयाल था कि रूज़-वेल्ट और चर्चिल अपने युद्ध-लक्ष्यों की घोषणा करेंगे। भोजन के बाद, एक दुबले-पतले बूढ़े आदमी ने गुशलखाने में कहा—"लोग कहते हैं कि वे यह बताने जा रहे हैं कि हम किसलिए लड़ रहे हैं। यह बात तो हम स्वयं जानते ह। हम हिटलर को हराना चाहते हैं।" १५ आदमियों का एक दल बिलियर्ड के कमरे में रेडियो पर कान लगाये बैठा था। एटली साधारण उत्तेजना-विहीन स्वर में बोले। ब्रिटिश जनता को चर्चिल के प्रतिभाशाली रेडियो-भाषण सुनने की आदत पड़ गई थी। एटली ने एटलाँटिक अधिकारपत्र को आठों बातें पढ़ कर सुना दीं। उनके बोलना बन्द करते ही लोग उठकर जाने लगे। किसी ने ताला नहीं बजाई, किसी ने आलोचना नहीं की। कोई भी प्रभावित दिखाई नहीं दिया, सभी निराश-से हो गये। लोगों को आशा थी कि अमेरिका ब्रिटेन के कन्धे-से-कन्धा मिलाने के लिए युद्धक्षेत्र में उतर आयगा।

कलब से मैं ११ डॉनिंग स्ट्रीट एटली के दफ्तर में गया। वह मेरी ओर फुर्ती के साथ हिलते हुए आये। मैंने उनसे कहा कि आपका वक्तव्य रेडियो पर बिलकुल साफ-साफ सुनाई दिया। इस पर वह हर्षपूर्वक मुसकराये। इस बार वह न तो अपनी चुरट पी रहे थे, न 'अच्छा', 'ठीक' आदि कहकर उदासीनता ही दिखा रहे थे। वह बातचीत और टीका-टिप्पणी के लिए इच्छुक मालूम होते थे। हमने ब्रिटेन की गृह और विदेश-नीति के प्रति की जाने वाली अमेरिकन आलोचनाओं के सम्बन्ध में बातचीत की।

एटली जमकर बहस करते हैं। यदि उन्हें कोई बात कहनी होती है तो वह उसपर दृढ़तापूर्वक जमे रहते हैं। दूसरे ऊब उठते हैं; किंतु वह अपने आडम्बरहीन ढंग से बहस करते ही रहते हैं। उनके सम्बन्ध में एलेन विलकिंसन ने कहा है—"मैं उन्हें मजदूर-दल की एक तूफ़ानी बैठक में देख चुका हूँ। वहाँ बड़े-बड़े भावुक वक्ता जोशीले भाषण दे रहे थे। सारे वाता-

वरण में बिजली-सी दौड़ जाती थी, संकट निकट दिखाई देता था और पार्टी ख़तरे में होती थी। इस पर एटली धीरे से उठते और अपने शान्त तर्कशील स्वर में एक भावुकताशून्य सार्थक भाषण करते......"मैंने देखा है कि ऐसे भाषण के बाद २०० क्रुद्ध व्यक्ति कमरे से बाहर निकल गये और कुछ समझ में नहीं आया कि आख़िर झगड़ा हो किस बात पर रहा था।"

एटली में चमत्कार लाना कठिन है। उनके मजदूर दली अनुयायी इस बात की चिन्ता नहीं करते, बल्कि चमत्कार हीन होने के कारण उनके ऊपर और भी अधिक विश्वास करते हैं। ब्रिटेन के मज़दूर वर्ग को इस बात का भय है कि उपाधियों, धन और उच्चाधिकारियों के मिलन-निमंत्रण ऐसी सूक्ष्म रिश्वतें हैं जिनसे उनके नेता ठगे जा सकते हैं। एटली को वे इन सब बातों से बरी समझते हैं। उन्हें वे रैमज़े मैकडोनैल्ड से, मज़दूर-दली प्रधानमंत्री बनने के बाद १९३१ में अनुदार दल में शामिल हो गये थे, भिन्न समझते हैं।

हैरल्ड लास्की ने, जो ११ डाउनिंग स्ट्रीट में एटली के सलाहकार का काम करते थे, मुझसे यह बात कही—"एक बार मैं ह्वाइट हाउस में रूजवेल्ट से बातें कर रहा था। रूजवेल्ट ने मुझसे पूछा कि क्या आप हमारे लन्दन-स्थित राजदूत बिन्घम को पसन्द करते हैं? मैंने उत्तर दिया कि बिंघम से कभी मुलाकात नहीं हुई। इस पर प्रेज़िडेंट रूजवेल्ट को आश्चर्य हुआ। मैंने उन्हें बताया कि बिंघम मज़दूर दल के लोगों से ज्यादा नहीं मिलते-जुलते। इंग्लैण्ड लौटने पर कुछ दिनों बाद मैं अमेरिकन राजदूतालय में भोजन करने के लिए निमंत्रित किया गया। वहां एटली भी थे। वह बिंघम की दाहिनी तरफ़ बैठे थे। बातचीत धीरे-धीरे चलती रही। बिंघम ने एटली से पूछा कि क्या इधर आपने कोई शिकार किया है? एटली ने उत्तर दिया कि अख़ीरी शिकार मैंने १९१७ में किया था। इस पर बिंघम ने उत्सुकता पूर्वक पूछा—'शिकार में आपने क्या मारा? 'जर्मनों को', एटली ने धीरे से उत्तर दिया।

एटली द्वारा रेडियो पर एटलांटिक अधिकारपत्र की घोषणा किये जाने के कई दिन बाद मैंने सूचना-मंत्री ब्रैण्डन ब्रेकन से कहा—"क्या आप इस बात से सहमत हैं कि यदि चर्चिल को अपनी ही इच्छा से काम करना होता तो वह एटलांटिक अधिकारपत्र को कभी प्रयोजनीय नहीं समझते? उन पर युद्ध सम्बन्धी उद्देश्यों की घोषणा करने के लिए जनता की ओर से कोई दबाव नहीं था। अतः उस घोषणा-पत्र की बात निश्चय ही रूजवेल्ट की ओर से आरम्भ की गई होगी, ब्रेकन मुझसे सहमत थे। चर्चिल को ब्रिटिश जनता की नैतिकता उत्तेजित करने के लिए अधिकारपत्र की आवश्यकता नहीं थी किन्तु रूज़वेल्ट

को इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई ।

एटलांटिक अधिकारपत्र की दुर्बलता उसकी आधारभूत कल्पना में ही है। उसकी कल्पना शान्ति की स्थापना के लिए किसी बुनियादी सिद्धान्त के रूप में नहीं की गई थी; बल्कि अमेरिका को मनोवैज्ञानिक रूप से युद्ध के लिए तैयार करने के साधन के रूप में। वह शान्ति के लिए प्रचार मात्र था। जब शान्ति-निर्माण का कार्य वस्तुतः आरम्भ हुआ तो शुरू-शुरू में उस अधिकारपत्र की उपेक्षा या अवज्ञा की गई और बाद में वह बिलकुल भुला दिया गया।

ब्रिटेन के विदेश-मन्त्री ऐन्थनी ईडेनका युद्धोत्तर समस्याओं और सामाजिक प्रश्नों से चर्चिल की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध था। किन्तु यदि उन्हें अमेरिका की दिलचस्पी का पता न लग गया होता तो सन् १९४१ में वह भी शान्ति-समझौते की इतनी अधिक बातें न कर सके होते जितनी कि उन्होंने कीं। ईडेन जानते थे कि अमेरिका के अभी युद्ध में प्रवेश न करने का एक कारण यह था कि ब्रिटेन अभी पिछली ही लड़ाई लड़ रहा था। जो लोग यह समझते थे कि सन् १९१९ की शान्ति निरर्थक सिद्ध हो गई है वे किसी दूसरे युद्ध में भाग लेने के इच्छुक नहीं थे और आगामी शान्ति के सम्बन्ध में कुछ आश्वासन चाहते थे।

ईडेन योग्य और मिलनसार व्यक्ति हैं। उनकी मिलनसारी का परिचय उनके आगे के ६ बड़े-बड़े दांतों से मिलता है। चर्चिल के बाद इंग्लैण्ड में वही सबसे अधिक लोकप्रिय राजनीतिज्ञ थे वेही और चर्चिल के सम्भावित उत्तराधिकारी समझे जाते थे। (उस समय तक किसी ने मजदूर-दल के विजयी होने की कल्पना भी नहीं की थी)। ईडेन का जन्म १२ जून १९९७ को हुआ था। वह चर्चिल से बाद की पीढ़ी के थे। उनका यह सिद्धांत कि सामाजिक सुरक्षा के बिना शान्ति नहीं मिल सकती, २० वीं सदी का सिद्धान्त है।

ऐन्थनी ईडेन के बड़े भाई जॉन ईडेन प्रथम महासमर के पहले वर्ष में ही युद्ध-मोर्चे पर मारे गये थे। दो साल बाद उनके दूसरे भाई ब्रिटिश जलसेना में काम आये थे। स्वयं ईडेन उस युद्ध में लड़े थे। इन घटनाओं और सेनाओं ने उन्हें नूतन विचार-धारा से सम्बद्ध कर दिया था। उनके बाबा बंगाल के गवर्नर थे और उनकी मां का जन्म भारत में हुआ था। उनका परिवार, ख्यातिप्राप्त, सम्पत्तिशाली और अनेक उपाधियों से विभूषित था। जिसकी एक शाखा मेरीलेंड और उत्तरी कैरोलीना के उपनिवेश में थी। इन बातों के कारण ईडेन अनुदार दल से सम्बद्ध थे।

अनुदार दल वाले ईडेन को सम्भवतः उनके अनेक "विचित्र" सामा-

जिक विचारों के कारण, दुर्बल समझते थे। मजदूर दल वाले भी उन्हें ऐसा ही समझते थे, क्योंकि वह अनुदार विचार के थे, यद्यपि उन्हें राजनीति का और अच्छा ज्ञान होना चाहिए था।

ब्रिटेन के किसी अनुदारदली नवयुवक के मानें यह नहीं हैं कि वह अन्य प्रौढ़ अनुदारदलियों की तुलना में कम अनुदार है। सच पूछिये तो अनुदार पंथ के दुर्ग पर २०वीं सदी के निरन्तर प्रहारों के कारण उसके रक्षकों में को दुर्ग की दीवारों को और भी अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रेरणा होती है। वे गड्ढा और भी गहरा कर लेते हैं जिससे कि उनके पैर आसानी से न उखड़ सकें। ब्रैन्डेन ब्रैकन, जो कि सूचना विभाग के मन्त्री थे, युवकअनु दार-दलियों में सबसे अधिक सैनिक प्रवृत्ति के थे। वह धनी, भावुक और तीक्ष्ण बुद्धि के थे। उन्हें मैं लड़ाई के पहले से ही जानता था। युद्ध आरम्भ हो जाने पर सन् १९३९ में जब मैं पहली बार ब्रिटेन गया तो उन्होंने मुझे चर्चिल से मिलाने में सुविधा प्रदान की। इसके अलावा उन्होंने कितने ही दूसरे अफ़सरों से भी मुलाक़ात कराने में सहायता दी। १८ सितम्बर को उन्होंने मुझे सूचना विभाग के नये और आधुनिक भवन में भोजन के अपने प्राइवेट कमरे में भोजन करने के लिए बुलाया।

मेरे अलावा वहाँ तीन और व्यक्ति थे—ब्रैकन, उपनिवेशों के मन्त्री लार्ड मोइन और डोमीनियन सेक्रेटरी वाइकाउन्ट क्रेनबोर्न। तीनों के तीनों अनुदारदली थे। हम डेढ़ बजे इकट्ठे हुए थे और मैं वहाँ से चार बजे वापिस आया। ब्रैकन ने मुझे बताया कि मोइन, जो कि एक शराब बनाने वाले परिवार के थे, युद्ध से पहले ही अवकाश ग्रहण कर चुके थे और अब अपनी रुचि के अनुकूल कितने हा सांस्कृतिक कार्यों में लगे हुए थ, जैसे औषधि, पूर्व ऐतिहासिक पशु आदि के अध्ययन में। (बाद में फिलिस्तीन के दो आतंकवादियों ने उनकी हत्या कर दी।) क्रेनबोर्न के पिता सेलिसबेरी के अमीर थे और उनका परिवार पुराना प्रभावशाली सेसिल परिवार था।

बातचीत के दौरान में किसी ने म्यूनिख़ के आत्म-समर्पण की चर्चा छेड़ी। ब्रैकेन ने कहा—"म्यूनिख की संधि हमारे लिए सर्वनाश सिद्ध हुई। चेकोस्लोवेकिया को बचाने के लिए हमें लड़ना चाहिए था।"

"हमारे पास विमानबेधी तोपें नहीं थीं" मोइन ने विरोध करते हुए कहा।

"वाल्टर! अगर तुम यह जानते कि सितम्बर १९३८ और सितम्बर १९३९ के बीच हमारे यहाँ हवाई जहाज़ों और बन्दूकों के उत्पादन की गति

कितनी दयनीय थी तो तुम्हें पता चल जाता कि युद्ध में प्रवेश करने से पहले कभी कोई राष्ट्र युद्ध की तैयारी नहीं करता" ब्रैकेन ने उत्तर दिया।

मैंने कहा कि म्यूनिखके संकट के समय रूस पश्चिमी देशों की ओर से लड़ता। ब्रैकेन मुझसे सहमत थे; उन्होंने कहा—"पेरिस को जीतने में हूणों ने–जर्मनों को वह सदा हूण ही कहा करते थे—चेक-टैंकों का प्रयोग किया और चेकोस्लोवेकिया के स्कोडा कारखाने के बराबर जर्मनी में कोई दूसरा कारखाना नहीं है।"

"फिर भी", चश्माधारी अध्ययनशील और खोखले मस्तिष्क वाले क्रनबोर्न ने कहा, "रूस से सलाह लिये बिना पोलैण्ड को सहायता देने का वचन देना मूर्खता का काम था।"

मैंने कहा कि "वह समस्या हल नहीं हो सकती थी; पोलैण्ड की काई भी सरकार रूसी सेना को अपने देश में प्रवेश नहीं करने देती।"

"मैं जानता हूँ कि स्पेन के मामले में तुम्हारा मुझसे मतभेद है" ब्रैकेन ने क्रैनबोर्न से कहा। "मैं समझता हूं कि धार्मिक प्रश्नों के कारण हम वहाँ कुछ नहीं कर सकते थे। किंतु जब सितम्बर १९३० में नॉयन में ब्रिटिश और फ्रांसीसी जल-सेना ने भूमध्यसागर में गश्त लगाने और राज्यानुयायियों के पास शस्त्र ले जाने वाले जहाज़ों का इटैलियन पनडुब्बियों द्वारा डूबाया जाना रोकने का निश्चय किया तो उन्होंने इस कार्य पर ध्यान के साथ विचार किया।

"चैम्बरलेन की तरह यह कहना कि इंग्लैण्ड जैसी जल-सेना वाला राष्ट्र अपने जहाज़ों की रक्षा नहीं कर सकता, निस्संदेह एक मूर्खता की बात थी।" क्रैनबोर्न ने बीच में टोकते हुए कहा "हमें मुसोलिनी और फ्रैंकों से कह देना चाहिए था कि हम न केवल अपने जहाज़ों की रक्षा करेंगे बल्कि उन पर आक्रमण करने वाले जहाज़ों को डुबा भी देंगे; चाहे उसका अर्थ युद्ध ही क्यों न समझा जाय।"

"हमें इटैलियनों को हब्श देश में ही रोक देना चाहिए था, तो फिर स्पेन की घटना घटती ही नहीं", ब्रैकेन ने कहा।

"इस बात में मैं तुमसे सहमत हूँ", क्रैनबोर्न बोले।

मोइन इससे सहमत नहीं थे, वह सदा से ही तुष्टीकरण के पक्षपाती थे।

उन लोगों ने मुझसे स्टालिन के बारे में पूछा। मैंने बताया कि स्टालिन निर्दय और अवसरवादी है किन्तु है; एक महान् पुरुष।

"हैरी हॉपकिन्स की भी यही रिपोर्ट है", ब्रैकेन ने कहा।

"क्या स्टालिन प्रभावशाली है", क्रैनबोर्न ने पूछा।

"नहीं, देखने में प्रभावशाली नहीं है", मैंने उत्तर दिया।

मोइन ने मुझसे रूस की त्रासकारी घटनाओं की बात पूछी। मैंने वहाँ की गुप्त पुलिस की कुछ बातें बताईं।

"बुडेनी और वारोशिलाव जैसे जनरलों के बारे में आपका क्या ख़याल है ?" ब्रैकेन ने पूछा। "उन्होंने तो अपने काम में बड़ी अयोग्यता दिखाई है।"

"वे राजनैतिक जनरल हैं," मैंने कहा। सेना-विभाग के दफ्तर का काम ऐसे जनरलों द्वारा होता है जिनके बारे में रूस से बाहर के देशों को कुछ पता नहीं।"

"क्या आप समझते हैं कि टुखाचेवस्की ने सचमुच नाज़ियों के साथ षड्-यन्त्र रचने का अपराध किया था ?" ब्रैकेन ने पूछा।

"मुझे इस पर विश्वास नहीं, क्योंकि मुझे इसका कोई प्रमाण नहीं मिला", मैंने उत्तर दिया "वहां के सिपाही बहादुरी के साथ लड़ते रहे हैं। रूसी सिपाही सदा ही बहादुरी से लड़े हैं, किंतु सेना-विभाग के दफ्तर का काम निम्नकोटि का मालूम पड़ता है।"

"लेनिनग्राड में उनका वानलीव से हमेशा मतभेद रहता है और मैं समझता हूं कि सैनिक दफ्तर में उससे अच्छा काम करने वाला और कोई नहीं है।"

हमने इस बात पर विचार किया कि जाड़े के दिनों में रूस में जर्मनों के लड़ने की संभावना है या नहीं। मैंने यह मत प्रगट किया कि हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि मौसम या प्रादेशिक कठिनाइयों के कारण रूस में जाड़ों में लड़ाई नहीं हो सकती। हमने तेल, वोल्गा के रक्षा-प्रबंध और ऐसे ही ऐसे दूसरे विषयों पर भी विचार किया। मैंने कहा "मैं समझता हूं कि हिटलर का रूस पर आक्रमण करने का उद्देश्य यह था कि इंग्लैण्ड संधि की याचना करे। वह जानता है कि ब्रिटेन और अमेरिका को व्यापक रूप से युद्ध-सामग्री का उत्पादन आरम्भ करने में अभी एक साल लगेगा। इस एक साल में वह रूस को कुचल डालने और आपके सामने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देने की आशा रखता है कि आप जीत न सकें और उससे संधि के लिए बात-चीत करें।"

"यह बात ठीक है", ब्रैकेन ने कहा। "हिटलर का समय निर्धारण बिलकुल ठीक था।"

तीन बजे क्रैनबोर्न और मोइन चले गये। ब्रैकेन उनके साथ लिफ्ट तक गये और मुझे रुकने को कह गये। हमने एक घंटे और बातचीत की।

लिफ्ट से लौटकर ब्रैकेन ने मुझसे कहा कि ब्रिटिश सरकार को इस बात की निरन्तर चिंता लगी रहती है कि स्टालिन हिटलर से अलग संधि न कर ले। ऐसी संभावना पर सारे इंग्लैण्ड में चर्चा चल रही थी। ब्रैकेन ने मुझसे कहा—"युद्ध बैडमिंटन के खेल की तरह है, जिसमें चिड़िया कभी इधर और कभी उधर रहती है। पहले पूर्व में पोलैंड में युद्ध हुआ, बाद में पश्चिम में नीदरलैण्ड और फ्रांस में। अब फिर पूर्व में रूस में युद्ध हो रहा है। क्या इसके पश्चात् फिर पश्चिम में होगा ?'

ब्रैकेन सोडा और ह्स्की पीने लगे और मुझसे बोले कि रूस को युद्ध में रत रखने के लिए ब्रिटेन को क्या करना चाहिए ? मैंने उत्तर दिया—"रूस को शस्त्र देते रहिए, इस बात की चेष्टा कीजिए कि तुर्की रूस के विरुद्ध जर्मनी के साथ न मिल जाय, स्पेन को नाज़ियों से बचाये रखिए और रूस को इस बात का विश्वास दिला दीजिए कि आप हिटलर को भनायेंगे-बहलायेंगे नहीं। मुझे विश्वास है कि रूस यह सोचता है कि आप चाहते हैं कि रूस और जर्मनी एक दूसरे को मार खायं।"

"लेकिन अब हम कदापि तुष्टीकरण का चेष्टा नहीं करेंगे; हमने बहुत कुछ सीख लिया है," ब्रैकेन ने कहा।

हमने यूरोप में दूसरा मोर्चा खोलने के प्रश्न पर भी विचार किया। इसके विरुद्ध जितने भी तर्क दिये जा सकते थे, ब्रैकेन ने दिये। ये ही तर्क मैं कौंसिल के लार्ड प्रेजिडेण्ट सर लार्ड एन्डरसन और मज़दूर-मंत्रियों से भी सुन चुका था। ये तर्क विशुद्ध सैनिक तर्क थे। अकेले ब्रिटेन के पास इतने आदमी और अस्त्र-शस्त्र नहीं थे कि वह जर्मनी के अधिकांश सैनिकों के रूसियों के साथ भिड़े रहने पर भी जर्मन-सेना का सामना कर सकता।

"सब कुछ होते हुए भी रूस के साथ हमारे सम्बन्ध पहले से अच्छे होते जारहे हैं," ब्रैकेन ने कहा। "शुरू-शुरू में हमारी बिलकुल नहीं बनी। क्रिप्स उनके लिए अधिक वाम-पक्षी थे, वे डेवनशायर के ड्यूक या उनके ही जैसे किसी और व्यक्ति को ज्यादा पसन्द करते। किन्तु अब स्टालिन और क्रिप्स की खूब तन रही है। मोलाटाव के साथ उनके सम्बन्ध उतने अच्छे नहीं हैं, किन्तु मोलोटोव इतना महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं है।"

क्रिप्स के बाद मैंने वाशिंगटन-स्थित ब्रिटिश राजदूत हैलीफैक्स की चर्चा की। "ओह! हैलीफैक्स और रूजवेल्ट तो बड़े ही अच्छे मित्र हैं," ब्रैकेन ने कहा। "वे दोनों ही पादरियों में विश्वास करते हैं और धर्म की बातें करते हैं।"

ब्रैकेन ने यह भी बताया कि मैं ब्रिटिश व्याख्यानदाताओं को अमेरिका जाने से रोक रहा हूं। "हम अमेरिका के लिए युद्ध के जितने निकट आने की आशा कर सकते हैं, वह उतना ही निकट आगया है," ब्रैकेन ने कहा; "किंतु हमें उससे सैनिकों की आशा नहीं।"

"इसी भरोसे पर तो हिटलर भी कूदता है," मैंने कहा। "एक ओर तो वह ब्रिटेन से संधि का प्रस्ताव करेगा और दूसरी ओर अमेरिका से कहेगा कि जब तक अमेरिका अपने ५० लाख आदमी लड़ाई में नहीं झोकेगा तब तक ब्रिटेन नहीं जीत सकेगा।"

"यह तो अमेरिका कभी नहीं करेगा," ब्रैकेन ने कहा।

"तो, आपकी जीत रूस पर निर्भर है," मैंने कहा।

"इसीलिए तो हमसे जितना भी हो सक रहा है हम रूस की सहायता कर रहे हैं," ब्रैकेन ने कहा। आरम्भ में स्टालिन ने हमसे प्रतिमास उतने हवाई जहाज़ माँगे जितने हम साल भर में बना पाते हैं। जब हमने उसका स्वप्न भंग किया तो उसने अपनी मांग आधा कर दी। हमारे पास जितना भी है, हम सब उसे दे देंगे; चाहे उसके कारण हम स्वयं संकट में क्यों न पड़ जायं? आप तो जानते ही हैं कि जब क्रिप्स ने स्टालिन को संभावित जर्मन आक्रमण की सूचना दी तो स्टालिन ने उस पर विश्वास करने से इन्कार किया।"

"मैं समझता हूं कि स्टालिन को यह बात मालूम थी कि जर्मनी आक्रमण करने वाला है," मैंने कहा "लेकिन उस समय रूस हिटलर के सामने औंधे मुँह पड़ा था और अंग्रेजों की इस आशा की पुष्टि नहीं करना चाहता था कि वह शीघ्र ही जर्मनी से लड़ेंगे।"

"तो आप समझते हैं कि स्टालिन को इस बात का पता था," ब्रैकेन ने कहा। "आप तो जानते ही हैं कि स्टालिन और चर्चिल की खूब बन रही है। मंत्रिमण्डलों की बैठकों में चर्चिल यह कहकर कि आज चाचा जी के पास से मेरे पास तार आया है खुशी से फूल उठते हैं।"

मैंने पूछा कि क्या ब्रिटेन को रूसी-जर्मन युद्ध में काम आये हुए व्यक्तियों की ठीक-ठीक संख्या मालूम है। ब्रैकेन ने उत्तर में बताया—"पहले दस सप्ताहों में रूस के तीस लाख और जर्मनी के बीस लाख आदमी खेत रहे। कैदियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, उन्हें क्वार्टर नहीं दिये जाते। अमेरिकन जनरलों का ख़याल है कि जर्मन-सेना अजेय है और रूस हार जायगा। वे मध्य पश्चिम के निवासी हैं और जर्मनों का आदर करते हैं। अगर रूस ने घुटने टेक दिये तो हम सबके लिए बहुत बुरा होगा।"

"केवल इस कारण से कि रूस के पतन से आपके सर्वनाश की सम्भावना है, आपको उसे रोकने के लिए अधिक-से-अधिक धन-जन का व्यय करने के लिए तैयार रहना चाहिए," मैंने कहा।

"यदि इस कार्य में हमारे एक लाख सैनिक भी मारे जायं तो हमें चिंता नहीं," ब्रैकेन ने कहा। "लेकिन क्या आपको इस बात का विश्वास है कि हम जो कुछ भो करेंगे उससे एक भी जर्मन-सैनिक पूरब से हटाया जा सकेगा? हिटलर ने फ्रांस और हालैण्ड में सेनाएं सुरक्षित कर रखी हैं। हमने यह बात स्टालिन को समझा दी है और वह संतुष्ट हैं।"

ब्रैकेन को काम करना था, इसलिए मित्रतापूर्वक हाथ मिलाकर हम एक-दूसरे से अलग होगये।

सन् १९३९ की जर्मन-रूसी संधि और स्टालिन द्वारा सन् १९३५ में आरम्भ किये गये सैनिक विरोधों के उन्मूलन की घटनाओं की चर्चा की भाँति सन् १९३८ की म्यूनिख़ घटना की चर्चा भी, आजकल जहाँ राजनीतिक प्रवृत्ति वाले लोग इकट्ठे होते हैं, वहीं छिड़ जाती है। ब्रैकेन के भोज में म्यूनिख़ पर वाद-विवाद हुआ। २३ सितम्बर १९४१ को जब मैं लण्डन में चेकोस्लोवेकिया के प्रेजिंडेन्ट एडवर्ड बेनेश से मिला तो उनके मस्तिष्क में भी सबसे अधिक म्यूनिख़ का ही ध्यान था।

"आप अच्छे तो हैं ?" मैंने उनकी लंदन-स्थित निर्वासित सरकार के प्रधान कार्यालय में प्रवेश करते हुए पूछा।

"हाँ, अच्छा हूँ," उन्होंने उत्तर दिया।

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"पहले मैं नरक में वास कर रहा था," उन्होंने कहा, "लेकिन तब से अब स्थिति अच्छी है। अब हम युद्ध कर रहे हैं। हमारे लिए तो म्यूनिख़ के समय ही लड़ना अधिक उचित था। यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि जर्मनी सुडेटनलैण्ड के मामले पर लड़ ही पड़ता। मुझे रिपोर्ट मिली थी कि वह उस समय तैयार नहीं था। लेकिन अगर वह हम पर आक्रमण करता भी तो हम चार या सम्भवतः छः महीने तक उसे रोके रखते। हमारी सुडेटनलैण्ड की क़िलेबन्दियां मैज़ीनो लाइन से ज़्यादा अच्छी थीं।

"किंतु क्या आस्ट्रिया की ओर से आपकी सीमा खुली हुई नहीं थी ?" मैंने पूछा।

"हाँ, वहाँ हमारी किलेबन्दी ज़्यादा अच्छी नहीं थी, फिर भी खासी अच्छी थी," बेनेश ने उत्तर दिया। "यह तो ठीक है कि प्रेग नष्ट हो जाता,

किन्तु हम भी तो ड्रेसडेन और लिपज़िग को नष्ट कर देते और बर्लिन पर भी बमबारी करते। उसके बदले आज चेकोस्लोवेकिया के स्कोडा और दूसरे कारखानों में इंग्लैण्ड और रूस के विरुद्ध कार्य हो रहा है। हमारे पास १७०० हवाई जहाज़ थे जो कि जर्मनी के हवाई जहाजों से किसी भी तरह कम न थे। फ्रांस के पास १५०० हवाई जहाज़ थे और इंग्लैण्ड के पास १५०० से २००० तक। यह सभी हवाई जहाज़ प्रथम कोटि के थे। जर्मनी के पास ३००० विमान थे। चेकोस्लोवेकिया का पतन फ्रांस की नैतिकता और फ्रांस तथा रूस के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए भी बुरा था। म्यूनिख की घटना मानो यूरोप के लिए एक सर्वनाश थी। हम इस बात के लिए तैयार थे कि पहले वोहीमिया में लड़ें और फिर मोरेविया, स्लोवेकिया और रूमेनिया के रास्ते पीछे हटते हुए रूस चले जायं। रूमेनिया से रूसी सीमा की ओर एक रेलवे लाइन भी जाती थी।"

मैंने डाक्टर बेनेश से यह लाइन नक्शे में दिखाने को कहा और उन्होंने दिखा दिया।

डाक्टर बेनेश ने फिर कहा—"दिखाने के लिए तो हमने यह लाइन रूमेनिया के लिए उधार बनवाई थी, लेकिन असल में हमने अपने पीछे हटने का रास्ता तैयार कराया था। हमने अपने विमान-चालक भेजकर रूस के ३०० बम-वर्षक हवाई जहाज मंगा लिये थे और हम भी उसी तरह के हवाई जहाज बनाना शुरू करने जा रहे थे। हवाई जहाज हमने रूमेनिया पर उड़ाये। इस मामले में रूमेनिया के राजा कैरोल ने बड़ी मित्रता दिखाई और कहा कि हमसे पूछने की आवश्यकता नहीं। कैरोल रूमेनिया से होकर रूसी सेना को चेको-स्लोवेकिया आने देते लेकिन पोलैंड ऐसा कभी नहीं करता। फिर भी रूसी सेना पोलैंड को तटस्थ छोड़कर रूमेनिया से होकर हमारे यहां आ सकती थी।"

डाक्टर बेनेश ने बातचीत में और भी अधिक दिलचस्पी लेते हुए कहा—"सितम्बर १९३८ में रूसियों ने तीन बार सहायता देने का वचन दिया उस महीने के आरम्भ में हमारे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए रूस ने कहा कि अगर फ्रांस सहायता देगा तो वह भी देगा। यह बात असंतोष जनक थी, क्योंकि हमें इस बात की आशंका थी कि फ्रांस सहायता नहीं देगा। इसलिए हमने रूस को फिर लिखा और उसने हमें सलाह दी कि यह मामला हम राष्ट्र-संघ में उठावें। किन्तु मुझे भय था कि राष्ट्र-संघ शायद ब्रिटेन और फ्रांस के दबाव में पड़कर जर्मनी का सामना करने का विरोध करेगा और इस दशा में यदि हम लड़ते तो कहा जाता कि हम संघ के निर्णय के विपरीत काम कर रहे हैं अन्त में रूस

ने हमसे कहा कि हम सब बातों का विचार छोड़कर लड़ने लगें और उसने रूमेनियां से होकर और आकाश-मार्ग से भी सहायता देनें का वचन दिया।"

उस भयंकर सितम्बर की याद आते ही बेनेश के मुख की रेखाएं और झुरियां और भा गहरी गड़ गईं। ब्रिटेन और फ्रांस की धमकी के कारण वह लड़ाई न करने के लिए रज़ामन्द हुए थे, किंतु म्यूनिख़ नें चेकोस्लोवेकिया का गला घोट दिया था। बेनेश को इस बात की पहले से आशंका थी, किन्तु वह ब्रिटेन और फ़्रांस का विरोध नहीं कर सकते थे। "मैं अपने देश को पूरा स्पेन नहीं बनाना चाहता था," उन्होंने मुझसे कहा। "अगर हमने रूसी सहायता स्वीकार करके युद्ध आरम्भ कर दिया होता तो मैं बोलशेविक कहलाता।"

बेनेश ने यह संकेत किया कि उनकी सरकार को तुष्टीकरण में विश्वास करने वाली जनतंत्री सरकारों की ओर से भी विरोध का सामना करना पड़ा था। उन्होंने आह भरते हुए कहा—"यदि लड़ाई ११ महीने बाद आरम्भ न होकर १९३८ में ही शुरू हो गई होती, तो शायद फ़्रांस बच जाता। उस समय तक हिटलर की पश्चिमी दीवार तैयार नहीं हुई थी और स्पेन के राज-भक्त तब भी लड़ रहे थे।"

बेनेश मुझसे इस बात में सहमत थे कि सन् १९३८ म ब्रिटेन और फ्रांस का मिलकर हिटलर को तुष्ट करना वैसा ही था जैसा सन् १९३९ में स्टालिन का हिटलर को फुसलाना मनाना। "रूस को फ्रांस की रक्षा करनी चाहिए थी," बेनेश ने अनिच्छा पूर्वक कहा।

एक दिन शनिवार को दोपहर बाद में रेल से ब्रिटेन के हरे-भरे गांवों की ओर चल पड़ा और एक छोटे से स्टेशन पर उतर गया। स्टेशन पर प्रथम महासमर के ब्रिटिश प्रधान मंत्री डेविड लायडजार्ज के सेक्रेटरी श्री वाइट ह्वाइट ने मेरा स्वागत किया। वहां से घर की ओर जाते समय उन्होंने दो कैनेडि-यन सिपाहियों को भी मोटर में चढ़ा लिया था, जिन्होंने कहा कि हमने लड़ाई में नाम लिखवा रखा है, किन्तु महीनों तक निष्क्रिय पड़े रहने के कारण ऊब गये हैं। उन्हें यह जानकर बड़ा रोमांच हुआ कि वे लायड जार्ज की मोटर में बैठे हुए थे।

हिटलर से बरखटेसगैडेन में मिलने के बाद लायड जार्ज ने चर्ट में खलि-हानों के पास बने हुए अपने मकान की प्रधान बैठक को फिर से बनवाया था और उसमें हिटलर के 'घोंसले' की तरह एक लम्बी चौड़ी खिड़की लगवा ली थी। घाटी का दृश्य जैसा कि मैंने सन् १९३८ की यात्रा में देखा था उससे कहीं अधिक सुन्दर होगया था। लायड जार्ज के पियानो पर से हिटलर का वह

चित्र, जिस पर हिटलर ने अपने हस्ताक्षर किये थे, हटा लिया गया था। इसी तरह, ब्रिटेन के वाशिंगटन-स्थित भूतपूर्व राजदूत लार्ड लोदियन का चित्र भी, जो पहले लायड जार्ज के सेक्रेटरी रह चुके थे, हटा लिया गया था। फिर भी वहां फ्रेम में जड़े हुए कई चित्र थे, जिनमें से एक वुडरो विलसन का था। इस चित्र पर वुडरो विलसन ने लिखा था "अपने मित्र लायड जार्ज को"। अब भी उनके प्रेम या मित्रता में कोई कमी नहीं आई थी। उनके अतिरिक्त, वहाँ फील्ड मार्शल स्मट्स, फाच, क्लेमेन्शियो, लार्ड बर्केनहेड और लायड जार्ज की माता के भी चित्र थे। एक लम्बी कोच पर साप्ताहिक "न्यू स्टेट्समैन" और "नेशन" की प्रतियां, अनेक वामपक्षी परचे, साप्ताहिक "पिक्चर पोस्ट" के कितने ही अंक और कई पुस्तकें पड़ी हुई थीं।

लायड जार्ज कमरे में कुछ कूदते हुए से आये। किन्तु वह इतने स्वस्थ नहीं मालूम पड़ते थे जितना कि मैंने उन्हें १६३८ में देखा था और उनके कोट के कालर पर पड़ने वाले लम्बे रूपहली बाल भी उतने चमकदार नहीं रह गये थे। उन्हें यह बात याद थी कि पिछली मुलाकात में हमने मुख्यत: स्पेन के सम्बन्ध में बातचीत की थी। "अफसोस!" उन्होंने कहा "यदि वहां हमने ठीक समय पर सावधानी से काम किया होता तो शायद यह लड़ाई रुक जाती। युद्ध स्पेन में आरम्भ नहीं हुआ। वहां से पहले तो हब्श और मंचूरिया में लड़ाई हुई थी, किन्तु तानाशाहों को रोकने के लिए सबसे अच्छा अवसर स्पेन ही में था।" इसके बाद लायड जार्ज फौरन रूस की चर्चा छेड़ बैठे। "स्टालिन संधि नहीं करेगा वह जानता है कि इसका परिणाम क्या होगा?" लायड जार्ज ने दृढ़ता के साथ कहा जोर इस बात पर जोर दिया कि रूस पर से जर्मन दबाव कम करने के लिए हमें फ्रांस में दूसरा मोर्चा खालना चाहिये। मैंने उनसे कहा कि जितने भी मंत्रियों से मेरी बातचीत हुई है, उन सबको, यहां तक कि चर्चिल के दाहिने हाथ सर जॉन ऐण्डरसन को भी, इस बात का विश्वास है कि ब्रिटेन इस समय दूसरा मोर्चा खोलने में समर्थ नहीं है।

"क्यों नहीं?" लायड जार्ज न तड़ाक से पूछा। "वे कहते हैं कि जहाज काफी नहीं हैं? वाह, जहाज का क्या बहाना! मार्च १६१८ में जब हमारी फौजें फ़्रांस में घुसीं तो मैंने खाद्य-कन्ट्रोलर को आदेश दिया कि सारे जहाज़ एटलांटिक से हटाकर उधर ले जाओ। हमने फ्रांस में फ़ौज-पर-फ़ौज उतार दी और स्थिति संभाल ली। अगर मैं होता तो फ़्रांस में एकदम एक या दो लाख सिपाही भेज देता। अगर हमारे पास सामान की कमी है तो समझ में नहीं आता कि हम पिछले बारह महीनों से क्या करते रहे हैं। जून १९१५ और जुलाई

१९१६ के बीच मैंने १३ लाख सैनिकों को शस्त्र सज्जित करके फ्रांस भेजा था।"

मैंने कहा कि यह युद्ध पहले के युद्ध से भिन्न है, कि आज की सेनाओं को टैंकों-जैसे भारी अस्त्र-शस्त्रों और हवाई जहाजों की आवश्यकता है।

"टैंक ?" लायड जार्ज ने कहा, "हाँ, इन्हें बनाने के लिए हमारे पास काफ़ी समय था। विन्सटन में साहसिकता की भावना नहीं है। पहले महा-समर में गैलीपोली में उन्हें जो अनुभव हुआ था उससे उनकी साहसिकता भंग हो गई है। विन्सटन ने यूरोप में कुछ करना नहीं चाहा। जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया तो चर्चिल रूज़वेल्ट से मिलने चले गये। उन्होंने अपने को दूर इसलिए रखा कि उन पर कुछ और करने के लिए दबाव न पड़ सके।"

इसी समय नौकरानी जलपान की ट्राली लेकर आई, जिस पर चाय डबलरोटी, मक्खन और शहद रखा हुआ था। लायड जार्ज ने मक्खन निकले हुए दूध का एक गिलास पिया और कहा—"मैं यही पिया करता हूँ।" दूध पीते समय उनका हाथ काँप रहा था। उनकी उम्र ७८ वर्ष की थी और उन्होंने सिगरेट पीना छोड़ दिया था।

मैंने एक रिपोर्ट की चर्चा की, जिसमें यह कहा गया था कि सन् १९३७ और १९३८ में रूज़वेल्ट ने विश्व की समस्या को हल करने के लिए हिटलर स्टालिन, मुसोलिनी; चेम्बरलेन और दलादिये को अमेरिका निमंत्रित करने का विचार किया था।

"तो उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया ? यह तो एक बड़ा ही अच्छा ख़याल था," लायड जार्ज ने कहा। कुछ क्षण बाद उन्होंने सन्देह की भावना प्रकट करते हुए कहा—"लेकिन नहीं, स्टालिन नहीं आता, वह लिटविनाव को भेज देता और तब हिटलर भी स्वयं न आकर रिबनट्राप को भेजता और सम्मेलन का कोई नतीजा नहीं निकलता।"

मैंने लायड जार्ज से एटलांटिक अधिकारपत्र के सम्बन्ध में उनका मत पूछा।

"आख़िर उस अधिकार-पत्र का मतलब क्या है ? मुक्त व्यापार ?"—लायड जार्ज ने कहा और 'ख़-ख़' की आवाज़ करते हुए आनन्द के साथ अपना सिर इधर-उधर हिलाया। उन्हें यह विश्वास नहीं था कि एटलांटिक अधिकार-पत्र का अर्थ मुक्त व्यापार है। उन्होंने कहा—"उसमें और निःशस्त्रीकरण की बात भी तो है। वारसाई की संधि में भी यही योजना थी किंतु वह काम नहीं कर सकी। फ्रांसीसियों ने अपने को निःशस्त्र करने से इंकार कर दिया। केवल ब्रिटेन और अमेरिकनों ने इसको महत्त्व प्रदान किया।"

लायड जार्ज के पुत्र ग्विलिम, जो पार्लमेंट के सदस्य और खाद्य-मंत्री लार्ड वुलटन के सहकारी थे, अपनी लम्बी पत्नी और पुत्र डेविड के साथ चाय पीने आये। लायड जार्ज ने पूछा कि युद्ध में प्रवेश करनेके सम्बन्ध में अमेरिकनों की क्या भावना है। साथ-ही-साथ उन्होंने कहा भी—"केवल वही देश, जा सचमुच युद्ध में रत होता है, युद्ध के लिए पूर्ण रूप से उत्पादन करने और उसके श्रम को सहन करने को तैयार हो सकता है।"

"क्या आप समझते हैं कि अमेरिका के युद्ध में प्रवेश करने से पहले हा रूस का पतन हो जायगा," उन्होंने चिन्ता के साथ पूछा। हमने इस आनुमानिक प्रश्न पर काफ़ी देर तक विचार किया और फिर दूसरा सवाल उठाया—"क्या ब्रिटिश जर्मनी पर बम बरसाकर जीत सकता है ?"

"हुँह," लायड जार्ज ने कहा—"जिस तरह वे अपने हवाई आक्रमणों द्वारा हमें नहीं दबा सकते, उसी तरह हम भी उन पर बम बरसाकर उन्हें नहीं जीत सकते। यह काम बमों से नहीं हो सकता।"

मैंने उनसे कहा कि मुझे ऐसा आभास हुआ है कि ब्रिटेन में रूस को सहायता देने की तात्कालिक आवश्यकता को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा रहा है।

"मेरी समझ में इसका कारण यह है कि हम पर बमबारी नहीं हो रही है", लायड जार्ज ने कहा। "लोग गोलाबारी की सीमा से बाहर निकलकर बड़े प्रसन्न होते हैं। सन् १९१८ में जब हमारी सेना फ्रांस में घुसी तो मैं वहां क्लैमैन्स्यू से मिलने गया। मेरी उनकी मुलाक़ात ब्यूविले में हुई। यह बात अप्रैल १९१८ की है। जब मैं मोटर पर जा रहा था तो हमारी कुछ रेजीमेंटें लाइन से बाहर आ रही थीं। वे हफ़्तों तक खाइयों में पड़े रहे थे और उन्होंने जर्मनों के तमाचे भी खूब खाये थे। वे युद्ध-भूमि से अधिक पीछे नहीं थे; वहाँ बन्दूकों के छूटने की आवाज़ सुनाई दे रही थी फिर भी उनके चेहरों पर रोशनी थी और वे खुश हो-होकर गा रहे थे।"

मैंने लायड जार्ज से पूछा कि क्या आपकी समझ में इंग्लैण्ड अभी दा साल और डटा रह सकता है "क्यों नहीं ?" उन्होंने छूटते ही उत्तर दिया। जैसा कि आप जानते हैं, मुझे आक्रमण करने में विश्वास नहीं। बहुत कुछ रूस पर निर्भर है। उसे धन-जन की भीषण क्षति उठानी पड़ी है। वे आक्रमण नहीं बल्कि प्रत्याक्रमण करके लड़ते रहे हैं, और इस प्रकार लड़ना हमेशा मँहगा होता है। जर्मनों ने टैंकों और यन्त्रों का उपयोग किया है, जिनके कारण मनुष्यों की मृत्यु कम होती है। पिछले दिनो में चर्चिल के साथ बैठा-

बैठा प्रथम महासमर की मृत्यु-संख्या पर विचार कर रहा था और हमें यह बात याद थी कि उस समय जब हमें अपने सैनिक सदर मुकाम से जर्मन क्षति के सम्बन्ध में आई हुई सूचना पर शङ्का होती थी तो हम उन्हें जर्मनों की रिपोर्टों से मिलाते थे और तब पता चलता था कि जर्मनों की रिपोर्टें ज़्यादा सही हैं। उदाहरण के लिए, पास चेन्डौकल की लड़ाई में, हेग ने रिपोर्ट दी थी कि जर्मनी के ५८ डिवीजनों का सफ़ाया हो गया है, लेकिन हम जानते थे कि यह रिपोर्ट ग़लत है और अब हमें मालूम है कि जर्मन-सैनिकों की मृत्यु-संख्या का ज़्यादा सच्चा विवरण जर्मन विज्ञप्तियों में मिला करता था।"—हेग पिछले महासमर में ब्रिटेन के प्रधान सेनापति थे, जिन्हें लायड जार्ज बहुत नापसन्द करते थे।

लायड जार्ज के पुत्र ग्विलिन, जो अब तक बिलकुल चुप थे, बोले—जहां तक इस युद्ध का प्रश्न है, जर्मनी अपनी यू-बोटों द्वारा हमारे जहाज़ों के डुबाये जाने के सम्बन्ध में झूठा समाचार दे रहा है।" लायड जार्ज ने यह बात मान ली और यह भी स्वीकार किया कि नाजी अपनी हवाई क्षति को भी कम करके बताते हैं।

इसके बाद वह फिर अमेरिका की बात करने लगे और बोले—"जीत अमेरिका के औद्योगिक उत्पादन पर निर्भर है।" मैंने उन्हें बताया कि वहां का उत्पादन लगातार और तेज़ी के साथ बढ़ रहा है। इसे स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—"हाँ, लेकिन पिछले महासमर में अमेरिका ने इतना अच्छा काम नहीं किया। अमेरिकन फौजें फ्रांसीसी बन्दूकें इस्तेमाल कर रही थीं और कहीं-कहीं तो ब्रिटिश बन्दूकें भी, क्योंकि वह अस्त्र-शस्त्र से पर्याप्त रूप से सज्जित हुए बिना ही यूरोप में आगई थीं।"—मैंने उनसे कहा कि ऐसी बात इस युद्ध में नहीं होगा।

मेरी दृष्टि में लायड जार्ज इतिहास की साकार मूर्ति थे। समस्याओं को समझने की उनमें आश्चर्यजनक क्षमता थी और जितनी विचार-शक्ति उनमें थी उतनी शायद मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्यों में एक साथ मिला देने पर भी नहीं हो सकती। हमारी बात कभी अमेरिका और कभी ब्रिटेन पर चलती रही। उन्हें अमेरिका के सम्बन्ध में बातचीत करना ज़्यादा अच्छा लगता था और मैं चाहता था कि वह इंग्लैण्ड की भी बातें करें। अमेरिका की बाबत बातचीत करते हुए उन्होंने मुझसे उन लोगों के बारे में पूछा जो अमेरिका का युद्ध से अलग रखने के पक्ष में थे।

एक क्षण रुककर मैंने कहा—"आपके मंत्रिमण्डल से बड़े आदमी

क्यों नहीं है ?"

"तुम्हारे में क्यों नहीं हैं !" उन्होंने तपाक से जवाब दिया। न तो रूज़वेल्ट के ही मन्त्रिमण्डल में कोई बड़ा आदमी है, न विल्सन के मन्त्रि-मण्डल में ही था।"

"क्या इसका कारण यह है कि चर्चिल को किसी प्रतिद्वन्द्वी को प्रोत्सा-हन देने में भय लगता है !" "मैंने कहा—"सभी बड़े आदमियों को अपने आस-पास बड़े आदमियों को रहने देने में भय लगता है ।"

"नहीं, अगर वह आदमी सचमुच बड़ा है तो उसे भय नहीं लगेगा", लायड जार्ज ने कहा। मुझे विश्वास है कि उनका संकेत अपने से था।

"चर्चिल को प्रतिद्वंद्वियों से डरने की कोई ज़रूरत नहीं;" लायड जार्ज ने फिर कहा, 'देश उन्हें चाहता है और केवल उन्हें ही चाहता है।"

इस बातचीत से उनका ध्यान रूस की ओर खिच गया। उन्होंने कहा—"रूसी सेना विभाग का काम ठीक चलता नहीं मालूम होता है। बुडेनी एक साहसी घुड़सवार अफ़सर है।"

"बुडेनी सार्जेन्ट-मेजर हैं और उन्हें मार्शल की पदवी प्राप्त है," मैंने कहा। इस पर लायड जार्ज हँसे और उन्होंने मुझसे पूछा कि स्टालिन कैसा आदमी है। कुछ देर बाद वह उठ खड़े हुए और उन्होंने मुझसे अपने मुला-कातियों के रजिस्टर में हस्ताक्षर करने के लिए कहा। मुझसे पहले ब्रिटेन के पीछे पड़े रहनेवाले दो पत्रकारों—माइकल फुट और फ्रैंक ओवेन—के हस्ताक्षर थे। पृष्ठ के सिरे पर रूसी राजदूत ईवान मैस्की और श्रीमती मैस्की के दस्त-खत थे।

ग्विलिम और उनकी पत्नी के साथ मैं कुछ देर खेत में घूमता रहा। हमने कुछ सेव और बेर तोड़कर खाये। एक वाटिका के अन्दर हमें लार्ड जायज हरे रंग की ऊनी टोपी पहने चुस्ती के साथ टहलते और अपनी जायदाद निरीक्षण करते हुए मिले। वह एक महान् व्यक्ति मालूम होते थे, जैसे कि वह वस्तुतः हैं।

मैं मकान के पीछे के लम्बे-चौड़े उद्यान में बैठकर धूप ले रहा था और रविवार के समाचारपत्र पढ़ रहा था। उस दिन कहीं से टेलीफोन नहीं आया। मेरे मेज़बान और लन्दन के दूसरे व्यक्ति गाँव में छुट्टी मनाने गये थे। घर के अन्दर से बी० बी० सी० द्वारा ब्राडकास्ट किये जाने वाले शास्त्रीय संगीत की ध्वनि आ रही थी। एला अन्दर बैठी हुई सुन रही थी और मैं भी बीच-बीच में अख़बार पढ़ना रोककर सुनने लगता था। लम्बे-चौड़े मैदान के किनारे-किनारे

रंग-बिरंगे सुन्दर फूल उगे हुए थ। उस दिन ७ सितम्बर था। वातावरण शांत और सुखद था। ठीक एक साल पहले ३५० नाज़ी विमान टेम्स नदी पर उड़ते हुए आये थे और उन्होंने ब्रिटिश आकाश-सेना के परदे को फाड़कर लण्डन पर बमों के रूप में मृत्यु की वर्षा की थी। उसी दिन जर्मन के एक सौ तीन आक्रमण विमान मारकर गिरा लिये गये थे। जर्मनी वाले इससे स्तम्भित रह गये थे। फिर भी लण्डन के आकाश-मार्ग पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए ३१ अक्टूबर तक लड़ाई चलती रही थी। इसके बाद जर्मन हवाई बेड़ा थककर पीछे हट गया था किंतु बीच-बीच में उसके आक्रमण होते ही रहे। १० मई १९४१ को उसनें जो आक्रमण किया वह उसका सबसे भीषण आक्रमण था। नागरिक रक्षा के अधिकारी सर वैरेन फ़िशर ने मुझे बताया कि इस प्रकार के १० आक्रमणों से लण्डन पूरा-का-पूरा नष्ट हो सकता था।

उस भीषण आक्रमण के ६ सप्ताह बाद जर्मन आकाशी-सेना ने अपना ध्यान रूस पर केन्द्रित करना आरम्भ किया। इंग्लैण्ड में मैं ६ हफ्ते ठहरा। किन्तु इस बीच केवल एक—और वह भी बहुत ही हलका-सा—आक्रमण हुआ। फिर भी रक्षा का कार्य करने वाले लोग सदा सावधान रहे। हज़ारों रुकावट डालने वाले गुब्बारे जो सामने से देखने में तिमिगल—ह्वेल मछली—जैसे और और पीछे से सेवार-जैसे मालूम देते थे आकाश में ऊँचे उड़ते रहे। वे एक दूसरे से लोहे के लम्बे और मजबूत तारों में बँधे हुए थे और ये तार ज़मीन पर भारी-भारी ट्रंकों में जकड़े हुए थे। ये गुब्बारे संख्या में इतने अधिक थे कि किसी भी आक्रामक विमान को उनके जाल के अंदर प्रवेश करने का साहस नहीं होता था क्योंकि ऐसा करने से उसके तार से कटकर दो टुकड़े हो जाने का डर था। अतः जर्मन-विमानों को विमानबेधी तोपों की पहुँच के भीतर आते ही रुक जाना पड़ता था।

फिर भी एक विस्तृत लक्ष्य-क्षेत्र बिलकुल सुरक्षित नहीं रह सकता। सन् १९४० में एक दिन जर्मनी के तीन बम ज़मीन के नीचे ४० फीट तक घुस गये, जहाँ सैकड़ों व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए छिपे हुए थे। विक्टोरिया जिले में तो एक बम ने ५८ हज़ार टेलीफोनों के तार नष्ट-भ्रष्ट कर डाले। जनवरी १९४१ में लन्दन में गैस के प्रधान तार ८ हज़ार जगहों पर टूट-फूट गए। अक्टूबर १९४० में बमों ने दक्षिणी रेलवे को अस्त-व्यस्त कर दिया था। जर्मन-आक्रमणों के कारण ब्रिटेन के २० लाख मकान पूर्णतः या अंशतः नष्ट-भ्रष्ट हो गये।

किन्तु यह परिच्छेद अब समाप्त हो चुका था। जब मैंने उस युद्ध-

कालीन शान्त रविवार के दिन 'आवजर्वर' पढ़ना आरम्भ किया तो कुछ मध्यम श्रेणी के ब्रिटिश बम-वर्षक पूर्व की ओर जाते हुए दिखाई दिये और जितनी देर में मैंने अपना भोजन और चार समाचार पत्रों का पढ़ना समाप्त किया उतनी देर में वे जर्मनी और नाजी-कृत यूरोप पर बम बरसाकर धड़-धड़ाते हुए वापस आगये। इंग्लैण्ड ने पाँसा पलट दिया था क्योंकि जर्मनी रूस की ओर झुक गया था। यह विराम शांति उस समय तक कायम रही, जब तक कि जर्मनी के नये प्रकार के बमों ने हिटलर के सामने यह स्वप्न एक बार फिर लाकर खंडहर नहीं कर दिया कि इंग्लैंड पर आकाश-मार्ग से आक्रमण करके युद्ध जीता जा सकता है।

सन् १९४१ की गर्मियों में भी, जब जर्मनी के वैमानिक आक्रमण नहीं हो रहे थे, हज़ारों बूढ़ी औरतें सरकार द्वारा बनाये गये, लंदन के तहखानों में लकड़ी पर सोया करती थीं। उन्हें इस बात का बड़ा भय था कि कहीं घर में सोते-सोते ही बम न बरस पड़ें। जहाँ बमों ने मकानों के ब्लाक के ब्लाक धराशायी कर दिये थे, जैसा कि लन्दन के की ईस्टहैम और दूसरे कारखानों के क्षेत्रों में हुआ था, वहां की सारी-की-सारी आबादी तहखानों में सोती ही नहीं बल्कि रहती भी थी। इन तहखानों में पानी के नलों, पाखानों, कैन्टीनों, बिजली और रेडियो तक का प्रबन्ध था लोग पटरियों पर दो-दो या तीन-तीन की पंक्ति में सोते थे। बच्चे नीचे की पंक्ति में सुलाये जाते थे। सबेरे सब बच्चे स्कूल भेज दिये जाते थे और दोपहर बाद वे फिर इन बदबूदार और शोर-गुल से भरी हुई गुफाओं में आ जाते थे जहां हमेशा कोई-न-कोई रहता ही था। स्त्रियाँ मुझे यह बताते हुए कि वर्तमान स्थिति में उनका जीवन कितना अनियमित हो गया है, रो पड़ती थीं। लन्दनने युद्ध की कीमत न केवल मनुष्यों के प्राणों, टूटे हुए घरों, कम भोजनों, और बुरे कपड़ों से चुकाई, बल्कि उसका प्रभाव जनता की स्नायुओं पर भी पड़ा। और जब असर स्नायु पर पड़ता है तो उसकी पीड़ा धीरे-धीरे मृत्यु तक भुगतनी पड़ती है और अगली पीढ़ी भी उससे वंचित नहीं रह पाती। यार्क, बाथ, राटरडम, शेफ़ील्ड और ब्रिटेन के दूसरे छोटे-छोटे कस्बों में, जहां मैं गया स्थिति कुछ अधिक भिन्न होते हुए भी अच्छी थी। यूरोप में हालत बहुत बुरी थी।

लड़ाई के बाद का यूरोप भयभीत स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का यूरोप है। अपने देशों का पुनर्निर्माण इन्हीं स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों को करना है। साथ ही साथ, उन्हें अपना भी पुनर्निर्माण करना है और मानवीय भद्रता के प्रति अपने विश्वास को पुनः जाग्रत करना है।

ब्रिस्टल से मैं हवाई जहाज में लिसबन गया वहां न्यूयार्क जाने वाले हवाई जहाज़ में स्थान पा जाने के लिए मुझे दो दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। मैं जानता था कि जाने का प्रबंध दो चार दिनों में हो ही जायगा, फिर भी बड़ा क्रोध आ रहा था। एक ऐसी जगह पर रहने में, जहां मैं रहना नहीं चाहता था, बड़ा भार मालूम हो रहा था। वहां हज़ारों शरणागत महीनों से प्रतीक्षा कर रहे थे। इनमें से अधिकांश यहूदी थे और उन्हें इस बात का भरोसा नहीं था कि वे कभी वहां से निकल भी पायंगे या नहीं। जैसा कि अमेरिका के विदेशी सम्वाददाता, जे ऐलेन, ने एक बार कहा था, इन शरणागतों को यह बात मालूम थी कि हिटलर पुर्तगाल पर पलक मारते अधिकार कर सकता है।

एक दिन मैं अमेरिकन आकाश-सेना के कप्तान गेलवॉर्डेन (जो पहले "शिकागो टाइम्स" में थे) "वाशिंगटन" पोस्ट के मालिक यूजान मेयर सैम-हरवर्ट, श्रीमती हरवर्ट और ब्रिटश राजदूतालय के मैकल-स्टूअर्ट के साथ सांड की लड़ाई देखने के लिए एक गांव में गया। स्पेनिश की लड़ाई बड़ी रोमांच-कारी होती है और पुर्तगीज सांड की लड़ाई नीरस सांड से लड़ने वाला व्यक्ति घोड़े पर चढ़कर लड़ता है। स्पेन में तो हर एक साँड मार दिया जाता है, किंतु पुर्तगाल में उसके गिर जाने के बाद कई वीर पुरुष उसके सिर, उसकी पूंछ और दूसरे हिस्सों को पकड़कर उसे खींचते हुए ले जाते हैं।

गलियों में हम जो पुर्तगाज मिले वे ब्रिटेन के समर्थक थे। यह बात उनके कोटों में लगे हुए विजय सूचक बटनों से स्पष्ट हो रही थी और उन पर जर्मनों की पराजय की अच्छी प्रतिक्रिया होड़ रही थी। तानाशाही शालाजार की धार्मिक फाशिस्ट सरकार की जमता ब्रिटेन का समर्थन इसलिए करता थी कि उसे यह पता था कि पुर्तगाल के प्रति इंग्लैण्ड का कोई नीचता पूर्ण आयोजन नहीं है। फिर भी उसे इस बात की चिन्ता थी कि यदि यूरोप में फासिस्ट विरोधियों की विजय हो गई तो शायद वह कायम न रह सके। इस-लिए इंग्लैण्ड और जर्मनी दोनों के साथ चाल चलता रहे और दोनों को अपना माल बेचकर पैसा कमाता रहा।

लिस्बन में नाजी पुस्तकें और अंग्रेजी अखबार दोनों ही कोनों की अनेक दूकानों पर बिका करते थे। मैंने जर्मनी के दैनिक और साप्ताहिक पत्रों को पढ़ा उन सबमें यही राग अलापा गया था कि रूस में जर्मनी को बड़ी-कठिनाइयां भोगनी पड़ रही हैं, उन्हें कीचड़, गीली मिट्टी की जमीन रेतीला सड़कों और यातायात सम्बन्धी दूसरी असुविधाओं का सामना करना पड़

रहा है। सब जगह यही बात स्वीकार की गई थी कि जर्मनी के सैनिक अधिकारियों ने रूस की शक्ति के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाया था, उससे वह अधिक शक्तिशाली है।

गलियों, भोजनालयों और सिनेमा-घरों में मैंने जो पुर्तगाल देखे उनमें स्पेनियार्डों की अपेक्षा कम तेज, शक्ति और हास्यवृत्ति थी। किन्तु स्पेनियार्डों की तरह वे भी बहुत शोर-गुल करते थे और एक दूसरे की पीठ पर मारते भी थे। वहां -पुरुषही-पुरुष दिखाई पड़ते थे। स्त्रियां होटलों और विश्रामालयों में बहुत ही कम जाती थीं।

: ७ :

भविष्य-दर्शन

"मैं रविवार को सवेरे ९ बजे यूरोप से रवाना हुआ और सोमवार शाम को ३ बजे न्यूयार्क पहुँच गया।" न्यूकासल (पेन्सिलवेनिया) में स्टेट-शिक्षक-सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ उसमें लोग हाँफते हुए-से दिखाई दिये। सबके हृदय में यह भावना बैठी हुई थी कि अब युद्ध होने ही वाला है।

२४ अक्तूबर को इन शिक्षकों से मैंने कहा—"मैं यूरोप से युद्ध-स्थिति का विचारपूर्वक अध्ययन करके लौटा हूँ और उसका सारांश यह है—ब्रिटेन जीत नहीं सकता। शायद जर्मनी भी नहीं जीत सकता और ब्रिटेन समझौता करके युद्ध समाप्त नहीं करेगा। तो इसका निष्कर्ष क्या निकला ? यही कि केवल अमेरिका में ही युद्ध को समाप्त करने की क्षमता है और वह अधिनायकों को हराकर ऐसा कर सकता है। इसलिए यदि हम युद्ध नहीं करेंगे तो लड़ाई लम्बी होती जायगी।" मेरा भाषण एक स्टेनोग्राफर ने लिखा था और उसकी एक प्रति मेरे पास भेज दी थी, जो मेरे पास है।

हमारे यहाँ युद्ध में भाग लेनें और न लेनें के समर्थकों के बीच जो वादविवाद चल रहा था उसका अन्त जापान ने ही कर डाला। पर्ल हार्बर में जापान न हमें बतला दिया कि संसार में वायुयानों की कमी नहीं और हम बीसवीं सदी में रह रहे हैं।

७ दिसम्बर १९४१ की शाम को मैं आर्थर उपहम पोप से मिला। ये महाशय ईरानी मामलों के विशेषज्ञ हैं और रूस के सम्बन्ध में सम्पादक के नाम पत्र लिखा करते थे। उनके यहाँ गद्देदार कुर्सियों पर बैठकर हमने चाय पी। जब मैं वापस जा रहा था तो वर्दीधारी लिफ़्ट चलाने वाले ने कहा—"हवाई द्वीप में जापानियों ने हम पर हमला कर दिया है।" उसी दिन शाम को न्यूयार्क से सिनसिनाटी जाती हुई गाड़ी में बैठे हुए नागरिक यात्रियों ने रेडियो सुना। उनकी ख़ामोशी से उनके विषाद का पता चल रहा था।

पर्लहार्बर पर आक्रमण कर निस्सन्देह जापान ने एक आत्मघातक भूल की। वह ऐसा करने के लिए क्यों प्रेरित हुआ? ७ दिसम्बर १९४१ के प्रहार का उद्देश्य निश्चय ही अमेरिकन जल-सेना को बरबाद करने या उसे बुरी तरह से पंगु बना देने का था। क्या जापान ने अमेरिका की औद्योगिक क्षमता को सचमुच इतना अल्प समझा था कि उसे यह आशा ही नहीं थी कि हम शीघ्र ही इस हानि को पूरा न कर सकेंगे? क्या उसने अमेरिका के उत्साह को इतना गिरा हुआ मान लिया था कि हम उस प्रहार को चुपचाप सहन कर लेंगे और आगे कुछ कार्रवाई ही नहीं करेंगे? क्या वास्तव में टोकियो वाले इतने मूर्ख थे?

सवाल यह नहीं कि जापानियों ने डच पूर्वी इन्डीज़, मलाया और बर्मा पर आक्रमण क्यों किया; वहाँ उन्होंने दो ऐसे साम्राज्यों की बहुमूल्य सम्पत्ति को हथियाने का सुअवसर देखा जो यूरोपीय युद्ध के कारण क्षीण बन गए थे। किन्तु साथ-ही-साथ उन्होंने अमेरिका को क्यों लड़ाई में घसीटा? अपने विरुद्ध बेमतलब अमरीकी सैन्य-शक्ति को जुटाने में क्या बुद्धिमत्ता थी? टोकियो के सामन दो रास्ते थे, या तो वह उत्तर दिशा में आगे बढ़कर सोवियत् रूस के क्षेत्रों पर अधिकार कर सकता था, या दक्षिण की ओर बढ़ कर ब्रिटेन, हालैंड और फ्रांस की भूमि को हथिया सकता था। जापान के बहुत से राजनीतिक विचारक रूस को ही अपना प्रधान संकट मानते थे और वे चाहते थे कि जैसे ही सन् १९४१ के अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर के महीनों में हिटलर मास्को की ओर बढ़े और यूक्रेन के औद्योगिक प्रदेश में प्रवेश करे वैसे ही वह भी साइबेरिया में जा घुसे। यह कार्रवाई जापान की थल-सेना द्वारा की जाती।

उधर जापान की जल-सेना यह कह सकती थी कि दक्षिण की ओर बढ़ने से जापान को जितना कच्चा माल और जन-बल प्राप्त हो सकेगा उतना रूस को अपने दूर पूरब के क्षेत्रों में प्राप्त नहीं है और साथ ही चीन का युद्ध भी समाप्त हो सकेगा।

इससे यह तो पता लग जाता है कि जापान दक्षिण में हांगकांग, मलाया और सिंगापुर की ओर क्यों बढ़ा, किंतु यह नहीं मालूम हो पाता कि जापान ने अमेरिका को लड़ाई में कूदने के लिए क्यों प्रेरित किया! क्या सहज विजय की आशा से जापान के समुद्री अधिकारियों की दृष्टि धुंधली पड़ गई थी? यह हो सकता है। उन्मत्त तो आखिर उन्मत्त ही होते हैं क्योंकि वे अपने कार्यों के परिणाम की परवाह नहीं करते। पर्ल हार्बर की भूल पहली भूल नहीं थी। ऐसी

भूलें तो शक्ति-उन्मत्त अधिकारी करते ही आये हैं। हो सकता है कि मध्य-कालीन मनोवृत्ति वाले जापानी योद्धा आधुनिक ढंग के शस्त्रों से सुलज्जित होने के कारण पथभ्रष्ट होगये हों।

फिर भी पर्ल हार्बर पर आक्रमण करना जापान के लिए तर्क की दृष्टि से आवश्यक था। यदि जापान को पीछे रहना था तो उसके लिए यह आवश्यक था कि १९४१ के ऐसे अवसर पर जब कि उसके सुदूर पूर्व के प्रतिद्वंद्वी और सम्भावित शिकार—ब्रिटेन, हालैंड और रूस—हिटलर के साथ लड़ाई में बुरी तरह उलझे हुए थे; गम्भीर क्षति उठा चुके थे, तो वह कहीं-न-कहीं प्रहार करता।

जब फ्रांस हार चुका था और इंग्लैंड के पैर लड़खड़ा रहे थे, तब जून १९४० में जापान के लिए दक्षिण की ओर बढ़ने का अच्छा अवसर होता। तैयार न होने के कारण ही जापान सितम्बर १९४० में फ्रांसीसी हिन्द-चीन को हड़पने के अलावा कुछ और नहीं कर सका। रूस दूसरा कारण था। जब कि हिटलर और जगह उलझा हुआ था, तटस्थ रूस यूरोप में ज़ारकालीन प्रदेशों पर अधिकार करने की ओर कदम उठा चुका था। एशिया में कितने ही ज़ारकालीन प्रदेशों पर जापान का अधिकार था। टोकियो ने सोचा कि यदि वह दक्षिण में बढ़ा तो कहीं मास्को उक्त प्रदेशों पर भी फिर से अधिकार करने का प्रयत्न न करने लगे। किन्तु अप्रैल १९४१ में रूस और जापान में संधि हो जाने से और उसी वर्ष जून में हिटलर के रूस पर आक्रमण करने से दूर पूरब में रूसी कार्रवाई का भय जाता रहा। इस घटना ने जापान की दिसम्बर १९४१ की महान् कार्रवाई के लिए रास्ता साफ कर दिया।

१९३९, १९४० और १९४१ में जापान और अमेरिका के कूटनीतिक सम्बन्ध लगातार बिगड़ते गये थे। १० जुलाई १९३९ को अमेरिका के विदेश मंत्री श्री कार्डेल हल ने वाशिंगटन में जापानी राजदूत से कहा कि अमेरिका सम्पूर्ण चीन और प्रशान्त सागर के द्वीपों के साथ वह व्यवहार नहीं देखना चाहता जो मंचूरिया के साथ हुआ था। इस के साथ-साथ ही अमेरिका ने जापान पर आर्थिक दबाव डालना भी शुरू किया और अमरीकी बेड़े का बहुत बड़ा भाग प्रशान्त सागर में भेज दिया गया। अगस्त १९४० में हवाई जहाजों के काम आने वाली अमेरिकन गेसोलीन और अनेक प्रकार के मशीनी औजारों का जापान भेजा जाना बन्द कर दिया गया और अगले महीने में लोहे और इसपात के टुकड़े का निर्यात भी बन्द कर दिया गया। २६ जुलाई १९४१ को प्रेज़ीडेन्ट रूज़-वेल्ट ने सरकारी आदेश द्वारा अमेरिका में समस्त जापानी सम्पत्ति को ज़ब्त कर लिया। इससे दो दिन पहले उन्होंने जापान से फ्रांसीसी हिन्द-चीन की

तटस्थता का आदर करने को कहा था। परन्तु जापानी सेनाएं इस समृद्धिशाली उपनिवेश पर बराबर अधिकार जमाती गईं। १७ अगस्त १९४१ को चर्चिल के साथ एटलांटिक अधिकार पत्र के सम्बन्ध में बातचीत करने के फौरन बाद प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने वाशिंगटन स्थित जापानी राजदूत से यह साफ़-साफ़ कह दिया कि यदि जापान ने बल-द्वारा या बल का भय दिखाकर पड़ौसी-देशों पर सैनिक अधिकार जमाने की नीति जारी रखी तो अमेरिका उचित अधिकारों और स्वत्वों की रक्षा के लिए तत्काल ही आवश्यक कार्रवाई करने के लिए बाध्य हो जायगा........।

वह तारीख शायद सबसे ज्यादा संगीन थी। जापान का जहाजी बेड़ा डच और ब्रिटिश साम्राज्यों के बड़े-बड़े नये प्रदेशों को हड़पने को तैयार बैठा था। हिन्द-चीन पर जापानी अधिकार का रूज़वेल्ट की सरकार ने जो ज़बर-दस्त विरोध किया था उससे जापान समझ गया था कि यदि उसने किसी और देश पर विशेष रूप से बोर्नियो, सुमात्रा और मलाया सरीखे कच्चे माल के भण्डार और सैनिक महत्त्व के प्रदेशों पर आक्रमण किया तो उसकी अमेरिका में बड़ी गम्भीर प्रतिक्रिया होगी। अमेरिका का रुख दिन-पर-दिन अधिक लड़ाकू होता जा रहा था।

प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट को आशा थी कि वह बातचीत द्वारा आक्रमण रोक सकेंगे। यह प्रयास प्रशंसनीय था। किन्तु उस समय अमरीका के समुद्री बेड़े और थल-सेना में जो कमजोरियां थीं, उनको ध्यान में रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने आवश्यकता से अधिक कूटनीतिज्ञता दिखलाई। जो कुछ भी हो, इसका निर्णय तो इतिहास ही करेगा कि अमेरिका को दो-चार महीने पहले युद्ध में डालनें के लिए पर्ल हार्बर का संकट मोल लेना उचित था अथवा नहीं। जापान के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह अपनी विस्तार-नीति का तिलांजलि दिये बिना और अन्त में, चीन में प्राप्त किये गये सारे प्रदेशों को त्यागे बिना रूज़वेल्ट की माँगों को पूरा करता। जापानी साम्राज्य-वादी अपने-आपको ऐसे शान्तिपूर्ण कार्य करते देखने की कल्पना नहीं कर सकते थे। सन् १९४१ में उन्होंने इंग्लैण्ड के ही सदृश एक महान् साम्राज्य स्थापित करने का बड़ा अच्छा अवसर देखा। उनका विश्वास था कि बृहत्तर एशिया की चहारदीवारी में वे अजेय होंगे।

अतः जापान ने अमेरिका पर अचानक प्रहार कर उसकी जलसेना को पंगु बना देने का निश्चय किया और उस समय की प्रतीक्षा करना ठीक नहीं समझा जब अमेरिका की सेनाएँ पहले से अधिक शस्त्र-सज्जित होकर स्वयं

युद्ध में प्रवेश करतीं। सन् १९४१ की गर्मियों में वाशिंगटन में जो बातचीत चली थी उससे जापान को पूर्ण रूप से विश्वास हो गया था कि अमेरिका का युद्ध में प्रवेश करना अनिवार्य है। जापान चाहता था कि उस अवसर पर अमेरिका को किसी भयानक विपत्ति का सामना करना पड़े। इसीलिए उसने पर्ल बन्दरगाह पर अचानक आक्रमण किया।

एक महान् साम्राज्य को जीतने और बनाये रखने की लालसा से जापान ने बर्मा और (शायद) भारत, टिमोर और (शायद) आस्ट्रेलिया फिलीपाइन, वेक और ग्वाम को घेरकर एक बृहद् वृत्त बनाने का आयोजन किया। जापान को आशा थी कि इन दूरस्थ छावनियों से सहायता पाकर और उनके द्वारा रक्षित रहकर वह लम्बे-से-लम्बे घेरे का सामना कर सकेगा। उसे यह बात सूझी ही नहीं कि अमेरिका उस वृत्त को पहली ग्वाडलकनाल के निकट काटेगा, और फिर लेटे में उसे भंग करता हुआ अन्त में ओकिनावा में वह वृत्त के केन्द्र में जा घुसेगा और साथ-ही-साथ जापान पर भी उस समय तक बम, परमाणु-बम और गोले बरसाता रहेगा जब तक कि सम्राट् हिरोहितो हार मानकर आत्म-समर्पण न कर दें।

जापान ने रूस पर हिटलर के आक्रमण का अर्थ यही निकाला होगा कि हिटलर ने इंग्लैंड पर आक्रमण करने और उसे हराने में अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली है। रूस पर आक्रमण करके हिटलर ने लड़ाई में अड़ंगा लगाना चाहा था। उसने सोचा कि रूस पर अधिकार करने के बाद जर्मनी हराया नहीं जा सकेगा। उधर जापान के युद्ध में आजाने से ब्रिटिश और अमरीकी सेनाएं यूरोप और एशिया में बट जायंगी; जिससे जर्मनी का न हारना और भी निश्चित हो जायगा। इसके अलावा उसने सोचा कि अपराजित जर्मनी ब्रिटेन और अमेरिका की इतना अधिक सेनाएं अपन में उलझाये रखेगा कि वे जापान को कुचलने में समर्थ नहीं हो पायंगे। अत: जर्मन-युद्ध के अनिश्चित काल तक रुके रहने का अर्थ यह था कि जापान का युद्ध भी अनिश्चित काल तक रुका रहता।

रूस, यूरोप और प्रशान्त के क्षेत्रों पर धुरी राष्ट्रों का आधिपत्य होजाने से ब्रिटेन और अमेरिका की विजय रुक जाती। धुरी राष्ट्र समझते थे कि इन परिस्थितियों में बुरे-से-बुरा यही हो सकता है कि दोनों बराबर रहें। सम्भव है कि कुछ नाज़ियों और जापानियों ने अन्त में विजयी बनने के स्वप्न भी देखे हों।

धुरी देशों के इन अनुमानों में रूस और अमेरिका की शक्ति वास्तविकता से कम आंकी गई।

इंग्लैण्ड से वापस आने के बाद के महीनों में दिये गये अपने भाषणों में मैंनें बराबर औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, रूस को अधिक सहायता देने और शान्ति की रूपरेखा तैयार करने की आवश्यकता पर जोर दिया। तब से मैं शान्ति पर ही जोर देता आया हूं। यद्यपि मुझे युद्ध से घृणा है, फिर भी मैं युद्ध के पक्ष में था, क्योंकि मैं वास्तविक शान्ति चाहता हूं और जानता हूं कि जब तक शक्तिशाली आक्रमणकारी देश कमजोर और छोटे देशों को अपना शिकार बनाते रहेंगे तब तक संसार को वास्तविक शान्ति नसीब न होगी।

१९४२ के बसन्त में अमेरिका केपश्चिमी भागों का दौरा करते हुए मैंने जापानी हवाई आक्रमण के सम्बन्ध में बहुत लोगों में दयनीय घबराहट देखी। कुछ लोगों की मांग यह थी कि हमारी सेनाएं अमेरिका की रक्षा के लिए अमेरिका में ही रहनी चाहिएं। धनी लोग सानफ्रांसिस्को, सीटल आदि शहरों को छोड़कर अरिजोना और नेवडा आदि सुरक्षित स्थानों में जा रहे थे। मैंने अपने श्रोताओं से कहा कि केवल ५ सेंट में मैं युद्ध-काल के लिए शत्रु-बम से मृत्यु अथवा हानि के विरुद्ध किसी भी व्यक्ति का भारी रकम के लिए बीमा करा सकता हूँ।

सानफ्रांसिस्को के पत्रों ने मेरे १२ फरवरी को दिये गये एक भाषण का निम्नलिखित उद्धरण छापा था—"युद्ध के अन्तिम परिणाम (विजय) के सम्बन्ध में मै आशावादी हूँ, किन्तु मुझे यह महसूस नहीं होता कि हम अभी युद्ध कर रहे हैं। युद्ध के लिए अभी सैनिकों और कारखानों का ही संगठन हुआ है, नागरिकों का नहीं। नागरिकों को चाहिए कि वे सरकार के ऐसा करने से पहले ही स्वयमेव अपने रहन-सहन के मान को घटा दें।"

यूरोप में पड़ी हुई पुरानी आदत के अनुसार मैंने जहाँ भी सम्भव हुआ कारखानों का निरीक्षण किया। सीटल में मैंने एक वायुयान बनाने के कारखाने में पूरा एक दिन लगाया। टकोमा और पोर्टलैंड में मैंने जहाज़-निर्माण के केन्द्रों को देखा। मैंने जो कुछ देखा वह उत्साह-वर्द्धक था। ७ मार्च १९४२ को मैंने "नेशन" पत्र में निम्नलिखित सम्वाद भेजा: "एक ही महीने में एक बहुत बड़े कारखाने में, जो शायद युद्ध का सबसे अधिक प्रभावशाली आधुनिक-शस्त्र तैयार कर रहा है, उत्पादन में ७० प्रतिशत की वृद्धि हुई है।" यह संकेत, जो उस समय आवश्यकतानुसार गोपनीय रखना पड़ा था, बोइंग फ्लाइंग फोर्ट्रेस फैक्टरी की ओर था।

मैंने अपनी रिपोर्ट में यह भी लिखा था—"पर्ल हार्बर ने लोगों में जोश भर दिया है। कारखानों के कर्मचारी युद्ध-सम्बन्धी दैनिक विज्ञप्तियों को पढ़ने

के कारण यह समझ गये हैं कि हर रोज वे जो काम करते हैं उसका प्रभाव युद्ध के मोर्चे पर पड़ता है।"

अलग-अलग काम करने वाले गोला-बारूद के कारखानों के व्यवस्थापकों की भी यही प्रतिक्रिया थी। जब मैंने उनसे पूछा कि आपकी क्या शिकायत है तो उन्होंने उत्तर दिया--"कागज; वाशिंगटन जानकारी चाहता है, स्टेट भी यही जानकारी चाहती है, हल्के पद वाले और अधिक बातें जानना चाहते हैं, फिर वाशिंगटन का कोई और विभाग उन्हीं आंकड़ों के लिए तार भेजता है जो उसके पास वाले विभाग ने पहले ही इकट्ठे कर लिये हैं। यह सब अनवरत रूप से चलता रहता है।"

एक कारखाने में एक अफ़सर ने एक बनती हुई इमारत की ओर इशारा किया। वह बोला—"इसमें कई सौ पहलवान काम करेंगे और दफ्तरों की विलम्बकारी आदत से युद्ध लड़ेंगे।" मेरे पास ऐसा कोई साधन नहीं था जिससे मैं यह निश्चित रूप से पता लगा सकता कि यह शिकायत ठीक थी या नहीं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि केन्द्रीय और स्थानीय दफ्तरों में ऐसे अनेक बातूनी और सवाल-जवाब करने वाले लोग थे जिनसे कारखाने वालों में क्रोध उत्पन्न होता था और उत्पादन-कार्य में रुकावट भी पड़ती थी।

"अनुपस्थिति" सारे राष्ट्र के लिए सिर दर्द बन गई थी और इसके कारण कारखानेदारों को श्रमजीवियों की मार-धाड़ का अवसर भी अच्छा प्राप्त हुआ था। मैंने भिन्न-भिन्न औद्योगिक केन्द्रों से कुछ आंकड़े इकट्ठे किये थे। अनुपस्थित रहने वालों में अधिकतर बच्चों की माताएं थीं। रक्षा सम्बन्धी काम करने वाले बहुत से लोग दूर के प्रान्तों से आये हुए थे। अगर कोई बच्चा बीमार पड़ जाता तो मां के काम पर चले जाने पर उसकी देख-रेख करने के लिए दादी, मौसी, भतीजी आदि कोई भी नहीं थी। जिनके पास रहने का स्थान नहीं था वे लोग स्वयं एक समस्या बन गये थे। घर, खाने-पीने की वस्तुओं एवं फ़र्नीचर आदि की खोज में मजदूर अक्सर काम से ग़ैरहाज़िर रहते थे। अनुपस्थिति का एक कारण मज़दूर लोगों का एकाएक सम्पन्न हो जाना भी था, जिसके फलस्वरूप मदिरा-पान और फ़िज़ूलख़र्ची फैल गई और युद्ध-कालीन विषमताओं से आचरण में भी शिथिलता आगई। बड़े शहरों की सड़कों पर प्रातःकाल बिखरी हुई ह्विस्की की खाली बोतलों को देखकर यह पता चल जाता था कि उस दिन-युद्ध संबंधी कारखानों में बहुत से लोग अनुपस्थित रहे। अनुपस्थित रहने वाले व्यक्ति जान-बूझकर हानि पहुंचाना चाहते थे सो तो नहीं; वस्तुतः उनकी स्थिति बड़ी दयनीय थी। एक कारख़ाने में मज़दूरनियों के

बच्चों के लिए शिशु-केन्द्र खोलते ही अनुपस्थिति बहुत कम हो गई थी ।

सब लोगों का ध्यान ऊँचे वेतनों पर था । मैंने सैनिकों और धनी नागरिकों को कहते सुना : "यदि युद्ध-क्षेत्रमें लड़ने वाला व्यक्ति २१ डालर प्रति मास के पीछे २४ घंटे का नौकर बनकर अपने जीवन के लिए खतरा मोल लेता है, तो कारखानों में काम करने वालों को ४० या ५० डालर प्रति सप्ताह क्यों दिये जायं । मशीनों की खड़-खड़ाहट और तेज़ टार्चों के प्रकाश के बीच मैंने युद्ध का कार्य करने वाले मजदूरों से यह प्रश्न किया—पतलून पहने और लिपस्टिक लगाये हुए एक सुन्दर लड़की ने उत्तर देते हुए कहा—"अगर हमारा मालिक लाखों कमाता है और सरकार द्वारा मुनाफाखोर घोषित किये जाने का ख़तरा उठाता है, तो मैं भी इतनी अच्छी मज़दूरी को क्यों न लूँ कि बढ़े हुए नये दामों पर अपनी आवश्यकता की चीज़ें आसानी से खरीद सकूं ?" बोझ उठाने की मशीन पर काम करने वाले एक व्यक्ति ने कहा :—"जब मालिक २१ डालर मासिक लेगा तो मैं भी इतना ही लूंगा" पास ही से एक और कारीगर ने चिल्लाकर कहा : "मैं छुट्टी के दिनों की तनख्वाह छोड़ दूँ तो क्या वह मैकार्थर के सिपाहियों के पल्ले पड़ेगी ? नहीं, वह तो कम्पनी के मालिकों की ही जेबों में जायगी ।" लड़ाई के दिनों में अमेरिका के लोगों में त्याग की दृष्टि से समानता नहीं थी ।

अमेरिका के पश्चिमी भाग के हुल्लड़बाजों की खूब बन आई थी । उनमें से बहुतों का ख़याल था कि वे श्रीमती रूज़वेल्ट पर आक्षेप करके या अमेरिका में पैदा हुए जापानियों के अमरीकी बच्चों को देशनिकाला देकर युद्ध जीत लेंगे । मेरी उन स्त्रियों से बातचीत हुई जिन्हें आशंका थी कि ट्रक चलानेवाले जापानी किसान सब्जियों में विष मिला देंगे । मुझे बताया गया कि तटवर्ती क्षेत्रों से जापानियों को हटा देना चाहिये; क्योंकि इस बात का भय था कि हवाई आक्रमण से क्रुद्ध होकर अमेरिकावासी कहीं उन्हें मार न डालें । सनसनी फैलाने वाले अखबारों ने पुकार उठाई कि सारे जापानी नज़रबन्द कर दिये जायं । इक्के-दुक्के हमलों की संख्या भी बढ़ती गई । कोई क्राइस्ट-जैसा व्यक्ति कैलिफोर्निया म कह सकता था—"पहला पत्थर उसी को फेंकने दो जिसने अपने माता-पिता को चुन लिया है ।"

कैलिफोर्निया मेंलोग मुझे बड़े निरुत्साह-दिखाई दिये । "दूर पूरब के विशेषज्ञों" ने भविष्यवाणी की थी कि हम "जापानियों को तीन सप्ताह में मार गिरायेंगे ।" जब नागरिकों को पता लग गया कि यह भविष्यवाणी कितनी मूर्खतापूर्ण थी तो उनमें हास्यास्पद आत्माभिमान के बदले अनावश्यक निराशावाद

की भावना जाग उठी।

फिर भी, उत्पादन लगातार बढ़ रहा था। मैंने ३ मार्च को मिल्वौकी में एक भाषण देते हुए कहा :—"अमेरिका की मोटर अब चलने लगी हैं।" मैंने इस बात का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया कि हम जिस शान्ति की स्थापना करेंगे वह "प्रतिकारात्मक होगी दण्डात्मक नहीं।" मैंने आगे चलकर यह भी कहा: "सच्चा जनतंत्र ही शान्ति का एकमात्र मार्ग है, किंतु इसका आज तक किसी भी महान् युद्ध के बाद प्रयोग नहीं किया गया।

११ मार्च, १९४२ को सेंट पाल के एक डिस्पैच में मेरे भाषण का निम्नलिखित उद्धरण दिया गया—"यह जान लेने पर कि मैं इंग्लैण्ड को पराजित नहीं कर सकता; हिटलर ने इंग्लैण्ड पर विजय पाने के बदले रूस पर आक्रमण करना ठीक समझा..........। यह अब मित्रराष्ट्रों का काम है कि वे रूस को युद्ध में लगाये रखें। इच्छा से या अनिच्छा से अब स्टालिन इस युद्ध में 'फ़रिश्तों' की ओर से लड़ रहा है और अगर 'फ़रिश्ते' जीवित रहना चाहते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे युद्ध में कूद पड़ें और रूस की सहायता करें। रूस को सहायता, अधिक सहायता की आवश्यकता होगी।"

१५ मार्च को मैंने लूइसविले (केंटकी) में एक सार्वजनिक सभा में कहा था—"रूस इस युद्ध का मुख्य आधार है और भारत शान्ति का प्रतीक है।" मैंने यह भी कहा कि यद्यपि इस समय लाल-सेना ने हिटलर को रोक लिया है फिर भी उसमें अभी लड़ने की पर्याप्त शक्ति शेष है।

इस बीच दूर पूरब में जापानी तेजी से आगे बढ़ रहे थे। इस पर अपना मत प्रकट करते हुए मैंने कहा—"बर्मा और मलाया के हमारे हाथों से निकल जाने का एक कारण तो अस्त्र-शस्त्र की कमी थी और दूसरा अंगरेजों की साम्राज्यवाद सम्बन्धी प्रतिगामी विचार-धारा। ब्रिटेन की कमजोरी का कारण यह है कि बौद्धिक दृष्टि से ब्रिटिश सरकार आधुनिक समय से एक पीढ़ी पीछे है। चर्चिल के व्यक्तित्व में सभी शताब्दियों का सम्मिश्रण विद्यमान है सिवा बीसवीं सदी के।" मैंने अमेरिकन सरकार से आग्रह किया कि वह भारत को स्वतंत्रता प्राप्त करने में सहायता दे। कारण, "हो सकता है हम युद्ध तो जीत लें, किंतु शान्ति हमारे हाथ से निकल जाय। मैं इस बात को उठती हुई सभ्यता के लिए एक लांछन समझता हूँ कि प्रत्येक देश में लोगों को शान्ति के प्रति सन्देह है और उन्हें आशंका है कि शान्ति चिरस्थायी नहीं होगा। वर्साई की सन्धि में उन बुनियादी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को नहीं सुलझाया गया जिनके कारण युद्ध उत्पन्न हुआ था। इसी

प्रकार की सन्धि हम अब भी स्थापित कर सकते हैं, किन्तु यदि हम ऐसा करेंगे तो, हमें एक और युद्ध लड़ना पड़ेगा।"

रूसी सेना उस समय जर्मनी द्वारा हड़पी गई रूसी भूमि का पाँचवाँ भाग ही मुक्त कर पाई थी। फिर भी अमेरिका में रूस के प्रति भय की भावना बढ़ती जा रही थी। न्यूयार्क के पी० एम० नामक पत्र ने मुझसे "क्या अमेरिका के लिए विजयी रूस से डरने का कोई कारण हो सकता है" शीर्षक लेख लिखने को कहा। उस लेख का परिचय कराते हुए फ़्रीडम हाऊस के सभापति हर्बर्ट आगर ने लिखा था—"कुछ अमेरिकन यह गुप्त रूप से चाहते हैं कि रूस हार जाय, या, कम-से-कम, रूसी-जर्मन मोर्चे पर युद्ध लम्बा पड़ जाय।"

मैंने "पी० एम०" के २७ अप्रैल १९४२ वाले अंक में लिखा : "विजयी रूस से अमेरिका को क्या डर हो सकता है? कम्युनिस्ट-क्रान्ति का? यह खयाल हास्यास्पद है। अमेरिका के कम्युनिस्ट मुट्ठी भर हैं और घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं। जब उन्होंने प्रजातंत्री स्पेन के सहायतार्थ कुछ किया था तब उनका प्रभाव पड़ा था, या अब जब वे पूंजीवादी अमेरिका की रक्षा और रूस को सहायता पहुँचाने के लिए प्रयास करते हैं तो उनका थोड़ा-बहुत प्रभाव दिखाई देता है। किन्तु यदि वे अमेरिकन सरकार को उलटने का प्रयत्न करें तो वे एक रेजिमेंट भी नहीं जुटा पायेंगे···। यदि क्रान्ति का भय नहीं तो क्या रूस द्वारा आक्रमण का भय है? क्या विजय प्राप्त करने के बाद रूस अमेरिका पर आक्रमण कर सकता है? यह एक मज़ाक की-सी बात मालूम देती है...। रूस के प्रति भय की भावना उभारने के बजाय, हमें इस बात पर जोर देना चाहिए कि हिटलर को (और इसलिए जापान को भी) पराजित करने में अभी तक सबसे अधिक सहायता रूस ने दी है। हमारा ध्येय रूस को अधिक मजबूत बनाना होना चाहिए....।"

मैंने इस लेख के अंत में दो शब्द चेतावनी के रूप में भी लिखे, किन्तु "पी० एम०" ने उसे छापा नहीं। उसने मेरा केवल यह वाक्य प्रकाशित किया:—"बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होगा कि युद्ध समाप्त होने पर हमारी और रूस की कैसी मनोदशा है।" इसके बाद के जो तीन वाक्य निकाल दिये गये थे, वे ये थे—"अगर हम साम्राज्य स्थापित करना या दूसरे देशों को हड़पना या सारे संसार में एक मात्र एंग्लो-अमेरिकन नेतृत्व का ही झंडा फहराना चाहेंगे तो दूसरे देश हमारा उतना ही विरोध करेंगे जितना शायद हम रूस का करें यदि उसकी युद्धोत्तर नीति दूसरे देशों को हड़पने की हो। रूस अपनी सीमाओं

के भीतर बलात् दूसरे राष्ट्रों को खपाकर अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकता, ठीक वैसे ही जैसे हम ब्रिटिश, डच और फ्रांसीसी साम्राज्यों का सिरदर्द मोल लेकर अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकते। ऐसी कार्रवाई का परिणाम अधिक कष्ट और अधिक युद्ध ही हो सकता है।"

पता नहीं, ये पंक्तियां किसने निकालीं ! मूर्ख लोग समझते हैं कि किसी समस्या को हल करने का तरीका उसे छिपाना और उसकी अवहेलना करना है। असल में वाशिंगटन के उच्चाधिकारियों में रूस की युद्धोत्तर नीति के सम्बन्ध में चिंता दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। ह्वाइट हाउस को पता लगा कि ब्रिटेन के विदेश मंत्री ईडन से बातचीत के दौरान में स्टालिन ने यह घोषणा की कि वह बाल्टिक राष्ट्रों और पूर्वी पोलैण्ड को रूस में मिलाना चाहते हैं। अमेरिका के लंदन-स्थित राजदूत जॉन जी० विनेंट ने, जिनसे इंग्लैण्ड में मेरी कई बार घनिष्ठता के साथ बातचीत हुई, मुझे २५ अप्रैल को न्यूयार्क के रूज़वेल्ट होटल के अपने कमरे में बिलकुल गुप्त रूप से बताया कि रूस कर्जन लाइन तक की समस्त पोलिश भूमि को अपने में मिला लेगा, किन्तु रूज़वेल्ट युद्ध-काल में इस प्रकार के सीमा-परिवर्तन नहीं चाहते। इस का मतलब यह था कि अमेरिका रूस की विस्तार-नीति का विरोध करने को तैयार था ? मित्र-राष्ट्र, जो युद्ध में विजय के लिए एक दूसरे की सहायता कर रहे हैं, युद्ध के बाद लाभ उठाने के लिए चालें चल रहे थे।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की अन्तर्राष्ट्रीय विषयों की परिषद् (रायल इंस्टीट्यूट ऑव इन्टरनेशनल अफेयर्ज) में मैंने १९४१ में अपने इंग्लैण्ड-प्रवास के समय एक भाषण दिया था। उस समय पेरिस-शान्ति-सम्मेलन के एक सुयोग्य इतिहासज्ञ ने मुझसे कहा था—"युद्ध के बाद इंग्लैण्ड अमेरिका का छोटा साझीदार बन जायगा, किन्तु मुझे इसकी चिन्ता नहीं।" रायल इंस्टीट्यूट में काम करने वाले उनके दो सहयोगी भी उनसे सहमत थे। उनमें से एक ने कहा—"अमेरिका और रूस के बीच ब्रिटेन मध्यस्थ का काम करेगा।" दूसरे ने राय दी कि शायद अनुदारदल वाला ब्रिटेन राष्ट्रवादी रूस से गठबन्धन कर ले, जिसके परिणाम-स्वरूप यूरोप दो हिस्सों में बँट जायगा। इस पर इतिहासज्ञ ने कहा—"किन्तु यूरोप में रूस के साथ हम अकेले शायद सुखी न रहें।"

जब मैंने अमेरिका के विदेश विभाग के एक अधिकारी से इस बातचीत का उल्लेख किया तो उसने इतना ही कहा—"युद्ध के बाद अमेरिका रूस से कम शक्तिशाली नहीं होगा।" १९४२ में मित्र-राष्ट्रों की विजय आरम्भ तो नहीं हुई थी किंतु अमेरिका की बढ़ती हुई शक्ति और रूस की दूसरे देशों को

हड़पने की प्रत्यक्ष लालसा के कारण तीन महान् राष्ट्रों में युद्धोत्तर दलबन्दी की सम्भावना पर अच्छे खासे वादविवाद होने लगे थे।

अमेरिका और पेताँ-कालीन फ्रांस का संबंध भी काफ़ी वादविवाद का विषय बन गया था। मैंने वाशिंगटन में एक कूटनीतिज्ञ से कहा—"देश भर का भ्रमण करने से मुझे पता चला है कि हमारे नवयुवक ख़ुशी-ख़ुशी सेना में भरती हो रहे हैं; वे अच्छा काम करेंगे। किन्तु प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, इसीलिए उनमें उत्साह नहीं है। उनमें से बहुत ही कम इस बात को जानते हैं कि यह लड़ाई क्यों लड़ी जा रही है। लोगों की समझ में नहीं आता कि हिटलर को सहयोग देने वाली विची (फ्रांस) सरकार से हमारी मित्रता क्यों है? 'हम क्यों लड़ रहे हैं' यह प्रश्न प्रायः सभी जगह पूछा जाता है। यदि हम फ्रांस की विची सरकार से नाता तोड़ लें और फ्रांस, स्पेन तथा भारत के प्रति स्पष्ट रूप से फाशिस्ट-विरोधी नीति ग्रहण करें, तो हमारे उद्देश्य स्पष्ट हो जायंगे और जन-साधारण को विश्वास हो जायगा कि रूज़वेल्ट और चर्चिल ने ऐटलांटिक अधिकार-पत्र में जो कुछ लिखा है वही उनका करने का इरादा भी है।"

अमेरिका के शासनाधिकारी यह जानते थे कि अमेरिका की फ्रांस-संबंधी नीति से जनता चिढ़ी हुई है। प्रवक्ता यह स्वीकार करते थे कि अब फ़्रांसीसी समुद्री बेड़े जर्मनी के हाथों में पड़ने का ख़तरा नहीं रहा। पहले वे इसी बेड़े के भविष्य के संबंध में चिन्ता प्रकट कर विची सरकार के प्रति अपनी नीति का समर्थन करते थे। "किन्तु मान लीजिये हम फ्रांस की भूमि से आक्रमण करना चाहते हैं और वहां हमारे एजेंटों के महत्त्वपूर्ण सम्पर्क हैं, तब क्या हमें उन सम्पर्कों को नष्ट होने देना चाहिए?" यह बात रूज़वेल्ट के एक सलाहकार ने मुझसे वाशिंगटन में सन् १९४२ के बसन्त-काल में पूछी।

राजदूत विनेंट ने मुझे बताया कि ब्रिटिश सरकार को, जिसका फ़्रांस की पेताँ-सरकार से कोई संबंध नहीं था, यह आशा थी कि हम फ्राँस से अपने संबंध बनाये रखेंगे।

किसी भी देश के विदेश विभाग की मनोवृत्ति का पता इस बात से लगता है कि उसके अधिकारियों को यह ख़याल बना रहता है कि वे दूसरे देशों के साथ संबंध बनाये रखने और सुधारने और उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने के "कारबार" में लगे हुए हैं। (ऐसा ही मैंने उन्हें कई बार कहते सुना है) यही कारण है कि जब किसी देश से संबंध-विच्छेद का प्रस्ताव आता है तो कूटनीतिज्ञ उसका तीव्रता से विरोध करते हैं और उस समय वे सिद्धान्तों की चिंता नहीं करते और न यही ध्यान रखते हैं कि उसका जनता की नैतिकता

पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

पर्ल हार्बर के धक्के से धीरे-धीरे सम्हलते हुए अमेरिका के विचारशील व्यक्तियों ने सन् १९४२ में यह सोचना आरंभ किया कि आखिर यह युद्ध लड़ा किसलिए जा रहा है। जापान, जर्मनी और इटली को पराजित करने के लिए ? निश्चय ही। किंतु, क्या इतना ही काफी है ? विजय के बाद क्या होगा ?

अमेरिका की सबसे बड़ी अदालत के सहकारी न्यायाधीश, फेलिक्स फ्रैंकफर्टर के सामने मैंने अमेरिकन जनमत के संबंध में अपनी राय संक्षेप में इस प्रकार प्रकट की—"देश युद्ध का अर्थ समझने के लिए अटकलें लगा रहा है। अन्त में अमेरिका को आदर्शवादी शान्ति और साम्राज्यवाद में से किसी एक बात को अपनाना पड़ेगा। जब जनता को हमारी महान् शक्ति का पता चल जायगा तो सम्भव है वह नवीन प्रदेशों पर अधिकार करना चाहे। रूस की विस्तार नीति के कारण मुझे एक चिन्ता यह भी है कि कहीं ऐसा न हो कि हम भी उसी मार्ग का अनुसरण करने की ठान बैठें। दूसरा रास्ता यह है कि हम प्रभाव के सभी केन्द्रों, साम्राज्यों और उच्च व्यापारिक मूल्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से फाशिस्ट विरोधी नीति ग्रहण करें और एटलांटिक अधिकार-पत्र का ईमानदारी के साथ पालन करें। यही कारण है कि फ़ाशिस्ट समर्थक विचा सरकार से हमारा सम्बन्ध बनाये रखना लोगों को अखरता है और उन्हें भारत से दिलचस्पी होती है।" (इस पर जस्टिस फ्रैंकफर्टर ने क्या कहा यह बतलाने की मुझे स्वतंत्रता नहीं।)

उन दिनों भारत के समाचार पहले पृष्ठ पर छपा करते थे। जापान बर्मा में प्रवेश कर चुका था। जर्मनों के तुर्की पर आक्रमण करने व मिस्र को जीतलेने की भी सम्भावना थी। युद्ध को जीतने का धुरीराष्ट्रों के लिए एक ही तरीका था और वह यह कि एशिया में किसी स्थान पर सम्भवतः भारत में जर्मन और जापानी सेनाएं एक दूसरे से आ मिलें। भारत में राजनीतिक आन्दोलन जोरों पर था। प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने युद्ध के भूतपूर्व सहकारी मंत्री कर्नल लुई जॉनसन को अपने विशेष दूत के रूप में नई दिल्ली भेजा था। ब्रिटिश सरकार ने भी सर स्टैफर्ड क्रिप्स को, जो पहले मास्को में ब्रिटिश राजदूत थे और अब ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में हैं, लिखित प्रस्ताव देकर भारत भेजा था। भारत के सभी दलों ने इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया था। अब क्या होगा ? क्या जापान भारत पर आक्रमण करेगा ? क्या हिटलर निकट पूरब में घुस पड़ेगा ?

बृहस्पतिवार २२ अप्रैल को मैंने श्री समनर वेल्स से कहा कि मैं भारत जाना चाहता हूँ। उन्होंने अपने पैड पर पैंसिल से कुछ लिखा और ठीक एक सप्ताह बाद मुझे न्यूयार्क में टेलीफोन द्वारा बताया—"अगर आप तीन दिन के भीतर-भीतर टीका आदि लगवाकर अपनी तैयारी कर लें तो रविवार को न्यूयार्क से जानेवाले वायुयान में आपको जगह मिल सकती है।" मैंने इस पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और पासपोर्ट माँगा। उन्होंने पासपोर्ट उसी शाम को डाक द्वारा भेजने का वादा किया, जो अगले दिन सवेरे मुझे मिल गया। मैं व्यर्थ के सवालों, आवेदन-पत्रों और दफ्तरों की झिक-झिक से बच गया। मैंने तुरन्त ही हैजे, टाईफाईड, पीतज्वर, चेचक आदि के टीके लगवा लिये, और सोमवार ३ मई को हवाई जहाज से रवाना हो गया। (उसी दिन मेरे दोनों बेटों का जन्मदिन था।) मैंने बहुत प्रमोद और मनोरंजन की आशा की थी, किंतु मेरे पास जितना समय था उसको दृष्टि में रखते हुए मेरी आशाएं कम पूरी हुईं।

: ८ :

भारत की ओर

वायुयान में ५० व्यक्ति थे। इनमें कुछ तो अमेरिका के इंजीनियर थे, जो भारत में अबरक के उत्पादन को बढ़ाने जा रहे थे—जिसकी अमेरिका को युद्ध-कार्य के लिए आवश्यकता थी। इनके अलावा अमेरिकन अफसर थे जो चीन में चीनी हवाई-सेना को संगठित करने जारहे थे, और कुछ अमेरिका के विदेश विभाग के कार्यकर्ता थे, जो मुहर बन्द डाक के थैले लिये हुए थे, जिनसे वे कभी जुदा नहीं होते थे। हमारे साथ एक अमेरिकन दम्पति भी था जो तीन साल पीत-ज्वर से युद्ध करने ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका जारहे थे। उसी विमान में एक पोलिश कूटनीतिज्ञ भी विराजमान थे जो मिस्र और रूस के रास्ते चीन जारहे थे। म्यामी में हमारे साथ कई लैटिन-अमेरिकन और अमेरिकन सैनिकों का एक दल भी आ मिला जो अफ्रीका गोल्ड कोस्ट पर स्थित अमेरिकन सैनिकों के लिए ख़जांची का काम करने जारहा था।

अगले दिन सवेरे हमारा हवाई जहाज सान ज्वान (पोर्टो रीको) पर उतरा। मैंने टापू के गवर्नर रेक्सफर्ड जी० टगवेल को टेलीफोन किया जिनसे मैं पहले मास्को में मिला था। वह मेरे पास आये और हवाई जहाज के रवाना होने तक लगभग एक घंटा हम बातचीत करते रहे। प्रेजिडेंट रूज़वेल्ट ने निजी परीक्षणों की धुन में ही विद्वत्संघ में से टगवेल को पोर्टो रीको का गवर्नर 'नेशन' के प्रबन्ध सम्पादक अर्नेस्ट ग्रूनिंग को अलास्का का गवर्नर और "न्यूरिपब्लिक" के एक सम्पादक राबर्ट मार्स लोवेट को वर्जिन टापुओं का गवर्नर नियुक्त किया होगा। शायद इसके उत्तर में रूज़वेल्ट मुझसे कहते—"जो काम दूसरे करते हैं उसकी तो टीका टिप्पणी कर दी। अब आप स्वयं उस काम को कीजिये और देखिये कि वह आपको कितना पसन्द आता है।" मैं जानता हूं ग्रूनिंग को अपना काम बहुत पसन्द था। सम्पादन या सिद्धांत निर्धारण का कार्य करने की बजाय व्यावहारिक शासन कार्य करने के कारण टगवेल, ग्रूनिंग और लोवेट की उदार विचार-धारा में कोई परिवर्तन नहीं आया और वे अनुदारदली नहीं बने। वास्तव

राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले दुराचारों के ज्ञान से और उन दूषित प्रभावों का पता होने के कारण जो राजनीतिज्ञों पर प्रायः डाले जाते हैं, शासनसत्ता के प्रति उनका आलोचनापूर्ण दृष्टिकोण परिपुष्ट होगया।

जब हमारा हवाई जहाज सुरिनम के ऊपर उड़ रहा था तो हम पोकर खेल रहे थे और उस डच उपनिवेश की रक्षा करने वाले अमेरिकन सिपाहियों के बारे में बातें कर रहे थे। सुरिनम में ऐसे घने जंगल हैं जिनके बीच से होकर गुजारना सम्भव नहीं। किन्तु ऊपर से ऐसा जान पड़ता था मानो सुरिनम सैकड़ों मील लम्बा, साफ-सुथरा सुरक्षित जंगल है जिसमें कहीं-कहीं झरने के किनारे फूस की झोंपड़ियाँ बनी हुई हैं और कहीं-कहीं एक लाल छत के मकान के चारों तरफ, जो शायद एक जागीर है, बहुत-सी झोंपड़ियों का एक घेरा-सा बना हुआ है। वायुयान पर एक ब्राजीलियन भी था जिसने अमेरिकन हवाई सेना के लिए अड्डों की खोज में सारा दक्षिणी अमेरिका छान रखा था और जिस प्रदेश के ऊपर से हम जा रहे थे वह उसके जलथल के एक-एक भाग से परिचित था। उसने बताया कि वास्तव में जंगल बहुत साफ है। उसमें घास फूंस कम है और जंगली जानवर बहुत कम हैं। चीते, जगौर, प्यूमा, जंगली बिल्लियाँ आदि तो इक्के-दुक्के है; किन्तु जंगली पक्षी और छोटे-बड़े सांप अनगिनत हैं। यहाँ के बन्दर इतने छोटे होते हैं कि आसानी से आदमी की हथेली पर बैठ सकते हैं। बड़े-से-बड़े बन्दर दो फिट ऊंचे होते हैं।

हमारे अगले पड़ाव बेलम (ब्राज़ील) का रास्ता अभी ४५ मिनिट का शेष रह गया था कि हवाई जहाज की चार मोटरों में से एक बंद होगई। हवाई जहाज के तीन पंखों को स्थिर देखकर हमें बड़ी चिंता हुई किन्तु यात्रियों में से एक व्यक्ति, जो हवाई जहाजों की मरम्मत आदि करता था, बोला कि यदि हवाई जहाज के दो ही मोटर काम करते हों तब भी वह ठीक से उतर सकता है। हम पारा नदी पर उतरे। उस समय वर्षा हो रही थी। गरम देशों की सन्ध्याकालीन अंधियारी में चालक का पथ-प्रदर्शन करने के लिए हवाई जहाज में जा सर्चलाइट लगा हुआ था उसके प्रकाश में वर्षा की धाराएं चांदी जैसी श्वेत दिखाई देती थीं।

बेलम में हम पांच दिन ठहरे। इस बीच में मोटर की मरम्मत भी हो गई। बेलम पारा राज्य की राजधानी है। वह भूमध्य रेखा से १०० मील दक्षिण की ओर स्थित है, किन्तु मई में भी वहां गरमी न थी। रातें सुखद और ठंडी थीं और सोते समय चादर तथा कम्बल ओढ़ना पड़ता था। वहाँ सवेरे गरमी बढ़ने से पहले ही बादल छा जाते हैं और सूर्य को ढक लेते हैं। प्रायः दिन भर

हवा मन्द-मन्द चलती रहती है। दोपहर समाप्त होते-होते वर्षा का भय होने लगता है। जितने दिन हम वहां रहे हर रोज़ वर्षा हुई। इस पर जब मैंने पूछा कि क्या यह बरसात का मौसम है तो मुझे बताया गया कि "नहीं, बरसात तो जनवरी में आरम्भ होती है"। वह तो खुश्की का मौसम था।

जिन कीड़ों-मकोड़ों को मैं अमजोनिया से अभिन्न समझता था वे वहां देखने में नहीं आये। बेलम में मुझे एक मच्छर भी दिखाई नहीं दिया। चिड़िया-घर में मैंने चींटियों को खाने वाले जानवर देखे पर चिड़ियाँ और मक्खियां वहां उतनी ही कम दिखाई दीं जितनी अमेरिका के शहरों में दिखाई देती हैं। वहां के पार्कों में उड़ने वाले और रेंगने वाले कीड़े भी नहीं थे।

जिस बात से मुझे सबसे अधिक आश्चर्य हुआ वह थी वहां की प्राचीन और गौरवपूर्ण सभ्यता। अज्ञानवश मैं समझा करता था कि वहां की बस्ती में बड़ी गरमी होगी और बांसों के सहारे खड़ी फूंस की झोपड़ियां-ही-झोंपड़ियां होंगी। पारा की नींव फ्रांसिस्को काल्डीरो कास्टीलो ब्रांको नामक पुर्तगाल नाविक ने सन १६१५ में बड़े दिन से एक दिन पहले रखी थी। (यह बात मुझे एक गाइड बुक से मालूम हुई जिसमें शहर का पूरा विवरण दिया हुआ था।) वहां एक बड़ा गिरजाघर है। पत्थर के कई छोटे-छोटे गिरजाघर हैं और बहुत से स्कूल तथा सार्वजनिक भवन। इस†चौड़ी सड़कों पर काटे हुए गोल पत्थर बिछे हैं और पगडंडियां सीमेंट की बना हैं। नगर में ट्रॉलियां और बसें भी चलतीं हैं। ज्यादातर सड़कों के दोनों तरफ घने वृक्ष हैं जिनकी ऊपर की पत्तियां एक दूसरे से मिल जाती हैं और उनके कारण छाया रहती है। वहां पौधे इतनी जल्दी और और आसानी से उगते हैं कि वृक्षों की छाल से ही कोंपलें फूट पड़ती हैं।

हमबोल्ट, अगासीज और मार्टीन्स आदि प्रसिद्ध पर्यटकों ने अमेजन क्षेत्र में बेलम को ही अपने पर्यटन और ढूंढ़-खोज के लिए केन्द्र बनाया था। बेलम आज़कल फोर्ड के रबड़ के बग़ीचों के लिए बन्दरगाह का काम करता है। ये बग़ीचे पारा नदी से ऊपर की ओर छःसौ मील दूरी पर हैं। अमेरिका के वाइस-कौंसल, हार्ट के कथनानुसार इन बग़ीचों में काम करने वाले अमेरिकन मज़दूरों को बग़ीचों व जंगलों के बीच रहते हुए भी घर के सारे सुख उपलब्ध हैं।

अमेजोनिया किसी समय रबड़ की जननी थी। किन्तु वहां रबड़ की खेती की ओर से बड़ी लापरवाही दिखाई गई। ब्राजीलियनों का कथन है कि रबड़ के बीज के निर्यात पर कड़ा सरकारी प्रतिबन्ध होने पर भी "एक साहसी अंग्रेज़" वहां से ७०,००० बीज ले भागा। ये बीज सबसे पहले लंदन के क्यू गार्डन में बोये गये और वहां से उखाड़कर पौधे मलाया, सुमात्रा, जावा, लंका आदि

स्थानों में व्यावसायिक दृष्टि से लगाये गये। आज अमेरिकन पूंजीपतियों की सहायता से ब्राजील रबड़ के संसार में फिर पाँव जमाने की चेष्टा कर रहा है।

हजे और पैरा-टाइफाइड के जो टीके मुझे लगवाने रह गये थे उन्हें लगाने के लिए डा० आरलेण्डो लीमा आये। "निकर पहने हुए ये कौन आदमी है", उन्होंने मनोरंजन के भाव से पूछा। डाक्टर बढ़िया सफेद सूट और नेक-टाई आदि पहने हुए थे। वह उत्तरी अमेरिका के रहने वालों को विचित्र समझते थे। बेलम में मैं निकर पहने हुए था और न्यूयार्क में डा० लीमा ने मुझे आस्तीन ऊपर चढ़ाए हुए और जाकट उतारकर कन्धों पर रखे ले जाते हुए देखा था। पहले दिन शाम को मैं होटल के खाने के कमरे में बिना जाकट के चला गया। हैड वेटर ने, जो सफेद और काला सूट पहने हुए था, नम्रता-पूर्वक यह कहकर कि हम खाली कमीज पहने हुए लोगों के लिए खाना नहीं परसते, मुझे वापस लौटा दिया। सभी लैटिन अमेरिकनों की भाँति ब्राजील-निवासी भी पोशाक आदि पर बहुत ध्यान देते हैं।

डा० लीमा ने बताया कि वह रियो डि जैनरो के मेडिकल कॉलिज में पढ़े थे और उच्च-शिक्षा उन्होंने १९०८ में जर्मनी में पाई थी। "आप इतने वृद्ध तो नहीं दिखाई देते", मैंने कहा।

"मैं ५७ वर्ष का हूँ" उन्होंने कहा। उनके बाल घने और काल थे। जब मैंने ध्यानपूर्वक देखा कि उनका एक-भी बाल पका नहीं था तो उन्होंने कहा— "यह स्वाभाविक ही है क्योंकि मैं भूरी जाति का हूँ। मैं अंशतः भारतीय हूँ," उन्होंने गर्व से कहा, "हम रक्त का सम्मिश्रण करते हैं, यह अच्छा होता है।" वहाँ गलियों में हब्शियों जैसी मुखाकृति वाले श्वेत वर्ण के लोग और चीनियों-जैसी आँखों के भूरे चेहरे वाले लोग आमतौर पर दिखाई देते हैं। पुर्तगाल के आरम्भिक अधिवासी ब्राजील में उस समय आये थे जब पुर्तगाल भी दूर पूरब के अन्वेषण में व्यस्त था। बेलम में लम्बे आदमी प्रायः नहीं मिलते; ऐसे ही भूरे बालों वाली स्त्रियाँ भी वहाँ कम हैं। स्त्रियां यहाँ हैट नहीं पहनतीं।

बेलम के भूमध्य रेखा के निकट होने से मुझे रूस की याद आ गई। इसका एकमात्र कारण यह था कि मुझे प्रेजिडेंट गटूलियो वर्गास का फोटो प्रत्येक स्थान पर टँगा हुआ मिला। सबसे अधिक वह फोटो दिखाई दिया जिसमें वर्गास और रूजवेल्ट ह्वाइट हाउस में इकट्ठे भोजन कर रहे थे। अमेरिका से अच्छा सम्बन्ध होने के कारण मान-प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है और प्रायः लैटिन अमेरिका के डिक्टेटरों की ख्याति को अमेरिकन पूंजी और कृपाभाव के कारण चार चाँद लगे हैं। किंतु इस बात से रियो डि जैनरो से

दक्षिण में रहने वालों के बीच अमेरिकनों की लोकप्रियता बढ़ी नहीं।

दक्षिण अमेरिका के जिन फाशिस्ट डिक्टेटरों ने युद्ध जीतने में सहायता की उनका तो अमेरिकन सरकार ने समर्थन किया किंतु जिन फाशिस्ट डिक्टेटरों ने युद्ध में सहायता नहीं की उनका उसने विरोध किया। इससे लैटिन की फाशिस्ट विरोधी शक्तियों की यह धारणा नहीं हुई कि उत्तरी अमेरिका अधिनायकवाद का विरोधी है।

हमारा मरम्मत किया हुआ वायुयान बेलम से नेटाल पहुँचा जो कि ब्राज़ील से अफ्रीका जाने का निकटतम हवाई अड्डा है। वहाँ से १४ घंटे की साधारण उड़ान के बाद हम अंधमहासागर को पार कर लैगोस (नाइजीरिया) जा पहुँचे। इस ब्रिटिश उपनिवेश की आबादी २,१०,००,००० है। इन लोगों के बारे में हम लोग बहुत ही कम सोचते हैं। ये लोग तीन विभिन्न जातियों के हैं और अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं। हवाई अड्डे के पास एक कैंटीन था जिसमें केवल गरम लेमोनेड मिलता था। इसमें तीनों जातियों का एक-एक बैरा था। ये एक दूसरे से टूटी-फूटी अंग्रेजी में बात करते थे। लैगोस से अंग्रेज़ी के कई पत्र निकलते हैं जिनमें एक समाजवादी दैनिक भी है। वहाँ मैं एक स्कूल में गया जिसका संचालन मिशनरी करते थे। उसमें पाँच-छः साल की गहरे चॉकलेटी रंग की लड़कियाँ, जिनके तार-जैसे बाल बीसियों कड़ी चोटियों में गुंथे हुए सूर्य की किरणों की तरह सीधे खड़े थे, अपनी भाषा में यह वाक्य पढ़ना सीख रही थीं, "क्राइस्ट समुद्र की सतह पर चलता था।" वे मुझे स्वच्छ और आश्चर्य-चकित-सी दीख पड़ीं।

लैगोस में हम अमेरिका के फेरी कमान के सुपुर्द कर दिये गये जिसने हम में से कुछ को दो घंटे सात मिनट में ५४० मील पार कर कानो के उत्तर में पहुँचा दिया गया। कानो एक मुस्लिम राज्य की राजधानी है। यहाँ के अमीर को अंग्रेजों से सहायता के रूप में एक मोटी रकम मिलती है और इसके बदले वह अंग्रेजों की इच्छानुसार काम करता है और ऐसा ही अपनी प्रजा से भी कराता है। यहाँ के लोग अरबों से मिलते-जुलते हैं, और मैंने ऊबड़-खाबड़ अरबी में उनसे कुछ बातें कीं।

कानो में हम ब्रिटिश बारकों में सोये और अगले दिन सबेरे ५ बजे एक नये अमेरिकन अड्डे से मैडुगुरी के लिए रवाना होगये। वहां हम सात बजे एक और नये अमेरिकन हवाई अड्डे पर जा उतरे। यहाँ हम लोग, एक भयंकर आंधी में घिर गये और हमारे लिए आगे चलना असम्भव होगया। एक अफसर ने बताया कि हमें सारा दिन और सारी रात मैडुगुरी में ही बितानी होगी।

अफ्रीका के ऐसे बियाबान जंगल में २४ घंटे गुजारने के विचार से मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु विरोध करना निरर्थक था। हम एक ढीली-ढाली बस में बैठ गये जो गहरे गड्ढों वाली सड़क पर से हिलती-हिलाती चलने लगी। जब कभी यह बाबा आदम के समय की बस किसी बैलगाड़ी को जाने को जगह देने के लिए रुकती तो अमेरिका के १९-२० वर्षीय नौजवान उड़ाकों में से कोई एक, जिसे अभी कॉलेज या विश्वविद्यालय से निकले दो-तीन महीने हुए थे, चिल्ला उठता; "जर्सी सिटी, अब आगे टाइम्स स्क्वेयर आयगा" या "अब सब लोग यूनियन स्टेशन पर पहुंच कर रहेंगे।" उन युवकों ने स्वीकार किया कि उन्हें घर की याद सता रही है।

हब्शी स्त्री-पुरुष, जो करीब-करीब बिलकुल नंगे थे; किंतु सिर पर भूस के लम्बे-चौड़े हैट ओढ़े हुए थे, झुलसती धूप में रुई के खेतों में काम कर रहे थे। हर वस्तु निम्न कोटि की और पुराने जमाने की जान पड़ती थी। वायुयान ने हमें बाबा आदम के युग में ले जा पटका था।

फेरी कमान के मेहमानों के रूप में हम लोग कमान के कैम्प में ठहरे। कैम्प की सारी झोंपड़ियां नई थीं और लकड़ी की बनी हुई थीं। उनकी हरेक खिड़की में इकहरी जाली और हरेक दरवाजे पर दुहरी जाली लगी हुई थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग खाट थी जिस पर मच्छर-दानी टँगी हुई थी। हर कमरे के साथ गुशलखाना था जिसमें ठंडे और गरम पानी के फव्वारे, अमेरिकन साबुन की बड़ी-बड़ी टिक्कियाँ, आधुनिक शृंगार की सामग्री, बिजली के उस्तरे के लिए प्लग, बिजली की रोशनी, एक बड़ा रिफरिजरेटर था, जिसमें उबले हुए बरफ के समान ठंडे पानी की भूरी बोतलें भरी थीं। जैसे ही बोतल खाली होती थी वैसे ही एक हब्शी बैरा उसे भर देता था।

घंटी बजने पर हम लोग खाना खाने गये। हमारे हटते ही नौकरों ने कमरों में सब ओर फ्लिट छिड़कना शुरू किया ताकि अगर कोई मक्खी या मच्छर अन्दर आगया हो तो मर जाय। खाने के कमरे में अंधेरा-सा कर दिया गया था और वहाँ बिजली के पंखे चल रहे थे। एक भी मक्खी कहीं नहीं थी। स्थानीय बैरे, जो शायद उन्हीं दिनों जंगली क्षेत्रों से लाये गये थे, सफेद सूट पहने हुए थे और उनके हाथों पर सफेद सूती दस्ताने चढ़े हुए थे। वे नंगे पाँव खामोशी से आते-जाते थे और उन्होंने भोजन की टाइप की हुई एक सूची लोगों में बाँटी।

अगले दिन सवेरे उसी भोजनालय में मेज़ों पर सफ़ेद मेज़पोश और नैपकिन रखे हुए थे। "कार्न फ्लेक चाहिए या आटे का दलिया", एक अमेरिकन हब्शी बैरे ने पूछा। मेरी दूसरी प्लेट अंडों की थी। इसके बाद गेहूँ

के केक और मक्खन और साथ में मुरब्बा आया; और अन्त में मलाई और चीनी वाली स्वादिष्ट काफी आई। ये सब पदार्थ मैडुगुरी-जैसी उजाड़ भूमि में मिले! युद्ध जीतने के लिए अगर अमेरिकन नवयुवकों को घर से दूर जाना पड़ा, तो उन्हें अफ्रीका के जंगलों तक में इतना अधिक घर का-सा आनन्द मिला जितना कोई भी हितेच्छु सरकार किसी के लिए जुटा सकती है। नाईजीरिया से लेकर भारत तक सब फेरी कमानों का यही हाल था।

जब कि जर्मनी और इटली दक्षिणी यूरोप, भूमध्यसागर और उत्तरी अफ्रीका के बहुत से भागों पर अधिकार किये हुए थे और प्रशान्त के द्वीपों और मलाया तथा बर्मा पर जापान का नियंत्रण था, हमारे लिए अमेरिका और इंग्लैंड से एक ही सुरक्षित हवाई रास्ता था—वह था मिस्र, तुर्की और रूस से होकर ईरान हिन्दुस्तान और वहाँ से चीन।

इस रास्ते से उड़ने वाले हवाई जहाज़ सेना के जहाज़ थे और उनमें सुख-सुविधा की कोई व्यवस्था नहीं थी। यात्री अलुमिनिअम की गहरी सीटों पर बैठते थे और वायुयान की हिलती हुई 'दीवाल' से पीठ लगा लेते थे। अगर इस तरह बैठा-बैठा कोई थक जाता था तो वह नीचे फर्श पर बैठ सकता था, या सामान रखने की जगह पर जा सकता था जहाँ बन्दूकें आदि युद्ध-सामग्री पड़ी होती थी। मैडुगुरी से फ्रांसीसी अफ्रीका में लेक चैड तक और वहाँ से झुलसते हुए सूडान में खारतूम तक हम रेतीले मरुस्थल और रेत की ऊंची चट्टानों के ऊपर से उड़े। हमारा वायुयान ऊपर तक रबड़ के छोटे-छोटे टायरों के बक्सों से भरा था। इस तरह के टायर हवाई जहाज़ों के पीछे के पहियों में लगे रहते हैं। ये टायर उधार-पट्टा व्यवस्था के अन्तर्गत अमेरिका से रूस जा रहे थे। कुछ बक्स रास्ते में ही खुल गये और हमें फुदकते हुए फर्श पर टायरों के अन्दर बैठकर बड़ा आनन्द आया। मैं भारत के सम्बन्ध में शुस्टर और विट की लिखी हुई एक पुस्तक पढ़ता रहा।

खारतूम से काहिरा मैं एक दूसरे वायुयान से गया, जिसके चालक सान एंजलो (टेक्सास) निवासी टी० एफ़० कालिन्स और पेंसिल्वेनिया निवासी रेमण्ड वाइज़ (जूनियर) थे। उन्होंने कहा कि हम पूरे ६०० मील की यात्रा बिना कहीं रुके एक उड़ान में पूरी कर लेंगे। यह बड़ी अच्छी बात थी क्योंकि भूमि पर उतरने का मतलब विलम्ब और भयानक गर्मी का सामना करना ही था। उड़ने से पहले वाइज़ ने कहा—"काहिरा के आधे रास्ते में हमें वादी हाल्फ़ा में ठहरना है। वहाँ अस्पताल में एक अमेरिकन सैनिक है जिसके पैसे ख़तम होगये हैं; हम उसके लिए १५० डालर ले जा रहे हैं।" वादी हाल्फ़ा

रेगिस्तान के बीच में है। वहाँ खजूर के वृक्षों का एक छोटा-सा झुण्ड और कुछ झोपड़ियाँ हैं । वहाँ सिर्फ एक अमेरिकन था जो अपने घर से ११००० मील दूर बैठा हुआ था । हमने उसके लिए बहुत-सी पत्रिकाओं का भी बंडल बाँधकर तैयार कर लिया ।

काहिरा में सभी सभ्य सामग्रियां उपलब्ध थीं । हमें अपनी यात्रा में एक बढ़िया होटल का कमरा, ठंडे पेय, स्नान के लिए टब, स्वादिष्ट भोजन और घूमने के लिए टैक्सी मिली । हमने विदेशी सम्वाद-दाताओं और कूट-नीतिज्ञों से भेंट भी की । उन दिनों अलेग्जेंडर कर्क, जिनसे मेरा परिचय पहले रोम में और फिर मास्कों में हुआ था, मिश्र में अमेरिकन राजदूत था । नाज़ी जनरल रोमेल से काहिरा भयभीत था । ब्रिटिश सैनिकों में वीरता तो थी किन्तु वे कमजोर थे । कर्क के मस्तिष्क में एक बात जमी हुई थी ।

अमेरिका को इटली पर अवश्य हमला करना चाहिए । कर्क को खयाल था कि ऐसा करने से मिश्र और स्वेज नहर की रक्षा हो जायगी और सारे यूरोपीय युद्ध का पासा पलट जायगा । कर्क बहुत ही धनवान है और जो उन्हें नहीं जानते वे उनकी गणना आसानी से अमेरिका के राजसी कूटनीतिज्ञों में कर सकते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि मेहमानदारों की खूब शान के साथ खातिरदारी करने में उन्हें मज़ा आता है । किन्तु उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र है और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को खूब समझते हैं । उनमें बड़प्पन का अहंकार दिखाई देता है और कभी-कभी वह बनते भी बड़े हैं । किन्तु वास्तव में उनमें यह भाव है नहीं । वह तो केवल उन सिद्धान्तों के लिए लड़ते हैं जिनमें उनका विश्वास है । वह बराबर आग्रह करते रहे कि हमें रूमानिया के तैल-क्षेत्रों पर बम-वर्षा करनी चाहिए ।

प्रसिद्ध शैफर्ड्स होटल में पहुँचने पर मेरी अपने पुराने मित्र मारिस हिंडसे से टक्कर होगई, जो तभी-तभी मास्को से आये थे । उसके बाद हमारी भेंट कर्नल लुई जॉनसन से हुई, जिन्हें प्रेज़िडेन्ट रूजवेल्ट ने अपने विशेष दूत के रूप में भारत भेजा था । उनके साथ इंडियानापोलिस के एक उद्योगपति कर्नल आर्थर डब्ल्यू० हेरिंगटन भी थे जो निकट पूरब में दीर्घ काल तक काम कर चुकने के कारण उस प्रदेश से अच्छी तरह परिचित थे । जॉनसन ने हेरिंगटन की सहायता से भारतीय स्थिति का अध्ययन किया था और मार्च तथा अप्रैल १९४२ में क्रिप्स-योजना संबंधी बातचीत की निकट से समीक्षा की थी । मैं जॉनसन से उन दिनों मिला था जब वह अमेरिका में युद्ध के उपमन्त्री थे । इस पद पर वह १९४० तक रहे । मुझे आशा थी कि भारत में उनकी सहायता

से मुझे लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करने और जानकारी हासिल करने में सुविधा मिलेगी। किन्तु भारत के मौसम और जलवायु के कारण वह अस्वस्थ हो गये थे और इलाज के लिए अमेरिका वापस जा रहे थे। मुझे उनकी बातों से पता लगा कि भारत के अनुभवों ने उन्हें इस बात का विश्वास दिला दिया है कि भारत के शासन में परिवर्तन होना चाहिए। भारत के राष्ट्रीय नेता जवाहरलाल नेहरू के संबन्ध में उन्होंने बड़े उत्साह और आदर की भावना से बातचीत की।

पूरब जाने वाले वायुयान के लिए मुझे काहिरा में चार दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। मैं होटल के बारजे में एक अमेरिकन पत्रकार के साथ बैठ जाया करता था और हम आपस में बातें किया करते थे। "आपको मालूम है कि यहाँ फरवरी में क्या हुआ था," उसने पूछा। मैंने कहा—"नहीं।" रहस्यमय ढंग से और बहुत-सी इधर-उधर की बातों के बाद उसने चुपके से मेरे कान में कुछ कहा। अलैग्जेंडर कर्क ने मुझसे कहा कि काहिरा की फरवरी की घटनाओं का मुझे पता लगाना चाहिए। मेरे द्वारा पूछने पर उन्होंने कुछ बातें बतलाईं और फिर विषय बदल दिया। इस प्रकार असंगत वाक्यों को जोड़कर मैं एक कहानी बनाने लगा। इस सम्बन्ध में काहिरा से कोई व्यक्ति कुछ नहीं लिख सकता था क्योंकि ब्रिटिश सेंसर इस सिलसिले में विशेष रूप से कड़ा था। मेरा इस बारे में कुछ लिखने का इरादा नहीं था, किन्तु मुझे उत्सुकता थी और मैं बातें जानना चाहता था। इसलिए मैंने ब्रिटिश राजदूत सर माइल्स लैम्पसन से, जो थुलथुले शरीर के एक हँसमुख व्यक्ति थे, मिलने का समय नियत किया। हमने चर्चा तो अनेक विषयों की की किन्तु गहराई के साथ किसी पर बातचीत नहीं की। अन्त में मैंने कहा:—"फरवरी की घटनाओं के सम्बन्ध में मुझे इतनी काफ़ी जानकारी हो गई है कि मैं उसके बारे में इस विश्वास के साथ बातचीत कर सकता हूँ कि मैं जो कुछ जानता हूँ वह बिलकुल ग़लत नहीं है। फिर भी मेरी जानकारी के कुछ अंश ग़लत और अपर्याप्त अवश्य होंगे।" लैम्पसन ने कहा कि तुम जो कुछ जानते हो वह बताओ। मैंने बता दिया और उसने उस पर टीका-टिप्पणी की। घटनाएँ ये थीं—फर्वरी, १९४२ में ब्रिटिश सरकार और मिस्र के शाह फारूक के आपसी सम्बन्ध बहुत अधिक बिगड़ गये थे। शाह को कोई मुश्किल से ही युद्ध और अंग्रेजों का समर्थक कह सकता था। सम्भवत: धुरीराष्ट्रों के प्रति उनके मन में कुछ सहानुभूति भी थी। इसका कारण यह नहीं था कि शाह को इटैलियनों अथवा जर्मनों से प्रेम था, बल्कि उन्होंने शायद यह सोचा हो कि

अगर अंग्रेज हार जायंगे तो मिस्र को और भी अधिक स्वतंत्रता मिल जायगी। जब ब्रिटिश सरकार ने यह माँग की कि काहिरा-स्थित विची-मंत्री से गोपनीय संदेश भेजने की सुविधायें वापस ले ली जायं तो मामला एकदम बहुत गंभीर हो गया। यह सन्देह किया जाता था कि विची-मंत्री ब्रिटिश सैनिक गतिविधि के बारे में पेतां की सरकार को गोपनीय सूचनाएँ भेजते हैं। स्वभावतः ये बातें पेतां सरकार से जर्मनों को मालूम हो जाती थीं। शाह ने विची-मंत्री से इन सुविधाओं को वापस लेने से इंकार कर दिया था। इसलिए सर माइल्स लैम्पसन और ले० जनरल राबर्ट जी० स्टोन ने शाह से भेंट करने की आज्ञा मांगी। नियत दिन को ब्रिटिश टैंकों और सैनिकों ने शाह के महल को घेर लिया। तब लैम्पसन और स्टोन शाह के कमरे में घुसे। प्रत्येक व्यक्ति सौजन्य और शिष्टाचार के साथ बातें कर रहा था। अंग्रेजों ने सुझाव पेश किया कि शाह महोदय के लिए हवाई अड्डे पर एक वायुयान तैयार है जो उन्हें बहुत दूर एक ऐसे स्थान पर ले जा सकता है जहां वह चिर-काल तक रह सकेंगे--किंतु ये सब बातें तब होतीं जब वह विची के राजदूत के सम्बन्ध में एक आज्ञा जारी करने को तैयार न होते और अपना प्रधान-मन्त्री न बदलते। शाह ने ये बातें स्वीकार कर लीं।

नाजियों ने काहिरा पर बम नहीं बरसाये। मिस्री लोग पहले जैसी चहल-पहल के साथ जीवन-यापन करते रहे। युद्ध से उन्होंने खूब लाभ उठाया।

२१ मई १९४२ को मैं काहिरा से चल पड़ा। मेरा हवाई जहाज स्वेज नहर और दक्षिणी फिलस्तीन के राफ़ा प्रदेश के ऊपर से उड़ा जहाँ पर मैं १९१९ में ब्रिटिश सैनिक के रूप में कई महीने रह चुका था। इसके बाद वह हवाई जहाज गाजा, जो अब युद्ध के कारण बहुत फैल गया है, हरे समुद्र के तट पर स्थित सफेद यहूदी नगर तेल-अवीव और जूडिया की खुश्क पहाड़ियों के ऊपर उड़ता हुआ बगदाद के पास हबानिया पहुंचा। इस यात्रा में हमें ४॥ घंटे लगे। ईराकी सिपाहियों ने हमें हवाई अड्डे के पास वह पहाड़ी दिखाई जिस पर १९४१ में रशीदअली की विद्रोही सेना ने अंग्रेजों से लड़ते समय मोर्चा जमाया था।

भोजनालय में खाना खाने के बाद दो घंटे में हम बसरा जा पहुँचे। यहाँ यूफ्रेटीज और टाइग्रिस नदियां मिलकर शत्त-अल-अरब नामक नदी बन जाती हैं, जो होटल के बाहर बागों के साथ-साथ धीरे-धीरे बहती है। होटल एयर-कंडीशंड है। पंखे एक मिनिट के लिए भी बन्द नहीं हुए। सोते समय मैंने कोई चादर नहीं ओढ़ी और सारी रात पसीना पोंछता रहा। बसरा की

तुलना में अफ्रीका ठण्डा है।

बसरा के पास उधार-पट्टे का सामान लाने ले जाने के लिए एक रूसियों का हवाई अड्डा था। यहाँ हवाई जहाज़ और रबड़ के टायर अड्डे पर उतार दिये गये। वहाँ से हम शरजा चले गये, जो अरब के स्वतंत्र प्रदेश ओमन में है। यहाँ कहीं जंगल है, कहीं पहाड़ और कहीं समुद्र। शरजा में हम ब्रिटिश हवाई कम्पनी के होटल में सोये। अगले दिन प्रातः छः बजे ७४० मील दूर प्रायः सारे रास्ते समुद्र के ऊपर से उड़कर हम भारत के पूर्वी द्वार कराची में पहुँच गये। हम एक अमेरिकन हवाई अड्डे पर उतरे, वहाँ के सभी कर्मचारी अमेरिकन थे। यह अड्डा अमेरिका के बड़े हवाई अड्डों जैसा ही था, जहाँ अमेरिकनों की बेतकल्लुफी से चित्त प्रसन्न होगया। किसी ने मुझसे पास-पोर्ट तक के लिए नहीं पूछा। मैंने वहाँ के इंचार्ज कर्नल मेसन से पूछा—"नई दिल्ली के लिए जहाज़ अब कब दिलवाइयेगा।" "तीस मिनट में" उन्होंने उत्तर दिया। मैंने कैंटीन से सीले बिस्कुटों का एक डिब्बा ख़रीदा और हवाई जहाज़ पर जा चढ़ा। २३ मई की शाम को मैं अपने निश्चित स्थान भारत की राजधानी नई दिल्ली में जा पहुँचा।

: ६ :

पूरब और पश्चिम का मेल

पूरब में एक ओर तो हाथी पर चढ़ने वाले महाराजों की चमक-दमक है और दूसरी ओर किसान की झोंपड़ी की जघन्य दरिद्रता; एक ओर शेरों का शिकार, तो दूसरी ओर रोटी के लिए दौड़-धूप, एक ओर आकर्षक रंगों के वस्त्र और दूसरी ओर जीवन का फीकापन। पूरब एक रहस्य है, एक महान् षड्यंत्र, एक रोमांस, एक भयानक भुखमरी—असह्य जीवन-भार और असामयिक मृत्यु। पूरब में प्रकृति की रहस्यपूर्ण सुन्दरता और जीवन की स्पष्ट कुरूपता दोनों ही का समान रूप से दिग्दर्शन होता है।

पश्चिम जीवन का सुख लेता है और पूरब जीवन का अर्थ समझने के लिए भटकता फिरता है। पश्चिम की गति उन्मादपूर्ण है। पूरब धैर्य के साथ प्रतीक्षा करता है। पश्चिम नवीन की खोज में प्रयत्नशील है और पुरातन को शृंगार का हेतु मात्र मानता है। पूरब पुरातन से अभिन्न है पश्चिम पढ़ता अधिक है और सोचता कम है। पूरब पढ़ता कम है और चिन्तन को आदर्श अवस्था मानता है।

पश्चिम में जीवन का ताल-स्वर मशीनों में मिलता है; पूरब में मानव में। पश्चिम को धन, अधिकार, बल और सौन्दर्य की लालसा है। पूरब इनके आगे झुकता है पर आदर निर्बलता, सादगी, विनय और आत्मसंयम का करता है।

पूरब पश्चिम से भिन्न है। किन्तु यह अन्तर देश का है या काल का? क्या यह इसलिए है कि एशिया बीसवीं नहीं बल्कि १४ वीं शताब्दी में रहता है। जब यूरोप १४ वीं शताब्दी में था तो वह आज के यूरोप की अपेक्षा आज के एशिया से अधिक मिलता-जुलता था।

एशिया पश्चिम से सैकड़ों वर्ष पूरब की ओर है।

एशिया की समस्या यह है कि वर्तमान में किस प्रकार रहना आरम्भ किया जाय।

भारत की समस्या बीसवीं शताब्दी के समकक्ष होना है।

भारत का संघर्ष पूरब और पश्चिम का संघर्ष नहीं है बल्कि १७वीं और २०वीं शताब्दियों का संघर्ष है ।

मैं न्यूयार्क से मई १९४२ में चला था और गर्मियों भर भारत में ही रहा । किन्तु मोटर में तीन मील यात्रा करने या तीन मिनिट की सैर भर से मुझे तीन शताब्दियां पीछे "ब्रिटेन में बनी" दुनिया की याद आ जाती थी । भारत में पश्चिम को लाने वाले पुर्तगाल, फ्रांसीसी और अंग्रेज थे । वे भारत में हैं, किन्तु भारत के नहीं हैं । जो कुछ अंग्रेज़ लाये भारतीयों ने उसे स्वीकार किया, किन्तु उन्होंने अंग्रेजों को स्वीकार नहीं किया । और न ही अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानियों को स्वीकार किया । कवि रुडयार्ड किपलिंग की इस पंक्ति का अर्थ "पूरब पूरब है और पश्चिम पश्चिम; और दोनों कभी नहीं मिलेंगे" यह है कि अंग्रेज और हिन्दुस्तानी कभी नहीं मिलेंगे, क्योंकि स्वामी और नौकर कभी नहीं मिलते ।

कराची के अमेरिकन हवाई अड्डे पर, जहाँ मैंने भारत में प्रवेश किया, मुझ कोई हिंदुस्तानी या अंग्रेज़ दिखाई नहीं दिया । नई दिल्ली के हवाई अड्डे पर भी मुझे कोई हिंदुस्तानी नज़र नहीं आया । नई दिल्ली की सड़कों पर और इम्पीरियल होटल में कुछ हिंदुस्तानी थे । परन्तु नई दिल्ली भारत का इंग्लैण्ड है--सरकारी अफसरों के लिए एक अंग्रेजी शहर । भारत में पहुँचने पर पहले दिन भारत को देखे बिना सोने को जी नहीं चाहता था । इसलिए मैंने होटल के खजांची से डालरों के बदले में रुपये देने के लिए कहा ताकि मैं उन्हें लेकर पुरानी दिल्ली जा सकूं । "इस काम को करने में मुझे घंटों लगेंगे" खजांची बोला, "और मैनेजर की आज्ञा लेनो होगी ।" मैनेजर अंग्रेज़ था । उसने मुझे चेतावनी देते हुए कहा--"बेहतर हो अगर आप रात को पुरानी दिल्ली न जायं । वहाँ कोई भी किसी समय आपकी पीठ में छुरा घोंप सकता है ।" फिर भी उसने मुझे ४० रुपये दे दिये और मैं मोटर में बैठकर पुरानी दिल्ली चल दिया । रास्ते में मैंने गायों और बैलों को सड़कों पर सोते देखा और अर्धनग्न, क्षीणशरीर व्यक्तियों को फुटपाथों पर पड़े देखा । मैं अकेला एक मनोरंजन-गृह में जा बैठा और वहाँ भारी कपड़ों से लदी एक लड़की का नृत्य देखने लगा । उसके बाद मैं सही-सलामत होटल वापस आ गया । मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो मैं गरमी, गंदगी, गर्द और पिछड़ेपन से साक्षात्कार करके लौटा हूँ ।

हिंदुस्तान के सम्बन्ध में जो बातें मुझे सब से ज्यादा याद हैं, वे हैं, वे व्यक्ति जिनसे मैं मिला और वे समस्याएं जिनका मैंने अध्ययन किया । हिंदु-

स्तान में बात करने का एक ही विषय है---स्वयं हिन्दुस्तान । अक्सर मैंने अमेरिका, रूस और युद्ध की बात छेड़नी चाही, किन्तु मैं असफल रहा । हिन्दुस्तान की समस्याएं इतनी दुखदायी और आवयश्यक हैं कि सारा ध्यान उन्हीं की ओर केन्द्रित रहता है । हिंदुस्तान बीमार है और ऐसा मालूम होता है कि उसके दिल या पेट में कोई रोग है । यह रोग तभी भुलाया जा सकता है जब वह दूर हो जाय ।

भारत दो भागों में विभाजित है । एक ओर तो करोड़ों का वह जन-समूह है जो शारीरिक रूप से दुर्बल और आर्थिक तथा शैक्षिक रूप से बहुत पिछड़ा हुआ है; इसलिए वह अपने आप को निराशा की भावना से ऊपर नहीं उठा सकता । दूसरे दल में वे चोटी के लाखों आदमी हैं जो राष्ट्रीय दरिद्रता, प्रतिकूल जलवायु और उस हीनता की भावना पर काबू पाने के लिए सतत संग्राम में व्यस्त हैं, जो एक विदेशी स्वामी की दासता में रहने के कारण उनके मस्तिष्क में सदा बनी रहती है ।

भारत जैसे पिछड़े हुए देश को सफलता की सीढ़ियों पर अधिकार करने और फिर उस अधिकार को बनाये रखने के लिए जो घोर संग्राम करना पड़ा है, और अतीत में देश की जो कठोर स्थिति रही है, उससे धन, प्रतिष्ठा और मान की प्राप्ति के हेतु प्रतियोगिता तीव्र बन गई है ।प्रतियोगियों में असाधारण जोश और वेग होते हैं । उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि समय हाथ से निकला जा रहा है । असफलता का भय उनमें अपूर्व शक्ति और अत्यधिक कटुता पैदा कर देता है । असफलता प्रतिशोध की भावना को जन्म देती है । यह सब होते हुए भी वे व्यक्ति निजी व्यवहार में स्वच्छन्द होकर दार्शनिकों की भांति बातें करते हैं । घनिष्ट सम्बंध रखने वाले मामलों पर भी वे बिना किसी आडम्बर के और बड़ी स्पष्टवादिता से बातें करते हैं । निराशा और असफलता की बात मैंने ग़रीबों, आदर्शवादी विद्यार्थियों , करोड़पतियों, हिन्दू उच्चाधिकारियों, परिश्रमी व्यापारियों—सभी के मुंह से सुनी ये लोग निराशा का कारण ब्रिटिश राज्य को ही समझते थे । किंतु मैंने देखा कि जातीय भेदभाव और आर्थिक उन्नति के लिए अवसर की कमी भी इस निराशा का एक कारण है । निस्स-न्देह भारतवासियों की आशाएँ भंग होगई हैं; यही कारण है कि उनका सामू-हिक व्यवहार मुझे कम असाधारण नहीं लगा । भारतीय राजनीति में कोई रोग घुस गया है और उसे एक डॉक्टर की आवश्यकता है ।

गांधीजी के इतने अधिक अनुयायी होने का कारण यह बताया जाता है कि वह आधे देवता माने जाते हैं और वे एक निपुण राजनीतिज्ञ हैं । लोगों में

इस बात पर अक्सर बहस होती है कि वह संत हैं अथवा राजनीतिक नेता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह भारत के डॉक्टर हैं।

यह बात मुझसे जवाहरलाल नेहरू ने कही जब नई दिल्ली पहुँचने के अगले दिन ही मैं उनसे मिला। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के नेतृत्व के मामले में जवाहरलाल नेहरू गांधीजी के उत्तराधिकारी माने जाते हैं। गांधीजी ने भारतीयों की आत्म-सम्मान की भावना को जाग्रत करने में सफलता प्राप्त की है और यही वह रज्जु है जो नेहरू और गांधी को एक सूत्र में बाँधती है। वास्तव में ये दोनों व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न हैं। नेहरू तो एक प्रकार के पश्चिम हैं जो पूर्व में काम कर रहा है। १९४१ में उनकी अवस्था ५२ वर्ष की थी। अब तक उनके जीवन के लगभग १० साल हिन्दुस्तान की जेलों में कटे हैं। कुछ साल वह हैरो और केम्ब्रिज में रहे। अंग्रेज़ी स्कूलों की नेहरू पर छाप लगी है। ऐसे ही आधुनिक संसार का भी उन पर गहरा प्रभाव है। नेहरू का रोम-रोम देश के यंत्रहीन पिछड़ेपन का विरोध करता है। उधर गांधी को इन्हीं बातों में आनन्द आता है।

वेश-भूषा, खान-पान, धार्मिक दृष्टिकोण तथा जीवन-दर्शन की दृष्टि से गांधीजी प्राचीन भारत के प्रतिनिधि हैं। किन्तु इस प्राचीनता में नेहरू केवल इतना विश्वास रखते हैं, जितने से वह भारतवासियों के लिए ग्राह्य बने रहें और उन्हें उनमें परिवर्तन करने का अवसर मिले।

मैं नेहरू को जेनीवा, पेरिस और लन्दन में यूरोपियन वेशभूषा में देख चुका था। अब मैंने उन्हें सफेद खादी का चुस्त पाजामा पहने देखा, जो टखनों तक आता था, उस पर उन्होंने कुरता पहन रखा था जो घुटनों को छूता था और कुरते के ऊपर एक हलके नारंजी रंग की वास्कट थी। वह नंगे पाँव थे किन्तु जिस सोफे पर हम बैठे थे उसके पास ही उनके काले चमड़े के बूट पड़े थे। उन्होंने मेरा परिचय अपनी चचेरी बहन से कराया, जिनके यहां वह ठहरे हुए थे। वह एक आई. सी. एस. अफसर की पत्नी हैं। उन्होंने सफेद साड़ी पहन रखी थी और उनके माथे पर लाल चमकदार बिन्दी लगी हुई थी। बिन्दी उनके सुहाग की निशानी थी। उन्होंने हमें सन्तरों का रस पिलाया।

थोड़ी-थोड़ी देर के बाद बाहर लटकी हुई खस की टट्टी पर पानी छिड़के जाने का शब्द सुनाई पड़ता था। टट्टी से छनकर आने वाली गरम हवा को पानी ठंडा कर देता था और बाहर आकाश तक छाई हुई धूल अन्दर नहीं आ पाती थी। मकान कुछ नीचा था, किन्तु उसकी बनावट और सजावट यूरोपियन ढंग की थी, सिवा उन आभूषणों के जो पूर्वी ढंग के थे और अत्यन्त

सुन्दर लगते थे।

नेहरू ने एक लम्बी नली में डालकर कई सिगरटें पीं। वह बहुत हंसते रहे जिससे उनके सफेद सुन्दर दाँत दिखाई देते रहे। उनका रंग रेत की तरह भूरा है। वह गंजे हैं और उनके कानों पर सफेद बालों के गुच्छे हैं, पर हैं वह अत्यन्त सुन्दर।

एक प्रश्न के उत्तर में नेहरू ने स्वीकार किया कि अंग्रेज़ों ने भारत को शान्ति और सुव्यवस्था दी है। "परन्तु उन्होंने हमें कमज़ोर और पथभ्रष्ट भी कर दिया है" उन्होंने कहा—"भारतीय गौरव और राष्ट्रीय भावना का फिर जो उत्थान हुआ है वह तो पिछले २२ या २३ वर्षों से ही हुआ है; जब से गांधी जी ने ('जी', शब्द का प्रयोग आदर के लिए किया जाता है) अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया। इससे पहले अगर एक पुलिस का सिपाही किसी किसान को मार बैठता था तो और लाग भाग खड़े होते थे। अब वे ही लोग किसान की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं। हिन्दुस्तानियों में अब साहस का संचार हो चुका है। यह केवल राजनीतिक हथियार ही नहीं है, हमने इसके द्वारा मालगुज़ारी को भी बढ़ने से रोका है।"

गांधी ने भारतीयों में अंग्रेजों के विरोध की भावना को जन्म दिया है; वह उसके प्रतीक हैं। दुबले-पतले लंगोटी और चप्पल पहने हुए गाँधी ब्रिटिश सरकार के नियमों की अवहेलना कर पैदल समुद्र की ओर चल देते हैं। लाखों हिन्दुस्तानी उनके पीछे हो लेते हैं और इस प्रकार वह यात्रा तीर्थ-यात्रा बन जाती है। इस यात्रा में युवकों का आदर्शवाद दिखाई देता है और साथ-ही-साथ एक नेताहीन राष्ट्र की किसी के नेतृत्व में कार्य करने की आकांक्षा भी फूटी पड़ती है। "डांडी मार्च" द्वारा भारतवासियों को एक नेता के पद-चिन्हों पर चलने के अवसर की झलक मिलती है और गांधी की कृपा से उनके अनुयायियों को उन विदेशियों के सामने खड़े होने में अभिमान होता है जो उनके घर पर अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं।

गांधी का वाइसराय के संग मरमर के महल की सीढ़ियों पर चढ़ना हिन्दुस्तानियों के हृदयों को विशेष महत्त्व की भावना से ओत-प्रोत कर देता है। गांधी अनशन करते हैं, साम्राज्य कांप उठता है। गांधी का एक असहयोग आन्दोलन हिंसात्मक हो जाता है। उसका पश्चात्ताप करने के लिए गांधी व्रत रखते हैं। हिंसा बन्द हो जाती है। अधिकार के तामझाम के बिना ही—क्योंकि गांधी न तो किसी को दण्ड दे सकते हैं न पारितोषिक—गांधी जनता पर नियंत्रण रखते हैं। गांधी का कहना है कि अबलों से बल की धारा बहेगी।

अबलों की कीर्ति ही गांधीका बल है। हजारों लोग उन्हें बापू कहते और समझते हैं। वह अपने हस्ताक्षर में 'बापू' लिखते हैं। एक पत्र में उन्होंने मेरे पास भी 'बापू' ही लिखकर भेजा है।

गांधी भारत की निराशा को दूर करने की प्रतिरोधक औषधि हैं। जब से उन्होंने भारतीयों का नेतृत्व ग्रहण किया तब से भारतवासी अपना मस्तक ऊँचा उठाकर चलना सीख गये हैं। नेहरू उनके आभारी हैं। नेहरू अभिमानी, भावुक और तूफानी प्रकृति के व्यक्ति हैं। "हमें उपनिवेश-पद नहीं चाहिए," उन्होंने एक बार कहा था। "आस्ट्रेलिया या कनाडा की तरह भारत इंग्लैण्ड की पुत्री नहीं है। भारत तो स्वयं माता है। भारत शताब्दियों तक एक सभ्य देश रहा है। अंग्रेज़ हमें ब्रिटिश कामनवैल्थ में सम्मिलित होने को कहते हैं, जिसके कुछ राष्ट्र (उदाहरणार्थ दक्षिणी अफ्रीका) भारतीय प्रवासियों से भेदभाव करते हैं। इससे अच्छा तो यह होगा कि हम एक अंतर्राष्ट्रीय संघ में सम्मिलित हों, जिसमें केवल ब्रिटेन ही नहीं बल्कि ब्रिटेन के अलावा चीन, अमेरिका, रूस और सारी मानव-जाति शामिल होगी।

मैंने नेहरूजी को गांधीजी के बारे में बात करने के लिए प्रेरित किया। वह बोले– "गांधी भारत के राष्ट्रीय नेता हैं। किंतु उनका सन्देश समस्त विश्व के लिए है। वह भारतीय हैं। किंतु उनकी आध्यात्मिकता सार्वलौकिक है।"

"गांधी में डिक्टेटर का भी पुट है" मुसकराहट के साथ नेहरू ने स्वीकार किया। किंतु उन्होंने कहा, "बाध्य करने की जितनी शक्ति गांधी के एक उपवास में है उतनी हिटलर के आतंक में नहीं। गांधी को हड़तालों में विश्वास नहीं। पंच द्वारा निर्णय को वह अधिक अच्छा समझते हैं। इसके बावजूद भी जब एक बार कपड़ा-मिलों के कुछ मजदूरों ने हड़ताल कर दी तो मिल-मालिकों को समझौता करने को बाध्य करने के लिए गांधी ने उपवास आरम्भ कर दिया और मालिकों ने फौरन समझौता कर लिया। कौन-सा ऐसा हिंदुस्तानी है जो गांधी के जीवन को संकट में डालने या एक दिन के लिए भी उनका कष्ट बढ़ाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता है?"

सेवाग्राम में मैं महात्मा गांधी के साथ एक सप्ताह तक रहा। सेवाग्राम भारत के मध्य में एक गांव है। जिस सप्ताह में मैं वहां था उसके पहले तीन दिन नेहरू भी वहीं थे।

मैं एक कच्ची झोंपड़ी में रहा जिसकी छत फूंस की थी। मैं मूंज की चारपाई पर खुले मैदान में सोया और मैंने वही खाया जो गांधी खाते थे— सब्जियों के उबले हुए पत्ते और आलू, कच्ची प्याज और गाय का दूध, आम,

शहद और बिस्कुट। हर रोज यही चीजें बनती थीं। दो दिन तक तो मैं ठीक रहा किंतु जब तीसरे दिन भी ये ही चीजें खाईं तो मैंने कहा:— "धन्यवाद, मैं नहीं लूँगा।" गांधी, जा खाद्य-सम्बन्धी समस्याओं में बहुत रुचि रखते हैं और खाते समय मुझे ध्यानपूर्वक देखते थे, बोले, "आपको सब्जियाँ पसन्द नहीं।"

"मुझे इन सब्जियों का स्वाद अच्छा नहीं लगता।" मैंने उत्तर दिया।

इस पर उन्होंने कहा, "आपको इसमें नमक और नींबू खूब मिलाना चाहिए।"

"तो दूसरे शब्दों में आप चाहते हैं कि मैं स्वाद को मार डालूं" मैंने हँसकर कहा।

"नहीं, मैं चाहता हूँ कि आप स्वाद को और अच्छा बनायें" गांधी ने कहा।

आप तो इतने अहिंसक हैं कि आप स्वाद को भी मारना नहीं चाहते," मैंने कहा।

निःसन्देह गांधी शान्तिवादी हैं। किंतु उनसे मैंने जो बातें कीं और उनके जीवन का जो मैंने अध्ययन किया उससे मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि उनका शान्तिवाद राजनीतिक है धार्मिक नहीं। वह सम्पूर्ण शान्तिवादी नहीं हैं। वह युद्ध का विरोध इसलिए करते हैं कि ऐसे युद्ध में उन्हें विश्वास नहीं जिसका अवलम्बन आधुनिक राष्ट्र-विजय और आधिपत्य के लिए हैं। यदि उनमें सामर्थ्य होती तो वह द्वितीय विश्वयुद्ध को रोक देते, क्योंकि उन्हें इस बात में विश्वास नहीं था कि किसी भी देश की सरकार में इतनी योग्यता है कि वह विजय द्वारा मानवता का उद्धार कर सके।

यदि आप निकट से देखें तो आपको मालूम होगा कि गांधी की अहिंसा और शान्तिवाद एक ही नहीं हैं। गांधी की अहिंसा का अर्थ लड़ने से इंकार करना नहीं है। यह वह अस्त्र है जिससे गांधो लड़ते हैं। उपवास भी उनके लिए अस्त्र ही हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के पास एक यही अस्त्र है। जनता के पास कोई शस्त्र नहीं है।

गांधी ने मुझे बताया कि अहिंसात्मक प्रतिरोध को उन्होंने किन परिस्थितियों में अपनाया। सारी घटना मूल-रूप से भारतीय है। गांधी ने कहा—"आरम्भ १९१६ में हुआ। मैं लखनऊ में कांग्रेस-दल के लिए कार्य कर रहा था। एक किसान मेरे पास आया। दूसरे किसानों की तरह वह भी ग़रीब और दुर्बल था। आते ही उसने कहा— 'मेरा नाम राजकुमार शुक्ल है। मैं चम्पारन का रहने वाला हूँ और चाहता हूँ कि आप मेरे जिले में चलें।' उसने अपने ज़िले के

किसानों की दुर्दशा का वर्णन किया और मुझसे प्रार्थना की कि मैं उसके साथ चलूं। चम्पारन लखनऊ से कई सौ मील दूर है, किन्तु उसने बराबर इस तरह आग्रह के साथ कहा कि मैंनें जाने का वादा कर लिया।"

गांधी तत्काल ही नहीं जासके। इसलिए वह किसान देश भर के दौरे में हफ्तों उनके साथ रहा। आखिरकार १९१७ में वह उन्हें साथ लेकर कल॰कत्ते से चम्पारन जाने वाली गाड़ी में बैठ ही गया।

गांधी का विचार चम्पारन के किसानों से उनकी अवस्था के बारे में पूछ-ताछ करने का था। "किंतु", बात को जारी रखते हुए गांधी ने कहा, - प्रश्न के दूसरे पहलू का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मैं अंग्रेज् कमिश्नर से भी मिलना चाहता था। जब मैं कमिश्नर के पास गया तो उसने मुझे धता बताई और तत्काल ही ज़िले से बाहर चले जाने की सलाह दी। मैंने यह सलाह स्वीकार नहीं की और हाथी की पीठ पर चढ़कर मैं देहात की अवस्था का पता लगाने के लिए एक गाँव की ओर चल दिया।

"रास्ते में एक पुलिस का प्यादा मेरे पास पहुँचा और उसने चम्पारन से बाहर चले जाने का आदेश दिया। पुसिल वाले को साथ लेकर मैं अपनें ठह-रने की जगह गया और वहाँ पहली बार मैंनें सविनय अवज्ञा का आश्रय लिया। मैंने ज़िले से बाहर जाने से इंकार कर दिया। उस घर के चारों तरफ़ लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। भीड़ को नियंत्रण में रखने में मैंने पुलिस के साथ सहयोग किया।

"फिर मुकदमे के लिए मैं कचहरी पहुँचाया गया। सरकारा वकील ने न्यायाधीश से मुकदमा स्थगित करनें की प्रार्थना की, परन्तु मैंने आग्रह किया कि मुकदमा चलना चाहिए। मैं कचहरी में यह घोषणा करना चाहता था कि चम्पारन छोड़ने के आदेश की अवज्ञा मैंने जान बूझकर की है। मैंने न्यायाधीश से कहा कि मैं चम्पारन में किसानों की अवस्था के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने आया था और मुझे अंग्रेज़ी कानून की अवहेलना इसलिए करनी पड़ी कि मैं एक उच्चतर कानून के आदेशानुसार काम कर रहा था। वह कानून मेरी आत्मा का आदेश था।

"अंग्रेजों के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का यह मेरा पहला कार्य था। इसके द्वारा मैं यह सिद्धान्त स्थापित करना चाहता था कि किसी भी अंग्रेज़ को इस बात का अधिकार नहीं कि अगर मैं अपने देश के किसी भी भाग में शान्तिपूर्ण उद्देश्य लेकर जाऊँ तो वह मुझे वहाँ से निकल जाने के लिए कहे। मैंने अपने आपको दोषी स्वीकार किया।"

सरकारी अधिकारियों ने गांधी से अनुनय-विनय किया कि आप अपना दोष स्वीकार न करें। वे उन्हें अपराधी ठहराना नहीं चाहते थे। किन्तु गांधी ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। अन्त में सरकार के सामने और कोई चारा नहीं था सिवा इसके कि वह मुकदमे को बरखास्त कर गांधी को मनचाहा कार्य करने दे।

"सविनय अवज्ञा का विजय हुई" गांधीन कहा। १९१७ के उस दिन से गांधी ने सविनय अवज्ञा प्रणाली के दोषों को दूर करके उसमें अनेक सुधार किये हैं। स्वतंत्रता की मांग करने वाले प्रदर्शकों की भीड़ पर पुलिस लाठी-चार्ज करती है। प्रदर्शक सड़क पर लेट जाते हैं और बराबर पिटते जाते हैं। कुछ देर बाद यह कार्य इतना जघन्य हो जाता है कि अंग्रेज़ अधिकारियों को पुलिस हटा लेनी पड़ती है। हिन्दुस्तानी विदेशी कपड़ा ख़रीदना बंद कर देते हैं। वे टैक्स देने से भी इंकार कर देते हैं। वे सड़कों पर लम्बे लेटकर अंग्रेज अफ़सरों की मोटर गाड़ियों को रोक लेते हैं।

गांधी ने बहुत चतुराई से हिन्दुस्तानियों की निष्क्रियता तथा उदासीनता को एक युद्ध के अस्त्र का रूप दे दिया है। अंग्रेज़ शासकों द्वारा सिखाई गई विनम्रता अब अंग्रेज़ों के ही विरुद्ध प्रयुक्त होती है केवल साहस इसमें जोड़ दिया गया है। गांधी की यही देन है।

एक बार मैंने गांधी से कहा कि इंग्लैण्ड लोकतंत्रवादी देश है। किन्तु उन्होंने आग्रहपूर्वक उत्तर दिया कि यह सम्भव नहीं कि घर में तो इंग्लैंड जनतंत्री हो और बाहर साम्राज्यवादी। वास्तव में साम्राज्यवाद जनतंत्र का बिलकुल उलटा है। केवल इसलिए कि हममें शारीरिक शक्ति तो है लेकिन हमें दूसरों पर राज करने का अधिकार नहीं दिया गया। अगर हम किसी देश को बहुत दिनों तक दासता में जकड़े रखें तो निश्चय ही हमारा यह कार्य जनतंत्री सिद्धान्तों के प्रतिकूल ही होगा। साम्राज्यवाद का अर्थ अनधिकृत बलात्कार है। इस सीमित परिधि के भीतर रहते हुए अंग्रेज भारत में अनेक जनतंत्री नियमोपनियमों का प्रतिपादन करते हैं। किसी भी यूरोपीय तानाशाही देश में गांधी जैसे व्यक्ति को रातों-रात इस प्रकार ठिकाने लगा दिया जाय कि अगले दिन सवेरे उनका कुछ पता ही न चले। नाज़ी जर्मनी जैसे देश में सामूहिक सविनय अवज्ञा की कल्पना भी नहीं की जा सकती और न ही सोवियत् रूस में अहिंसक असहयोग सम्भव है। किन्तु गांधी जानते हैं कि जब तक भारत, इंग्लैण्ड और अमेरिका में जनमत पर कोई प्रतिबन्ध नहीं तब तक अंग्रेज़ उन्हें न तो ठिकाने लगाएंगे, न लगा सकते हैं। इन देशों म मत-प्रदर्शन की जो स्वतंत्रता है उसी के

कारण गांधी भारत की आज़ादी के लिए अपने अहिंसक आंदोलन का युद्ध आरम्भ कर सके ।

गांधी के साथ एक सप्ताह अतिथि के रूप में रहकर मैं निरन्तर सोचता रहा कि इनकी शक्ति का रहस्य क्या है । कांग्रेस-दल, जिसका ये और नेहरू नेतृत्व करते हैं, एक बड़ी ही ढीली-ढाली संस्था है । जिसके सदस्य चार आना वार्षिक चन्दा देते हैं; किन्तु ऐसा करने मात्र से वे किसी विशेष अनुशासन या कार्यप्रणाली से बँध नहीं जाते । गांधी के पास न धन है, न संपत्ति और न संगठन-कार्य का कोई अस्त्र है । फिर भी उनमें ऐसे करोड़ों भारतीयों की श्रद्धा है जिन्होंने उन्हें कभी देखा भी नहीं । इनमें से बहुत से व्यक्ति उनके आह्वान पर भारी बलिदान कर सकते हैं, अपने प्राण और स्वतंत्रता को भी संकट में डाल सकते हैं । जब वह अनशन करते हैं तो असंख्य व्यक्ति उत्कण्ठापूर्वक उनकी शय्या की ओर निहारते हैं । यह सब क्यों ?

इसका आंशिक कारण धार्मिक है । भारत एक बड़ा ही धर्म-प्रधान देश है और हिन्दुओं की, जो गांधी के सबसे अधिक अनुयायी हैं, ईश्वर के सम्बन्ध में एक विचित्र भावना है । हिन्दू-धर्म एक व्यापक धर्म है । इसमें बौद्ध-मत, ईसाई-मत और मूर्ति-पूजा—इन तीनों मतों के गुण हैं । गांधी पक्के हिन्दू हैं, किन्तु वह कुरान से परिचित हैं और इस्लाम के कुछ सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं । गांधी के मिट्टी के बंगले में एक ही सजावट का उपकरण है—महात्मा ईसाका चौखटे में जड़ा हुआ एक छपा चित्र, जिसके नीचे लिखा है—'वही हमारी शान्ति है ।' "मैं क्राइस्ट का अनुयायी हूँ ," गांधी ने मुझसे कहा । हिन्दू धर्म सब धार्मिक सिद्धान्तों को खपा लेता है और किसी का उन्मूलन नहीं करता । इसलिए हिन्दूमत का कोई कट्टर अथवा आधारभूत सिद्धान्त नहीं हैं, इसके सभी आधारभूत सिद्धान्त परिवर्तनशील हैं, जिसका अर्थ यह है कि वास्तव में वे अनिवार्य सिद्धान्त नहीं हैं ।

हिन्दू धर्म इतना विशाल है कि इसमें नास्तिकता, अद्वैतवाद और मूर्तिपूजा तीनों के लिए स्थान है । हिन्दू मूर्तियों के आगे नृत्य और प्रार्थना करते हैं । किन्तु जब मैंने कुछ हिन्दुओं से पूछा कि क्या आप मूर्ति में विश्वास करते हैं, तो वे बोले—"नहीं हमारा विश्वास तो एक ईश्वर में है ।" नेहरू ने कहा—"यदि नियागरा जल-प्रपात भारत में होता तो वह भी एक देवता ही माना जाता । असंख्य हिन्दू गांधी को ईश्वर का अवतार मानते हैं । एक हिन्दू पूंजीपति से मेरी बात हुई । उनका कांग्रेस-दल से प्रेम नहीं और न उनका राजनीति से कुछ सम्बन्ध है, फिर भी दृढ़तापूर्वक उन्होंने मुझसे कहा—

"गांधी जैसे महापुरुष हजार साल में एक बार ही जन्म लेते हैं, उनके स्वागत के लिए स्वर्ग के द्वार खुले हैं।

किन्तु क्या कारण है कि गांधी को ही इतनी प्रतिष्ठा मिली और क्या कारण है कि मुसलमान और अहिन्दू भी उन्हें अपना नेता समझते हैं? सेवाग्राम-वास के छठे दिन मैंने यह प्रश्न गांधी के प्राइवेट सेक्रेटरी महादेव देसाई से किया, जो अब स्वर्ग सिधार चुके हैं; और जिन्होंने १० वर्ष से अधिक गांधी की सेवा की थी। मैंने कहा—"इन दिनों मैं बराबर गांधी की अनन्त प्रभावशीलता के मूल कारण को समझने की चेष्टा करता रहा हूँ। अस्थायी-रूप से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस प्रभाव का मुख्य कारण गांधी की लगन या राग है।"

"यह बात ठीक है" देसाई ने उत्तर दिया।

"मगर इस रोग का मूल कारण क्या है" मैंने पूछा।

वह बोले—"इसका मूल कारण उन सब रोगों का शमन करना है जो मांस-हड्डी के बने होनें के नाते प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान हैं।"

"आपका मतलब काम से है?" मैंने पूछा।

"काम, क्रोध और मोह", देसाई ने गिनाते हुए उत्तर दिया। "गांधी अपनी गलती आप जान सकते हैं। वह अपने आपको दण्ड दे सकते है और दूसरों के दोषों को भी अपने ऊपर ले सकते हैं। वह पूर्ण रूप से अपने नियंत्रण में हैं। इसी के कारण उन में असाधारण शक्ति और राग का संचार होता है।"

राग सभी महापुरुषों का एक आवश्यक अंग है। वह सत् और असत् दोनों ही हो सकता है। हिटलर में भी यह प्रचुर मात्रा में था। राग बौद्धिक विषय-सम्बन्धी और नैतिक तीनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु महापुरुष में यह होता है अवश्य।

इस प्रकार गांधी की महत्ता के रहस्य को समझने की चेष्टा करते समय मैंने स्वयं गांधी से पूछने का निश्चय किया। मैं उनके साथ सबेरे-शाम घूमने जाया करता था। एक दिन शाम को मैंने उनसे कहा—"मैं आप से एक प्रश्न करने जा रहा हूँ जो व्यक्तिगत नहीं बल्कि राजनीतिक है। इतने लोगों पर अपने प्रभाव का कारण आप क्या समझते हैं?"

गांधी ने उत्तर दिया—"मै सोचता हूँ कि मेरे प्रभाव का कारण यह है कि मैं सत्य का अनुयायी हूँ। सत्य ही मेरा ध्येय है। किन्तु सत्य केवल वचन में ही नहीं होता, इसका वास्तविक अर्थ दैनिक जीवन में व्यावहारिक

रूप से सत्य का अनुसरण करना है।" मेरे खयाल से उनका संकेत सात्विक जीवन की ओर था। यदि वह चाहें तो लोग उन्हें सभी कुछ दे सकते हैं; किंतु कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर उनका भोजन, उनके वस्त्र और उनका घर ठीक उसी तरह का होता है जैसा हिंदुस्तान के ९० प्रतिशत लोगों अर्थात् किसानों का। कुछ लोग समझते हैं कि राजनीतिक प्रभाव डालने के लिए यह एक ढोंग है। चूँकि उन्हें इस प्रकार रहने की कोई आवश्यकता नहीं है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब जान-बूझकर किया गया है। सभी त्याग ऐसे ही किये जाते हैं। गांधी इसी संसार में रहते हैं। ३० करोड़ से अधिक हिन्दुस्तानी भी उसी ढंग से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वे गांधी में अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। गांधी के रहन-सहन के तरीके से उन्हें अपने को गांधी में मिलाने को सहायता मिलती है।

मैंने इस विषय पर और भी बातें कीं। घूमते-घूमते मैंने फिर पूछा—"क्या यह सत्य नहीं है कि जब आप स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं तो अनेक भारतीयों की हृदय-तन्त्री के तार झंकृत हो उठते हैं। जिस प्रकार एक गायक अपने श्रोताओं को मोहित करने के लिए प्रयत्न करता है उसी प्रकार आप भी एक ऐसा स्वर निकालते हैं जिसे भारतवासी सुनने को तत्पर रहते हैं। मैंने देखा है कि जनता प्रायः उन्हीं स्वरों का सबसे अधिक स्वागत करती है जिन्हें वह कई बार सुन चुकी है और जो उसे भाते हैं। क्या इसका यही कारण नहीं कि आप जो कुछ कहते और करते हैं वह वही है जो जनता चाहती है कि आप कहें और करें।"

गांधी ने कहा—"हां, हो सकता है कि यह बात ऐसी ही हो।"

गांधी की प्रभावशीलता एक जटिल तत्त्व है जिसके कई कारण हैं। एक कारण यह है कि भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के नायक के रूप में गांधी ठीक समय पर अवतरित हुए हैं। एक नेता की हैसियत से उनका असली रूप १९१९ म प्रकट हुआ जब संसार के अनेक पराधीन देशों में, जिनमें भारत भी एक था, राष्ट्रीयता की लहर-सी फैल गई थी। प्रथम विश्व-युद्ध में इतने युवकों की आहुति के बाद भी स्वतन्त्रता की ओर नगण्य प्रगति होने के कारण सारे भारत पर निराशा के बादल छाये हुए थे। गांधी का उदय मानो देश की आवश्यकता और प्रार्थना का ही परिणाम था।

१९४२ की गर्मियों में हिन्दुस्तान में एक बार फिर घोर निराशा छाई हुई थी। मार्च के महीने में सर स्टैफर्ड क्रिप्स चर्चिल सरकार के कुछ लिखित प्रस्ताव लेकर भारत आये थे। इन प्रस्तावों में भारत के शासन-विधान में कुछ

युद्ध-कालीन और कुछ युद्धोत्तर व्यवस्था की गई थी। विभिन्न कारणों से सभी भारतीय दलों ने इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। क्रिप्स-मिशन की असफलता की प्रतिक्रिया-स्वरूप भारत में उत्साहहीनता और संकट दिखाई दे रहा था।

स्वभावतः गांधी कभी हतोत्साह नहीं होते। वह एक योद्धा हैं। निराशा के शिकार तो प्रायः अकर्मण्य ही होते हैं, कर्मठ लोग तो निराशा के मूल कारणों से जूझने में व्यस्त रहते हैं, वे निराशा के आगे झुकते नहीं। १९४२ में, जब मैं गांधी से मिला, तो ७३ वर्ष के होते हुए भी वह आशावादी, उत्साहपूर्ण और प्रसन्नवदन थे। अतीत में उनकी रुचि नहीं थी। लायड जार्ज की भांति अतीत की संस्मृतियां उनके मस्तिष्क में कभी नहीं उमड़ती थीं। वह भविष्य की ओर ही देखते ही थे। उनके जीवन का ध्येय, भारत की स्वतन्त्रता, अभी पूर्ण नहीं हुआ था।

भारत को स्वाधीनता प्रदान करने में क्रिप्स-मिशन की असफलता के कारण गांधी में कुछ करने की प्रेरणा उत्पन्न हुई। इष्ट-फल की प्राप्ति के लिए गांधी कर्म को साधन मानते हैं और प्रतिकार रूप में कर्म को स्वयं साध्य भी मानते हैं। उन्होंने एक बार मुझसे कहा—"चीन को अमेरिका और इंग्लैण्ड से कहना चाहिये कि हम अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई को आपकी सहायता के बिना स्वयं ही लड़ेंगे। स्वतन्त्रता में उसी को मानता हूँ। यह बुद्धि-मत्ता है। औरों पर निर्भर रहकर जो स्वतंत्रता प्राप्त की जाय वह वास्तव में स्वतन्त्रता नहीं होती। जिस साधन के द्वारा साध्य उपलब्ध किया जाय वह साधन भी उपलब्धि का आवश्यक अंग होता है। वास्तविक जन-तंत्र में ऐसा ही होना चाहिए। स्टालिन के रूस में अच्छा और बुरा—दोनों ही—शिखर से आरम्भ होता है। सभी निर्णय चोटी के तानाशाही नेता करते हैं और फिर ये निर्णय आम लोगों तक पहुँचाये जाते हैं, जो अंधी आज्ञाकारिता के अभ्यस्त होने के कारण इन्हें मशीन की भाँति ग्रहण कर लेते हैं। एक ऐसी शासन-प्रणाली में जहां साध्य की वांछनीयता के कारण साधन भी वांछनीय मान लिया जाता है, साधन का कोई शैक्षिक और नैतिक महत्त्व नहीं रह जाता और उसके परिणाम स्वरूप सिड़ीपन और राजनीतिक अनैतिकता उत्पन्न होती है।

गांधी अपने-आपको जनतंत्र का रक्षक घोषित नहीं करते, फिर भी वह हृदय से जनतंत्रवादी हैं, क्योंकि वह साधनों के सम्बन्ध में बड़े सतर्क रहते हैं; किसी बात को वह छिपाकर नहीं रखते; अपने अनुयायियों से उनका व्यवहार निष्कपट होता है, और वह ऐसे कार्यक्रम में विश्वास रखते हैं जिसे

नेता और अनुयायी दोनों एक साथ करें। वास्तव में गांधी का आदर्श यह मालूम होता है कि राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न स्वर-तालों के समन्वय से स्वयं ही एक मधुर स्वर निकले। उदाहरणार्थ, वह भारतीय राष्ट्रवादियों को आतंक या गुप्त कार्रवाई में भाग लेने का अनुमति नहीं देते। देश-व्यापी सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने से पहले वह इसकी सूचना अंग्रेज़ अधिकारियों को दे देते हैं। जब आन्दोलन शुरू होता है तो कांग्रेस दल के नेता सार्वजनिक स्थानों में खड़े होकर अहिंसक असहयोग करने की इच्छा प्रकट करते हुए पुलिस को अपनेको गिरफ्तार कराने के लिए आमंत्रित करते हैं, अंग्रेज तुरन्त ही उन सबको, जिनकी संख्या हज़ारों में होती है, पकड़कर जेल में ठूंस देते हैं। इसके बाद जनता चाहे वह कांग्रेस की सदस्य हो या न हो उस नेतृत्वहीन आंदोलन में भाग लेने लगती है और अपने गाँवों और कस्बों में असहयोग आरम्भ कर देती है। वह कर देना बन्द कर देती ह। यह सब उस समय तक चलता रहता है जब तक या तो आन्दोलन स्वयं क्षीण नहीं हो जाता या गांधी यह समझकर कि उनके उद्देश्य की पूर्ति अथवा आंशिक पूर्ति हो चुकी है या यह देखकर कि आन्दोलन असफल रहा है, उसे वापस नहीं ले लेते।

क्रिप्स मिशनकी असफलता के परिणाम स्वरूप गांधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का निश्चय किया। आन्दोलन ९ अगस्त १९४२ को गांधी जी, नेहरू और हज़ारों दूसरे लोगों की गिरफ्तारी से आरम्भ हुआ। नेहरू १९४५ में छोड़ दिये गये।

जिन दिनों मैं गांधी के पास था उनके मस्तिष्क में आगामी आन्दोलन की रूपरेखा निर्धारित होरही थी इसका बीजारोपण एक दिन आप-ही-आप मई के महीने में हुआ जब कि गांधी ने साप्ताहिक मौन धारण कर रखा था। उन्होंने मन में सोचा—"अंग्रेज़ों का चला जाना चाहिए" इस पर विचार कर लेने के बाद उन्होंने एक लेख लिखा और जो कोई भी सुनने को तैयार होता उससे वह इसकी चर्चा करते। उन्होंने मुझसे भी चर्चा की और बताया कि इस सविनय अवज्ञा आन्दोलन का उद्देश्य अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से चले जाने के लिए बाध्य करना है।

प्रतिदिन शाम को गांधी मुझसे एक घंटे बात किया करते थे। ठीक एक घंटे के बाद वह धोती के भीतर से अपनी निकिल की बड़ी घड़ी निकालते और हंसकर कहते "अब" जिसके सुनते ही मैं उठकर चल देता था। समय के वह बहुत पाबन्द हैं।

तीसरे दिन मैं उनकी कुटिया के कच्चे फर्श पर पतले तकिये के पास

बैठा था। हम उनके "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पर विचार कर रहे थे। मैंने कहा—"मेरा ख्याल है कि अंग्रेजों के लिए भारत को पूर्ण रूप से छोड़कर चला जाना संम्भव नहीं होगा। इसका अर्थ तो भारत को जापान के हाथों में सौंपना होगा। इंग्लण्ड इस बात के लिए कभी तैयार नहीं होगा और न अमेरिका ही इसे पसन्द करेगा। यदि आप यह चाहते हैं कि अंग्रेज बोरिया-बदना बांधकर यहां से चले जायं तो आप निश्चय ही एक असंम्भव बात की मांग कर रहे हैं। यह तो वृक्ष के सामने भूंकने के समान होगा। निश्चय ही आपका यह मतलब नहीं कि वे अपना सेनायें भी यहां से हटा लें।

गांधी की बुद्धि बड़ी कुशाग्र और प्रतिभाशाली है। किन्तु इस बार वह कम-से-कम दो मिनट तक खामोश रहे; जिससे जान पड़ता था कि वह कुछ सोच रहे हैं। आखिर वह बोले "आप ठीक कहते हैं। इंग्लैंण्ड, अमेरिका तथा अन्य देश भी अपनी सेनायें यहां रख सकते हैं और भारत की भूमि का सैनिक कार्रवाई अड्डे के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि जापान युद्ध में विजयी हो। मैं धुरी राष्ट्रों को विजयी देखना नहीं चाहता। किन्तु मेरा विश्वास है कि जब तक हिन्दुस्तानी स्वतंत्र नहीं हो जाते तब तक अंग्रेज जीत नहीं सकते। ब्रिटेन कमजोर है और भारत पर राज्य करते हुए नैतिक दृष्टि से तो वह और भी अरक्षणीय है। मैं इंग्लैण्ड का अपमान करना नहीं चाहता।"

तत्पश्चात् गांधी के लखपति मित्र जी० डी० बिड़ला ने, जो वस्त्र-व्यवसाय के राजा हैं, मुझे बताया कि उनके पास महात्मा गांधी का पत्र आया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि मुझसे बातचीत करने से इस विषय पर उनका मत बदल गया है। यही बात गांधी ने राजगोपालाचार्य से भी कही और राजगोपालाचार्य ने मुझे बताई। किन्तु गांधी के कई घनिष्ठ साथियों ने उनकी मौलिक योजना में इस संशोधन को पसन्द नहीं किया और शब्दों में उनके सामने अपना विरोध प्रकट भी किया।

"मैं समझौता-प्रेमी व्यक्ति हूं, क्योंकि मुझे यह कभी निश्चय नहीं होता कि मैं ठीक रास्ते पर हूँ", एक दिन गांधी ने मुझसे कहा। इस आश्चर्यजनक जटिल पुरुष के व्यक्तित्व का यह भी एक पहलू है। आगे चलकर उन्होंने कहा, "किन्तु इस समय मुझे सबसे अधिक चिन्ता अनिवार्य भविष्य की है।" यह उनके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू है। उन्होंने आयोजित सविनय अवज्ञा आन्दोलन को त्यागने से इन्कार कर दिया।

"युद्ध समाप्त होने तक आप इसे क्यों नहीं स्थगित कर देते ?" मैंने उनसे पूछा। "क्योंकि मैं तत्काल ही काम करना चाहता हूं और लड़ाई के

रहते हुए देश के लिए अपने आपको उपयोगी बनाना चाहता हूं," उन्होंने उत्तर दिया। मेरा ख्याल है कि उन्हें अपनी वृद्धावस्था का भी ध्यान था। हो सकता है भारत की स्वतंत्रता के लिए यह उनके जीवन का अंतिम काम हो। फिर भी उन्होंने कहा, "अपने प्रेज़िडेन्ट (रूजवेल्ट) से कह देना कि मैं चाहता हूं कि कोई मुझे इस कार्य को करने से विमुख कर सके।" यह उनके व्यक्तित्व का तीसरा पहलू है। एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ होने के कारण वह जानते थे कि यदि रूजवेल्ट उन्हें यह विश्वास दिला सकें कि युद्ध में विघ्न न पड़ने देने के विचार से आन्दोलन स्थगित कर देना चाहिए, तो बाद में उनके लिए भारत की स्वाधीनता के मामले में हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो जायगा।

शुरू में नेहरू गांधी की १९४२ की सविनय अवज्ञा की योजना के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उन्हें आशा थी कि भारत के शासन में परिवर्तन करने के लिए अमेरिका अपने प्रभाव का प्रयोग करेगा। वह अन्तर्राष्ट्रवादी और फाशिस्ट-विरोधी हैं। युद्ध से पहले भी वह फाशिस्ट अत्याचार और आक्रमण के घोर शत्रु थे। नेहरू को भय था कि यदि भारत में अंग्रेज़ी-सरकार के कार्य में सार्वजनिक रूप से बाधा डाली गई तो उससे युद्ध कार्य में कठिनाइयां पैदा होंगी। गांधी का दृष्टिकोण भारतीय था। स्वतंत्र राष्ट्र के अधिकारों से वंचित रहने के कारण बहुत से हिन्दुस्तानियों का दृष्टिकोण अपने देश पर ही केन्द्रित हो गया है, मुझ से एक बम्बई की महिला ने कहा—यह तो वही हुआ कि कोई आदमी जबरदस्ती हमारे घर में घुस आये और फिर बाहर निकलने से इंकार करे। भारतवासी अंग्रेज़ों से छुटकारा पाने के लिए इतने व्यग्र हैं कि प्रायः उन्हें और कुछ दिखाई ही नहीं देता। नेहरू तथा उनके कुछ साथी विश्वव्यापी दृष्टि-कोण वाले व्यक्ति हैं, किन्तु १९४२ में वे अपनी बात नहीं मनवा सके। गांधी ने नेहरू को सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समर्थन के लिए मना लिया।

इस जोश और अधीरता के होते हुए भी, गांधी बड़े सहिष्णु और परिपक्व हैं; नेहरू ऐसे नहीं। दो कारणों से वह अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों को नापसन्द करते हैं। एक तो इसलिए कि वे (अंग्रेज़) साम्राज्यवादी हैं और दूसरे इसलिए कि वे प्रतिगामी हैं। ४५ करोड़ चीनियों और विश्व की प्रगति पर साम्राज्यवाद का जो दूषित प्रभाव पड़ा है उसे वह भूलते नहीं। वह जानते हैं कि साम्राज्यवाद के कारण युद्ध निरर्थक हो जायगा और शांति भी नष्ट हो जायगी।

जब तक कि द्वितीय विश्व युद्ध में सभी पुराने साम्राज्यवाद धरा-शायी नहीं हो जाते। तब तक शांति से दूसरे साम्राज्यवाद के उठ खड़े होने

की सम्भावना थी। यही भारत में मेरी दिलचस्पी का कारण था। भारत की स्वतंत्रता में मेरी रुचि इसलिए थी कि मैं उसे स्वतंत्र और श्रेष्ठतर संसार का प्रवेश-मार्ग समझता था। नेहरू के राष्ट्रवाद में यह अन्तर्राष्ट्रवाद निहित है; किन्तु गांधी को, नेहरू को यह विश्वास दिलाने में कठिनाई नहीं पड़ी कि जब तक अंग्रेज़ों को बाध्य नहीं किया जायगा तब तक वे भारत से कभी नहीं जायगे। अपने मित्र क्रिप्स के भारत में रहते समय और भारत से जाने के बाद के व्यवहार से नेहरू बहुत ही क्षुब्ध थे। अवज्ञा आन्दोलन का आश्रय लेने में उन्हें यदि संकोच था तो केवल इसलिए कि वह फाशिस्टों की विजय नहीं चाहते थे। किन्तु उनके पास गांधी की इस दलील का कोई उत्तर नहीं था कि यदि देश में एक ऐसी सार्वजनिक क्रान्ति हो सकी जिसके कारण अंग्रेज़ हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वराज्य देने को बाध्य हो जायं तो केवल भारत ही नहीं बल्कि चीन और सारे संसार में फाशिस्ट-विरोधी भावना प्रबल रूप से जाग्रत हो उठेगी और उसके फलस्वरूप मित्रराष्ट्रों की विजय शीघ्र हो सकेगी।

जून १९४२ में मैंने नेहरू को बम्बई की एक सार्वजनिक सभा में कहते सुना—"मैं स्वयं हाथ में तलवार लेकर जापान से लड़ूंगा; किन्तु मैं ऐसा स्वतंत्र होकर ही कर सकता हूं।"

इसलिए सिद्धान्त रूप से गांधी और नेहरू सहमत थे। युद्ध-काल में यदि भारत स्वाधीन हो जाता तो धुरी देशों के लोगों से हिन्दुस्तानी कह सकते—यद्यपि तुम्हारी पराजय हागी फिर भी तुम्हारे लिए श्रेष्ठतर जगत् के द्वार खुल जायंगे। इसी प्रकार वे धुरी-विरोधी राष्ट्रों से यह कह सकते—विजय के फलस्वरूप शांति और मानव-समाज की उन्नति होगी।

उस समय यदि अवज्ञा आन्दोलन के सम्बन्ध में नेहरू के मन में कोई शंका रही होगी तो उसे गांधी के आग्रह ने दूर कर दिया होगा। गांधी स्वाधीनता आन्दोलन की सबसे मूल्यवान् विभूति हैं। वही वह पूंजी हैं जिसके नेहरू उत्तराधिकारी बनेंगे। एक ऐसे युद्ध के समर्थन के प्रश्न को लेकर जो देश में लोकप्रिय नहीं समझा जाता था और जिसके सम्बन्ध में स्वयं उनका अपना मत निश्चित् नहीं था, नेहरू कैसे अपने आप को इस उत्तराधिकार से वंचित कर सकते थे।

सेवाग्राम में जब गांधी और नेहरू इस विषय पर बातचीत कर रहे थे तो नेहरू बहुत ही दुखी जान पड़ते थे। परन्तु जब वह एक बार गांधी के पक्ष में चले गये तो स्वयं गांधी से भी अधिक अदम्य होगये। जब मैं सेवाग्राम से लौटने लगा तो गांधी और उनके सेक्रेटरी, देसाई ने मुझसे कहा कि मैं वाइसराय

के सामने गांधी को बुलाकर बातचीत करने का प्रस्ताव रखूं। गांधा को तब भा दु:खदायी अवज्ञा आन्दोलन के रुकने की आशा थी। किन्तु बाद में जब बम्बई में मैंने नेहरू से पूछा कि क्या आप समझते हैं कि गांधी का वाइसराय से बातचीत करना ठीक होगा तो उन्होंने क्रोधपूर्वक कहा—"नहीं, वह वाइसराय से क्यों मिलें ?" अब नेहरू अपना निश्चय कर चुके थे।

गांधी में कटुता नहीं है। अंग्रेज नेहरू से बात करने की अपेक्षा उनसे बात करना अधिक अच्छा समझते हैं। मैं हिन्दुस्तान में जितने भी अंग्रेज उच्चाधिकारियों से मिला नेहरू के बारे में सभी ने नाक-भौं सिकोड़कर बातें कीं, किन्तु गांधी के बारे में नहीं। गांधी को न समझने पर भी अंग्रेज यह समझ सकते हैं कि वह इस प्रकार व्यवहार क्यों करते हैं। किन्तु उनकी समझ में नहीं आता कि नेहरू, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है और जो ऊंचे घराने में जन्मे हैं, उनका क्यों विरोध करते हैं। नेहरू से वे अधिक नाराज इसलिए हैं कि वे समझते हैं कि कहाँ तो नेहरू को हमारा साथ देना चाहिए और कहाँ वह हमारा इतना कड़ा विरोध करते हैं।

नेहरू की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है और वह एक सुन्दर लेखक हैं। साफ-सुथरे, सत्यवादी, आत्मालोचक और नम्र हैं। मर्यादा और क्रोध उनके प्रमुख गुण हैं। आधुनिक जीवन में मानव पर जो अपमान लादे जाते हैं, उनके प्रति उनका रोम-रोम विद्रोह करता है।

अपने जीवन का प्रथम भाग नेहरू ने एक महान् व्यक्ति की प्रतिच्छाया में व्यतीत किया है। वह महान् व्यक्ति उनके पिता स्वर्गीय पं० मोतीलाल नेहरू थे। अपने जीवन का दूसरा भाग नेहरू ने एक दूसरे महान् व्यक्ति की प्रतिच्छाया में बिताया है। वह दूसरा व्यक्ति है मोहनदास कर्मचन्द गांधी। जब तक वह इस प्रतिच्छाया से मुक्त नहीं होंगे तब तक उनकी अपनी महानता पूर्ण रूप से विकसित नहीं होगी।

इतिहास ने नेहरू को एक विशेष कार्य सुपुर्द किया है। भारतीय स्वाधीनता का आन्दोलन स्वतंत्र और एकान्त बनने की एक आदि-प्रेरणा है। साथ-ही-साथ वह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के लिए भी एक संघर्ष है। नेहरू का कर्त्तव्य देश को आर्थिक अभावों और भय से मुक्त करना है। वे इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं।

: १० :

भारत की समस्याएं

भारत में सात दिन रह चुकने के बाद (ये सब दिन नई दिल्ली ही में कटे) मैंने अनुभव किया कि बड़ी-से-बड़ी दूरी जो मैंने पैदल तय की थी वह थी टैक्सी से मकान के दरवाज़े तक का रास्ता। चुनांचे मैंने घूमने का निश्चय किया। मैं सूरज के डूबने की प्रतीक्षा करने लगा। किन्तु मकानों और फर्शों से इतनी गरमी निकल रही थी और हवा भी अभी इतनी गरम थी कि मैं मुश्किल से चल पाया और सड़क पार कर कनॉट सर्कस के बड़े पार्क में जा बैठा। खड़े होकर मैंने चारों ओर देखा, थोड़ा-सा चला और फिर बैठ गया। गरमी के कारण घूमना मुश्किल था।

पार्क में एक जगह साफ और चमकदार आँखों वाले भूरे रंग के १२ लड़के हाकी के बल्ले लिये घास पर बैठे थे। वे सम्भवतः अपने खेल के बारे में कोई सभा कर रहे थे। इधर-उधर लड़के हवाई हमलों से रक्षा के लिए खोदी गई खाइयों के अन्दर-बाहर दौड़ रहे थे। बड़े लोग छोटी-छोटी सूखी घास पर बैठे थे। कभी-कभी हरी, गुलाबी और टमाटर के रंग की चमकती हुई साड़ी की झलक भी दिखाई दे जाती थी।

पार्क के किनारे-किनारे जो पगडंडी बनी थी उस पर लकड़ी की एक ऊँची प्याऊ थी जिसमें दो बड़े मटके रखे थे। इनके पास एक बूढ़ा आदमी बैठा था। वह एक कांसे के लोटे से पानी निकालकर पीने आने वाले व्यक्तियों के चुल्लू में डाल देता था। मैं प्याऊ को देख रहा था। सफेद सूट पहने एक और आदमी भी उधर ही देख रहा था। वह हँसा और मेरी ओर संकेत करके उसने मुझे भी पानी पीने को कहा। मैं उसके पास गया। उसने अंग्रेजी में मुझे बताया कि वह एक डॉक्टर है। वह प्याऊ उसी की बिठाई हुई थी। राहियों को चारों ओर मील भर तक कहीं पीने का पानी नहीं मिलता था; इसीलिए उसने वहाँ प्याऊ लगवाई थी। इसी प्रकार वह और उसके पाँच मित्र कनॉट सर्कस में पानी पिलाने का प्रबन्ध प्रतिवर्ष करते थे। प्रत्येक

व्यक्ति को ५०) मासिक खर्चा पडता था और प्याऊ गरमियों में पाँच-छः महीने रहती थी। डॉक्टर ने बताया कि नई दिल्ली में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा बिठाई गई इस प्रकार की बीसियों प्याऊ हैं। उसने यह भी कहा, कल बर्फ मिल सकेगी और एक नली भी आ जायगी और फिर मटकों को ऊपर से ढांप दिया जायगा। जितनी देर हम बातें करते रहे लोग बराबर पानी पीने आते रहे।

"पानी का प्रबन्ध अधिकारी क्यों नहीं करते" मैंने पूछा।

उसने जवाब दिया—"यह तो मैं आपसे पूछता हूँ। हम कई बार सरकार के पास आवेदन-पत्र भेज चुके हैं, किन्तु वह कहते हैं कि पार्क में पाइप या फव्वारे लगाने से पार्क की शोभा जाती रहेगी। ये प्याऊ हम अधिकारियों की आज्ञा के बग़ैर बिठाते हैं और उन्होंने हमसे ऐसा न करने के लिए कह रखा है। हमें इस कार्य के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है"। उस आदमी ने बताया कि वह कांग्रेस-दल का सदस्य है और क्षत्रिय है, जिसकी गणना ब्राह्मणों के बाद होती है। "लेकिन आज हमारे पास शस्त्र नहीं हैं और हम लड़ नहीं सकते", उसने कहा।

अमेरिकन हवाई सेना के कप्तान कुलर और मैं होटल की दूसरी मंजिल से झुककर बाहर देख रहे थे। अमेरिकन सेनाओं के लिए बनाये जाने वाले मकानों आदि की चिनाई में काम करने वाले भारतीय मज़दूर और मजदूरनियाँ पुरानी दिल्ली अपने घरों को वापस जा रहे थे। पुरुष प्रायः नंगे थे और केवल एक लँगोटी बाँधे हुए थे, किन्तु स्त्रियाँ जिप्सियों (खानाबदोशों) की तरह रंग-बिरंगे लँहगे पहने हुए थीं। बहुत-सी स्त्रियों ने गोद में बच्चे ले रखे थे। झुलसती हुई धूप में १० या १२ घंटे काम करके अब ये लोग चार या पांच मील पदल पुरानी दिल्ली में अपने-अपने घरों को जा रहे थे। वे सब दीनता के क्षीण प्रतीक जान पड़ते थे।

"कितना भयानक दृश्य है!" मैंने कप्तान से कहा।

"यह ग़ुलामी है, ग़ुलामी" कप्तान ने उत्तर दिया। वह दक्षिण करोलिना का रहने वाला था।

कुछ दिन बाद मैंने वाइसराय की कार्यकारिणी के एक अंग्रेज़ सदस्य से खाने पर पूछा कि नई दिल्ली में इतनी बसें क्यों नहीं हैं जिस पर चढ़कर ये लोग घर जा सकें?

"ये लोग बसों का किराया नहीं दे सकते।" अंग्रेज़ सदस्य ने उत्तर दिया।

हैदराबाद में जब मैं रेलगाड़ी में सवार हुआ तो मेरे डिब्बे में एक हिंदुस्तानी भी था। हैदराबाद शहर हैदराबाद रियासत की राजधानी है। इस रियासत पर निज़ाम राज्य करता है, जो संसार का सबसे धनी आदमी माना जाता है। मेरे डिब्बे में जो आदमी बैठा था वह हिन्दुस्तानी मुसलमान था और भारतीय हवाई सेना में अफसर था। वह अपने स्क्वाड्रन के लिए एक नया वायुयान लेने पूना जा रहा था। वह जापानियों के विरुद्ध बर्मा में लड़ चुका था। यद्यपि वह स्वेच्छा से भरती होकर अंग्रेज़ों के साथ तीन वर्ष तक सेना में काम कर चुका था, फिर भी अंग्रेज़ों की जैसी निन्दा उसने की ऐसी मैंने किसी और भारतीय के मुख से नहीं सुनी। खिड़की की ओर उंगली करते हुए वह बोला—"इन आदमियों की तरफ़ देखिये। इन्हें जानवरों की तरह ज़िंदगी बितानी पड़ती है।" हम गाँवों में से होकर गुज़र रहे थे, जहाँ लोग बांस या गारे या खजूर की शाखाओं से बनी हुई झोंपड़ियों में रहते थे। बड़े-बड़े लड़के तब बिलकुल नंगे थे। स्त्रियाँ चिथड़े पहने थीं और पुरुष लंगोटी। "अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान का शोषण किया है" वह अफ़सर बोला "जब तक मैंने जॉन गन्थर की पुस्तक "इन्साइड एशिया" नहीं पढ़ी थी तब तक मुझे इसकी अधिक जानकारी नहीं थी। अंग्रेज़ हमें जान-बूझकर अज्ञानी और गरीब बनाकर रखते हैं और हमारे देश के विकास को रोकते हैं।"

हिन्दुस्तान में दो-चार दिन रहने के बाद ही पता चल जाता है कि यहाँ भयानक दरिद्रता है और सभी वर्गों और दलों के लोग हृदय से अंग्रेज़ों के विरोधी हैं।

वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य, सर फ़ीरोज़ खां नून ने एक दिन मुझसे कहा—"अंग्रेज़ एशिया और अफ्रीका में कहीं भी स्थानीय लोगों को मित्र नहीं बना सके और न उनके रहन-सहन में आधुनिक सुधार कर सके। न्यूयार्क की तो बात दूर है, लन्दन और पेरिस में भी हम आज जो कुछ देखते हैं वह सब पिछले १५० वर्षों में ही जुटाया गया है। किन्तु हिन्दुस्तान में १५० वर्ष में प्रायः कुछ भी नहीं बदला; चारों ओर वही दारुण दरिद्रता और फटे चिथड़े दिखाई देते हैं। हाँ, यह बात ठीक है कि यद्यपि हिन्दुस्तानी अधिक नहीं खाते फिर भी मरते कम हैं क्योंकि अंग्रेज़ों ने स्वास्थ्य सम्बंधी व्यवस्थाएँ कर दी हैं।" नून मुसलमान ज़मींदार हैं। वह अंग्रेज़ों से सहयोग करते हैं और गांधी-विरोधी हैं।

"हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ों में बड़ा सामाजिक अहंकार है और वे हमारा आर्थिक शोषण करते हैं।" यह मुझसे वायसराय की कार्यकारिणी के सप्लाई

सदस्य, सर होमी मोदी ने कहा। मोदी एक लखपति पारसी हैं।

स्वयं लार्ड लिनलिथगो ने मुझसे कहा था—"हिन्दुस्तान इतना इंग्लैण्ड-विरोधी कभी नहीं रहा है जितना आज है।"

भारतीय पत्रकार-संघ ने मुझे बम्बई में अपनी एक सभा में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। यह तय पाया कि भाषण देने की बजाय मैं प्रश्नों के उत्तर दूंगा। एक प्रश्न का उत्तर देते हुए मैंने युद्ध-प्रयत्नों के समर्थन पर जोर दिया और यह बताने का प्रयत्न किया कि यदि फाशिस्टों की विजय होगई तो भारत पर और हम सब पर क्या बीतेगी।

"भारत के लिए जापानी फाशिस्टवाद और अंग्रेज़ी फाशिस्टवाद में कोई अन्तर नहीं है" पत्रकार बोला।

मैंने कहा—"देखिये, इंग्लैण्ड फाशिस्ट नहीं है। इंग्लैण्ड बहुत ही जन-तंत्रवादी है और कई राजनीतिक मामलों में तो वह अमेरिका से भी अधिक जनतंत्री है। मैं जानता हूँ कि कभी-कभी भारत में अंग्रेज़ दमन के जो कार्य करते हैं उन्हें आप पसन्द नहीं करते। किन्तु मैं जब से इस देश में आया हूँ हर चार-पाँच आदमियों में से एक ने मुझे बताया है कि वह जेल हो आया है। मैं रूस और जर्मनी में सालों रहा हूँ। उन देशों में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई दे जो जेल होकर आया हो। वहाँ तो जो एक बार जेल में जाता है वह जेल का ही हो रहता है और बहुत-से तो वहाँ गोली से उड़ा दिये गये हैं।"

एक दूसरा भारतीय पत्रकार बोला—"अंग्रेज उसे गोली से नहीं मारते, वे हमें हलाल करते हैं।"

मैंने उससे इस बात का अभिप्राय पूछा। उसने कहा—"हिन्दुस्तान में औसत आयु २७ वर्ष की है।" यही अंक बाद में मैंने सरकारी अंक-संग्रह में भी देखा। इंग्लैण्ड में औसत आयु ६० और अमेरिका में ६३ वर्ष की है।

तीसरे पत्रकार ने बताया कि "भारत में जन्म लेने वाले बच्चों में से ४५ प्रतिशत ५ वर्ष के होने से पहले ही मर जाते हैं।" यह भी जन-संख्या० की पुस्तक में लिखा हुआ है।

बम्बई की मजदूर-बस्तियों और थाना जिले में, जो बम्बई से अधिक दूर नहीं है, मैंने जैसी भयंकर दरिद्रता देखी वैसी न तो १९२० से बाद के रूस और पोलैंड में देखी न १९३० के बाद स्पेन के भूखे-नंगे देहातों में। पर्लबक का कहना है हिन्दुस्तानी किसान चीनी किसान से भी अधिक गरीब है। मिलों में काम करने वाले मज़दूर किसानों से नाम मात्र के लिए अच्छे हैं। "लंदन इकानो० मिस्ट" के अनुसार जितने में "हिन्दुस्तानी मजदूर साल भर तक गुज़र करते हैं,

उतना तो अंग्रेज़ मजदूर केवल सिगरेट तम्बाकू में फूंक डालता है।" सन् १९३१ की जन-संख्या संबंधी पुस्तक की भूमिका में ब्रिटिश जन-संख्या विभाग के प्रमुख अफसर, श्री जे० एच० हटन ने लिखा है कि बम्बई में "२, ५६, ३७९ लोग एक कमरे में ६-६ या ९-९ के हिसाब से रहते हैं...... बम्बई के अधिकांश निवासियों को प्रति व्यक्ति ६ वर्ग फुट के हिसाब से रहने का स्थान मिल पाता है।" तब के बाद से बम्बई की आबादी और भी अधिक हो गई है।

यह बात अक्षरशः सत्य है कि भारत के कई करोड़ निवासी हमेशा भूखे रहते हैं। निरन्तर कष्ट देने वाली इस स्थायी भूख के कारण केवल शरीर की शांति ही क्षीण नहीं होती—मस्तिष्क भी पेट में उतर आता है। हिन्दुस्तानी ग्रामीण यह नहीं जानते थे कि युद्ध में कौन किसके साथ लड़ रहा है और अंग्रेज किसकी ओर से युद्ध कर रहे हैं। जब मैंने उनसे पूछा कि लड़ाई के बारे में तुम्हारा क्या ख़याल है, तो उन्होंने जवाब दिया—"हम भूखे हैं।" इसी तरह जब मैंने पूछा कि अंग्रेज़ों की तरफ़ से तुम्हारा क्या ख़याल है, तब भी उन्होंने यही उत्तर दिया—"हम भूखे हैं।"

भारतीय राजनीति की रूपरेखा पेट में तैयार की जाती है।

भारत की वर्तमान दशा के कारण भारत के इने-गिने शिक्षित और राजनीतिक लोगों में अंग्रेजों के प्रति शत्रुता के भाव पैदा होगये हैं।

जब मैं वैभवशाली देशी नरेशों और लखपती व्यवसायियों से मिला तो मैंने भर्त्सना की कि आप लोग अपनी जनता के दुःख-निवारण में अधिक सहायता क्यों नहीं देते ? वे इस दिशा में अधिक प्रयत्न कर सकते हैं और उनमें से कुछ ऐसा करते भी हैं। किन्तु चालीस करोड़ लोगों को तिल भर भी ऊपर उठाना एक महान् कार्य है और इस कार्य को कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता। वास्तव में अकेले ब्रिटेन में सम्भवतः इस समस्या को हल करने की क्षमता नहीं है। इसके लिए उस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय साधनों को जुटाने की आवश्यकता है जिनके फलस्वरूप परमाणु बम बनाया जा सका और धुरी राष्ट्र हराये जा सके।

भारत की आबादी ५० लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ रही है। श्री हटन ने १९३१ की सरकारी जन-संख्या-पुस्तक में लिखा था—"इंग्लैण्ड में लोग जितने धनी हैं उतनी ही कम उनमें जन्म संख्या पाई जाती है।" उनका कहना है कि भारत, चीन और रूस में अधिक जन्म संख्या का यह भी कारण है। अगर मान लिया जाय कि धार्मिक या राजनीतिक कारणों से सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी तो उस दशा में सन्तति-निग्रह की सफलता एक सीमा तक शिक्षा,

ट्रेनिंग और ऐसे साजो-सामान पर निर्भर होगी जो एक औसत दरजे के भारतीय के लिए मंहगा पड़ेगा। इसलिए भारत में जन्म-संख्या घटाने के लिए उत्तमत्तर आर्थिक अवस्था की सबसे पहले जरूरत है। यह भी ठीक है कि जन्म-संख्या में कमी होने से रहन-सहन की अवस्था में सुधार होगा, किन्तु जहां तक भारत का सम्बन्ध है। आर्थिक दशा को सुधारने से पहले संन्तति-निग्रह पर जोर देना बिलकुल उलटी बात होगी।

सरकारी जन-संख्या-विवरण के अनुसार भारत की आबादी १९३१ में ३३,८०,००,००० थी और १९४१ में ३८,५०,००,००० थी, अर्थात् १० साल में जन-संख्या में ५ करोड़ की वृद्धि हुई। यही भारत की सबसे बड़ी समस्या है।

सोवियत् रूस में, अपूर्व औद्योगिक प्रसार के दिनों में, जब पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बड़े-बड़े कारखानों और महान् नगरों का आविर्भाव होरहा था, उपयोगी धन्धों में हर साल दस लाख आदमी खप जाते थे। किन्तु भारत में जहां प्रति वर्ष ५० लाख नये पेट उत्पन्न होते हैं, पिछले बीसियों सालों से बहुत हा कम औद्योगिक उन्नति हुई है। सन् १९२२ में प्रकाशित एक सरकारी अंग्रेजी पुस्तक में इंडियन मेडिकल सर्विस के डाइरेक्टर जनरल मेजर-जनरल सर जॉन मिगाव ने लिखा था— "यह स्पष्ट है कि जीवन की आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में जो वृद्धि हो रही है उससे कहीं अधिक वृद्धि आबादी में हो रही है। अतः स्थिति में यदि कोई मौलिक परिवर्तन न हुआ तो आर्थिक जीवन का मौजूदा मान जो पहले से ही बहुत नीचा है, अनिवार्य रूप से और भी नीचा होता जायगा। एक सीमा तक भविष्य निश्चय ही अन्धकार पूर्ण है।" बाद की घटनाओं ने मिगाव की शोकपूर्ण भविष्य वाणी की पुष्टि की। हिन्दुस्तान में रहन-सहन का मान बराबर घटता जारहा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में भारत के इसपात और अस्त्र-शस्त्र के उत्पादन में वृद्धि हुई, किन्तु समग्र औद्योगिक उत्पादन में कमी हुई।

भारत में मैंने ऐसे कई ब्रिटिश कागजात और सरकारी वक्तव्य प्राप्त किये थे (वे प्रकाशित भी किये जा चुके हैं) जिनसे यह सिद्ध होता है कि भारत के औद्योगिक विस्तार में ब्रिटिश सरकार ने बाधायें डाली हैं। हिन्दुस्तान से न्यूयार्क आते हुए मैं जब फिलस्तीन में ठहरा तो मैंने यह बात अपने मित्रों से कही। उन्होंने बताया कि फ़िलस्तीन में भी अंग्रेजों की यही नीति है और साम्राज्यवादियों की तो सभी जगह यही नीति है उपनिवेशों को कच्चे माल या आधे तैयार किये हुए माल के साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाय। "फार्चून" पत्रिका के सम्पादक स्वर्गीय रेमंड लेस्ली बूएल ने लिखा था—"अमेरिका की क्रान्ति मुख्यतः व्यापार-

वृत्ति के प्रति और जहाजरानी, चीनी स्टाम्प आदि कानूनों में निहित शोषण के प्रति विद्रोह था। ब्रिटेन ने उपनिवेशों को उस समय तक व्यापार, उत्पादन और भूमि तक में विस्तार करने का अधिकार नहीं दिया जब तक कि उससे ब्रिटेन के व्यापारियों को प्रत्यक्ष लाभ न हो।" सन् १७७६ की अनुदार मनोवृत्ति आज भी जोरों पर है। साम्राज्यवाद उतना ही बदलता है जितना उसे बाध्य होकर बदलना पड़ता है। आर्थिक उन्नति में वह बाधक होता है।

भारत, चीन (जो नाम मात्र के लिए स्वतंत्र होते हुए भी अभी अर्ध-औपनिवेशिक अवस्था में है) एशिया और अफ्रीका के अन्य औपनिवेशिक देश और लैटिन अमेरिका के भी बहुत से भाग आर्थिक दृष्टि से मरुभूमि के समान हैं। इस मरुभूमि में १५ खरब प्राणी निवास करते हैं। उन्हें खाने और पहनने को बहुत कम मिलता है और रक्षा के लिए स्थान भी कम मिलता है। उत्पादन और उपभोग दोनों ही का स्तर इतना नीचा है कि लज्जा आती है। इन देशों में समस्त संसार की तीन चौथाई जनता निवास करती है और वह शेष चौथे भाग को भी नीचे की ओर घसीटती है।

पूरब के पिछड़े रहने के कारण पश्चिमी संसार को आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक क्षति उठानी पड़ती है। निर्धन, रोगी और अपराधी चाहे किसी भी समाज के हों वे सबके लिए भार-समान ही होते हैं। संसार आखिर एक ही जाति तो है।

यह एक पागलपन की-सी बात मालूम पड़ती है कि जिस संसार में उत्पादन की इतनी शक्ति हो जितनी कि उसने युद्ध के दिनों में दिखाई, करोड़ों पुरुष, स्त्रियां और बच्चे बेकार, भूखे, नंगे और अरक्षित रहें। यह सब पागलपन ही नहीं घोर अपराध है, ईसाइयत और जनतंत्र के सिद्धान्तों के बिलकुल विपरीत है।

वर्तमान युग की महान् चुनौती यह है कि जिस प्रकार आजकल हम रह रहे हैं और जिस प्रकार हम मशीनी और टेकनिकल प्रगति का पूरा लाभ उठाने के बाद रह सकते हैं, उन दोनों में साम्य स्थापित करें। पृथ्वी के गर्भ में असीम सम्पत्ति छिपी पड़ी है और यदि हमें अधिक सम्पत्ति की आवश्यकता होगी तो हमारी निर्माण-शक्ति का जादू उसे समुद्र के जल, समुद्र के घास-फूंस, कोयले की राख और रेत से पैदा कर देगा। परमाणु का विस्फोट हमारे सामने कल्पनातीत सम्पत्ति उपस्थित कर देगा। इस सम्पत्ति को उपभोग के योग्य बनाने के लिए हमारे पास असीम जन-शक्ति है जो प्रत्येक नई मशीन के साथ बढ़ती जाती है। जन-शक्ति, मस्तिष्क-शक्ति और भौतिक सम्पत्ति के इस अक्षय

भण्डार के रहते हुए वह सभ्यता, जो दरिद्रता, रुग्णता और निरक्षरता को सहन करती है, हास्यास्पद प्रतीत होती है।

वास्तव में दोष शताब्दियों की दीर्घायु का है। शताब्दियां बीत जाती हैं किन्तु उनकी विचार-धाराएँ, उनके राजनीतिक, और आर्थिक रूप तथा उनके नैतिक मान बाद में भी हमें परेशान करते रहते हैं। विज्ञान के द्वारा हमें इक्की-सवीं शताब्दी का भी पूर्वाभास हो गया है। विज्ञान ने बाहुल्य और स्वास्थ्य का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इसी के द्वारा मानव को पृथ्वी की आकर्षण शक्ति और शून्य के बन्धनों से मुक्त होने की आशा है। किंतु राजनीति अब भी उसी दकियानूसी काल में फँसी है; जब न भाप के इंजन थे न बिजली थी और न हवाई जहाज थे। राजनीति मध्ययुग के पंक में उलझी हुई है और उसने मानव को भय और अभाव की रस्सी में जकड़ रखा है। राजनीतिज्ञ अब भी भौगोलिक सीमाओं, राष्ट्रीय स्वतंत्रता और साम्राज्यगत आधिपत्य के आधार पर शांति-संधियां करते हैं।

या तो राजनीति विज्ञान को ले बैठेगी या विज्ञान, जिसकी शक्तियों पर अगठित मानव का नियंत्रण नहीं है, भूमंडल की धज्जियाँ उड़ा देगा।

जीवन से भारतीयों को जो कुछ मिल सकता है और जो वास्तव में मिल रहा है उन दोनों के बीच इतना अखरने वाला और उन्माद-प्रेरक अंतर है कि इसी से भारत के नैराश्य, असन्तोष और क्षोभ का पता चल जाता है। भारत भूमण्डल का पंचमांश है। गत ५० वर्षों में एशिया की जन-संख्या दुगुनी होगई है। आज एशिया जाग्रत अवस्था में है। उसे स्वाधीनता, सुरक्षा, समृद्धि और गौरव की चाह है। आर्थिक या राजनीतिक दृष्टि से यह संसार उस समय तक निष्क्लेश नहीं हो सकता जब तक कि एशिया और दूसरे भूखंडों के खरबों जीव उस सुख-सुविधा में हिस्सा नहीं लेते जो उन्हें मनुष्य द्वारा खड़ी की गई पुरानें ढंग की बाधाओं के हटते ही प्राप्त हो सकती है।

भारत की सभी समस्याएँ--राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक-- भारत की करुण दरिद्रता और अवरुद्ध आर्थिक गति की काली पृष्ठभूमि में ही समझी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर भारत के व्यावसायिक पिछड़ेपन का विचित्र किन्तु गहरा प्रभाव है। भारतीय शहरों में रोजगार बहुत ही सीमित है जिसके फलस्वरूप सरकारी नौकरियाँ ही भार-तीयों का मुख्य व्यवसाय बन गया है। इनके लिए प्रतिस्पर्धा बड़ी तीव्र रहती है और बहुत से हिन्दुस्तानी इनमें खप भी जाते हैं, क्योंकि अंग्रेजों को शहरी कर्मचारियों की बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता रहती है। भारत में ब्रिटिश
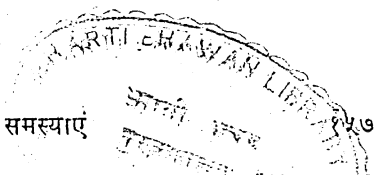
शासक बड़े कमाल के साथ शासन करते हैं। उनकी शासन-संस्था तो कहीं दिखाई देती ही नहीं। वाइसराय के गोपनीय सेक्रेटरी सर जॉन थॉर्न ने, जिनके साथ मैं एक बार खाने पर मिला था और जिनसे मैंने कुछ आँकड़े मांगे थे, मुझे १३ जुलाई १९४२ को लिखा कि इंडियन सिविल सर्विस में ५७३ अंग्रेज हैं और इंडियन पुलिस में ३८६ बड़े और लगभग ४५० छोटे अंग्रेज अफसर हैं। सारांश निकालते हुए सर जॉन ने लिखा—"इसलिए यह कहना ठीक होगा कि कुल मिलाकर भारत पर शासन करने वाले अंग्रेजों की संख्या १४०० है।" यह तो ठीक है कि ब्रिटिश शक्ति का प्रतिनिधित्व ब्रिटिश जल और थल सेनाओं और अप्रत्यक्ष रूप से, व्यापारी वर्ग में भी है किन्तु शासन के वास्तविक यंत्र को चलाने वाले अंग्रेज़ों की संख्या १४०० ही है, शेष सब हिन्दुस्तानी हैं।

आई० सी० एस० और शासन-सम्बन्धी दूसरी नौकरियों में ऐसे हज़ारों हिन्दुस्तानी भरती किये जाते हैं जिन्हें इन नौकरियों का काम विशेष रूप से सिखाया गया होता है। ये लोग सभी सम्प्रदायों और वर्गों के होते हैं किन्तु हिन्दू इनमें सबसे अधिक होते हैं। आम तौर पर भारत में इसका कारण यह बताया जाता है कि हिन्दू अधिक शिक्षित और बुद्धिमान होते हैं। मेरे ख़याल में बात कुछ और है। जब अंग्रेज भारत में आये तो उन्होंने मुसलमान शासकों को पद-च्युत किया। सन् १८५७ के विप्लव के बाद तो विशेष रूप से अंग्रेज मुसलमानों से, जिन्होंने विप्लव में प्रमुख भाग लिया था, सशंक रहने लगे। इसलिए मुसलमानों को सरकारी नौकरियों में प्रवेश करने से हतोत्साह किया जाता था। इसके अलावा चूंकि कुरान के अनुसार सूद खाना वर्जित है, इसलिए और अन्य कारणों से भी मुसलमानों ने लेन-देन, उद्योग-धंधे और बड़े व्यापार हिन्दुओं के हाथों में छोड़ दिये। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान या तो बड़े जमींदार बने रहे या छोटे किसान। शहरों में रहने वाले मध्यम-वर्ग के मुसलमानों की संख्या नहीं के बराबर थी।

शहरों में रहने वाले मध्यम वर्ग के हिन्दुओं और धनी हिन्दू और पारसी व्यवसायियों ने यह महसूस किया कि अंग्रेज़ हमारे आर्थिक विकास में तो रोड़े अटकाते ही हैं साथ-ही-साथ सामाजिक व्यवहार में भी वे हमारा अपमान करते हैं। अतः वे भारतीय स्वतंत्रता का समर्थन करने वाली संस्था कांग्रेस के प्रधान कार्यकर्त्ता और प्रतिपालक बन गये। कांग्रेस ने हिन्दू और मुस्लिम बौद्धिक वर्ग की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली।

चूंकि मध्यम और उच्च वर्ग के हिन्दू अंग्रेज़ों के विरोधी थे, इसलिए बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अंग्रेज़ों ने मुसलमानों की लल्लो-चप्पो करनी शुरू की।

हिन्दू पूंजीपति राष्ट्रीय स्वाधीनता चाहते हैं ताकि वे साम्राज्यवाद का प्रतिस्पर्धा और हस्तक्षेप से बचे रहकर फल-फूल सकें। दूसरी ओर मुस्लिम जमींदारों को भय है कि अगर स्वतंत्रता प्राप्त करते ही हिन्दुओं ने जमींदारी प्रथा में संशोधन कर दिया तो उनकी सम्पत्ति और आय संकट में पड़ जायगी। इसलिए उच्चवर्गीय मुसलमानों के हृदय में स्वतंत्रता के लिए स्थान नहीं है। श्री मुहम्मद अली जिन्ना की मुस्लिम लीग में अधिकतर उच्चवर्ग के मुसलमान ही हैं।

मुसलमानों में भी एक मध्यम वर्ग की स्थापना करने के अभिप्राय से सरकारी नौकरियों का एक अंश मुसलमानों के लिए सुरक्षित कर दिया गया, चाहे वे इन नौकरियों के लिए हिन्दू उम्मीदवारों की अपेक्षा कम योग्य ही क्यों न हों। सन् १९०९ में अंग्रेजों ने जाति या धर्म के आधार पर पृथक्-निर्वाचन-पद्धति स्थापित की जो अब भी जारी है। इसके अनुसार सार्वजनिक चुनाव आदि म हिन्दू केवल हिन्दू के लिए और मुसलमान केवल मुसलमान के लिए मत दे सकते हैं। इस प्रकार मुस्लिम राजनीतिज्ञों की आकांक्षाओं को प्रोत्साहन मिला, मुसलमानों में एकता का सूत्रपात हुआ और साम्प्रदायिक भेद-भाव दृढ़ होते गये।

शहरों में पुराने मध्यम वर्ग के हिन्दुओं के मुकाबले में एक नये मध्यम वर्ग के मुसलमान खड़े होगये। मुसलमानों का राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए अंग्रेज उन्हें प्रोत्साहन देने लगे। इसके कारण हिन्दू अंग्रेजों का और भी अधिक विरोध करने लगे और हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक वैमनस्य बढ़ गया।

भारत में मैं जिस किसी से भी मिला—इनमें भारत के वाइसराय, सर आर्चिबाल्ड वेवल, अनेक सर्वोच्च अंग्रेज अधिकारी, जिन्ना, गांधी, कांग्रेस के मुसलमान राष्ट्रपति आजाद भी सम्मिलित हैं—सभी ने इस बात की पुष्टि की कि देहात में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में संघर्ष नहीं के बराबर है, और भारत का ९० प्रतिशत भाग देहातों में है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या मनुष्य द्वारा बनाई गई एक शहरी समस्या है। इससे केवल यही पता लगता है कि शहरों में रोजगार की कमी है।

जिन्ना ने मुझे बताया कि भारत के ७५ प्रतिशत मुसलमान पहले हिन्दू थे, जिन्हें सैकड़ों साल हुए मुग़ल विजेताओं ने मुसलमान बना लिया था। नेहरू ने ऐसे मुसलमानों की संख्या ९५ प्रतिशत बताई थी। कुछ भी हो, अधिकांश हिन्दुओं और मुसलमानों का जातीय स्रोत एक ही है। रंग-रूप और भाषा की दृष्टि से एक बंगाली मुसलमान और बंगाली हिन्दू में कोई अन्तर नहीं। जाति-शास्त्र की दृष्टि से सोवियत् रूस, स्विट्ज़रलैंड और सम्भवतः अमेरिका की अपेक्षा

भी भारत कहीं अधिक एकजातीय है ।

भारतीय जीवन में धर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । यद्यपि हिन्दू गाय की पूजा करते हैं और मुसलमान इसे खाते हैं, फिर भी, देहातों में साम्प्रदायिक वैमनस्य नगण्य-सा ही है । इसकी प्रधानता तो शहरों में ही दिखाई देती है । शहरों में हिन्दुओं के खान-पान-सम्बन्धी प्रतिबन्धों के कारण और विवाह से पहले और बाद के रीति-रिवाजों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला भेद-भाव आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण और भी बढ़ जाता है । यदि जीवन में प्रवेश करने वाले नवयुवकों के सामने औद्योगिक नौकरियों की वैकल्पिक सूची उपस्थित हो तो राजनीतिक स्थानों के लिए प्रतियोगिता इतनी तीव्र न रहे ।

नये मध्यम वर्ग के मुसलमानों और पुराने मध्यमवर्ग के हिन्दुओं के बीच बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता ने मुस्लिम राजनीतिज्ञों के लिए नये अवसर प्रस्तुत कर दिये । तब मुहम्मदअली जिन्ना ने कांग्रेस-दल से त्याग-पत्र दे दिया और वह मुस्लिम लीग के नेता होगये । कांग्रेस में सभी धर्मों के लोग शामिल हैं इसलिए भारतवर्ष का वही एकमात्र महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल है । अन्य दल—हिन्दू सभा और मुस्लिम लीग आदि—साम्प्रदायिक दल हैं । केवल उनके उद्देश्य राजनीतिक हैं ।

सन् १९४२ में मुस्लिम लीग के प्रायः सभी सदस्य जमींदार थे । ज्यों-ज्यों शहरों में हिन्दुओं और मुसलमानों में तनातनी बढ़ती गई, और ज्यों-ज्यों अंग्रेजों की सहायता से जिन्ना ने मुसलमानों को अधिक नौकरियां दिलाने की अपनी योग्यता प्रमाणित की, त्यों-त्यों सामाजिक दबाव और स्वार्थ ने पेशेवर और बौद्धिक मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने से रोका । किन्तु लीग के जागारदारों से भी उनका सहयोग सम्भव न था । मुस्लिम काश्तकारों के लिए भी यह सम्भव नहीं था कि वे जमींदारों के प्रति अपनी शत्रुता को भूल जाते और लीग से सहानुभूति प्रकट करते ।

चूँकि मुसलमानों में एक ही धर्म होते हुए भी वर्गीय संघर्ष मिटा नहीं इसलिए जिन्ना को किसी ऐसी युक्ति का आवश्यकता थी जिससे मुसलमान काश्तकारों व जमींदारों और नये मध्यमवर्ग के बीच की खाई भरी जा सके । यह युक्ति उन्हें राष्ट्रीयता में मिल गई । सन् १९४० में पहली बार जिन्ना ने घोषित किया कि हिन्दुस्तान के मुसलमान एक राष्ट्र हैं और उन्होंने उनके लिए एक राष्ट्रीय प्रदेश की मांग प्रस्तुत की । वह इसे 'पाकिस्तान' कहते हैं और उनकी योजना के अनुसार इसमें मुस्लिम बहुमत वाले प्रांत सिंध, पंजाब, बिलोचिस्तान, सीमाप्रान्त, आसाम और बंगाल शामिल हैं ।

धर्म और राष्ट्रीयता मिलकर एक शक्तिशाली संयोग बन जाते हैं और इन्हीं से जिन्ना को अधिक सार्वजनिक समर्थन प्राप्त हुआ है। मार्च १९४२ की क्रिप्स-योजना, जिसमें सिद्धान्त रूप से पाकिस्तान के औचित्य को स्वीकार कर लिया गया था, जिन्ना के लिए मुँहमांगी मुराद थी।

भारत के ९,२०,००,००० मुसलमानों में जिन्ना सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। वह समुद्र के किनारे बम्बई में एक महान् और भव्य भवन में रहते हैं, जिसका छज्जा संगमरमर का है। जिन्ना लम्बे, बहुत ही दुबले, सुन्दर मुख वाले किंतु भद्दे दागदार दाँतों वाले व्यक्ति हैं। जब मैं उनसे पहली बार मिला तो वह शेरवानी, चुस्त पाजामा और बिना मोजे के काले चमड़े के पम्प शू पहने हुए थे। ऐनक का शीशा धागे से बँधा लटक रहा था। हिन्दुस्तानी समझते हैं कि वह योग्य हैं और पथ-भ्रष्ट नहीं किये जा सकते।

उनकी दलील यह थी——मुसलमान स्थायी रूप से अल्पसंख्यक नहीं रहना चाहते। वे आत्म-निर्णय की स्वतंत्रता चाहते हैं। यह ठीक है कि अधिकांश मुसलमान पहले हिन्दू थे, किन्तु इस्लाम तो एक व्यावहारिक जीवन-शैली है। आप देख सकते हैं मुस्लिम वेश-भूषा, भवन-निर्माण-कला, भोजन तथा भाषा में हिन्दुओं से भिन्न हैं। मुस्लिम भारत को हिन्दू भारत से अलग कर देना चाहिए और उसे एक स्वतंत्र राज्य अथवा पाकिस्तान का रूप दे देना चाहिए।

इस पर मैंने कहा कि सभ्य मानव का तो यह कर्त्तव्य है कि वह वर्तमान के भेद-भाव को दूर करे न कि उन्हें तीव्र बनावे। वह बोले, "मैं यथार्थ वादी हूँ। मेरा काम तो जो स्थिति है उससे निपटना है न कि उससे, जो होनी चाहिए।"

जिन्ना ने स्वीकार किया कि अंग्रेज़ की नीति सम्प्रदायों में भेद-भाव बनाये रखने की है ताकि वे सहज ही भारत में अपना आधिपत्य कायम रख सकें। "अंग्रेजों ने भारतीय शिक्षा और आर्थिक व्यवस्था को बहुत क्षति पहुंचाई है," उन्होंने कहा।

तीन दिन बाद जब मैं फिर जिन्ना से भेंट करने गया तो उन्होंने कहा कि क्रिप्स-प्रस्तावों में पाकिस्तान के सिद्धान्त मान लिये गए हैं, यद्यपि व्यवहार में "केवल सिंध असेम्बली ही इसके पक्ष में मत दे सकती है। सीमा-प्रान्त पर कांग्रेस का अधिकार है। पंजाब असेम्बली भी शायद पाकिस्तान के पक्ष में मत देने से इंकार कर दे। अतः यद्यपि सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है तथापि इसकी विधि मान्य नहीं है।"

इसके उत्तर में मैंने कहा—"दूसरे शब्दों में यों कहिये कि अंग्रेज़ ने आपको पाकिस्तान नहीं दिया और बहुत से मुसलमान भी इसके विरुद्ध हैं। अब आप चाहते हैं कि गांधी जी आपको पाकिस्तान दे दें।"

"गांधी तो इसके लिए पहले ही वचन दे चुके हैं", उन्होंने कहा। "वह कह चुके हैं कि यदि मुसलमान अलग होना चाहते हैं तो उन्हें कोई नहीं रोक सकता। यदि पाकिस्तान के प्रश्न पर हिन्दू और मुसलमान सहमत होजायं तो हमें यह मिल जायगा। हम एक दूसरे के पड़ोसी होंगे। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेश होंगे।"

जिन्ना व्यापक इस्लाम के समर्थक हैं—जिसका अभिप्राय मोरक्को से चीन तक इस्लामी साम्राज्य स्थापित करना है। उनका खयाल है कि अगर फिलस्तीन में यहूदियों की प्रधानता रही तो इससे उनकी योजना में बाधा पड़ती है।

नेहरू और गांधी के सम्बन्ध में जिन्ना ने विस्तारपूर्वक और उग्रता से बातें कीं। "नेहरू ने होमरूल सोसायटी में मेरे नीचे काम किया है" उन्होंने अपने संस्मरण बताते हुए कहा—"गांधी भी मेरे नीचे काम कर चुके हैं। मेरा उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों में एकता स्थापित करना था। सार्वजनिक जीवन में मैंने १९०६ में पदार्पण किया। मैं भी कांग्रेस में था। जब मुस्लिम लीग संगठित हुई तो मैंने कांग्रेस पर इस बात का जोर डाला कि वह लीग को भारतीय स्वतंत्रता की उपलब्धि में सहायक मानकर उसका स्वागत करे। सन् १९१५ में मैंने लीग और कांग्रेस को बम्बई में एक ही समय अपने अधिवेशन बुलाने पर तैयार किया ताकि दोनों संस्थाएँ एकता के सूत्र में बद्ध दिखाई दें। इस प्रकार की एकता में संकट देख अंग्रेजों ने खुले अधिवेशन को बलपूर्वक भंग कर दिया, किन्तु बन्द कमरे में संयुक्त अधिवेशन बराबर होता रहा। सन् १९१६ में फिर मैंने दोनों संस्थाओं के अधिवेशन लखनऊ में इकट्ठे बुलवाये। वहाँ हमने हिन्दू-मुस्लिम सहयोग के लिए लखनऊ-पैक्ट तैयार किया। सन् १९२० तक, जब कि गांधी प्रकाश में आये, प्रतिवर्ष इसी प्रकार अधिवेशन होते रहे। इसी वर्ष से स्थिति बिगड़नी शुरू हो गई। लंदन में गोलमेज़ कान्फ्रेंस के अवसर पर मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि एकता की आशा निरर्थक है। गांधी एकता नहीं चाहते थे। मुझे बड़ी निराशा हुई और मैंने इंग्लैण्ड ही में रहने का निश्चय किया। मैं भारत में अपनी मिल्कियत बेचने तक के लिए नहीं गया। यह कार्य मैंने एक दलाल के द्वारा किया। इंग्लैण्ड में मैं सन् १९३६ तक रहा। मैंने प्रिवी कौंसिल में वकालत प्रारम्भ की और मुझे

उसमें आशातीत सफलता मिली। मेरा भारत लौटने का इरादा नहीं था। किन्तु प्रति वर्ष मुझे मित्र मिलते थे और भारतीय स्थिति से अवगत कराते हुए कहते थे कि आप वहाँ चलकर बहुत कुछ कर सकते हैं। अन्त में मैंने भारत आना स्वीकार किया। ये सब बातें मैंने आपको यह सिद्ध करने के लिए बताई हैं कि गांधी स्वतंत्रता नहीं चाहते। वह नहीं चाहते कि अंग्रेज भारत छोड़ जायं। वह तो हिन्दू-राज स्थापित करना चाहते हैं। सर्वप्रथम वह हिन्दू हैं।"

मैं जब ताजमहल होटल में अपने कमरे में वापस आया तो मैंने मार्च १९४० के लाहौर अधिवेशन में प्रधान पद से दिया गया जिन्ना का अभिभाषण पढ़ा। इसमें उन्होंने कहा था: "मेरी समझ में बुद्धिमानी इसी में है कि कोई भी किसी दूसरे व्यक्ति का अत्यधिक विश्वास न करे।"

मैंने जिन्ना के अन्य भाषण भी पढ़े और उनका साप्ताहिक पत्र, "डान" देखा। वह अपने विरोधियों पर मिट्टी उछालते हैं और निरर्थक वादविवाद करते हैं। वह विरले ही कोई बड़ी या नई बात करते हैं। वह कोई आगे का रास्ता नहीं सुझाते; वह स्वयं दुबले-पतले हैं और उनकी बातें भी दुबली-पतला होती हैं। वह एक ही राग अलापते हैं—मुसलमान पाकिस्तान चाहते हैं। किन्तु वह पाकिस्तान को मुसलमानों की पुनर्जागृति के रूप में व्यक्त नहीं करते। संस्कृति और भाव के क्षेत्र में उनका पाकिस्तान कोई नया पग नहीं है। वह यह तक ठीक-ठीक नहीं कहते कि पाकिस्तान क्या है और कहां स्थापित होगा। वह सौदा पटाते हैं और कहते हैं—जब तक आप मेरी आधी बात मानने का वचन नहीं देंगे तब तक मैं आपको पाकिस्तान का विस्तृत विवरण नहीं दूंगा। वह राजनीतिज्ञ नहीं, एक राजनीतिक व्यापारी हैं। बात-बात में वह "वैधानिक और कानून की दृष्टि से" कहते हैं; और उसी से उनका परिचय मिलता है। उनमें पटुता है, किन्तु विस्तार नहीं।

मैं जिन्ना के साथ ५ घंटे रहा। इस बीच प्रायः वही मुझसे बात करते रहे। वह मुझे विश्वास दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। जब मैं उनसे कोई प्रश्न करता था तो मुझे ऐसा प्रतीत होता था मानो मैंने ग्रामोफ़ोन के किसी रिकार्ड पर सूई चढ़ा दी हो। वह जो कुछ कहते थे मैं पहले भी सुन चुका था या लीग के प्रकाशित साहित्य में पढ़ सकता था। जब मैं गांधी से कुछ पूछता तो ऐसा जान पड़ता था कि मैं एक मौलिक और रचनात्मक कार्य कर रहा हूँ। मैं उनके मनोभावों को प्रकट होते सुन और देख सकता था। किन्तु जब जिन्ना बात करते थे तो मुझे ग्रामोफोन की सूई की घिस-घिस की-सी ही आवाज आती सुनाई देती थी। जिन्ना ने सिवा निष्कर्षों के मुझे और कुछ नहीं दिया। गांधी

किसी भी निष्कर्ष की ओर बढ़ते थे तो वह मुझे भी उसका निरीक्षण करने देते थे। गांधी से भेंट करना एक सनसनीपूर्ण तथा बौद्धिक अनुभव है। जिन्ना की मुलाकात नीरस होती है चाहे वह कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो—

जिन्ना मुसलमानों के नेता नहीं, उनके वकील हैं। उनका पक्ष बार-बार और अच्छी तरह से पेश करते हैं। किन्तु उनकी बातों से मुस्लिम जनता के अपार धन और सहृदयता का लेश मात्र भी पता नहीं चलता। मुसलमान आकर्षक होते हैं, बहुत-सी बातों में तो बुद्धिमान हिन्दुओं से भी अधिक आकर्षक होते हैं। उनमें जोश है, जीवन के प्रति प्रेम है, सङ्गीत है, कविता है। किन्तु जिन्ना से बातें करते समय किसी को इन बातों का ख्याल तक नहीं आसकता है।

नई दिल्ली में महात्मा गांधी के पुत्र देवदास गांधी के घर पर, जो 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के सम्पादक हैं; मैं एक और मुसलमान से मिला। वे खान अब्दुलगफ्फार खां थे, जो व्यापक रूप से "सीमा प्रान्तीय गांधी' के नाम से पुकारे जाते हैं। वह सीमा-प्रान्त के मुसलमानों के नेता हैं। जिन्ना का विरोध करते हैं और गांधी का समर्थन। सीमा-प्रांत के किसानों में कांग्रेस के जो असंख्य अनुगामी हैं उन्हें इन्होंने ही संगठित किया है। शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से वह उन लोगों में से हैं जिन्होंने भारत में मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया। वह ६ फुट से अधिक लम्बे हैं, उनका शरीर बलवान है तथा सिर मजबूत और बिलकुल अंडे जैसा। उनके सिर और दाढ़ी पर भूरे-काले बालों की खूँटियां हैं। वह आयु में ६० वर्ष से अधिक हैं किन्तु उनकी काली चमकदार और चुभने वाली आंखों से यह मालूम होता है कि वह अभी ३० वर्ष के ही हैं। मिलने वाले पर उनकी मुखाकृति का जो प्रभाव पड़ता है उससे दसगुना उनसे बातचीत करने से पड़ता है। उनके बोलने से पहले ही मैंने उनकी शक्ति को महसूस कर लिया। उनका घर पेशावर जिले के एक गाँव में है जहां वह किसानों की तरह रहते हैं। अपने पिता के समान वह भी धनी थे किन्तु उन्होंने अपनी सम्पत्ति को त्याग दिया। उन्होंने नीले भूरे रंग का लम्बा ढीला कुरता और चौड़ी मोहरी की सलवार पहन रखी थी जो सीमा-प्रांत के उनके स्वजातीय पठानों का खास पहरावा है। हाथ से बुने हुए इन कपड़ों का रंग उड़-सा गया था और गर्दन के पास उनके कुरते पर एक पैबन्द भी लगा हुआ था। उनके हाथ लम्बे और करीब-करीब सफेद हैं और उनके पैरों की बनावट बड़ी सुन्दर है। मुझसे हाथ मिलाने के बाद उन्होंने अपने हाथ को दिल पर रख लिया।

मैंने उनसे पूछा कि जिन्ना के पाकिस्तान के बारे में आपकी क्या राय

है। उन्होंने जवाब दिया, "मैं तो इसकी वास्तविकता का अन्दाजा उन लोगों को देखकर लगाता हूं जो मेरे प्रांत में इसके समर्थक हैं। वहां इसका समर्थन धनी खान, पैसे वाले नवाब और प्रतिगामी मुल्ला करते हैं। पाकिस्तान उन लोगों के हाथ मजबूत करेगा जो हमारे किसानों का शोषण करते हैं।"

"क्या पाकिस्तान इस्लाम से मजबूत होगा", मैंने पूछा।

उन्होंने क्रोध से कहा—"जिन्ना एक बुरे मुसलमान हैं। वह पैग़म्बर के सच्चे अनुयायी नहीं हैं।"

"क्या आप धर्मनिष्ठ हैं ?" मैने पूछा। "हां, मैं मस्जिद म पांच बार नमाज़ पढ़ता हूं, मैं खुदा के एक सच्चे खिदमतगार की जिंदगी बिताता हूं। सीमा-प्रांत में हमारा आन्दोलन खुदाई खिदमतगार के नाम से प्रसिद्ध है। कभी-कभी इसे लाल कुर्ती वालों का आन्दोलन भी कह देते हैं, किन्तु लाल रंग की विचार-धारा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। हम व्यापक शिक्षा और उच्च आदर्शों के प्रतिपादक हैं। तीन वर्ष हुए जब मैंने अधिक स्कूल स्थापित करने का सुझाव प्रस्तुत किया था तो अंग्रेजों ने मुझे जेल में डाल दिया और मुल्लाओं ने मेरा विरोध किया।"

उन्होंने मुझसे अंग्रेजी में बात की और चुन-चुनकर प्रत्येक शब्द का प्रयोग किया। मैंने सोचा—"हिन्दुस्तान के दूर-दराज पर्वतीय प्रान्त के रहने वाले इस व्यक्ति से मिलना और तत्काल ही उससे संम्बन्ध स्थापित करना कितना रोमांचकारी है।"

यदि गांधी का भारत की मिट्टी और रेत से नाता है तो गफ्फ़ारखां का भारत की चट्टानों और पर्वतीय जल-प्रपातों से सम्बन्ध है।

एक बार उन्होंने अंग्रेज़ों से कहा कि मैं हिन्दुस्तान और अफ़गानिस्तान के बीच के कबायली प्रदेश में चलूँगा एवं लड़ाकू तथा उपद्रवी अफ़्रीदियों और वज़ीरों को इस बात के लिए प्रेरित करूँगा कि वे अंग्रेज़ों से और आपस में लड़ना-भिड़ना बन्द कर दें। उन्हें आशा थी कि वह इन लोगों को गांधी के अहिंसावाद की ओर ला सकेंगे। किन्तु अंग्रेज़ों को इस बात का डर था कि कहीं अफ़्रीदियों में इनका प्रभाव न हो जाय, इसलिए उन्होंने गफ्फ़ारखां को उस क्षेत्र में जाने की आज्ञा नहीं दी।

"मेरे प्रान्त के आदमियों का गांधी में विश्वास है क्योंकि गांधी हिन्दुस्तान की आजादी चाहते हैं" गफ्फ़ारखाँ ने कहा।

जिन्ना मुसलमान काश्तकारों को बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि वे केवल मुसलमान हैं और उन्हें एक मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना करनी चाहिए।

गफ्फारखां, नेहरू और दूसरे कांग्रेसी नेता मुसलमान किसानों से कहते हैं कि वे आर्थिक दृष्टि से किसान, धार्मिक दृष्टि से मुसलमान और राजनीतिक दृष्टि से हिन्दुस्तानी हैं, हिटलर ने जर्मनों से कहा था कि वे केवल जर्मन हैं। उसे आशा थी कि राष्ट्रवाद के उन्माद में मज़दूर अपने वर्गीय शत्रुओं को भूल जायंगे और केवल जातीय शत्रुओं—जर्मनी के यहूदियों और शेष सभी संसार से घृणा करेंगे। जिन्ना का धर्ममूलक जातिवाद भी उससे कम खतरनाक नहीं।

कुछ समय तक तो अंग्रेज जिन्ना की खुशामद करते रहे और उनके हाथ मजबूत करते रहे क्योंकि वे गांधीजी के स्वाधीनता आन्दोलन के मुकाबले में कोई और दल खड़ा करना चाहते थे। अपने साम्राज्य पर से एक संकट टालने के लिए अंग्रेज़ सारे एशिया के लिए खतरा खड़ा करने को तैयार थे।

गांधी कहते हैं कि भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में विभाजित करना एक कलंक है। दूसरे शब्दों में इसे मूर्खता कहना चाहिए। ईराक और ईरान के ही समान पाकिस्तान भी एक दयनीय देश होगा, यद्यपि उनसे जरा बड़ा होगा। दो हिन्दुस्तान सारे संसार के लिए सिर दर्द बन जायंगे। विभाजन और संघर्ष के कारण भारत कमजोर हो जायगा और वह चीन तथा यूरोप के छोटे राष्ट्रों की ही भाँति बड़े राष्ट्रों के षड्यंत्रों और कुचालों का अखाड़ा बनकर रह जायगा।

स्वतंत्र संघीय भारत में हिन्दु-मुस्लिम समस्या को हल करने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक होंगी—

प्रान्तों के लिए व्यापक स्वाधीनता, और हिन्दू-बहुमत प्रान्तों में मुस्लिम अल्पमतों के लिए और मुस्लिम-बहुमत प्रान्तों में हिन्दू अल्पमतों के हितों की रक्षा की कानूनी गारंटी।

धार्मिक आधार पर स्थापित पृथक् निर्वाचन पद्धति का उन्मूलन तथा राजनीति से धर्म को अलग कर देने का दृढ़ प्रयास।

भारतीय सेना और स्कूलों में धार्मिक पृथकता और भोजन-सम्बन्धी भेद-भाव छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। कितने ही भारतीय विद्यार्थियों ने मुझे बताया कि आजकल के नवयुवक अपने माता-पिताओं की अपेक्षा धार्मिक और जातीय भेद-भाव बहुत कम मानते हैं। १९३१ की जन-संख्या-पुस्तक के अनुसार "साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के मिल-जुलकर रहने में कोई दुस्तर बाधा नहीं जान पड़ती। तंजौर और मदुरा में तो

ऐसे हिन्दुओं के मन्दिर हैं जिनके कुलक्रमागत ट्रस्टी मुसलमान हैं।" १९३१ के एक जन-संख्या सुपरिन्टेन्डेण्ट ने लिखा है—"अंग्रेजी पढ़े लिखे आम लोग अब धर्म की ओर से पूर्णतः उदासीन और असबंधित से रहते हैं।"

जहाँ धार्मिक खुराफ़ात और धर्म-मूलक राजनीति होगी, वहाँ निश्चय ही दरिद्रता, अनक्षरता और प्रान्तीयता का वास भी होगा। अगर शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय और लोग सम्पन्न हो जायं तो शहरों की हिन्दू-मुस्लिम तनातनी काफूर हो जाय। हिन्दुस्तान में रहन-सहन का मान ऊँचा करने और लोगों के स्वास्थ्य में सुधार करने के हेतु औद्योगिक और कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति परम आवश्यक है। आर्थिक प्रगति से सांस्कृतिक जागृति बढ़ेगी और दोनों मिलकर आजकल के कठोर साम्प्रदायिक और जातीय विभाजनों को निश्चय ही नष्ट कर देंगे।

मतभेदों के प्रति असहिष्णुता एक पुराना रोग है और इससे वे देश भी अछूते नहीं जो आज अपनी सभ्यता के बारे में सबसे अधिक घमण्ड के साथ बोलते हैं। भारत में तो अभी इस समस्या पर प्रहार किया जाना भी ठीक से आरम्भ नहीं हुआ। भारत में अनिवार्य शिक्षा का अभाव है, जिसके द्वारा देश-व्यापी सामान्य भाषा का सहज ही प्रचार हो सकता है। हरिजनों और अछूतों के बच्चे (जिनके सम्बन्ध में यह खयाल किया जाता है कि उनका साया भी सवर्ण हिन्दू को अपवित्र कर देगा) जब हिन्दुओं, सिखों, ईसाइयों, मुसलमानों और अंग्रेजों के बच्चों के साथ बैठेंगे तो यह प्रमाणित हो जायगा कि हमारे असंख्य वहम और प्रतिबन्ध मूर्खतापूर्ण हैं। इसी प्रकार आर्थिक व्यवस्थाओं के विस्तार से और रोजगार में वृद्धि हो जाने से उन गलतफ़हमियों और दीवारों के नष्ट होने में सहायता मिलेगी जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और धर्मों के बीच खड़ी हैं। आज अछूत या "दलित जातियाँ" शहरों में केवल मेहतरों का काम, सड़कों आदि की सफाई और चमड़े का काम करती हैं जिसे सवर्ण हिन्दू गन्दा काम समझते हैं। आजकल जब कि रोजगार की भारी कमी है, प्रत्येक जाति या सम्प्रदाय इस बात का प्रयत्न करता है कि वह अपने पेशे को एकाधिकार के रूप में ग्रहण करे। इसीलिए अछूतों को अधिक लाभदायक और कम गंदे कार्य करने के लिए प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था एक प्राचीन व्यवस्था है। आधुनिक काल में इसका अर्थ भारत की आर्थिक व्यवस्था और शिक्षा को सदा के लिए अप्रगतिशील रखना है।

मुझे भारत में जो सबसे कटु व्यक्ति मिला वह सबसे प्रसिद्ध अछूत है—

डॉक्टर भीमराव जी अम्बेदकर। उनके पिता और दादा वर्षों अंग्रेजी-सेना में रहे और इस असाधारण परिस्थिति के कारण ही अम्बेदकर भारत में शिक्षा प्राप्त कर सके। बाद में महाराजा बड़ौदा द्वारा दी गई छात्रवृत्ति की सहायता से उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय (न्यूयार्क) से एम० ए० और पी० एच० डी० की उपाधियां प्राप्त कीं। वह जर्मनी में बौन विश्वविद्यालय तथा लंदन विश्वविद्यालय में भी पढ़े। वह एक ख्यातनामा लेखक, वकील और अर्थ-शास्त्री हैं। उनका शरीर गठा हुआ है और उनकी आत्म-शक्ति सुदृढ़ है। वह बहुत ही "टेढ़े" हैं और इतने ही भावुकताहीन और बौद्धिक हैं, जितने बहुत से हिन्दू दार्शनिक और अबौद्धिक हैं। वह हिन्दुओं से घृणा करते हैं, और इसका कारण भी है। भारत के पाँच या सात करोड़ अछूतों के प्रति जैसा घृणित व्यवहार होता है वैसा इस संसार में कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के प्रति नहीं करता। मैं समझता हूँ कि हिन्दुओं के इस खयाल ने कि अछूत का दूर का सम्पर्क भी उन्हें भ्रष्ट कर देगा, हिन्दुओं को स्वयं भ्रष्ट कर डाला है। ऐसे बर्बरतापूर्ण विचारों से धर्म कलंकित हो जाता है।

गांधी वचन और कर्म द्वारा अछूतों के उत्थान का प्रयत्न करते रहे हैं। वह अछूतों के हाथों का तैयार किया हुआ भोजन करते हैं और अछूत उनके गाँव में उनके बहुत ही निकट रहते हैं। इसीलिए अछूतों में गाँधी के बहुत अनुयायी हैं और सम्भवतः वे गांधी को अम्बेदकर की अपेक्षा अधिक जानते हैं।

अम्बेदकर गांधी के विरोधी और पाकिस्तान के समर्थक हैं। हिन्दुस्तान में मैं जितने आदमियों से मिला उनमें से एक भी अंग्रेजों का इतना बड़ा समर्थक नहीं जितना कि अम्बेदकर। अगस्त १९३० में अम्बेदकर ने हरिजनों के सम्मेलन में कहा था—"मुझे भय है कि अंग्रेजों द्वारा हमारी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्दशा के प्रचारित किये जाने का कारण यह नहीं है कि अंग्रेज हमारी इस दुर्दशा का निराकरण करना चाहते हैं बल्कि यह कि ऐसा करने से उन्हें हिन्दुस्तानी राजनीतिक प्रगति रोकने का बहाना मिल जाता है।" अम्बेदकर का कहना कि सवर्ण हिन्दुओं और हरिजनों के बीच शत्रुता होने के कारण अंग्रेजों को भारत में जमे रहने के लिए एक और दलील मिल गई है। फिर भी सन् १९४२ में अम्बेदकर ने वाइसराय की कार्यकारिणी का सदस्य बनना स्वीकार किया और इस प्रकार वह अंग्रेजों के सहयोगी बन गये। दण्ड देने वाले हिन्दुओं के प्रति अम्बेदकर का विद्वेष इतना अधिक है कि जो चीज हिन्दू अस्वीकार करते हैं उसका वह स्वागत करते हैं और जिस बात को हिन्दू कहते हैं उसे वह

अस्वीकार करते हैं । अम्बेदकर में हमें परम्परागत अन्याय और कष्ट की गूंज सुनाई देती है जिसके फलस्वरूप अधिक-से-अधिक विचारवान व्यक्ति में भी विचारहीन आवेग उत्पन्न हो जाते हैं ।

मैंने अस्पृश्यता के बारे में एक कट्टरपन्थी हिन्दू से बात की । वह भारतीय संघ न्यायालय के सदस्य सर एस० वरदाचार्य थे, जिनके नाम मुझे भारत के न्यायाधीश सर मारिस ग्वायर ने पत्र दिया था । सर मारिस से परिचय प्राप्त करने के लिए मैं अपने साथ फेलिक्स फ्रैंकफर्टर का पत्र लाया था । सर मारिस ग्वायर के अनुसार "नई दिल्ला में अकेले वरदाचार्य ही एक-मात्र राजनीतिक दार्शनिक थे ।"

मेरी टैक्सी जब वरदाचार्य के बंगले पर पहुँची तो वह भारतीय न्यायाधीश प्रवेश-द्वार पर मुझसे मिलने आये । वह बिना कालर की सफेद कमीज़ पहने हुए थे जिसके सारे बटन सोने के थे । चूड़ीदार पाजामा पहने हुए थे । पाँव नंगे थे—न जूते न मौज़े । सिर के मध्य में चोटी के लम्बे बालों की उन्होंने गाँठ बाँध रखी थी । बाकी बाल काटकर छोटे कर दिये गये थे । इनके कारण देखने में वह चीनी जान पड़ते थे । ललाट के बीचों-बीच एक लाल रंग का पतला-सा तिलक लगा था । कनपटियों से नाक तक दो सफेद धारियां कहीं-कहीं से खिची हुई थीं, जा बीच से टूटी हुई थीं । इन तिलकों को देखकर मेरी उत्सुकता बढ़ी । वह लगभग ६० वर्ष के थे और बड़ी अच्छी अंग्रेज़ी बोलते थे, यद्यपि वह कभी भारत से बाहर नहीं गये थे ।

उन्होंने कहाः—"भारत एक महान् देश है; इसके कुछ निवासी अब भी वृक्षों पर रहते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन पर ऑक्सफोर्ड की शिक्षा और सभ्यता की छाप लगी है । यहाँ भिन्न-भिन्न जातियाँ और धर्म हैं जिन्हें एकता के सूत्र में बाँधने की आवश्यकता है; किन्तु अंग्रेजों ने जो एकता हमें दी है वह शासन सम्बन्धी ही है । वह शिखर से आरम्भ होती है और वहीं समाप्त हो जाती है । हमारे देश में उन्नति भी हुई है, किन्तु यह औरों ने अपने लाभ के लिए की ह और इससे हमें जो लाभ हुआ है वह नाममात्र है । उदाहरणार्थ, हमारी शिक्षा साहित्य-प्रधान रही है, क्योंकि पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी को और बाद में ब्रिटिश सरकार का दफ्तरों में काम करने के लिए क्लर्कों की आवश्यकता थी । परन्तु, जब इन पढ़े-लिखे आदमियों में से वे लोग, जिन्हें नौकरियाँ नहीं मिलतीं, राजनीति में पदार्पण करके सरकार को तंग करते हैं, तो अंग्रेज यह नहीं समझते कि इसका दायित्व स्वयं उन्हीं पर है ।"

मेरे कुछ कहे बिना ही वह धारा-प्रवाह बोलते रहे– "हिन्दुस्तान में

अंग्रेजों का रैन-बसेरा-सा है। जब वे यहाँ उद्योग स्थापित करते हैं तो उन्हें भारत के हितों की नहीं बल्कि अपने हितों की चिन्ता रहती है। हमारे शासकों के जीवन में भारत एक घटना मात्र है। वाइसराय की तरह वे यहाँ पाँच, दस या बीस वर्ष ठहरते हैं और खूब मौज़ उड़ाते हैं। यही कारण है कि भारत पिछड़ा हुआ है और आधुनिक संसार के अन्य राष्ट्रों के बीच उसका कोई स्थान नहीं।"

मांथे के तिलक के सम्बन्ध में मेरी उत्सुकता कम नहीं हुई थी। मैंने पूछा कि 'ये क्या है?' उन्होंने जवाब दिया :—"मैं ब्राह्मण हूँ। हिन्दू एक सामूहिक शब्द है। कुछ हिन्दू त्रिदेव के तीन स्वरूपों में से किसी एक के विशेष भक्त होते हैं। उन स्वरूपों में से एक विष्णु हैं, दूसरे शिव। इनमें से मेरे इष्टदेव विष्णु हैं और विष्णु के सभी अनुयायियों को ऐसा तिलक धारण करना चाहिए।"

"हमेशा?"

"हाँ," उन्होंने उत्तर दिया, "किन्तु दुर्भाग्य से बहुतों को इसमें लज्जा आती है।"

मैंने उनसे पूछा कि क्या आप अस्पृश्यता में विश्वास करते हैं।

"सवाल अस्पृश्यता में 'विश्वास' करने का नहीं है," वरदाचार्य ने निन्दा-भाव से कहा। "इसके आदि कारण को समझना आवश्यक है। यदि आप आत्मा के आवागमन में विश्वास करते हैं, तो आपको मालूम होना चाहिए कि यदि किसी आत्मा ने एक जन्म में कुकर्म किये हैं तो दूसरे जन्म में उसका हरिजन के घर में जन्म हो सकता है।"

मैंने कहा—"यह बात असभ्यता की सूचक है कि किसी शरीर को उसकी पूर्व जन्म की आत्मा द्वारा किये गये ऐसे कुकर्म के लिए दण्ड दिया जाय जिसका उत्तरदायी वर्त्तमान शरीर नहीं है।"

"आप सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से बात कर रहे हैं," उन्होंने प्रतिवाद करते हुए कहा। "यदि एक हरिजन लंदन में उच्च शिक्षा प्राप्त करके भारत वापिस आवे तो उसे आत्मिक अयोग्यता के अतिरिक्त और किसी अयोग्यता का कष्ट सहन नहीं करना पड़ेगा।"

"फिर भी" मैंने कहा "उनमें से अधिकांश इतने गरीब हैं कि वे लंदन जाने की कल्पना तक नहीं कर सकते।"

वह बोले—"रेलगाड़ी में आप नहीं जान सकते कि कौन हरिजन है और कौन नहीं। व्यावहारिक जीवन में अस्पृश्यता का प्रभाव स्वतः शिथिल

होता रहता है।"

कट्टर हिन्दू होते हुए भी वरदाचार्य ने अस्पृश्यता का समर्थन न करके वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में मेरी शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा ही की। अन्य दूसरे हिन्दुस्तानियों ने भी मुझे बताया कि शहरी जीवन में सवर्णों और हरिजनों के बीच का भेद-भाव कम हो जाता है।

एक और कृत्रिम विभाग ऐसा है जिसके कारण भारत की एकता का ह्रास हुआ है। वह हैं देशी रियासतें, जिन पर महाराजा राज्य करते हैं। चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों में से लगभग एक चौथाई इन रियासतों में रहते हैं, जिन पर प्रत्यक्ष रूप से तो भारतीय नरेशों का किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों का राज्य है। विस्तार में ये रियासतें एक दूसरे से भिन्न हैं— एक ओर तो हैदराबाद है जिसकी आबादी १,७०,००,००० है और दूसरी ओर छोटे-छोटे घटक हैं जिनकी जन-संख्या मुश्किल से दो चार सौ ही है। रियासतें देश भर में अनियमित रूप से इधर-उधर बिखरी हुई हैं। इनके निवासी भी भारत के अन्य भागों की तरह, विभिन्न जातियों और धर्मों के हैं।

सन् १९४२ में नरेन्द्र-मण्डल के चाँसलर बीकानेर नरेश थे। एक दिन बम्बई में जब मैं अपने होटल के कमरे में बैठा था, तो मेरे पास उनके सेक्रेटरी का फोन आया कि महाराजा साहब मुझसे मिलना चाहते हैं। मैंने भेंट के लिए प्रार्थना नहीं की थी। इसलिए मैं हैरान था कि वह मुझसे क्या बातें करना चाहते हैं। तभी-तभी मैं गाँधी जी के साथ एक सप्ताह रहकर लौटा था। बीकानेर नरेश यह जानना चाहते थे कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के सम्बन्ध में गाँधी का क्या आयोजन है? क्या उन्हें वाइसराय और गांधी के बीच मध्यस्थता करने का काम नहीं सौंपा गया था?

जैसे ही मैं महाराजा के बम्बई-स्थित महल की डयोढ़ी में पहुंचा वैसे ही सफेद वरदी पहने हुए भूरे रंग के दरबान एकदम सीधे खड़े होगये। एक सेक्रेटरी तुरन्त ही मुझे महाराजा के गोल कमरे में ले गया। महाराजा वहां खड़े थे। वह अत्यंत ओजस्वी प्रतीत होते थे, उनका सिर विशेष रूप से सुन्दर था। वह सफेद सूट और हलके पीले रंग की कमीज पहने हुए थे। गला ऊपर से खुला था। भीतर से हलके पीले रंग का बनियान भी दिखाई देता था। उनकी घनी मूंछ अधपकी और उमेठी हुई थीं। उनकी घनी भौंहें प्रायः बिलकुल काली थीं, किन्तु उनके सुन्दर सिर के बाल पूर्णतः सफ़ेद थे। उनके कानों पर लम्बे-लम्बे काले बाल खड़े थे।

महाराजा की आवाज़ कुछ भारी सी थी। उन्होंने बताया कि वह

बम्बई गले के आपरेशन के लिए आये थे। "कोई एसी गम्भीर बात नहीं," वह बोले, "गले के अन्दर एक नस फूल गई है; इसे काट दिया जायगा और फिर सब ठीक हो जायगा।" (गले के फोड़े के कारण ही कुछ मास बाद उनकी मृत्यु हो गई)। वह विशुद्ध अंग्रेजी बोलते थे और उनका उच्चारण भी अंग्रेजी ढंग का था।

महाराजा का पहला प्रश्न यह था :—"कहिये, महात्माजी ने आपसे क्या कहा ?"

सात दिन की बात को मैंने यों संक्षेप में बताया:—"गांधी अधीर हैं और परिवर्तन चाहते हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ा है कि भारत अंग्रेजों का बड़ा कट्टर विरोधी है।"

महाराजा ने कहा—"ब्रिटिश भारत तो पूर्ण रूप से अंग्रेजों का विरोधी है। आम तौर से यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज अपने को हिन्दुस्तानियों से बिलकुल अलग रखते हैं। क्या आप जानते हैं कि यहाँ ऐसे कई क्लब हैं जिनमें हिन्दुस्तानी शामिल नहीं हो सकते। 'याच क्लब' हीं उन में से एक है। इन क्लब वालों ने मुझसे एक बार कहा—"अगर श्रीमन्त चाहें तो इसमें शामिल हो सकते हैं।" मैंने जवाब दिया —"नहीं, धन्यवाद, मैं बकिंघम पैलेस में आपके सम्राट् के साथ भोजन कर चुका हूं और मुझे आपके क्लब की आवश्यकता नहीं।"

"क्या आप का खयाल है कि अंग्रेज़ यहाँ सदा के लिए ठहर सकते हैं ?" मैंने पूछा।

महाराजा बोले—"ब्रिटेन नें रियासतों को कई वचन दे रखे हैं और वह उन्हें तोड़ नहीं सकता।"

मैंने महाराजा से कहा—"अभी-अभी जब मैं हैदराबाद में था तो मैंने उन सब संधियों के विवरण पढ़े जो १७ वीं शताब्दी से लेकर अब तक अंग्रेज़ों नें मैसूर और हैदराबाद की रियासतों के साथ की हैं। मेरा विचार है कि ये सब संधियाँ ब्रिटिश सरकार द्वारा रियासतों पर लादी गई हैं और अब अंग्रेज़ बहाना बना रहे हैं कि वे इन्हें तोड़ नहीं सकते।"

बीकानेर-नरेश हँस कर बोले—"ठीक है, मैसूर कोई महत्वपूर्ण रियासत नहीं है। रहा हैदराबाद, सो उसकी बात अलग है। क्योंकि वहाँ एक मुसलमान नरेश हिन्दू बहुमत पर राज करता है। आपको अपनी संधि दिखाऊंगा।" उन्होंने घंटी बजाई और नारंगी रंग का पगड़ बाँधे हुए आदमी अन्दर आया। उससे महाराजा ने प्राइवेट सेक्रेटरी को भेजने को कहा। एक

मिनिट बाद किसी ने दरवाजा खटखटाया। अपने को बोलने से बचाये रखने के लिए महाराजा ने सीटी बजाई और सेक्रेटरी अन्दर आ गया। महाराजा ने उस से अंग्रेजी में बात की। सेक्रेटरी उसी समय चला गया और थोड़ी देर बाद ही दोनों तरफ से छपा हुआ एक काग़ज़ लेकर वापस आगया। महाराजा ने वह काग़ज़ मुझे दे दिया। महाराजा चुपचाप बैठे रहे और मैं उसे धीरे-धीरे पढ़ने लगा।

उसे पढ़ चुकने के बाद मैंने कहा—"इस संधि में दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—"अधीन और सहयोग"। "आप अधीन हैं और अंग्रेजों से सहयोग करना आपके लिए आवश्यक है।"

संधि पर ९ मार्च, १९१८ दिल्ली की तारीख़ पड़ी थी। धारा ३ में लिखा था :

"महाराजा सूरतसिंह और उनके उत्तराधिकारी अधीन सहयोग के आधार पर ब्रिटिश सरकार से व्यवहार करेंगे और उसकी उच्च सत्ता को स्वीकार करेंगें और किसी अन्य सरदार या रियासत से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखेंगे।"

"ठीक है," महाराजा ने कहा "फिर भी यह एक अच्छी संधि है।" उन्होंने भारी लाल पेंसिल उठाई और धारा १ पर निशान लगाते हुए कहा, "यह अच्छी धारा है"। इसी प्रकार धारा २ और ९ पर लगाते हुए उन्हें अच्छा बताया। धारा १ में मैत्री-सम्बन्धा भूमिका है। संक्षेप में, धारा २ में लिखा है—"ब्रिटिश सरकार बीकानेर राज्य और उसकी सीमाओं की सुरक्षा करने का वचन देती है।" सम्पूर्ण धारा ९ इस प्रकार है—"महाराजा और उनके उत्तराधिकारी अपने प्रदेश के एकाधिकारी शासक होंगे और उनकी भूमि में अंग्रेजी सत्ताधिकार लागू नहीं किये जायंग।"

महाराजा ने कहा—"हमने इस संधि की शर्तों को अक्षरशः पूरा किया है और ब्रिटिश सरकार को सैनिक सहायता दी है। सम्राट् के लिए मैं स्वयं रणभूमि में लड़ा हूँ।"

मैंने कहा—"गांधी ने मुझे बताया था कि यदि अंग्रेज शासन-सत्ता भारतीयों को सौंपना स्वीकार कर लें तो तत्काल ही एक अस्थायी सरकार स्थापति कर दी जायगी, जिसमें मुसलमानों, नरेशों और हिन्दुओं के प्रतिनिधि होंगे।"

"ऐसी सरकार से भी हम उसी सुरक्षा की आशा करेंगे जो इस सम हमें ब्रिटिश सरकार से मिलती है" महाराजा ने उत्तर दिया।

मैंने पूछा—"किन्तु क्या आप समझते हैं कि इस प्रकार की दो भिन्न-भिन्न शासन प्रणालियों का साथ-साथ जीवित रहना सम्भव है ?"

"क्यों नहीं ?" उन्होंने चकित होकर पूछा। मैंने कहा—"राष्ट्रीय सरकार व्यापक मताधिकार आरम्भ करेगी और अन्य जनतंत्री सुधार भी करेगा।"

इस पर वह बोले—"मैं एक स्वतंत्र शासक हूँ। किन्तु मेरी प्रजा ब्रिटिश भारत की प्रजा से अधिक सुखी है। आप एक बार बीकानेर अवश्य आयें। हिन्दुस्तान के कई सर्वोत्तम अस्पताल बीकानेर में हैं। उनमें से एक अस्पताल एक जर्मन यहूदी शरणार्थी के अधीन है। हमारी रियासत में सुन्दर सड़कें और स्कूल हैं। मैं अपनी प्रजा से अच्छा व्यवहार करता हूँ। हाँ, वे लोग ब्रिटिश भारत के लोगों की अपेक्षा पिछड़े हुए अवश्य हैं और जनतंत्र के लिए परिपक्व नहीं हैं।" मैंने पूछा– "क्या आपके यहाँ भी हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव होते हैं"।

"सदियों से हमारे यहाँ कभी उपद्रव नहीं हुए," वह बोले "किन्तु अब यह रोग ब्रिटिश भारत से रियासतों में भी आ रहा है। हमारी रियासत के उत्तरी भाग में मुल्ला लोग आगये हैं। जो हमारे मुसलमानों को बहकाते हैं कि उन्हें हिन्दुओं से कोई वास्ता नहीं रखना चाहिए। मैं आपसे स्पष्ट शब्दों में बात कर रहा हूँ और मेरा विश्वास है कि जब भी कहीं उपद्रव होता है तो उसे आरम्भ करने वाला प्रायः मुसलमान होता है। जिन्ना साहब गन्दे और गर्हित व्यक्ति हैं। मैं आपको उनके निजी जीवन के बारे में कुछ बातें बताऊँगा। जब वह युवक थे तो उनका एक पारसी के घर में आना-जाना शुरू हो गया। उनका नाम ठीक से याद नहीं, लेकिन सर पेटिट था। उनके घर में जिन्ना का पुत्र के समान आदर होता था। उन्होंने उस पारसी की पुत्री से प्रेम करना आरम्भ किया और उससे विवाह कर लिया। अब आप स्वयं देखिये कि जब किसी घराने में पुत्र की भाँति आपसे व्यवहार किया जाय तो क्या आपको उसी घर की लड़की से प्रेम करने लगना शोभा देगा ? यह विवाह सुखद नहीं था। उस लड़की ने अब अपने पिता को छोड़ दिया है और एक पारसी से विवाह कर लिया है जो हाल ही में ईसाई हो गया है। जीवन की यही विडम्बना है।"

मैंने महाराजा से जिन्ना के पाकिस्तान के बारे में पूछा। समस्या का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए उन्होंने कहा कि पाकिस्तान व्यावहारिक योजना नहीं है और मुसलमान वास्तव में इसे नहीं चाहते। उन्होंने अपना मत प्रकट करते हुए यह भी कहा—"पाकिस्तान से हिन्दुस्तान का विभाजन हो जायगा।

यह सारा झगड़ा आगाखां की ग़लती से शुरू हुआ था, जो ब्रिटिश वाइसराय लार्ड मिन्टो से मिलने वाले मुस्लिम शिष्टमण्डल के नेता थे। [यह भेंट १ अक्तूबर १९०६ में हुई थी] आगाखां ने आग्रह किया था कि भारत में धार्मिक आचार पर पृथक् निर्वाचन-पद्धति चालू की जाय।"

मैंने पूछा—"मगर अंग्रेज़ों ने यह प्रार्थना क्यों स्वीकार कर ली ?"

महाराजा बोले— "शिष्टमण्डल की भेंट को सरकार की ही प्रेरणा से किया गया एक कार्य कहा गया है। अंग्रेज ही ऐसा चाहते थे। साम्राज्य में अक्सर ऐसी ही कूटनीतिज्ञता से काम लिया जाता है। 'दो दलों को परस्पर लड़ाकर उन पर शासन करो।"

मुलाकात करते मुझे एक घंटा हो चुका था। महाराजा ने घंटी बजाई और सेक्रेटरी से मेरे लिए बीकानेर-सम्बंधी पुस्तक लाने को कहा। जब हम पुस्तक की प्रतीक्षा कर रहे थे, महाराजा बोले— "बातचीत बड़ी अच्छी रही, मुझे खुशी है कि आपने आने का कष्ट किया। किन्तु वास्तव में, मैं "लाइफ एंड टाइम" वाले बिल फ़िशर की प्रतीक्षा में था। उनसे मैं कई बार पहले मिल चुका हूँ।" इस पर हम दोनों खूब खिलखिलाकर हँसे। यह महाराजा के सेक्रेटरी की ग़लती थी।

"आइये ज़रा वर्षा ऋतु का दृश्य देखें" महाराजा ने कहा। समुद्र के ऊपर आकाश में काले-काले बादल छाये हुए थे। वह मुझे अपने उद्यान के लम्बे-चौड़े लॉन में ले गये जहाँ बहुत बड़ा नीला कालीन बिछा था। कालीन के बीच में बेंत की कुरसियाँ रखी थीं। उद्यान के अन्त में एक दीवार थी। नीचे चट्टानी समुद्र-तट था। समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरें दीवार से टकरा रही थीं और उसके छींटे हमारी ओर आ रहे थे। काले बादलों में गड़गड़ाहट हो रही थी। वर्षा होने ही वाली थी। महाराजा ने दो महिलाओं से मेरा परिचय कराया, जो दीवार के पास खड़ी थीं। वहाँ से हम सब प्रकृति का वह खेल देखते रहे। एक महिला तो भारतीय डाक्टर थीं और बीकानेर के एक अस्पताल में काम करती थीं; और दूसरी हंगेरियन यहूदिन थीं। उनके बाल सफेद थे और वह महाराजा के तीन सुन्दर पोतों की 'गवर्नेस' थीं, जिन्होंने उसी समय बाबा के स्वागत के लिए एक खिड़की से अपने चमकते हुए आकर्षक चेहरे बाहर निकाले थे।

महाराजा ने मुझे जो पुस्तक दी उसका नाम था—"बीकानेर की प्रगति के चार दशक"। यह बीकानेर दरबार का सरकारी प्रकाशन था और सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ था। बीकानेर का क्षेत्रफल २३,३१७ वर्ग मील है,

बेल्जियम और हालैण्ड के सम्मिलित क्षेत्रफल से कुछ ही छोटा। बीकानेर में कोई नदी नहीं है। सन् १९०१ में वहाँ की जन-संख्या ५,८४,७५५ थी और १९३१ में ९,३६,२१८ हो गई। बीकानेर नगर (राजधानी) की जन-संख्या ८५,९२७ है। रियासत में हिन्दुओं की संख्या ७,२५,०८४, मुसलमानों की १,४१,५७८, सिखों की ४०,४६९ और जैनियों की २८,७३३ है। रियासत की सबसे बड़ी आवश्यकता पानी है। वहाँ की खेती वर्षा पर निर्भर है, जो कभी नहीं भी होती। वहाँ कई भयंकर अकाल पड़ चुके हैं।

बीकानेर के महाराजा ने ४४ वर्ष शासन किया। वर्साई की शान्ति-संधि पर उनके भी हस्ताक्षर हैं। मध्य-कालीन भारत की वे एक विभूति थे।

नरेश जानते हैं कि आजकल संसार में और भारत में एक नई हवा चल रही है। प्रसिद्ध कवयित्री और स्वतंत्रता की अथक समर्थक श्रीमती सरोजिनी नायडू ने मुझे बताया कि कई भारतीय नरेश गोपनीय रूप से कांग्रेस-दल के सम्पर्क में हैं। नरेन्द्र मण्डल के एक सेक्रेटरी ने मुझसे कहा—"रियासतें भारत के लिए "अलस्टर" सिद्ध नहीं होंगी", अर्थात् वे इंग्लैण्ड को स्वतंत्र भारत से अच्छा नहीं समझेंगी। नरेश अब धीरे-धीरे अपने आपको इस परिवर्तन के अनुकूल बना रहे हैं। उदारतम नरेशों में इन्दौर के महाराजा हैं।

एक दिन अमरीका सेना के जनरल ऐडलर शिकार के लिए इन्दौर के महाराजा के महल पर पहुँचे। कुछ दिन बाद, ३० मई १९४२ को समाचार-पत्रों ने महाराजा इन्दौर द्वारा लिखित प्रेजिडेन्ट रूज़वेल्ट के नाम एक "खुला पत्र" प्रकाशित किया। इस पत्र में महाराजा ने रूज़वेल्ट से भारत और ब्रिटेन के झगड़े में बीच-बचाव करने को कहा था। उन्होंने लिखा था—"भारत विभाजित और असन्तुष्ट है।"

महाराजा ने यह भी लिखा था—"नरेश तो मैं केवल अपने जन्म के संयोग से हूं। जहाँ तक मेरे निजी विश्वास का प्रश्न है मैं अन्तर्राष्ट्रीयता और जनतंत्र का समर्थक हूँ।"

ऐसा पत्र लिखने के लिए वाइसराय ने तुरन्त ही महाराजा इंदौर को डांट-फटकार बताई। उनके द्वारा किये गये पापों में एक यह भी था कि उन्होंने अपनी रियासत को आधुनिक, जनतंत्री विधान देना स्वीकार कर लिया था।

भारत की रियासतें मध्यकालीन विचार-धारा के गढ़ हैं। अपने-आप को बनाये रखने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद इस दक़ियानूसी संस्था को क़ायम रखने के लिए बाध्य है। रियासतें १६ वीं शताब्दी की प्रतीक हैं और उनका काम २० वीं शताब्दी को पीछे खींच रखना है।

भारतीय रियासतों को हम साम्राज्यवाद की सब से अधिक विचक्षण युक्ति कह सकते हैं। इन रियासतों का वास्तविक उद्देश्य क्या है; इस सम्बन्ध में मेरे पास अंग्रेज़ अधिकारियों द्वारा घोषित की गई कम-से-कम ६ विभिन्न नीतियों के वक्तव्य हैं। उनमें से मैं दो को यहाँ उद्धृत करता हूँ। प्रोफेसर रशब्रुक बिलियम्स ने, जिन्होंने प्रायः अंग्रेजों और नरेशों के बीच सरकारा शृंखला का काम किया है, २८ मई १९३० के "ईवनिंग स्टैंडर्ड" नामक लंदन के पत्र में लिखा था—"ब्रिटिश भारत के अन्दर-बाहर फली हुई ये सामंत रियासतें सुरक्षा की दृष्टि से बड़ी उपयोगी हैं। इन्हें हम संदिग्ध भूमि में फैलाये गये मैत्रीपूर्ण दुर्गों का जाल कह सकते हैं। इन स्वामीभक्त रियासतों के कारण भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध साधारण विद्रोह का सफल होना बहुत कठिन होगा।"

भारत के वाइसराय, लार्ड कैनिंग ने ३० अप्रैल १८६० को कहा था—"सर जॉन मैल्कम बहुत पहले ही कह चुके हैं कि यदि हम सारे भारत को अंग्रेज़ी जिलों में ही बांट देंगे, तो इस बात की सम्भावना नहीं कि हमारा साम्राज्य ५० वर्ष से अधिक तक चल सकेगा। किन्तु यदि हम बहुत-सी रियासतें कायम कर दें, उन्हें राजनीतिक अधिकार से वंचित रखें और उनसे केवल शाही अस्त्र के तौर पर काम लें, तो हम भारत में तब तक रह सकेंगे जब तक हमारी जलसेना का प्रभुत्व अक्षुण्ण रहेगा। इस सम्मति के आधारभूत सत्य में मुझे बिलकुल सन्देह नहीं और हाल ही की घटनाओं ने यह विषय हमारे लिए इतना विचारणीय बना दिया है जितना पहले कभी नहीं था।" "हाल की घटनाओं" का अभिप्राय १८५७ के विप्लव से था।

इंग्लैण्ड के विकसित जनतंत्र का ज्ञान रखने वाले न्याय-प्रिय व्यक्तियों के लिए यह विश्वास करना निस्सन्देह बड़ा कठिन है कि उपनिवेशों पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए अंग्रेज अनेक सद्भावनाओं को उठाकर ताक पर रख देते हैं और जनता के धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक मतभेदों को उत्तेजित कर उनसे लाभ उठाते हैं। किन्तु थल और जल सेनाओं तथा एक छोटे शासन-यंत्र द्वारा ४० करोड़ आदमियों पर राज्य करना आसान काम नहीं। हिन्दुस्तानियों में आत्म-प्रतिपादन की उठती हुई भावना के कारण यह काम और भी कठिन है। इसलिए जहाँ से भी सम्भव होता है अंग्रेजों को हिन्दुस्तानियों का समर्थन प्राप्त करना ही पड़ता है। यह समर्थन उन्हें कठपुतली महाराजाओं से मिलता है। युद्ध के दिनों में यह समर्थन उन्हें कम्युनिस्टों से भी मिला, जो सरकार से आर्थिक सहायता लेते थे और जिनका दल भारत

का एक मात्र युद्ध-समर्थक दल था। अपनी स्थिति दृढ़ बनाने के लिए वे हिन्दू-मुस्लिम और हिन्दू-हरिजन भेद-भावों से लाभ उठाते हैं। वे शासन कर रहे हैं क्योंकि वे हिन्दुस्तानियों में फूट डाल सकते हैं। यदि ४० करोड़ हिन्दुस्तानी खुशहाल हों, शिक्षित हों और एकता के सूत्र में बंधे हों तो उन्हें शीघ्र ही ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्त होने के साधन मालूम हो जायं। यही कारण है कि भारत में अंग्रेजों का प्रधान लक्ष्य यह कभी नहीं रहा कि देश सम्पन्न बनें, सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नति करे, अथवा एकता के सूत्र में बँधे।

निश्चय ही अंग्रेजों ने भारत में रेलें, सिंचाई की प्रणालियां, बिजली, स्वास्थ्य-व्यवस्था इत्यादि जारी की हैं। आखिर यह बीसवां सदी है। फिर भी मध्य-कालीन सदियों का वातावरण सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी तक सुरक्षित रखा गया है और आगे बढ़ने की गति को मन्दतम रखने की चेष्टा की जा रही है।

नये युग का आह्वान ही भारत के विद्रोह का कारण है।

यह कोई नहीं कहता कि स्वाधीनता से भारत की सब समस्याएं हल हो जायंगी। उससे तो नई समस्याएं पैदा होंगी। स्वतंत्रता तो केवल समस्याओं के समाधान का द्वार खोल देती है।

स्वाधीनता के समय कैसी परिस्थितियाँ होंगी इसकी जानकारी पराधीनता-कालीन परिस्थितियों में नहीं होती। मनुष्य में जो कुछ भी अच्छा है या हो सकता है वह पराधीनता और स्वाधीनता के अन्तर में निहित है। स्वाधीनता की उपादेयता को स्वाधीन रहकर ही जाना जा सकता है।

: ११ :

भारत में अंग्रेजी राज्य

प्राय: सभी भारतीयों की शिकायत थी कि वे हतोत्साह हैं। उधर अंग्रेज़ों का कहना था कि हिन्दुस्तानी उदार नहीं हैं। अंग्रेज़ों को यह दु:ख है कि भारत में उनके कार्यों को सराहा नहीं जाता। अनेक अंग्रेज़ अफ़सरों की यह दृढ़ धारणा है कि उन्होंने भारत की विशेष सेवा की है। परन्तु वे यह भी जानते हैं कि भारतीयों का इसके बारे में भिन्न मत है।

उन अंग्रेज़ परिवारों के सदस्यों ने, जिनके पूर्वज कई पीढ़ियों से भारत सरकार की सेवा करते आये हैं, मुझे बताया कि अब भारत सरकार की नौकरी में न उन्हें कोई संतोष अथवा प्रसन्नता प्रतीत होती है और न इसका भविष्य ही उन्हें उज्ज्वल दिखाई देता है। भारत के प्रतिकूल जलवायु में वर्षों कठोर श्रम करने के बाद जब अंग्रेज अफसर इंग्लेंड लौटता है तो वह स्वदेश में अपने को परदेशी-सा पाता है। और इस कठोर सेवा का पारिश्रमिक उसे मिलता है, अपने प्रति भारतीयों का बढ़ता हुआ द्वेष। भारत में अंग्रेज एक वैमनस्य के समुद्र के बीच अपने निजी छोटे से टापू में रह रहे हैं। उन्हें ऐश्वर्य और प्रभुता तो प्राप्त है, परन्तु वास्तविक संतोष एवं प्रसन्नता उन्हें नहीं मिल सकी।

अंग्रेज़ों का भारतीयों के साथ व्यवहार समानता का नहीं है। भारत सरकार के एक उच्च-पदाधिकारी अंग्रेज़ ने मुझे अपने घर खाने पर बुलाया, जिस पर तीन मुस्लिम भी आमंत्रित थे। वह रह-रहकर अपने भारतीय अतिथियों को कहता—"मि० फिशर को ज़रा बताइये कि भारत की क्या दुर्दशा होगी यदि अंग्रेज आज भारत छोड़ दें। तनिक इन्हें हिन्दू-मुस्लिम समस्या के बारे में तो बतायें"। तुरन्त मुझे घड़ा-घड़ाया उत्तर मिलता। भारत में प्रलय आजाएगी। हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे का गला काट डालेंगे। उसी दिन उनमें से एक सज्जन मुझे एकांत में फिर मिले। उन्होंने कहा—"मैं आपका दुबारा केवल यह बताने के लिए मिला हूं कि जो कुछ भी मैंने उस अंग्रेज़ अफसर के खाने

पर कहा था, उसमें मेरा स्वयं विश्वास नहीं है। ऐसे हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ों का अपने ऊपर आधिपत्य तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वे उन्हें अपने से श्रेष्ठतर मानने से इन्कार करते हैं। अंग्रेज़ इसे खूब समझते हैं, इसीलिए उन्हें अब हिन्दुस्तान में रहना नहीं भाता।"

गांधी की घास-फूंस की कुटिया में तीन हफ्ते रहकर मैं हैदराबायद के रेज़ीडेंट सर क्लाड गिडनी का मेहमान बना। एक सुन्दर पार्क में स्थित एक प्रासाद के दो कमरों में मैं ठहराया गया। लशकती सफ़ेद वरदी, रंगीन पेटी और सुन्दर मूंठ वाली कटार से लैस, नंगे पैर, गम्भीर दरबान मेरी सेवा में सदा हाजिर रहता। वह इतना खामोश रहता कि मुझे उसकी मौजूदगी का भी कई बार पता न चलता। प्रातः सवेरे, ज्योंही मेरी आंख खुलती, कहवा और फलों की छोटी हाजिरी वह मेरे सामने ला रखता। मेरे गुसल और कपड़ों की धुलाई का प्रबन्ध भी वही करता।

खाने के वक्त का काला सूट मैं नई दिल्ली में ही रख आया था। क्योंकि मेरे विचार से भारत की गरमियों में उसकी आवश्यकता न थी। हां, एक टाई मैं ज़रूर लाया था, परंतु वह सूटकेस में पड़ी रहती। हैदराबाद में पहली ही शाम को रेजीडेंट ने कॉकटेल और भोज का आयोजन किया। कॉकटेल पार्टी के बाद सर क्लाड रात के खाने की पोशाक पहनने के लिए मुझ से विदा हुए और मैं तथा लेडी गिडनी अकेले रह गये। अतिथि के मनोरंजनार्थ और बातचीत चलाने के लिए लेडीगिडनी ने अपनी बाबत मुझे सुनाना शुरू किया। वह सारे दिन सार्वजनिक कार्यों—विशेष कर ब्रिटिश सैनिकों की सहायतार्थ कार्यों में व्यस्त रहती थीं। साथ ही उन्हें भारतीयों को भी भोज देने पड़ते थे। वे कहने लगीं, भारतीयों को भी भोज देना ज़रा नाज़ुक मामला है। यदि कोई हिन्दुस्तानी किसी अंग्रेज़ के लंच (दिन का खाना) पर बुलाया जाय, तो अपने समुदाय में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। डिनर (रात का खाना) पर बुलाये जाने पर तो उसकी शान दुगुनी हो जाती है। अंग्रेज़ मेहमानों को स्वागत में दिये गए भोज में शामिल होने से तो हिन्दुस्तानी महाशय की न केवल प्रतिष्ठा में ही वृद्धि होती है, वरन् उसके निजी व्यापार में भी उन्नति की सम्भावना हो जाता है। हमें यह भी ध्यान रखना होता हैं कि अपने पुराने परिचित भारतीयों को समय-समय पर खाने पर बुलाते रहें। नहीं तो इसको हमारी अप्रसन्नता समझा जाता है, जिस के परिणाम-स्वरूप उस व्यक्ति की समाज में अवहेलना होती है।

जिस देश में महज़ खाने की दावत का इतना मूल्य पड़ता हो, वहां

सम्राट् अथवा वाइसराय पद, पदवी, नौकरी, जागीर, अथवा अन्य कृपायें करके अपने पिट्ठुओं तथा जी-हुजूरों का बहुत बड़ा वर्ग बहुत आसानी से तैयार कर सकते हैं। इतना ही नहीं, इस तरह अंग्रेजों के कृपापात्र बनने की होड़ उनमें संघर्ष और फूट का बीज भी बो देती है। परंतु राजनीतिक चेतना युक्त, स्वाभिमानी-भारतीयों में इन जी-हजूरों के प्रति केवल घृणा ही उत्पन्न होती है और ब्रिटिश सरकार के प्रति उनका अविश्वास और भी गहरा हो जाता है।

एक दोपहर, रेज़ीडेंट गिडनी के यहाँ नवाब कमालयार जंग खाने पर बुलाये गए। नवाब साहब देखते ही बनते थे। भद-भद मोटा शरीर, चमकीला भूरा चेहरा, सफ़ेद पोशाक और सिर पर बड़ी हैदराबादी पगड़ी। नवाब साहब कहने लगे—मेरी जागीर ३१७ वर्ग मील है और इसमें लगभग पौने दो करोड़ मनुष्य रहते हैं। हैदराबाद राज्य के लगभग ८० फ़ीसदी निवासी राज्य से असंतुष्ट हैं। भला, हमें अरक्षित छोड़कर अंग्रेज़ भारत से कैसे कूच कर सकते हैं ?

ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत में अत्यंत प्रतिक्रियागामी शक्तियों से अपना नाता जोड़ रखा है। मैंने सर आर्चिबाल्ड (अब लार्ड और वाइसराय) वेवल से पूछा : पर्ल हार्बर के पश्चात, प्रशांत क्षेत्र में अंग्रेज़ी की हार-पर-हार का क्या कारण था। "उन प्रदेशों में रहकर, जहाँ सदियों से सिवाय टीन की खान तथा रबड़ के बागीचों की देख-रेख के कोई काम ही न था, हम सुस्त और निकम्मे हो गए थे," उन्होंने उत्तर दिया।

वेवल सभ्य, सुसंस्कृत एवं सच्चे व्यक्ति हैं। उनसे मेरी पहली मुलाकात नई दिल्ली में उन्हीं के घर पर दिन के खाने के वक्त हुई थी। बहुत देर तक बातचीत के बाद, वह मुझे नाचे छोड़ने आये। सीढ़ियों में मैंने कहा—"आप बहुत थके जान पड़ते हैं।" तीनसाल से हार की लड़ाइयां लड़ते-लड़ते मैं थक गया हूँ" उन्होंने स्वीकार किया। फिर कहा, "रोमेल बहुत बड़ा सेनानायक है। मैंने उसका मुकाबला किया है। में उसके गुणों को खूब जानता हूँ।" मैं वेवल से चार बार मिला, और वह हर मुलाकात में रोमेल का जिक्र छेड़ देते थे।

वेवल की चाल को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों मनुष्य की टांगों के बल टेंक चल रहा हो। उनका चेहरा सिकुड़ा हुआ-सा लगता है जिस पर गहरी रेखाओं की स्पष्ट छाप है। उनकी बाईं आंख मुंदी हुई और ज्योतिविहीन है। उनके सिर के बाल घने और भूरे हैं। उनकी खाकी वरदी के बाईं

और छाती पर फौजी रिबन की पांच क़तारें भली लगती हैं। तीस साल हुए जब वे भारत में मामूली लेफ्टिनेंट की हैसियत से आये थे। १९४१ में भारतीय प्रधान सेनापति बनकर वे भारत वापिस आये। इससे पहले, वे कई देशों में घूम आये थे। वह रूस भी दो बार हो आये थे। पहली बार प्रथम युद्ध से पहले एक वर्ष वे वहां रहे थे और दूसरी बार उसी युद्ध के दौरान में ६ मास तक वे रूस में रहे थे। उन्होंने मुझे बताया कि रूसी बलिष्ठ और वीर्यवान लोग हैं, और प्रथम विश्व-युद्ध में, ज़ारशाही के मातहत भी लड़कर, उन्होंने राष्ट्रभक्ति का परिचय दिया था। वेवल १९३६ में श्वेत रूस में लालफौज की गतिविधि के प्रदर्शन के समय आमंत्रित थे और उन्होंने युद्ध-विभाग को अपनी रिपोर्ट में बताया था कि मार्शल टुखाचेवस्की की कमान में लाल फौज शीघ्र ही पकड़ जायगी।

एक बार मैं वेवल के साथ उनके भवन के बाग में टहल रहा था। वह आराम में थे। सहसा उनकी पुरानी स्मृतियां जाग उठीं और वे प्रथम युद्ध में काकेशिया के अपने संस्मरण मुझे सुनाने लगे। उन्हें कई रूसी मुहावरे याद हो आये। उन्होंने जार्जिया प्रदेश की एक वीर-कविता के सहसा कुछ टप्पे गुनगुनाने शुरू कर दिये।

वेवल का आदर्श वीर जनरल एलनवाई है, जो प्रथम युद्ध में उनके कमांडर थे। जिन दिनों मैं हिन्दुस्तान में था, वेवल एलनवाई की जीवन-कथा का दूसरा भाग समाप्त करने में जुटे हुए थे। उन्हें यह शिकायत थी कि उन दिनों उन्हें लिखने का अवकाश बहुत थोड़ा मिलता था। वे भी लेखकों की कमज़ोरी का शिकार होगए। उनसे रहा न गया और झट से दराज़ में से अपनी हस्त-लिपि निकाल उन्होंने मुझ से पूछा—आप इसे पढ़ना चाहेंगे? मैं इस असमाप्त पुस्तक का प्रथम भाग पढ़ने के लिए घर ले गया। मैंने उसे चाव से पढ़ा। उसमें एक पात्र बैनम ऐरिफ़ का चरित्र-चित्रण पढ़ने से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि जहाँ ब्रिटिश सेना को एक बड़ा सेनानी प्राप्त हुआ, वहां अंग्रेज़ी साहित्य नें एक मंजा हुआ लेखक खो दिया। उक्त पुस्तक में ऐलनवाई के सन् १९२२ में ब्रिटिश सरकार के साथ हुए संघर्ष की बड़ी ही रोचक और निष्पक्ष टीका-टिप्पणी की गई है। उन दिनों ऐलनवाई मिस्र में हाई कमिश्नर थे। वे मिस्र पर से ब्रिटिश संरक्षण उठाने के पक्ष में थे और ब्रिटिश सरकार मिस्र को आज़ाद करने में आनाकानी कर रही थी। एलनवाई अपने पक्ष की वकालत करने के लिए लंदन गये। प्रधान मंत्री लायड जार्ज, लार्ड मिलनर, लार्ड कर्ज़न, वस्तुतः सारा ही मंत्रि-मंडल एलनवाई का विरोध कर रहे थे। और वेवल

कहते हैं, सबसे अधिक और कटु विरोध उनका चर्चिल ने किया।

अंत में एलनवाई ने धमकी दी कि वे इस्तीफ़ा देकर ब्रिटिश जनमत से इस प्रश्न का निर्णय करायेंगे। उन दिनों एलनवाई की गुड्डी स्वदेश में बहुत चढ़ी हुई थी। फिलस्तीन और सीरिया में उनकी शानदार जीतों ने वास्तव मं प्रथम विश्व युद्ध में शत्रु (तुर्कों) को प्रबल आघात पहुंचाया था, जिसके कारण विजय बहुत निकट आ गई थी। ब्रिटिश सरकार ने, खुले आम में जीत के डर से, चुपचाप एलनवाई की बात मान ली।

ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के साथ हुए ऐलनवाई के इस संघर्ष का हाल पढ़ते समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यदि कभी वेवल को भी ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा, तो वे निश्चय ही अपने हीरो एलनवाई का अनुकरण करेंगे।

वह हस्तलिपि लौटाते समय मैंने वेवल को एक पत्र में कहा—"मेरे विचार में चर्चिल, लायडजार्ज, कर्जन आदि ने मिस्र की स्वतंत्रता का विरोध करते हुए ऐसी ही दलीलें दी होंगी, जैसी कि आजकल भारत की आज़ादी के विरोध में मैंने सुनी हैं। परंतु एलनवाई अपनी बात पर अड़े रहे और अंत में उनकी जीत हुई। आप ठीक कहते हैं, ऐलनवाई सच्चे थे और ब्रिटिश मंत्रि-मंडल का पक्ष ग़लत था। प्रायः सरकारें भूल में होती ही हैं। समस्त यूरोप का १९१९-१९३९ तक का इतिहास गलत नीतियों का इतिहास है। ब्रिटिश मंत्रि मंडल की हाल का भारत संबन्धी कार्रवाइयां उनकी बुद्धिमत्ता की सूचक नहीं हैं।"

वाद में जब वेवल को मैं फिर मिला तो मैंने एलनवाई के संघर्ष का इतना अच्छा और रोचक वर्णन देने के लिए उन्हें बधाई दी। वेवल बोले—वास्तव में यह राजनीतिक जीत एलनवाई की सेनानी विजयों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थी।

दूसरे दिन दुपहर मैं वेवल को फिर मिला और हम सूर्यास्त तक बात चीत करते रहे। हम एक ही डेस्क पर बैठे थे। मैंने उनकी मेज के एक खाने में छोटी काली जिल्द वाली बाइबल का एक प्रति देखी। वेवल ने मुझे मैथ्यू ऑरनेल्ड कवि की कविता भी सुनाई। उन्होंने एक कविताओं का संग्रह स्वयं भी प्रकाशित किया है। साथ ही वह ब्लाटिंग पर लाल पेंसिल से गोल चक्र बनाते रहे। फिर वह कहने लगे: "साम्राज्य ने हमें बोदा और सुस्त बना दिया है। इस युद्ध में ब्रिटेन को उपनिवेशों से बहुत कम सहायता मिली है, भारत में सैनिक या तो धन के लालच के भरती हो रहे हैं, या फिर अपनी प्राचीन परम्परा के कारण।"

वैवल में दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं कलाकार का विचित्र सामंजस्य पाया जाता है। वे निश्चय ही फाइलों में दबे रहने वाले नौकरशाही के पुतले मात्र नहीं हैं। लिनलिथगो १९४२ में रात में देर तक बैठे भारत के प्रत्येक ज़िले की रिपोर्ट पढ़ते रहते थे। वे भारत को दूरबीन की बजाय ख़ुर्दबीन से देखकर सन्तोष कर लेते थे।

लार्ड लिनलिथगो ने ४ जुलाई को अमेरिकन स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष में वाइसराय-भवन में एक भोज दिया। उस में भारतीय स्वतंत्रता के विरुद्ध अनेक दलीलें मेरे सुनने में आईं। जनरल विंटरटन, जो बर्मा में सर हेरेल्ड अलेक्ज़ेंडर के नीचे चीफ़-आव स्टाफ़ रह चुके थे, मुझ से बोले—परंतु, स्वतंत्र भारत अपनी रक्षा कैसे करेगा?

"क्या स्वतंत्र इंग्लैण्ड अपनी रक्षा कर सकता है?" मैंने प्रत्युत्तर में कहा।

यदि केवल उन देशों को स्वतंत्र होने का अधिकार है जो अकेले अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं, तो शायद ही कोई देश स्वतंत्रता का अधिकारी हो। स्वीडन, डेनमार्क, स्पेन, फ्रांस आदि अनेक देश तो निश्चय ही स्वतंत्रता के अनधिकारी रहेंगे। वास्तव में इस समय हमको एक ऐसे शक्ति संपन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है जो एक स्वतंत्र भारत, आज़ाद इंग्लैंड, स्वाधीन रूस एवं सब स्वतंत्र राष्ट्रों की रक्षा करने में समर्थ हो सके। अबल व्यक्ति और अबल राष्ट्र समाज के लिए कई बार अधिक लाभदायक प्रमाणित होते हैं और विजेता अथवा गुंडे की बजाय वे संरक्षण के अधिक अधिकारी होते हैं।

उसी दिन शाम को लिनलिथगो की सुंदर पत्नी ने मुझे बातचीत के लिए बुलाया। उन्होंने मौसम का ज़िक्र छेड़ कर बातचीत आरंभ की। उस शाम गरमी का तापमान ११० था और हमारे शरीरों से पसीना चू रहा था—पर थोड़ी ही देर में हम राजनीति में प्रवेश कर गए। वाइसरीन ने कहा—पर, क्या हिन्दुस्तानी वास्तव में स्व-शासन के योग्य हैं?

"आज तो आपका यह प्रश्न विचित्र-सा लग रहा है" मैंने उत्तर दिया। "सन् १७७६ में ब्रिटिश टोरियों ने यही प्रश्न अमेरिका के १३ उपनिवेशों के सम्बन्ध में किया था।"

भारत में अंग्रेज़ कह रहे हैं कि ब्रिटेन भारत छोड़ रहा है। वाइसराय की शासन परिषद् के गृह-सदस्य सर रेजीनॉल्ड मैक्सवल ने मुझे अपने घर खाने पर बुलाया। उन्होंने कहा—ब्रिटेन भारत पर से अपना शासन हटा रहा है। मेरे विचार में युद्ध के दो साल बाद ब्रिटेन भारत छोड़ देगा। हमने निश्चित

समय नहीं घोषित किया है। मेरे विचार में यही हमारी भूल है।

"आप अच्छी तरह समझते होंगे," एक बार मैंने जनरल वेवल से कहा, "भारत का वर्त्तमान राज्य ५ या १० वर्ष से अधिक नहीं रह सकता।"

"बिलकुल ठीक" वेवल ने जोरदार समर्थन किया। जब मैं वाइसराय से पुनः मिला तो वे मुझ से बोले: "हम भारत में अधिक देर न ठहरेंगे। कांग्रेस इस पर विश्वास नहीं करती है।" कांग्रेस और बहुत से हिन्दुस्तानियों के अविश्वास का कारण यह था कि यद्यपि अंग्रेज़ भारत छोड़ने की घोषणा तो करते हैं, लेकिन वे अपनी दलीलें ठहरने के पक्ष में ही देते हैं।

जहां तक मुझे स्मरण है शायद ही भारत में किसी अंग्रेज अफसर ने अथवा इंग्लैण्ड में अनुदार दल के व्यक्ति ने भारत की स्वतंत्रता का समर्थन किया हो। बात इसके विपरीत ही हुई है। भारत से बाहर अमेरिका में अंग्रेज़ों ने लाखों रुपये भारतीय स्वतंत्रता के विरुद्ध आंदोलन करने में खर्च किये हैं। इसीलिए भारतीयों को अंग्रेज़ों के वचन पर विश्वास नहीं रहा।

भारतीय अंग्रेजों का परस्पर अविश्वास भारत की वर्त्तमान स्थिति का आधार-भूत सत्य है। सर रेजीनॉल्ड डॉरमन स्मिथ सन् १९४२ में बर्मा के गर्वनर थे जब कि वह देश जापानियों के हाथ चला गया। "एशियाटिक रिव्यू क्वार्टरला" के जनवरी १९४४ के अंक में एक लेख द्वारा उन्होंने पूर्वी एशिया में ब्रिटेन के पतन के कारणों पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं– "पूर्वी एशिया में न हमारे वचन और न ही हमारी मंशाओं पर अब किसी को विश्वास रहा है, यह मैं निश्चय से कह सकता हूं। इसका कारण स्पष्ट है। हमने बर्मा आदि देशों को राजनीतिक प्रस्तावों और वादों के सहारे इतना देर तक रखा है कि अब ये देश राजनीतिक सुझावों और गुरों के नाम से चिढ़ते है, और वे इन्हें हमारी आना-कानी का लक्षण मानते हैं। हमारे राजनीतिक गुर अथवा उनके हल हमारे शत्रु व मित्र दोनों को अचम्भे में डालने वाले होते हैं, क्योंकि उनका अर्थ लगाना मुश्किल नहीं है।

बर्मा को आजाद करने का हमने वचन दे दिया है। फिर भी सर हैरल्ड अलक्जेंडर ने, जो जापान के अधिकार में उतने समय तक बर्मा में ब्रिटिश सेनापति थे, ३१ मई सन् १९४२ को नई दिल्ली में एक सम्मेलन में कहा–"हमें बर्मा वापिस लेना होगा। यह देश तो ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग है।"

बर्मा स्वतंत्र होगा–बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग रहेगा। इन दोनों में से हम किस बात को मानें? सर रेजीनॉल्ड इन दोनों विकल्पों में उलझे हुए हैं, वे लिखते हैं– ब्रिटेन बर्मा को पूर्ण-स्वतंत्रता की ओर ले जाने के लिए

वचन-बद्ध है। अतः हमारा ध्येय बर्मा में ऐसी नीति बर्तना होना चाहिये, जिसके कारण बर्मा साम्राज्य से निकलना ही न चाहे।

'स्वतंत्रता' शब्द की व्याख्या करके सर रेजीनॉल्ड लिखते हैं— हमें स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ समझने चाहिएं। मुझे भय है कि हम कहीं भूल न जायं कि विभिन्न लोग स्वतंत्रता का तात्पर्य भिन्न समझते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि हम भी बर्मियों को साफ-साफ बतादें कि स्वतंत्रता का अर्थ हम क्या लगाते हैं ?

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के शब्द-कोष में स्वतंत्रता का अर्थ साम्राज्यान्तर्गत रखना ही है।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये और चर्चिल सरकार की ओर से उन्होंने भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव रखा। भारतीय उपनिवेश, यदि चाहे, तो उसका सबसे पहला काम अपने-आपको ब्रिटिश-साम्राज्य से बाहर निकालना हो सकता है, ऐसा उन्होंने कहा। यह मार्च १९४२ की बात है। परन्तु नवम्बर १९४२ में चर्चिल ने कहा : "मैं सम्राट् का प्रधान मंत्री इस लिए नहीं हुआ हूं कि मेरे अधिकार-काल में ब्रिटिश-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाय।" प्रकट है, उनका संकेत भारत की ओर था। चुनांचि, जब अंग्रेज भारत से निकलने की बात करने लगे, तो भारतीयों का उनके प्रति संदेह स्वाभाविक था।

चीनियों की एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है—वस्तुओं को उनके ठीक नाम से पुकारना बुद्धिमानी का प्रथम लक्षण है।

आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, न्यूज़ीलैंड और आयरलैंड ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहते हुए भी स्वतंत्र हैं। यह द्वितीय विश्व-युद्ध ने प्रामाणित कर दिया है। आयरलैंड युद्ध में शामिल नहीं हुआ। दूसरे चार उपनिवेश स्वेच्छा से ब्रिटिश साम्राज्य के साथ कंधे-से-कंधा भिड़ाकर लड़े, वीरता से शत्रु से भिड़े। बीसवीं सदी का यह एक राजनीतिक चमत्कार है।

परन्तु, भारत का इंग्लैण्ड के प्रति दूसरा ही रुख है। अंग्रेज़ों के कारनामों के कारण भारतीयों को उनसे तनिक भी प्रेम नहीं है। अंग्रेज इसे अच्छी तरह समझते हैं। ब्रिटिश राज्य के इतिहास ने भारतीयों में इंग्लैण्ड से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न कर दी है।

इसके अतिरिक्त कुछ यह भी बात है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वर्ण-भेद का प्रश्न मुख्य सामाजिक प्रश्न बन जायगा। संसार में गोरों से अधिक रंगदार ज़ातियां हैं। और यह बहुमत, पीड़ित-वर्ग है। अब ये जातियां

श्वेतांग महाप्रभुओं का भार उठाते-उठाते थक गई हैं। वे गोरी जातियों के विज्ञान, शिल्प और भौतिक उन्नति के आगे सिर झुकाती हैं। परन्तु अंग्रेज़ की राजनीति एवं सार्वजनिक नैतिकता के लिए उनके दिल में तनिक भी श्रद्धा नहीं हैं। वे अंग्रेज़ों का सैनिक योग्यता की कायल हैं, परन्तु उनका शांति-स्थापन सम्बन्धी योग्यता में उन्हें विश्वास नहीं है।

पश्चिम का आदमी अब एशिया में केवल मित्र बनकर रह सकता है। वह अब एशिया में शासन नहीं कर सकेगा। चीन और भारत, जो शायद ही पहले एक-दूसरे के परिचित रहे हों, अब घनिष्ठ पड़ोसी बन रहे हैं। आगामी ५० वर्षों में एशिया का सरदार चीन या भारत होगा। रंगीन जातियों की संख्या अरबों से ऊपर है। "एशिया एशियावासियों के लिए" यह नारा साम्राज्य-वादी जापान ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रचारित किया था। यदि एशियावासियों ने गोरे-साम्राज्यों का अंत करने के लिए इस नारे का आश्रय लिया, तब तो स्थिति भयंकर हो जायगी।

पूर्व का प्रेम पश्चिम के प्रति विपरीतानुपात से उतना ही कम है जितना पश्चिम ने पूर्व के साथ अधिक अत्याचार किया है।

गोरा अपने प्रभुत्व का इतना आदा होगया है कि उसे यह खयाल ही नहीं होता कि उसका आधिपत्य दूसरों को अखरता है।

अंग्रेज कहते हैं— भारतीय स्वराज्य के अयोग्य हैं। भारतीय कहते हैं— अंग्रेज़ संसार पर शासन के अयोग्य हैं। तनिक दो विश्व-युद्धों और उनके परिणामों—अशांति, उच्छृंखलता, अव्यवस्था, दुःख और तानाशाहों की ताण्डवता का मुलाहज़ा कीजिये।

भारतीयों का कहना है कि ब्रिटेन भारत पर शासन करने के अयोग्य है। इंग्लैण्ड भारत म डंडे के बल से शांति तो कायम रख सकता है, परन्तु भारतवासियों के लिए भोजन, वस्त्र, मकान एवं अन्य सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करने में असमर्थ है। बार-बार पड़ने वाले अकाल अंग्रेजों की शासन-सम्बन्धी अयोग्यता के प्रमाण हैं। १९४३ के बंगाल दुर्भिक्ष ने भारतीयों को विशेषत: क्षुब्ध किया। उस अन्न-संकट में क़राब ३० लाख मनुष्य मौत के शिकार होगये। किसी का भी अंदाज़ १०लाख मौतों से कम नहीं है। भारत में प्रति वर्ष १२।। करोड़ आदमी मलेरिया के शिकार होते हैं। अन्य कारणों से एक लाख मौतें हो जाती हैं। ये अंग्रेजों की शासन-सम्बन्धी योग्यता के प्रमाण नहीं हैं। १९४१ की जन-संख्या के अनुसार भारत में कुल १३½ प्रतिशत साक्षर हैं, जब कि 'साक्षरता' से तात्पर्य केवल मामूली पढ़ लेने की योग्यतामात्र है। यह

भी सुशासन का प्रमाण नहीं है। औद्योगिक निश्चलता, अन्यायपूर्ण जमींदारी व्यवस्था और चिरकाल तक विदेशी सत्ता के अधिकार में रहने के कारण नैतिक ह्रास (हम भारत में विजेता के रूप में हैं, ऐसा मुझे लार्ड लिनलिथगो ने कहा था) से भारतीय अत्यधिक क्षुब्ध और अंग्रेजों के प्रति अत्यन्त असहिष्णु (कभी-कभी तो अकारण ही) होगये हैं। भारतीय स्थिति का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है।

भारत में आज अनेक सफल, प्रतिभाशाली और अनुभवी शासक, औद्योगिक महाजन, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, न्यायविशारद, शिक्षक एवं राजनीतिज्ञ मौजूद हैं। सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स का कहना है कि वाइसराय का विश्वास है कि भारतीय अपने राज्य की बागडोर संभालने योग्य हैं। "न्याय और अधिकार के सिद्धान्त पर", सर स्टैफर्ड ने पार्लिमेंट में अक्तूबर १९३९ को दिये भाषण में कहा—"इस बात से कोई भी इंकार न करेगा कि आज भारत स्वराज्य का पूर्ण रूप से अधिकारी है। जब वाइसराय स्वयं इस बात को मानते तो, हैंभारतीयों की स्वराज्य की मांग को स्वीकार न करने का हमारे पास सिवा इसके क्या उत्तर है कि हम न्याय और औचित्य के अपने सिद्धान्तों को भूल कर और भारत पर अपना एकाधिकार क़ायम रखकर, उसका शोषण जारी रखना चाहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय अपने देश का शासन संभाल सकते हैं। अंग्रेज़ों की भारत में आवश्यकता नहीं है। अंग्रेज़ इसे खूब जानते हैं।

यदि इंग्लैंड को आर्थिक कारणों से भारत की आवश्यकता हैं, तो ब्रिटिश प्रजाजन खुशी से स्वतंत्र भारत के साथ व्यापार करें; वहां पूंजी लगायें, वहां 'रोज़गार-धंधा' करें। इंग्लैण्ड के लाभदायक आर्थिक संबंध अर्जन्टीना-आदि कई देशों से हैं, जो कि साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं हैं। परंतु भारत पर राजनीतिक अधिकार होने के कारण अंग्रेज़ों को कोई असाधारण लाभ हैं, जो कि भारत तथा कई और देशों के हितों के प्रतिकूल हैं। व्यापारिक अथवा आर्थिक दृष्टि से भारत का द्वार दूसरे देशों के लिए बंद है और इस द्वार की कुंजी अंग्रेज़ों के पास है। कभी-कभी उन्हें प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी किवाड़ खोलने पड़ते हैं। किंतु इंग्लैण्ड भारत का द्वार अपने लाभ के लिए ही खोलता है।

संसार में प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बना रहने के लिए क्या इंग्लैंड के लिए भारत पर सत्ता जमाये रखना आवश्यक है ? यदि आवश्यक है भी, तो इंग्लैण्ड को महान् राष्ट्र बनाये रखने के लिए भारत क्यों ग़ुलाम रहे ?

"प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के लिए इंग्लैण्ड ने भारत में से लाखों

जवानों की भरती की, जो बड़ी बहादुरी से लड़े और विजय-प्राप्ति म विशेष सहायक हुए।" इस तर्क के अनुसार तो भारत को सदा ही गुलाम रहना चाहिए और इसी तरह जापान भी चीन पर अपना क़ब्ज़ा न्यायपूर्ण बता सकता था। साथ ही टोकियो के लिए अपार जन-शक्ति का भंडार खुल जाता, बशर्ते कि समस्त चीन जापान द्वारा अधिकृत हो जाता।

"यदि भारत इंग्लैंड के अधीन न होता, तो चीन की तरह वह भी जापान का उपनिवेश बन जाता।" परन्तु इस तर्क का उत्तर यह है कि चान और भारत को सबल और संपन्न राष्ट्र बनाया जाय, ताकि ये दोनों देश आक्रमण को रोक सकें। यदि इंग्लैंड के अधीन रहकर ही भारत की रक्षा हो सकती है, तो यह आवश्यक है कि फ़्रांस, स्पेन, इटली, बल्गेरिया आदि सब छोटे राष्ट्र दो या तीन बड़ी शक्तियों के अधीन कर दिये जायं। शायद कुछ काल बाद किसी को यह प्रतीत होने लगे कि इंग्लैंड भी अपनी रक्षा आप नहीं कर सकता और वह प्रस्ताव रख दे कि इंग्लैंड अमेरिका अथवा रूस के अधीन हो जाय। तो फिर किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की क्या आवश्यकता है, जो निर्बल राष्ट्रों की रक्षा कर विश्व-शांति की व्यवस्था करे।

साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद दोनों परस्पर विरोधी हैं। साम्राज्य का आधार पशु-बल है, अतः यह अनैतिक है। इंग्लैंड को भारत पर राज्य करने का क्या अधिकार है? साम्राज्यवाद प्रतिद्वन्द्वी क्षेत्रों को जन्म देता है।

प्रारम्भ में और किन्हीं क्षेत्रों में साम्राज्यशाही से वर्जित जातियों को कुछ लाभ पहुँचता है; परंतु अंत में इससे आर्थिक, आध्यात्मिक तथा राजनीतिक क्षति ही पहुँचती है। पाश्चात्य आधिपत्य से जो लाभ हुए हैं, उन्हीं के कारण एशियावासी उस आधिपत्य का अब अन्त करने पर उतारू हैं। और उधर साम्राज्यवादी राष्ट्र स्वार्थवश अभी एशिया से ही चिपटे हुए हैं। उपनिवेशों के हित उनके लिए गौण हैं।

"भारत के हाथ से निकल जाने पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ह्रास हो जायगा" १२ दिसम्बर १९३० को चर्चिल ने यह घोषणा की थी। मार्च १९३१ को चर्चिल ने ब्रिटिश दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुए फिर कहा—"भारत का हमारे हाथ से निकल जाना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। यह उस प्रक्रिया का सूत्रपात करेगा जो हमें छोटी ताकत बनाकर रहेगी।"

"छोटी ताकत" यह १९ वीं सदी की विचारधारा की उपज है। सरकार और मानवी-श्रम का ध्येय व्यक्तिगत सुख की वृद्धि करना है। आमतौर पर, शांति-काल में डेनमार्क, स्वीडन अथवा स्विट्ज़रलैंड का निवासी औसतन

एक सामान्य अंग्रेज से कहीं अधिक सुखी है। यदि वह एक छोटे राष्ट्र का सदस्य है, तो इससे क्या ? मैं अब तक यह नहीं समझ सका हूं कि धरती के किसी और टुकड़े पर अधिकार प्राप्त करने का व्यक्ति के कल्याण से क्या सम्बन्ध है। अन्य देशों पर ऐसे अधिकार गत वर्षों में युद्ध के ही कारण सिद्ध हुए हैं।

यह कहा जा सकता है कि बड़े राष्ट्र के नागरिकों को युद्ध-काल में अधिक लाभ रहता है। यह भी सन्दिग्ध है। यह बात तो परिस्थितियों पर आश्रित है। फ्रांस, इटली, जापान, जर्मनी, रूस, ब्रिटेन ने, जिन्हें १९३९ में बड़े राष्ट्रों में गिना जाता था—गत युद्ध में छोटे राष्ट्रों से अधिक ही क्षति उठाई है और यदि अब कहीं तीसरा विश्व-युद्ध हुआ, जिसमें समुद्र पार अणुबम फेंके गये तथा कहीं न रुकने वाले पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले विशाल वायुयानों द्वारा बम-वर्षा की गई, तो क्या छोटे राष्ट्र; क्या बड़े—सब देशों के नर-नारी और बच्चे नारकीय वेदना भोगेंगे।

भारतीय स्वतंत्रता ब्रिटेन को २० वीं सदी के अनुरूप आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन करने पर बाध्य करेगी। अमेरिकी उद्योग २० वीं सदी के अनुरूप हैं, इसलिए उसे उपनिवेशों की आवश्यकता नहीं। संसार को उन वस्तुओं की आवश्यकता है, जिनका निर्यात अमेरिका आसानी से कर सकता है। आज अमेरिका में बनें कल-कारखानों में काम आने वाले मशीनों, पुरज़ों तथा सामूहिक उत्पादन की संसार को बड़ी आवश्यकता है, इंग्लैंड में औद्योगिक विकास पहले आरम्भ हुआ था। यद्यपि इंग्लैंड उतने ही अच्छे और आधुनिक यंत्र बना सकता है तथापि इंग्लैंड की औद्योगिक प्रणाली में बहुत-सी दक़ियानूसी बातें हैं। जिस देश ने बड़ पैमाने पर औद्योगीकरण करने का निश्चय कर लिया हो, उसे इंग्लैण्ड से थोड़ी बहुत मशीनरी तो प्राप्त हो सकती है, परंतु उसे अधिक साजो-सामान तो अमेरिका से ही प्राप्त करना लाभदायक रहेगा। अतः भारत के औद्योगीकरण में इंग्लैण्ड की अपेक्षा अमेरिका अधिक दिलचस्पी लेगा। यदि इंग्लैण्ड का उद्याग बिलकुल आधुनिक होता तो बात और थी किंतु जब तक ब्रिटेन की आर्थिक व्यवस्था में १९ वीं सदी का पुट है, तब तक वह भारत के लिए बीसवीं सदी के अनुकूल निर्माण-कार्य में सहायक नहीं हो सकता।

औद्योगिक दृष्टि से बीसवीं सदी में पदार्पण किए हुए ब्रिटेन को चाहिये था कि वह कपड़ा तथा अन्य उपभोग की वस्तुओं की अपेक्षा कल-पुरजे बनाने पर जोर देता और तब वह भारत की स्वतन्त्रता और औद्योगीकरण का पक्ष लेता। इस प्रकार जब स्वतंत्र भारत में उद्योगोन्नति होगी, तब भारत से व्यापार करने

के लिए इंग्लैण्ड को अमेरिका आदि अग्रगामी देशों से मुकाबला करना होगा। यदि ४० करोड़ भारतीय वर्तमान पशु-जीवन से तनिक ऊँचे उठ जायं और इनके जीवन-यापन का स्तर ऊँचा हो जाय, तो उपभोग की वस्तुओं की मांग इतनी बढ़ जायगी कि उसे पूरा करने के लिए इंग्लैण्ड, अमेरिका और कई अन्य देश भी उत्पादन-कार्य में संलग्न हो जायंगे। किसी ने एक बार विनोदार्थ कहा था—"यदि प्रत्येक चीनी पतलून पहनने लग जाय, तो अमेरिका में ५ वर्ष के लिए प्रत्येक आदमी को काम मिल जायगा। यदि प्रत्येक चीनी, भारतीय, यूनानी एवं पेरूवासी के लिए पर्याप्त भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, तथा रोगोपचार की व्यवस्था की जाय, तो संसार की सामूहिक आय में वृद्धि हो जायगी तथा बेरोज़गारी घटेगी और विश्व में सुख तथा शांति की वृद्धि होगी।

भारत और चीन, यूनान और पेरू अथवा ट्यूनेशिया अपने जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए साधन कहां से जुटाएंगे ? वे इस अंश में अमेरिका का अनुकरण करेंगे। जल, भूमि, वायु और अपनी जन-शक्ति से वे सहायता लेंगे।

भारत की स्वतंत्रता नये इंग्लैण्ड के प्रादुर्भाव पर निर्भर है। यह राजनीतिक तथा आर्थिक पहलुओं पर लागू होती है। मृत भूतकाल में इंग्लैण्ड को अपने विस्तृत साम्राज्य के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्त्व मिलता रहा है। पर अब समय बदल रहा है, क्योंकि वायुयान-युग में नौसेना का महत्त्व घट गया है तथा रूस और अमेरिका का औद्योगिक बल एवं राजनीतिक महत्व बढ़ रहा है।

शक्ति-मूलक राजनीति अनैतिक है और प्राय:युद्धगामी है। जो राष्ट्र देश जीतने की आशा रखता हो, वह भले ही उक्त राजनीति का आश्रय ले परंतु इंग्लैण्ड क्यों यह खेल खेले, जब उसे विजय प्राप्त ही नहीं हो सकती ? इंग्लैण्ड और रूस में तनातनी हो जाने पर, आंशिक स्वतंत्रता-प्राप्त क्रुद्ध-भारत निश्चय ही रूस का पक्ष लेगा। पूर्णतया स्वतंत्र भारत इंग्लैण्ड का पक्ष लेगा। क्योंकि इंग्लैण्ड के हार जाने पर रूसी आक्रमण का उसे भय रहेगा।

भारत पर आधिपत्य रखने की अपेक्षा अणु-शक्ति को उत्पन्न करने की क्षमता इंग्लैण्ड को अधिक सामरिक शक्ति प्रदान करेगी। अणु-युग में साम्राज्यवाद निरी मूर्खता है।

इंग्लैंड के सामने दो विकल्प हैं, या तो वह लड़खड़ाते हुए साम्राज्य के ढांचे को पकड़े बैठा रहे, या फिर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रों की मैत्री प्राप्त

करे। दूसरे शब्दों में उसे साम्राज्य-गत अरक्षा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा सुरक्षा—इनमें से एक का चुनाव करना होगा।

साम्राज्य-विस्तार की होड़ में इंग्लैंड फ्रांस, स्पेन और पुर्तगाल से इस लिए जीत गया कि वह इन देशों से अधिक संगठित और प्रगतिशील था। साम्राज्यों के परस्पर भावी-संघर्ष में इंग्लैंड हार जायगा, क्योंकि अब वह निर्बल है।

ब्रिटिश-साम्राज्य तो अब केवल अमेरिका सहायता से ही कायम रह सकता है। पर क्या यह वांछनीय है? एक लड़खड़ाते और पतनोन्मुख साम्राज्य को बचाने का अर्थ इंग्लैंड और भारत में जीर्ण-शीर्ण-राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के कायम रखने में सहायक होना होगा। इससे इंग्लैंड, भारत और अमेरिका तीनों देशों की प्रगति में अड़चन पड़ेगी।

इंग्लैंड के लिए इस समय सबसे अच्छा रास्ता साम्राज्यवाद को त्याग कर अन्तर्राष्ट्रीयता को अपनाना है। यह काम अकेले इंग्लैंड के बस का नहीं है। इस ओर स्वयं प्रयास करके वह संसार को अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर ले जाने में सहायक मात्र हो सकता है।

ब्रिटेन के आर्थिक एवं राजनीतिक संगठन को २० वीं सदी के अनुरूप पुनरावृत्ति करने का दायित्व इतिहास ने मजदूर सरकार को सौंपा है। अब यह प्रत्यक्ष है कि अंग्रेजों ने दो मोर्चों पर लड़ाई लड़ी थी। उन्होंने चर्चिल की सहायता से हिटलर को परास्त किया और फिर नये युग में पदार्पण करने के लिए उन्होंने चर्चिल को भी हरा दिया। इस शुभ-कार्य में इंग्लैंड की जो कुछ सहायता अमेरिका करेगा, उसकी व्याज-समेत अदायगी विश्व-शान्ति और समृद्धि के रूप में उसे वापस मिलेगी।

भारत की स्वतन्त्रता का पक्ष मैंने इंग्लैंड के प्रति काई दुर्भावना से प्रेरित हाकर नहीं लिया है। शायद ब्रिटेन सबसे अधिक सभ्य, सजग एवं लोक-तंत्री राष्ट्र है। इंग्लैंड भारत एवं विश्व के कल्याण से प्रेरित हुआ। मैं भारत की स्वतन्त्रता के लिए आग्रह करता हूं।

यद्यपि मैं भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थक हूँ तथापि मैं राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय पृथक्ता का विशेष पक्षपाती नहीं हूं। अत्यधिक स्वदेश में ही केन्द्रित होने के कारण मैंने भारतीयों की आलाचना की है। संकीर्ण राष्ट्रीयता एक राग है। राष्ट्रीयता प्रायः पृथक्ता रखती है। अतः यह विश्व-व्यापी अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े अटकाती है।

कोई पूछ सकता है– यदि बाद में उसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में शामिल

ही होना है तो फिर भारत को एक राष्ट्र का रूप क्यों दें ? इसका उत्तर यह है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में लोकतंत्री राष्ट्रों की अपेक्षा साम्राज्यवाद अधिक रोड़े अटकाता है।

लोकतन्त्र विभिन्नता में पनपता है। अपनी विभिन्नता के कारण भारत संभवत: राष्ट्रीयता के ख़तरों से बच सके। अधिनायकवाद मतभेद सहन नहीं कर सकता और उन्हें समाप्त कर देता है। इसे एकरूपता चाहिए। लोक-तन्त्र-वाद उस इन्द्र-धनुष के समान है जिसके सात रंग मिलकर प्रकाश पैदा करते हैं। स्वतन्त्र भारत शायद सच्चा लोकतन्त्री राष्ट्र बन सके, जो साम्राज्य-वादी एवं शांति-प्रिय राष्ट्रों के साथ एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण में सहयोग देगा जो मनुष्य-मात्र को शान्ति एवं सद्बुद्धि की ओर अग्रसर करेगा।

संसार के सब महाद्वीपों के करोड़ों मनुष्य भारतीय स्वतन्त्रता को उस आगामी नई दुनिया का प्रतीक मानते हैं, जिसका निर्माण इस ध्वस्त संसार की नींव पर होगा। आधुनिक बर्बरता ने १९३९ से १९४५ तक वर्तमान सभ्यता के भवन को तोड़ा-फोड़ा ही है।

: १२ :

फ़िलस्तीन में दस शांत दिन

मुझे यह खयाल भी न था कि मैं कभी बिलोचिस्तान में अपने को पाऊंगा। यह प्रदेश मेरे लिए केवल एक नाम और नक़्शे पर बिन्दुमात्र था। रवानगी के दिन हमारा हवाई जहाज वहां उतरा। उसके बाद मैं अरब और ईराक पहुंचा। मुझे न्यूयार्क जाने की जल्दी थी और आशा थी कि मार्ग में कहीं अधिक ठहरना न पड़ेगा।

प्रोग्राम के मुताबिक हमें मध्यान्ह का भोजन कालिया में करना था, जो कि 'डैड सी' (समुद्र) के किनारे है और पृथ्वी पर सबसे नीचा स्थान है। यहां पर रासायनिक कारखानें भी हैं। इसलिए बसरा से मैंने यरूशलम के अंग्रेजी भाषा के दैनिक "पैलिस्टाइन पोस्ट" के एडीटर मि० गरशन एग्रोंस्की को तार देकर कालिया में खाने पर आमंत्रित किया। हम दोनों का लड़कपन एक साथ फ़िलेडल्फिया में व्यतीत हुआ था। मैंने उन्हें सुझाया कि वे अन्य मित्रों को भी अपने साथ खाने पर बुला सकते हैं।

गरशन यहूदियों के मिशन पर दक्षिण अफ्रीका आया था। उसकी स्त्री एथिल भी कालिया पहुंच गई। उसके साथ उसकी अभिन्न मित्र ईडाब्लूम डेविडोविज थी, जो कि मेरी जन्म-भूमि फ़िलेडल्फ़िया की रहने वाली थी।

उन्होंने मेरा भावी कार्य-क्रम पूछा। हरे पानी में डोलते हुए समुद्री वायुयान की ओर इशारा करते हुए मैंने कहा—अफसोस है, मुझे जल्दी अमेरिका लौटना है। आशा है पांच दिन में मैं न्यूयार्क पहुंच जाऊंगा। एथिल आग्रह करने लगी कि मैं यरूशलम ज़रूर जाऊं। मैंने कहा, यह असंभव है। यदि जहाज पर मैंने प्राथमिकता से लाभ न उठाया तो शायद मुझे कई सप्ताह तक यात्रा सम्बन्धी प्राथमिकता न मिल सके। आध घंटे तक जहाज जायगा और मैं चल दूंगा।

मेरे मित्र तर्क और विनय से काम लेने लगे। पर मैं टस-से-मस न हुआ। फिर न जानें कैसे एकदम मेरे विचारों ने पलटा खाया। और मैंने

अपने मन में कहा—"क्यों नहीं ठहर ही जाऊं ?" और एकदम लापरवाही से मैंने अपना सामान जहाज़ से उतार लिया और मोटर में बैठ कर यरूशलम चल दिया। यरूशलम संसार के नगरों में बड़ा अद्भुत और सुंदर शहर है। मार्ग में हमने अंग्रेजों को सुरंग बनाते और बोरियों से मोर्चे बनाते देखा। नाजी जनरल रोमेल काहिरा से केवल ३ घंटे के सफर की दूरी पर था और स्वेज़ नहर पर उसके आक्रमण का खतरा था। भय था कि यदि उसने मोर्चे तोड़ डाले तो थोड़े ही दिनों में वह फ़िलस्तीन भी पहुंच जायगा।

१९१९,२० और १९३४ की भांति मैं फिर माउंट स्कोपस पर चढ़ा, जैतून के कुंज में घूमा, वायोडोलोरोसा नदी की सैर की, भयङ्कर 'वेलिंग-वाल' के सामने खड़ा रहा और उमर की मसजिद की सराहना की। इनमें से कई दृश्यों का उल्लेख बाइबिल में है। यरूशलम का प्रत्येक पुराना टूटा-फूटा पत्थर प्राचीन इतिहास का सूचक है। अब पुराने यरूशलम के साथ नया यरूशलम—साफ़, स्वच्छ और आरामदेह—भी बन गया है। नया यरूशलम उन यहूदियों ने बनाया है जो गत ५० वर्षों से फिलस्तीन में यहूदी राष्ट्रीय-धाम बनाने के हेतु आये हैं। यहूदियों को अपने निर्माण-कार्य पर गर्व है। उत्तर में गैलिली और इस्ड्रेलन की घाटी में दौरा करने का मुझे निमंत्रण मिला। यहां पर इन यहूदियों ने बड़े-बड़े फार्म और कृषक-बस्तियां बसाई हैं।

पोलैंड के 'घेरों' में से, रूस, रुमानियां और अन्य देशों से आये हुए तथा फ़िलस्तीन में जन्मे-पले यहूदियों ने अपने पुरुषार्थ द्वारा बंजर, पथरीले तथा कीचड़ से भरे मलेरिया प्रदेश को हरे-भरे फलों से लदे बागों में परिवर्तित कर दिया है। इन बागों में हज़ारों आदमी समान-आधार पर और सामूहिक ढंग से खेती करते हैं।

इन प्रदेशों को मैंने नहीं देखा, क्योंकि एक तो मुझे इनकी सफलता के बारे में पहले से ही बहुत-कुछ पता था; दूसरे मैं भारत की यात्रा से थका हुआ और वहां के संस्मरणों से लदा हुआ था। इसके अलावा, मुझे फ़िलस्तीन की मुख्य राजनीतिक समस्या अरब-यहूदी-परस्पर-संबन्ध में अधिक दिलचस्पी थी।

अरब उन दिनों अंग्रेज़ों पर हुई रोमेल की विजय से प्रसन्न थे। अरबी गांव, झंडे, और ध्वजायें फहराकर रोमेल के स्वागत की तैयारी में थे। नाजी और अरब मिलकर यहूदियों के विरुद्ध प्रबल मोर्चा बना सकते थे। जब मैंने अपने कई अमेरिकन यहूदियों को, जिनके पास पासपोर्ट और जाने के लिए साधन भी थे, यह राय दी कि युद्ध की समाप्ति तक वे अमेरिका जाकर रहें, तो उन्होंने मुझे पागल समझा। वे भागने को तैयार न थे। यदि रोमेल

फ़िलस्तीन में आ घुसा और उससे उत्तेजना पाकर अरबों ने यहूदियों की मार-काट आरम्भ कर दी, तो वे फ़िलस्तीन के ५ लाख यहूदियों के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर अरबों का मुकाबला करेंगे। यहूदियों के अनेक अर्ध-सैनिक और सशस्त्र संगठन अरबों से जूझने को तैयार थे। अनेक यहूदी नवयुवक ब्रिटिश फौज में भरती होगये थे और मिस्र, लीबिया तथा इटली के मोर्चों पर भी लड़ चुके थे। अरब अंग्रेज़ों के विरोधी थे और उन्होंने धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध अंग्रेज़ों को सहायता देने से इंकार कर दिया था।

यहूदी दृढ़-संकल्प थे और किसी प्रकार भी उन्हें घबराया हुआ अथवा हतोत्साह नहीं कहा जा सकता था। टेलावीव में, जो प्रशान्त-समुद्र के तट पर एक नया यहूदी शहर बसा हुआ है, मैं डेविडोविज़ परिवार में ठहरा। हैरी एस० डेविडोविज, जो पहले फ़िलेडल्फिया और क्लीव लैंड में कानूनी विशेषज्ञ था, अब नकली दांत बनाने का व्यवसाय करता था। उसने शेक्स-पीयर का हिब्रू म अनुवाद किया था। उन्नीस वर्ष की उनकी बड़ी पुत्री सूज़ान डेविडोविज़ हुलाह झील के किनारे एक नये कृषि-फार्म पर काम करती थी। यह क्षेत्र मलेरिया का घर था। उसका परिवार धनी था और यह कार्य वह केवल यहूदी जाति की रचनात्मक निष्काम-सेवा के भाव से कर रही थी। उस अस्वास्थ्यकर और पिछड़े प्रदेश के पुनरुद्धार कार्य में लगे हुए हजारों युवक और युवतियों का स्वास्थ्य सदा के लिए गिर चुका था।

सूज़ान वहां के अपने साथियों को छोड़कर शायद ही कभी अपने घर का सुख भोगने के लिए टेलावीव जाती हो।

एक दिन दोपहर के भोजन के पश्चात् हैरी डेविडोविज़ और मैंने अरब-यहूदी समस्या पर विचार किया। सूज़ान पौन घंटे तक हमारे पास बैठी हमारी बातें सुनती रही। अचानक, बिना किसी प्रसंग के वह बोल उठी "हमारे फार्म में एक नई आलू छांटने की मशीन आई है।"

उसका यह असंगत वाक्य मेरे लिए अरब-यहूदी समस्या पर यहूदियों के रुख का द्योतक था। अरबों की हिंसा और ध्वंसात्मक प्रणाली का उत्तर यहूदी रचनात्मक कार्यों द्वारा दे रहे थे। वे ईंट-पर-ईंट रखने, शहर और बस्तियां आबाद करने तथा नई आलू छांटने का मशीनें मंगाने में व्यस्त थे।

यहूदी आन्दोलन का उद्देश्य एक यहूदी राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय समूह कायम करना है। इसालिए फ़िलस्तीन में यहूदी जाति को बहुसंख्यक बनाना उनका लक्ष्य है। इस समय फ़िलस्तीन में लगभग ५ लाख यहूदी और १० लाख अरब आबाद हैं। विशेषज्ञों का मत है कि यदि इस देश में सिंचाई, बिजली

और उद्योग का विस्तार हो जाय तो यहां कई लाख मनुष्य सुख और समृद्धि का जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

एक यहूदी गीत के वाक्य हैं—"ऐ यरुशलम ! यदि मैं तुझे भूल जाऊं तो मेरा दाहिना हाथ चतुराई भूल जाय, मेरी जीभ मेरे तालू से चिपक जाय।" सदियों से तितर-बितर किये जाने पर भी यहूदियों के दिलों में फ़िलस्तीन के लिए एक हूक उठती है। धर्म-परायण यहूदी तो फ़िलस्तीन के साथ विशेष धार्मिक सम्बन्ध मानते हैं। कई अ-धार्मिक यहूदियों के लिए यरुशलम स्वयं एक धार्मिक-आस्था का विषय है। यहूदी आंदोलन के पीछे उनके पूर्वजों की स्मृति और प्यार छिपा है। यरुशलम उस जाति का मूल स्थान है जो सदियों से दूसरे देशों में रहकर विदेशी वातावरण और रहन-सहन को अपनाने के लिए बाध्य रही है, किंतु अपनी राष्ट्रीय सरकार के नीचे रहकर अपना स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने में असमर्थ रही है। ऐतिहासिक घटना-क्रम यहूदियों को फ़िलस्तीन के साथ प्रेम-सूत्र में बांधे हुए हैं। लाखों यहूदी, जिन्होंने फ़िलस्तीन कभी देखा नहीं है और न कभी वहां की आशा ही रखते हैं, यहूदी राष्ट्रीय पुनरुत्थान का सुनहला स्वप्न देख रहे हैं।

यह एक आवेग है इसलिए इसकी व्याख्या करना अनावश्यक है। फ़िलेडल्फ़िया में रहते हुए अपनी युवावस्था में मैं भी इस आवेग से ओत-प्रोत था। मैं ब्रिटिश सेना की यहूदी बटालियन में भरती होकर १९१८ में फिलस्तीन गया और वहां १९२० तक रहा था। अब वह आवेग मेरे अन्दर नहीं है। यह आवेग फ़िलस्तीन में ही मेरे अन्दर ठंडा पड़ गया था। यूरोप में १९२१ से १९३८ तक रहने के कारण यहूदी-आंदोलन में मेरी रुचि न रही। मेरा ध्यान अन्य महान् सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं में लग गया। अपनी दुखप्रद स्थिति में यहूदियों की अत्यधिक एकाग्रता का कारण मैं खूब समझता हूं। इस प्रश्न की अवहेलना नहीं की जा सकती; परन्तु निरे राष्ट्रीय आंदोलन से मैं अधिक प्रभावित नहीं होता हूं जब तक कि उसका उद्देश्य भारतीय अथवा इंडोनेशियन राष्ट्रीय आंदोलन की तरह साम्राज्यवाद का अन्त करना न हो। यहूदी आंदोलन एक ऐसा आंदोलन है जिसका ब्रिटिश साम्राज्यवाद से गंठबंधन है।

राष्ट्रीय प्रश्नों का हल अन्ततः विश्व-समस्याओं के हल पर ही निर्भर है ऐसी मुझे आशा है। मैं जानता हूं, यहूदी यही उत्तर देंगे कि हम अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। मैं उनसे सहमत हूं और इसलिए मैं किसी भी प्रकार से, उनके आंदोलन में दखल नहीं देता। उनके आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के

लिए सैद्धान्तिक सहमति और साहस का आवश्यकता है और इन दोनों का मुझमें अभाव है।

मैं १९३४ में एक मास फ़िलस्तीन में रहा था और १९४२ में १० दिन शांति से मैंने वहां गुजारे थे, परन्तु फ़िलस्तीन के लिए मेरा पुराना प्रेम फिर न उमड़ा। इसके अलावा, मेरा विश्वास है कि कोई भी जाति निश्चय ही यहूदियों जैसी अल्प-जाति अपनी समस्याओं का हल अन्य जातियों एवं राष्ट्रों से अलग रहकर नहीं ढूंढ़ सकती। कितने ही ऐसे राष्ट्र हैं जिनका पतन अपनी सीमाओं के अन्दर हो गया ?

फ़िलस्तीन सुन्दर देश है और बहुत से यहूदी यहां लाभकारी और संतुष्ट जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनके आत्म-संतोष का कारण है रचनात्मक कार्य करने और देश में अपनी जड़ें मजबूत करने की अनुभूति। वे निर्माणकार्य में जुटे हुए हैं। घर, फार्म, कारखाने, सड़कें, अस्पताल, स्कूल आदि बनाने में संलग्न हैं। इसके अतिरिक्त वे राष्ट्रीय ज्ञान निर्माण करने में लगे हुए हैं। उनका त्याग भी महान् है। फ़िलस्तीन यहूदियों के खून से सना और उनके आदर्शवाद में रंगा हुआ है। उनमें भी स्वार्थी, शोषक और ग़ैर-ज़िम्मेदार वर्ग है, परन्तु वह अल्पसंख्या में है। प्रायः उच्च-लक्ष्य मनुष्यों को महान् बना देता है। फ़िलस्तीन में किसी भी देखन वाले को यह आभास होगा कि वहां की सामूहिक सफलता व्यक्तिगत सफलताओं के योग की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है। यह आधिक्य सम्भवतः वहा चीज है जिसे हम सभ्यता कहते हैं—सभ्यता का अर्थ सामूहिक आधार पर रहना है।

अर्जन्टाइना, यूक्रेन, क्रीमिया आदि देशों में यहूदियों को बसाने के संगठित प्रयास न्यूनाधिक मात्रा में सफल हुए हैं। फ़िलस्तीन में यहूदियों का बसाना आर्थिक हानि से इसलिए अधिक सफल हुआ कि संसार भर के यहूदियों ने करोड़ों रुपये फ़िलस्तीन के नव-निर्माण में लगा दिये। यहूदियों ने फिलस्तीन पर धन और प्रेम दोनों न्यौछावर किये। फ़िलस्तीन की आर्थिक नींव उस सम्पत्ति द्वारा खड़ी की गई है जो संसार भर के यहूदियों के दान द्वारा प्राप्त हुई है। अतः फ़िलस्तीन के यहूदियों की आर्थिक व्यवस्था के महत्त्व की अभी परीक्षा होनी है।

यहूदा आदर्श के प्रति श्रद्धा के अतिरिक्त, यूरोप के यहूदी, यदि उन्हें मौका मिले तो, शायद वे अमेरिका में जाकर बसना चाहें। सम्भव है कुछ फ़िलस्तीन के यहूदी भी अमेरिका में जाकर बसना चाहें। अमेरिका ने, जिसके निवासी, थोड़े से आदिम निवासियों (Red Indians) के सिवा,

प्रवासियों और शरणार्थियों की संतान हैं, मुट्ठी-भर नये आगन्तुकों को छोड़कर अपने द्वार सबके लिए बंद कर रखे हैं। यद्यपि अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कैनेडा रूस, अर्जन्टाइना और ब्राजील में आजादी कम है, फिर भी ये देश यहूदी-प्रवासियों को शरण देना नहीं चाहते। हां, उनके लिए रह गया छोटा-सा फ़िलस्तीन।

हिटलर द्वारा अधिकृत यूरोप में यहूदियों की जो दुर्दशा हुई उसका पूरा विवरण देने के लिए शब्द अपर्याप्त हैं। द्वितीय युद्ध के दौरान में यूरोप के ७० लाख यहूदी मौत के घाट उतार दिये गए। ये बमों से या लड़ाई में नहीं मरे, यद्यपि इनके कारण भी बहुत से हताहत हुए, इनकी तो जान-बूझकर निर्मम हत्या की गई। "चलो! इनको गैस चेंबर में फेंक दो। इनको बिजली की भट्टी में स्वाहा कर दो। इनको आधा-भूखा रखकर काम में खूब जुटाओ और जब ये अशक्त हो जायं तो उन्हें भी भट्टी में स्वाहा करदो।" इस तरह ५० लाख यहूदी बहुत सफाई से मार डाले गये। नाज़ियों ने नाज़ी-जर्मन-विरोधियों को मारने में मध्यकालीन बर्बरता से काम लिया। यहूदियों को उन्होंने आधुनिक रासायनिक अस्त्रों से मारा।

तो क्या आश्चर्य, यदि यहूदी लोग हिटलर द्वारा विभाजित-यूरोप में रहने को राजी नहीं हैं। हिटलर से पहले भी यहूदियों को यूरोप के कई देशों में अपमान जनक भेद-भाव सहन करने पड़ते थे। एक भाग सोवियट रूस ही ऐसा देश था जहाँ सरकार की सामाजिक नीति के कारण जातीय अत्याचार अथवा यहूदियों का विरोध सरकारी अथवा ग़ैर-सरकारी तौर पर बिलकुल बंद था। यूरोप तथा संसार के देशों में यहूदियों को सामाजिक समानता प्राप्त नहीं थी और उन्हें कई असुविधायें सहनी पड़ती थीं।

अमेरिका में यहूदियों को पूर्ण कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त है। उनमें असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति भी हैं, सफल व्यापारी भी हैं, अपराधी भी हैं और असफल व्यक्ति भी हैं। कानूनन अमेरिका में यहूदी और ग़ैर-यहूदी का कोई भेद नहीं है। परंतु व्यक्तिगत रूप में अमेरिकावासी और अमेरिका के अन्य वर्ग यह भेद-भाव करते अवश्य हैं। अमेरिका में लाखों ऐसे ईसाई हैं जो यहूदियों के साथ व्यक्तिगत संबंध रखने में संकोच करते हैं या संबंध रखते हैं। वहां ऐसे होटल भी हैं जो केवल ईसाइयों ही के लिए हैं। यह ईसाई धर्म के अनुकूल नहीं है।

यहूदियों से संबंध के संकोच का आधार रंग, रूप, सभ्यता, शिक्षा, योग्यता, शिष्टता, धन, मिलनसारी आदि नहीं हैं। जीवन के प्रत्येक स्तर पर,

ईसाई यहूदियों को अपने समान पाएंगे। तो क्या केवल धर्म-भेद ने ही यह खाई पैदा कर दी है? यहूदियों के प्रति घृणा इतनी बढ़ गई है कि ईसाई बाइबिल में दिये हुए यहूदी नामों को भी पसंद नहीं करते। आज कितने ईसाई हैं जिनके काम अब्राहम लिंकन की तरह हैं? अथवा आइज़क न्यूटन की तरह या जेकब एैस्टर की तरह अथवा बैंजमिन फ्रेंकलिन की तरह हैं। ईसाई लोग अब बाइबिल के नामों को यहूदी समझकर घृणा करते हैं और यहूदी भी स्वयं एेंग्लो-सेक्सन और फ्रांसीसी नाम पसन्द करने लगे हैं।

हमारी सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप आधुनिक मनुष्य का अपने वास्तविक स्वरूप से दूर हटने की प्रवृत्ति है। यह यहूदी-विरोधी भावना बहुत-से यहूदियो की इस प्रवृत्ति की पुष्टि करती है, और वे विकृत रूप से आत्म-चेतन हो जाते हैं।

वे ऐसा मानने लग गए हैं कि किसी यहूदी को न तो सर्वोच्च न्यायालय का जज और न उग्रवादी अथवा समाचार-पत्र प्रकाशक बनना चाहिए। ईसाई भद्र लोगों द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धों के परिणाम स्वरूप यहूदी स्वयं अपने आपको कलंकित समझने लगे हैं।

बहुत से यहूदी इस बात की आवश्यकता अनुभव करने लग गये हैं कि संसार में एक ऐसा भी स्थान होना चाहिए जहां सच्चे मानों में यहूदी—यहूदी बन कर रह सकें। कई यहूदियों का मत है कि यहूदीपन का एक मात्र आधार धर्म है। यह धारणा हास्यास्पद है। अमेरिका के बहुत से यहूदी धर्म-निष्ठ नहीं हैं। परन्तु फिर भी उनमें यहूदीपन की भावना मौजूद है। वे सामान्य रक्त तथा संस्कृति के सम्बन्ध को अनुभव करते हैं अथवा यहूदी-विरोध उनके यहूदी-पन को और भी कट्टर कर देता है।

वे यहूदी भी, जो यहूदी-राष्ट्र के पृथक् निर्माण का विरोध करते हैं, और यहूदी-आंदोलन को केवल धार्मिक मानते हैं, त्रस्त यूरोपीय यहूदियों के लिए किसी-न-किसी सुखद-आश्रय की आवश्यकता पर जोर देते हैं और अमेरिका के बाद फ़िलस्तीन को ही वे उपयुक्त देश मानते हैं। कुछ साल पहले, जो अपने-आपको यहूदी-विरोधी मानते थे, आज वे भी इस आंदोलन के पक्ष में हैं। वह इस आंदोलन के राजनीतिक पहलू का विरोध भले ही करते हों। बेघर त्रस्त यहूदियों द्वारा किसी नये देश में बसने की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं कर सकते।

यदि हमारी दुनिया भली होती तो यहूदियों को फिलस्तीन जाने की कोई आवश्यकता न होती और शायद बहुत थोड़े ही वहां जाना पसन्द करते।

वे जर्मनी, पोलैंड, रूमानियां आदि किसी भी देश में रह सकते थे। इस समय तो यहूदियों की प्रबल इच्छा उस यूरोप को छोड़ देने की है जहां हिटलर की वर्बरता का तांडव होता रहा है। यूद्धोत्तर-काल में भी राष्ट्रीय भावना प्रबल रहेगी; इसलिए यहूदी-विरोधी भावना भी घटने की आशा नहीं है। सशस्त्र हिटलर को परास्त करना आसान था, परंतु उस विष का शमन करना कठिन है जिससे उसने एक महाद्वीप को ही नहीं बल्कि उससे भी अधिक व्यापक क्षेत्र को विभक्त कर दिया था। यहूदी-आंदोलन की यहूदियों और ग़ैर-यहूदियों द्वारा स्वीकृति युद्धोत्तर संसार और विश्व-शांति की कड़ी आलोचना है।

यदि कोई तनिक सोचे कि विज्ञान, कला-कौशल, शिक्षा एवं राजनीति को यहूदियों की कितनी बड़ी देन है तो उसे आश्चर्य होगा कि क्यों बहुत से देश यहूदियों को आश्रय देने को तैयार नहीं हैं? क्या यह इसलिए है कि जो देश स्वयं प्रतिद्वन्द्विता पर पनपे हैं, अब वे स्वयं प्रतिस्पर्द्धा से घबरा उठे हैं! शायद हिटलर की पराजय का यही कारण था कि उसने जर्मन-यहूदी वैज्ञानिकों को मरवा डाला, यातनायें दीं अथवा निर्वासित कर दिया। ब्रिटेन और अमेरिका की सरकारों ने उन वैज्ञानिकों को शरण देकर उनसे युद्ध-कार्य में सहायता लेकर बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। फिर भी शांति-काल में इस प्रकार जनसंख्या में वृद्धि होजाने से बेरोज़गारी फैलने की आशंका बढ़ जाती है। जब अमेरिकावासियों को अपने देश के भविष्य में विश्वास था तो उनके देश के दरवाजे सबके लिए खुले थे। अमेरिक आज भी पूर्णतया उन्नत नहीं है। और असीम सम्भावनाओं का प्रदेश है।

अरब भी यहूदी-प्रवास का विरोध कर रहे हैं। जब मैं यरूसलम में ठहरा हुआ था, मैं नित्य प्रति डा० जूडा एल० मैंगनस के साथ सैर के लिए जाता और बातचीत किया करता था। डा० मैंगनस यहूदी-विश्व-विद्यालय के वाइस चांसलर थे। पहले वह न्यूयार्क में कानूनी विशेषज्ञ थे और २० वर्ष से अब फ़िलस्तीन में निवास करते हैं। इनके द्वारा मे प्रमुख अरब राजनीतिज्ञों से मिला।

डा० मैंगनस एक तरह के यहूदी गांधी हैं। गहरी धार्मिक भावना और सामाजिक दृष्टिकोण रखने वाले उक्त डाक्टर के निरंतर चिन्तनीय विषय—भगवान् और जन साधारण हैं। उनमें हठीलेपन और परिपक्वता का विचित्र सम्मिश्रण है। उन्हें इस बात का विश्वास रहता है कि वे ठीक हैं। अधिकतर यहूदी सोचते हैं कि वे ग़लत हैं। वास्तव में वहां के कुछ यहूदा उन्हें नापसन्द भी करते हैं। क्योंकि वे अवश्य ही अरबों के साथ सुलह-सफाई कर लेंगे और उन्हें सीमित यहूदी प्रवास के लिए राजी करने की चेष्टा करेंगे।

फिलस्तीन भर में मैगनस ही संभवतः एक मात्र ऐसा प्रमुख यहूदी है जिसका अरबों से मेल-जोल है। यहूदी और अरबों की दुनिया अलग-अलग है। उनमें परस्पर घृणा और द्वेष बहुत है। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से पहले १६३६ से १९३९ तक फिलस्तीन गृह-युद्ध में फंसा था। अरब यहूदियों पर छिपकर छापा मारते थे और दोनों पक्षों के आदमी हताहत होते थे। मैगनस सहयोग और रियायतों द्वारा इस स्थिति में सुधार करना चाहते हैं किंतु उनके विरोधी कहते हैं कि देश में पहले वे यहूदी बहुमत पैदा कर लें और उसके बाद ही अरबों से बात-चीत चलायंगे। उनका विचार था कि रियायतें देना कमजोरी समझा जायगा और परिणाम कुछ न निकलेगा।

डा० मैगनस के साथ मैं औनी अब्दुल हादी से मिला। यरूशलम के मुफ्ती हज-अमीन-अलहुसैनी के अंग्रेजों की निगरानी से हिटलर को मिलने के लिए भाग जाने पर वह फिलस्तीन के सबसे प्रमुख अरब होगये। मैं डा० खालिदी तथा अन्य अरब नेताओं से भी मिला। बाद में इन सबसे मैं पुनः एक अरब सज्जन के घर पर भी मिला।

इन अरब राजनीतिज्ञों ने स्वीकार किया कि फिलस्तीन के गांवों में प्रवासी अरब रोमेल के स्वागत की प्रतीक्षा में थे। उनका कहना था कि यहूदियों ने फिलस्तीन को किसी प्रकार भी समृद्ध नहीं बनाया; बल्कि उन्होंने फिलस्तीन में केवल अपने-आपको ही अमीर बनाया। और वे सब प्रवास के लिए यहूदियों के यरूशलम में आने का, उनके हाथ जमीन बेचने अथवा फिलस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना का घोर विरोध कर रहे थे। उन्होंने यह भी कहा कि यदि यहूदी अपना बहुमत बढ़ाकर वहाँ अपना राज्य कायम करने का विचार छोड़ दें, तो वे यहूदियों के फिलस्तीन में प्रवास के लिए आने पर इतनी आपत्ति नहीं करेंगे।

अरब अपने विरोध में दृढ़ और अडिग हैं। फिलस्तीन के अरबों का यहूदी व्यवसाय से लाभ ही हुआ है। आप किसी अरब ग्राम में जायं तो आपको पता लगेगा कि अपनी भूमि यहूदियों को अत्यधिक मूल्य पर बेचने के कारण अरब कितने समृद्धिशाली होगए हैं। यहूदियों के संसर्ग से अरबों का जीवन, स्वास्थ्य और शिक्षा का मान भी काफी ऊंचा हो गया है। यदि अरबों को कोई उत्तेजित न करे तो, (यद्यपि वे इस समय यहूदियों के आने पर खीझते हैं) संभव है कुछ काल बाद वे अपना विरोध स्वयं ही समाप्त कर दें। विरोध करने की प्रेरणा अरबों को फिलस्तीन के बाहर से मिलती है।

मध्य-पूर्व के अरबों में आज राष्ट्रीयता की लहर जोर पकड़ रही है।

राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद की उपज है। यहूदी आंदोलन का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ गठ-बन्धन होने के कारण अरबों में राष्ट्रीय भावना और भी जोर पकड़ गई है। ईराक, सीरिया, लेबेनान, ट्रांसजोर्डेनिया, साऊदा अरब, मिस्र, फिलस्तीन और उत्तरी अफ्रीका के अरब नेता अरब-एकता का सुखद स्वप्न देख रहे हैं। उनकी हार्दिक इच्छा एक ऐसे संघ की स्थापना की है जो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शक्ति और प्रभाव रखता हो। यद्यपि अरब एक ही जाति के हैं, और अधिकतर उनमें इस्लाम धर्मानुयायी हैं (थोड़े से अरब ईसाई भी हैं) फिर भी आज तक उनमें एकता का अभाव रहा है। उनमें एकता न होने के कई कारण हैं। अतः वह परस्पर मेल-मिलाप के आधार की खोज में हैं। यह आधार अब उन्हें यहूदी विरोधी आन्दोलन में मिल गया है। हिटलर ने यहूदियों को आग में झोंककर जर्मन राष्ट्रीयता की ज्वाला प्रज्वलित की। अब यहूदियों की महत्त्वाकांक्षाओं के खंडहर पर अरब अपने साम्राज्य का निर्माण करना चाहते हैं।

मध्य-पूर्व स्थित अंग्रेज अधिकारी पहले नीति निर्धारित कर लेते हैं और बाद में ब्रिटिश सरकार की अनुमति लेते हैं। कई बार इन दोनों की नीतियों में परस्पर विरोध रहता है। उदाहरण के लिए फिलस्तीन में अंग्रेजी सरकार का एक विभाग अरबों की शस्त्रों से सहायता करता रहा और दूसरा विभाग यहूदियों के पक्ष में था।

साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी सरकार अरबों की ही पीठ ठोकती रही है और उन्हीं की सहायता से अरब लीग की स्थापना हुई है। शायद उसने ऐसा यह समझ कर किया हो कि अरबों का राष्ट्रीयता की ओर झुकाव अब रोके न रुकेगा। या फिर यह विचार रहा हो कि यदि अरबों की सहायता अंग्रेजों ने न की तो रूस, अमेरिका अथवा फ्रांस उनकी मदद करेंगे। इसके अलावा अरबों ने हिंसात्मक कार्यवाही की धमकी भी दी थी और अंग्रेज शंकित हो उठे थे। इंग्लैंड भारत के ९ करोड़ २० लाख मुसलमानों की भावनाओं का भी खयाल रखता है।

अंग्रेजों का सहानुभूति पूर्ण नहीं तो कम-से-कम अनिश्चित रुख देखकर तथा बाहर के अरबों से उत्तेजना पाकर पवित्र-भूमि फिलस्तीन के अरबों की यहूदी-विरोधी आग भभक उठी। गृह-युद्ध का ज्वालामुखी फिलस्तीन की भूमि के नीचे सदा धधकता रहता है, और कई बार फूटकर ऊपर भी आ जाता है। यहूदी भी वीर लड़ाके हैं, और जुडया और जैलिली में उन्होंने अरबों को कई बार लड़ाई में हराया भी है। टेलहाई और क-फार गिलिडी के प्रदेश में मैंने स्वयं यहूदी बस्तियों की रक्षा में भाग लिया है। रात को पहरा देते हुए हम जोर्डन नदी

के बहने की आवाज सुन सकते थे, जो डान प्रदेश से तीव्र गति के साथ बहती हुई आती है। तब से ज्यों-ज्यों यहूदियों का आतंक और शस्त्रास्त्र बढ़े हैं,त्यों-त्यों फिलस्तीन में झगड़े भी बढ़े हैं।

जिन यहूदियों से मैंने १९४२ में बातचीत की; फिलस्तीन के सम्बन्ध में उनकी राय थी कि अपने वचनों को कार्यान्वित करने के सिवा ब्रिटेन के पास कोई और चारा ही नहीं है। तब तक अपने मिशन में अडिग रहने का उनका विचार था। यदि इन दोनों जातियों को ट्रेड यूनियनों, व्यापारी संघों द्वारा और निकट संपर्क में लाने का प्रयत्न किया जाता या ये दोनों जातियां मिल कर साम्राज्यवाद ही का मुकाबला करतीं तो १९२० में भी उन दोनों के बीच सुलह-सफाई-कराई जा सकती थी। परन्तु यह नहीं होना था। जैसे मज़दूर दल के यहूदी सदस्य और यहूदी एजेंसी के अधिकारी मोशेशरतक ने यरूशलम में मुझे १९३४ में बताया था—"हम पहले राष्ट्रवादी, और पीछे समाजवादी हैं।" यहूदी उतने हा उग्र राष्ट्रवादी थे जितने कि अरब। उनके बीच की खाई को पाटना मैगनस के लिए भी संभव न था। और अब तो इस कार्य में अत्यधिक विलंब हो गया है।

फ़िलस्तीन में मेरे शांति के १० दिन बड़ी अशांति से गुज़रे। संभव है कि फ़िलस्तीन यहूदी-बहुमत का राष्ट्र बन जाने पर भी यहूदियों की समस्या का हल न निकाले। फ़िलस्तीन का कल्याण तो इसके यहूदी, ईसाई, और मुस्लिम सभी संप्रदायों का सम्मिलित राष्ट्र बन जाने में है। यह लक्ष्य दुस्साध्य है। इस आदर्श की प्राप्ति तो बड़े और संपन्न राष्ट्रों को भी नहीं हुई है।

ख़ैर! फ़िलस्तीन १९४२ में हमले से तो बच गया था। जब १९४२ में मैं फिलस्तीन से क़ाहिरा पहुँचा, तो वहां का वातावरण बड़ा उत्तेजित था। जनरल रोमेल का आतंक वहां अभी छाया हुआ था। समस्त मित्रराष्ट्र चौकन्ने थे और विजय अनिश्चित थी। अंग्रेज़, पोलैंड निवासियों की सहायता से, शत्रु से जूझ रहे थे। परंतु उन्हें और सहायता की आवश्यकता थी। "सन् १९४२ की गरमियों में जब मार्शल रोमेल ने लीबिया के मोर्चे पर ब्रिटेन की टैंक सेना को भारी क्षति पहुँचाई थी, तो जनरल मारशल (अमेरिकन चीफ़-आव-स्टाफ़) ने फ़ौरन मध्यम श्रेणी के सब टैंक शिक्षा-संबंधी आवश्यकताओं की भी परवाह न कर के मिस्र के मोर्चे पर भिजवा दिये। इस आपत्ति का सामना करने का यही एकमात्र साधन था।

"हमारा एक सशस्त्र डिवीज़न शिक्षा के लिए उत्तरी आयरलैंड जाने को बंदरगाह में पड़ा हुआ था। इस डिवीज़न के हथियार भी ले लिये

गए और उन्हें दूसरे टैंक न मिलने तक वहीं रोक लिया गया। संकट-पूर्ण घड़ी टल गई। अब हमें पता लगा कि मार्शल का अनुमान कितना ठीक था। हिटलर का इरादा मिस्र पर अधिकार करके निकट पूर्व में घुसने का था। यदि वह सफल होजाता तो युद्ध का चित्र ही बदल जाता।"

ये शब्द युद्ध-मंत्री स्टिमसन ने अपने विदाई भाषण में १९ सितंबर १९४५ को कहे थे।

आल आलमीन और स्वेज़ नहर के बीच का छोटा-सा रेतीला प्रदेश रोमेल न जीत सका। फलस्वरूप फ़िलस्तीन शत्रु-अधिकृत प्रदेश बनने से बच गया और हिटलर की फौजें आगे बढ़कर हिंदुस्तान में जापानी फ़ौजों से मेल करने से रोक दी गई। यदि ऐसा होजाता तो धुरी राष्ट्र या तो युद्ध में अनिश्चितता उत्पन्न करने में सफल होते या युद्ध को ७ साल तक घसीटकर ले जाते।

जिस दिन रोमेल ब्रिटिश टैंकों को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा था, उस दिन मैं काहिरा में ही था। उस शाम प्रेस सम्मेलन में हर एक के चेहरे पर व्याकुलता झलक रही थी "कैसी भयंकर स्थिति है," एक अंग्रेज़ पत्रकार ने कहा; परंतु मार्शल ने रोमेल को पीट ही दिया।

वायुयान द्वारा मैं न्यूयार्क में ५ अगस्त को पहुंचा। मिस्र का युद्ध अभी ज़ोरों पर था। भारत में अशांति की लहर दौड़ रही थी। गांधी जी और नेहरू राष्ट्र-व्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन का डंका बजाने ही वाले थे। उन्होंने ८ अगस्त को आंदोलन शुरू कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें तुरंत क़ैद कर लिया। फलतः ५ अगस्त के दिन प्रत्येक की आंख भारत पर लगी थी। ला-गार्डिया हवाई अड्डे पर बहुत से संवाददाता मुझे मिले और भारतीय संकट के विषय में मुझ से पूछने लगे। दूसरे रोज़ प्रातःकाल 'न्यूयार्क टाइम्ज़' ने तीन कालमी लंबा मेरा फोटो छापा जिसका शीर्षक था—"गांधीजी के साथ भोज।" उतना ही स्थान उसने आलोचना को दिया। तत्पश्चात् मेरा फोटो और मेरे वक्तव्य का सारांश अमेरिका के अनेक अखबारों में छपा। यदि मैं फिलस्तीन में न रुक जाता और भारत की स्थिति बिगड़ने से पहले १० दिन आगे ही घर पहुँच जाता तो अमेरिका में मेरी वापिसी की सूचना केवल इस प्रकार छपती—"हवाई जहाज़ से जो सज्जन उतरे, उनमें लूई फ़िशर भी था।"

: १३ :

रूज़वेल्ट, गांधी और चांग काई-शेक

भारत की स्थिति से चिंतित होकर जनरलिस्मो चांग काई-शेक ने २५ जुलाई १९४२ को प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के पास १५०० शब्दों का एक गुप्त तार भेजा। यह तार रूज़वेल्ट को २९ जुलाई को मिला और उन्होंने उसका उत्तर लगभग ३५० शब्दों म ८ अगस्त को दिया। ११ अगस्त को चांग ने एक छोटा-सा संदेश फिर भेजा, जिसका उत्तर रूज़वेल्ट ने अगले ही दिन दिया।

ये तार, जिनसे पता चलता है कि दो शासन-संस्थाओं के अध्यक्ष किस प्रकार एक-दूसरे से पत्र-व्यवहार करते हैं, न तो कभी छपे न अमेरिकन—चीना सरकारों के कुछ उच्च-अधिकारियों को छोड़कर किसी को इनके सम्बन्ध में कोई जानकारी ही हुई।

चांग ने लिखा था—"भारत का स्थिति बड़ी ही गम्भीर और संकटपूर्ण हो गई है। सच पूछिये तो यही वह सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसके आधार पर संयुक्त राष्ट्रों के युद्ध—विशेषत: पूरब के युद्ध—का परिणाम आंका जा सकता है।" चांग चाहते थे कि रूज़वेल्ट इस सम्बन्ध में कुछ करें. इसीलिए उन्होंने लिखा—"इस युद्ध में बल के विरुद्ध न्याय का जो संघर्ष हो रहा है उसका नेतृत्व आपके देश के हाथों में है और आप द्वारा प्रकट किये गये मत पर ब्रिटेन में सदा ही गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। इसके अलावा, भारतीय जनता इस बात की बहुत दिनों से आशा करती रही है कि आप भी इस युद्ध में सक्रिय भाग लेंगे और न्याय तथा समानाधिकार का पक्ष ग्रहण करेंगे।"

चांग को भारत में उत्पात की आशंका थी। वह जानते थे कि गांधी और नेहरू सारे भारतवर्ष में सत्याग्रह-आन्दोलन आरम्भ करने वाले हैं। यही कारण था कि उन्होंने प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट को लिखा कि "गांधी और नेहरू को अपना योजना पर पुन: विचार करने के लिए प्रेरित करने का एक मात्र उपाय

यह है कि संयुक्त राष्ट्र—विशेषत: अमेरिका, जिसे वे श्लाघा की दृष्टि से देखते हैं—आगे बढ़कर बीच-बचाव करें और उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्हें सान्त्वना दें। इससे भारतीयों में अपनी आनुपातिक महत्ता के प्रति पुन: जागरूकता उत्पन्न हो जायगी और उन्हें इस बात का दृढ़तर विश्वास हो जायगा कि इस संसार से न्याय अभी मिटा नहीं है। स्थिति के एक बार सुधर जाने पर उसे स्थायी बनाना असम्भव नहीं होगा और भारतवासी, जो कि अमेरिका के प्रति उसके उपकारों के लिए कृतज्ञ होंगे, स्वेच्छा से युद्ध में भाग लेंगे। यदि ऐसा नहीं हुआ तो संयुक्त राष्ट्र-समूह के अन्य-देशों के प्रति भी निराश भारतीय जनता की वही भावना होगी जो ब्रिटेन के प्रति है और ऐसी स्थिति का उत्पन्न होना संसार के लिए सबसे बड़ी दु:खान्तक दुर्घटना होगी, जिसमें अकेले ब्रिटेन का ही नहीं, बल्कि औरों का भी नुकसान होगा।"

"जहां तक ब्रिटेन का सवाल है," चांग ने लिखा, "वह एक महान् देश है और पिछले कुछ वर्षों से वह अपने उपनिवेशों में प्रगतिशील नीति का अनुकरण करता रहा है। इधर, दूसरी ओर, भारत एक निर्बल देश है और आजकल जो अभूतपूर्व विस्तृत युद्ध हो रहा है उसके कारण स्वभावत: किसी समस्या को साधारण युक्ति से हल करना सम्भव नहीं है।"

चांग काई-शेक ने प्रेज़िडेंट रूज़वेल्ट को चेतावनी दी कि संकट का सामना करने की ब्रिटिश चेष्टाएँ दुधारी तलवार के समान होंगी। "यदि इन युक्तियों द्वारा सत्याग्रह-आंदोलन का दमन करने में सफलता भी मिली तब भी", चांग ने लिखा, "संयुक्त राष्ट्रों को इतनी आत्मिक क्षति पहुँचेगी जितनी किसी युद्ध को हारने से भी नहीं पहुँच सकती। ऐसी स्थिति ब्रिटिश-हितों के लिए विशेष रूप से घातक सिद्ध होगी।"

"इसलिए, भारत को पूर्ण स्वाधीनता दे देना ही ब्रिटेन के लिए सबसे अधिक बुद्धिमानी और प्रगतिशीलता का रास्ता होगा," चांग काई-शेक ने सलाह देते हुए लिखा। उन्होंने यह भी लिखा—"संयुक्त राष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों और समान हितों को दृष्टि में रखते हुए मेरा चुप बैठे रहना असम्भव है।" चीन की पुरानी कहावत है—'अच्छी दवा, चाहे वह कड़वी ही क्यों न हो, रोग को दूर कर देती है'—सहृदयतापूर्ण सलाह, चाहे वह कटु ही क्यों न हो, हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। मुझे हार्दिक विश्वास है कि मेरी इस पक्षपात-रहित सलाह को, चाहे वह कितनी ही कड़वी क्यों न हो, ब्रिटेन उदारतापूर्वक और दृढ़ता के साथ स्वीकार करेगा।"

अन्त में चांग काई-शेक ने लिखा—"मैं अपने इस विचार को बरा-

बर दुहराना पसंद करूँगा। मेरी एकमात्र भावना यही है कि भारतीय स्थिति के सम्बन्ध में शुद्ध नीति का अनुकरण करने में और उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होने में संयुक्त राष्ट्रों को विलम्ब नहीं करना चाहिए ताकि उसके कारण हमारी युद्ध स्थिति को कोई गम्भीर आघात न पहुँचे। मुझे पूर्ण आशा है कि इस सम्बंध में आप अपने स्वस्थ विचारों से अवगत करेंगे।"

रूज़वेल्ट ने अपने उत्तर में लिखा—"भारतीय स्थिति के संबंध में आपने जो संदेश भेजा है उस पर मैं अधिक-से-अधिक गम्भीरता के साथ विचार करता रहा हूँ। मैं आपके इस विचार से पूर्णतः सहमत हूँ कि समान विजय के लिए भारतीय स्थिति को स्थिर बनाना चाहिए और सम्मिलित प्रयत्न में भारत का भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए।"

"किन्तु" प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने अपनी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए लिखा—"मेरा ख़याल है कि आप स्वयं इस बात को समझते होंगे कि इस सुझाव में, कि मैं ब्रिटिश सरकार और भारतीय जनता दोनों ही को 'एक न्यायोचित और संतोषजनक हल' निकालने की सलाह दूँ, कितनी कठिनाइयाँ हैं। ब्रिटिश सरकार का विश्वास है कि क्रिप्स-योजना में भारत के लिए जिन सुधारों की व्यवस्था की गई थी, वे उचित थीं। साथ-ही-साथ, उनका यह भी खयाल है कि इस अवसर पर किसी दूसरे देश के सुझाव उपस्थित करने से भारत की वर्तमान एकमात्र शासन-सत्ता के अधिकार को आघात पहुँचेगा और उसके फलस्वरूप वही संकट आ उपस्थित होगा जिसके दूर होने की आपको और मुझे दोनों को अभी आशा है।"

अन्त में प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने लिखा—"वर्त्तमान स्थिति में मैं अपने और आपके लिए यही अच्छा समझता हूँ कि हम अभी उस काम को करें जिसे करने के लिए आपनें मझसे कहा है।"

इस तार के वाशिंगटन से रवाना होने के अगले ही दिन गांधी, नेहरू, कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और उनके हज़ारों अनुयायी भारत में गिरफ़्तार किये जाकर जेलों में डाल दिये गए। बाद में भारत के अंग्रेज़ प्रधान न्यायाधीश सर मारिस ग्वायर ने इस सम्बंध में अपना निर्णय देते हुए कहा कि भारत के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को गैर-कानूनी ढंग से एक तथ्यहीन कानून के अन्तर्गत गिरफ़्तार किया गया हैं। इस पर वाइसराय ने अगस्त १९४२ की गिरफ़्तारियों को कानूनी ठहराने के लिए २८ सितम्बर १९४३ को एक नया आर्डिनेंस घोषित किया।

गिरफ्तारियों के कारण सारे भारतवर्ष में क्रोध की एक लहर-सा दौड़

गई और सविनय अवज्ञा आंदोलन बड़ी तीव्र-गति से बढ़ा। साथ-ही-साथ इस आंदोलन ने फौरन ही हिंसात्मक रूप भी ग्रहण कर लिया।

गिरफ्तारियों के दो दिन बाद चांग काई-शेक ने फिर प्रेज़िडेंट रूज़-वेल्ट को तार दिया। उन्होंने लिखा—"मुझे विश्वास है कि मेरी तरह आपको भी भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणा के सदस्यों की गिरफ्तारी के कारण—जिनमें गांधी और नेहरू भी शामिल हैं–चिन्ता उत्पन्न हुई होगी।" यद्यपि रूज़वेल्ट भारत के मामले में हस्तक्षेप करने से हिचक रहे थे, फिर भी चांग काई-शेक ने उन पर फिर एक बार इसी बात के लिए जोर डाला। उन्होंने लिखा—"चांहे कुछ भी हो, संयुक्त राष्ट्रों को अपने कार्यों से सारे संसार के सामने यह बात सिद्ध कर देनी चाहिए कि वे सभी देशों को समान रूप से स्वतंत्रता और न्याय दिलाने के अपने सिद्धान्तों का ईमानदारी से पालन करते हैं। मैं आपसे हार्दिक अपील करता हूं कि अटलाँटिक अधिकार-पत्र के रचयिता की हैसि-यत से आप भारत और सारे संसार के सामने आई हुई समस्या को हल करने के लिए कुछ कारगर युक्तियां करें। आपकी नीति से हम सबका, जो आक्रमण-कारियों के पाशविक बल का इतने दिनों से और साहस के साथ सामना करते आये हैं, पथ-प्रदर्शन होगा। आशा है आप शीघ्र ही उत्तर देंगे।"

इसके बाद घटनाएं बड़े तीव्र वेग से घटीं। चुगकिंग से सन्देश चलने के अगले ही दिन रूज़वेल्ट ने चांग काई-शेक को निम्नलिखित उत्तर भेजा—"मुझे शायद यह बात दुहराने की आवश्यकता नहीं कि अपनी दीर्घकालीन नीति के अनुसार और विशेष रूप से अटलांटिक अधिकार-पत्र में लिखी गई धाराओं के फलस्वरूप मेरी सरकार को उन सभी देशों की स्वतंत्रता की चिन्ता है, जो स्वतंत्र होने के अभिलाषी हैं। अमेरिकन सरकार के प्रवक्ता इस नीति का समर्थन बराबर करते आये हैं। फिलीपाइन जैसे देशों में तो इस नीति को व्याव-हारिक रूप दे दिया गया है।

"यह स्पष्ट है", प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने आगे चलकर लिखा—"कि इस समय ब्रिटिश सरकार और श्री गांधी तथा उनके अनुयायियों के बीच जो आंत-रिक झगड़ा चल रहा है, उसमें क्रियात्मक रूप से भाग न लेते हुए भी आपने और मैंने गम्भीर मतभेद प्रगट करने और झगड़े को शान्ति पूर्वक तै कराने की जो चेष्टाएं की हैं वे अब तक विफल रहीं हैं।"

"हमें इस मामले में भारत की सहायता चाहिए", रूज़वेल्ट ने लिखा, "और मैं चाहता हूं कि श्री गांधी इस तात्कालिक आवश्यकता को और भी स्पष्ट रूप से समझें और यह ध्यान में रखें कि भारतवर्ष के लिए जो घटना सबसे

बुरी हो सकती है, वह है धुरी-राष्ट्रों की विजय।"

"आज मैंने 'प्रशान्त कौंसिल' में, जिसमें श्री सुंग (चीन के विदेश-मन्त्री डाक्टर टी० वी० सुंग) भी हैं, कहा था कि मुझे और आपको यह बात ब्रिटिश सरकार और श्री गांधी तथा उनके अनुयायियों को स्पष्ट रूप से बता देनी चाहिए कि हमें अभी अंग्रेजों या भारतीय कांग्रेस दल पर दबाव डालने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है; किन्तु हम दोनों के मित्र हैं और यदि वे हमारी सहायता चाहेंगे तो हम सहर्ष देंगे।"

प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने अपने संदेश के अन्त में लिखा– "मैं समझता हूँ कि वर्तमान स्थिति में मेरे और आपके लिए भारत को सबसे अच्छी सहायता देने का एक मात्र तरीका यही है कि कोई खुली अपील या घोषणा न करके अभी हम उसे केवल इतना बता दें कि मित्र की हैसियत से हम सदा उसकी सहायता की अपील पर ध्यान देने को तैयार हैं, बशर्ते कि यह अपील दोनों पक्षों की ओर से आये।"

रूज़वेल्ट इस बात को पहले से ही जानते थे कि ब्रिटिश सरकार अमेरिका या किसी दूसरे देश से सहायता की अपील कभी नहीं करेगी। इसलिए कहा जा सकता है कि रूज़वेल्ट ने भारतीय मामले में हस्तक्षेप करने की चांग काई-शेक की आवश्यक अपील ठुकरा दी। वह जानते थे कि भारतीय समस्या के कारण विजय प्राप्त करने में देर लगेगी। किन्तु उन्होंने एक कूट-नीतिज्ञ की भाँति अपने परम्परागत दिखावे का पालन किया और कहा कि मैं हस्तक्षप उसी समय करूँगा जब दोनों दल मुझसे ऐसा करने के लिए कहेंगे। दूसरे शब्दों म यों कहिये कि उन्होंने हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया।

प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट अपने इस कार्य द्वारा उपनिवेशों पर साम्राज्यवादी देशों के प्राइवेट मालिकाना अधिकार का समर्थन कर रहे थे। एक उपनिवेश में आग धधक रही थी और उससे बाहर वालों को भी ख़तरा था, किन्तु उपनिवेश के स्वामी ने आग बुझानेवाले को अन्दर आने की अनुमति नहीं दी, इसलिए वह चुपचाप वापस लौट गया।

जब साम्राज्यवादी स्वामी अपने हठ पर अड़ जाता है और संयुक्त राष्ट्र अपने को इस मामले से अलग रखते हैं तो स्वतंत्रता की आकांक्षा रखने वाले उपनिवेश के सामने हिंसा के प्रयोग के अतिरिक्त और रास्ता ही कौन-सा रह जाता है? जुलाई-अगस्त १९४२ में रूज़वेल्ट और चांग काई-शेक में जो पत्र-व्यवहार हुआ उसका भारत और एशिया की जनता को कुछ पता नहीं चला। फिर भी वे जानते थे कि कोई भी बड़ा राष्ट्र एशिया के स्वतंत्रता चाहने वाले

देशों की सहायता करने को तैयार नहीं। यह बात उनके हृदय में अच्छी तरह से बैठ गई थी।

जब राजनीति का संचालन वर्तमान की सुविधाओं को दृष्टि में रखकर किया जाता है तो प्रायः भविष्य के लिए आपदाएँ उठ खड़ी होती हैं। सन् १९४२ की समस्याओं के हल न होने से सन् १९४५ और ४६ की समस्याएँ और भी गम्भीर बन गईं।

समनर वेल्स ने, जो सन् १९४२ में विदेश-उपमंत्री के पद पर होने के कारण प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के विचारों से परिचित थे, "न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून" के ८ अगस्त १९४५ के अंक में बताया—"प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट को इस बात का विश्वास था कि भारत को स्वतंत्रता मिल जाने से दूर पूरब की नियंत्रित उन्नति में बड़ी सहायता मिल सकती है। उन्हें यह भी विश्वास था कि इसी प्रकार की स्वतन्त्र युक्तियों से और भूल करते हुए भी चेष्टा करते रहने की पूर्वीय कार्य-प्रणाली द्वारा अन्त में भारतवासी अपने लिए उस स्वराज्य की स्थापना कर लेंगे जो उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं और विचार-धारा के अनुकूल होगा। किंतु चर्चिल ने रूज़वेल्ट के इस विचार का विरोध किया। यद्यपि प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के मैत्री-पूर्ण सुझाव, युद्ध की बड़ी ही संकटपूर्ण स्थिति में उपस्थित किये गये थे, फिर भी वे न केवल निष्फल रहे बल्कि ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने उनके प्रति बड़ा क्रोध भी प्रकट किया।"

चर्चिल के विचारों को बदलना आसान काम नहीं था। रूज़वेल्ट ने उनके साथ कई बार भारत की समस्याओं पर विचार करना चाहा, किंतु वह इस बात को अधिक आगे नहीं बढ़ा सके! इसके विपरीत उनके ऐसा करने से चर्चिल के हृदय में रोष की भावना उत्पन्न हुई, जिसे चर्चिल ठीक से छिपा भी नहीं सके।

प्रधान मंत्री नेविल चैम्बरलेन के तुष्टीकरण के समर्थक होने का मुख्य कारण यह था कि उन्हें इस बात का भय था कि युद्ध के फलस्वरूप जो अनिवार्य सामाजिक परिवर्तन होंगे उनसे धन, विशेषाधिकार और जाति की चिंता करने वाला ब्रिटेन नष्ट होजायगा। किंतु चर्चिल को विश्वास था कि इंग्लैण्ड युद्ध कर सकता है, उसे जीत भी सकता है और फिर भी वही पुराना-का-पुराना इंग्लैण्ड बना रह सकता है। चर्चिल के पुराने इंग्लण्ड में भारत भी शामिल था और उनसे भारत को छोड़ देने के लिए कहने का मतलब यह था कि उनसे उसी वस्तु को छोड़ देने के लिए कहा जाय जिसके लिए वह युद्ध कर रहे थे।

किंतु अमेरिका के लिए, जो संयुक्त राष्ट्रों में सबसे शक्तिशाली था, चर्चिल

की बात को स्वीकार करना या भारत सम्बंधी कार्रवाई में विलम्ब करना ऐसा ही था जैसे भारत पर फेंके गए एक देर से फटने वाले बम को अहानिकर बनाए बिना ही उसके विस्फोट को स्थगित कर देना । इसका मतलब यह था कि युद्धोत्तर साम्राज्यवाद की सम्पूर्ण दुःखद समस्या युद्ध के बाद शान्ति के रचयिताओं के हाथों में चली जाती। इस समस्या को लड़ाई के दिनों में ही हल करना अधिक सुगम होता जब कि अमेरिका और दूसरे देशों का जाग्रत जनमत विजय को शीघ्र प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायता देता और साथ-ही-साथ इस भूमण्डल को औपनिवेशिक शासन के रोग से मुक्त कर देता।

एक अमेरिकन दूतावास के प्रधान अधिकारी ने १२ सितम्बर १९४२ के अपने एक हस्तलिखित पत्र में ठीक इसके अनुकूल मत प्रकट किया। उन्होंने संक्षेप में मुझे लिखा—"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरा मस्तिष्क केवल वर्तमान की ही बातें सोचता है और ये बातें मुख्यतः इस सम्बंध में हैं कि हम किस प्रकार अपने शत्रुओं को अधिक-से-अधिक संख्या में मार सकते हैं और किस प्रकार कम-से-कम समय में उनका अधिक-से-अधिक साज़ो-सामान नष्ट कर सकते हैं। यही कारण है कि मुझे अतीत या भविष्य पर विचार करने का समय नहीं मिलता और न मुझे उन लोगों को रोके रखने का ही धैर्य है जो हमारे लिए आगे चलकर तो बहुमूल्य और रचनात्मक सिद्ध हो सकते हैं, किंतु जिनसे इस समय युद्ध की प्रगति में बाधा पड़ने की आशंका है । मेरा यह सीमित दृष्टि-कोण गांधी और उनके कार्यों पर लागू होता है या नहीं; यह तो मैं नहीं जानता, किंतु इतना मैं अवश्य जानता हूँ कि हम सारे काम नहीं कर सकते, इसीलिए मैं चाहा करता हूँ कि हम अपना सारा ध्यान उस शक्ति के प्रयोग में लगावें जिससे हमें शीघ्र-से-शीघ्र विजय मिल सकती है। अतीत की बुराइयों को दूर करने और भविष्य को उत्तम बनाने के काम मे हम अपनी बुद्धि बाद में लगा सकते हैं। क्या मेरी यह बात आपको बुरी मालूम होती है ?

यह बात मुझे बुरी नहीं लगी, किंतु मैं उससे स्तम्भित अवश्य हुआ; कारण, यह विचार-धारा वाशिंगटन के एक बड़े दल की विचार-धारा थी, जिसके नेता हैरी हॉपकिंस थे। इस दल का मुख्य सिद्धान्त था— पहले लड़ाई को जीतो और शान्ति की चिन्ता न करो। किन्तु घबराहट की बात तो यह है कि शांति रुकी नहीं। शान्ति का निर्माण न करते हुए भी हमने उसका निर्माण कर दिया। हमारे न करने पर भी दूसरों ने उसका निर्माण कर दिया।

आजकल की कठिनाइयों का कारण यह है कि युद्ध के समय, जब बल और प्रभाव पराकाष्ठा पर था, हमने स्थिति को अपने कब्जे में नहीं किया।

३० अगस्त १९४४ को जब मेरी वेन्डेल विलकी से—उनके अस्पताल जाने से ठीक एक सप्ताह पहले—मुलाकात हुई (बाद में उसी अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गई) तो उन्होंने मुझसे कहा—"सन् १९४३ के वसन्त-काल में ही हमने शान्ति को खोना आरम्भ कर दिया था। जब मैं सारे संसार का पर्यटन कर सन् १९४२ में लौटा तो प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट से मिला और उन पर हवाई जहाज़ से मास्को जाकर स्टालिन से मिलने के लिए ज़ोर डाला। मैंने उनसे कहा कि स्टालिन रूस से बाहर नहीं निकलेंगे किंतु आप अमेरिका के प्रेजिडेन्ट होते हुए भी अगर उनसे मिलने जायं तो आपकी मर्यादा को कोई आघात नहीं पहुँचेगा क्योंकि हम बलवान हैं और बलवानों को ऐसे काम करने का गुंजायश रहती है। वही समय था जबकि हम रूस के शक्तिशाली और शान्ति के लिए वहमी बनने से पहले स्थिति में परिवर्तन कर लेते। बलवान अक्सर वहमी होते हैं।"

विलकी ने एक क्षण के लिए खिड़की से बाहर देखा। न्यूयार्क का बन्दरगाह, पूरा-पूरा दिखाई दे रहा था। फिर वह मेरी ओर घूमे और पिछली बात का सिलसिला पकड़ते हुए बोले—"मैंने तो गार्डनर काउलिज़ से जो मेरे साथ पर्यटन पर गये थे और सरकार की ओर से कार्य कर रहे थे, एक स्मरण-पत्र भी बनवाया जिसमें प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के स्टालिन से मिलने जाने के मुख्य उद्देश्य लिखे गये। मैंने एक लिखित स्मरण-पत्र उपस्थित करना चाहा था क्योंकि जब १९४१ में मैं इंग्लैण्ड से लौटा था तब भी मैंने प्रेज़िडेन्ट से ऐसा ही प्रस्ताव किया था और कहा था कि आप जाकर चर्चिल से मिलिये और शांति की रूपरेखा निश्चित कीजिये। उस समय भी भारत, चीन और अनेक दूसरे देशों के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य किया जा सकता था। किंतु अब····।" कहते-कहते विलकी एकाएक रुक गये। शान्ति हाथ से निकलती जा रही थी क्योंकि हमने पहले के सुअवसरों को ठुकरा दिया था।

किसी भी राष्ट्र के लिए यह उचित नहीं कि वह अपनी शक्ति-वृद्धि के लिए अपने अधिकार की बन्दूक़ किसी दूसरे देश के कन्धे पर रखकर चलावे। अच्छाई इसी में है कि वह अपनी शक्ति को स्वतंत्रता और भद्र मानवी आचार की नींव पर खड़ी की जाने वाली शान्ति की स्थापना में लगावे।

चूंकि समनर वेल्स के कथनानुसार प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट को इस बात का विश्वास था कि भारत के स्वतन्त्र हो जाने से दूर पूरब में नियंत्रित उन्नति में सहायता मिलेगी, इसलिए उन्हें चाहिए था कि वह भारतीय समस्या को हल करने पर ज़ोर देते। यदि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त को ही शान्ति-

स्थापना की पहली आधार-शिला मान लिया जाता तो रूसी साम्राज्यवाद की गति को रोकना और साथ ही-साथ अमेरिकन साम्राज्यवाद की ओर भी लोगों के झुकाव को रोकना अधिक सरल हो जाता।

चर्चिल से तीन फुट की दूरी पर बैठने से उनका क्रोध बड़ा कष्टदायक मालम होता था। भविष्य का रोष तो और भी अधिक कष्टकर होगा।

चर्चिल ने चांग काई-शेक और रूज़वेल्ट दोनों को धता बताई। चांग काई-शेक ने सीधे ब्रिटिश सरकार से भारत के सम्बन्ध में कुछ करने के लिए अपील की। इसके उत्तर में चर्चिल की सरकार ने कहा कि अगर चीन भारत के मामले में दखल देना बन्द नहीं करेगा तो चीन और ब्रिटेन की पारस्परिक मैत्री में संकट उत्पन्न हो जायगा। उसका उल्लेख करते हुए फ़िलीपाइन के अध्यक्ष मैन्युअल क्वीज़ॉन ने सितम्बर १९४२ में वाशिंगटन के शोरहम होटल में मुझसे कहा—"अगर ऐमरी (भारत-मंत्री लियोपोल्ड एस० ऐमरी) ने ऐसी बात मेरे दूत से कही होती और यदि मेरे देश में डेढ़ करोड़ की बजाय चालीस करोड़ जनता होती तो मैं कह देता कि अच्छी बात है, मेरी और आपकी मित्रता का कोई मूल्य नहीं रहा और फिर मैं जापानियों से बातचीत शुरू कर देता।"

क्वीज़ॉन ने ज़ोर-ज़ोर से पढ़कर मुझे वे तार सुनाये जो उन्होंने गांधी और नेहरू को ७ अगस्त को भेजे थे और जिन में उन्होंने प्रार्थना की थी कि वे ऐसा कोई भी कार्य न करें जिससे संयुक्त राष्ट्रों की विजय को धक्का पहुंचने की सम्भावना हो। क्वीज़ॉन ने ये तार प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट को दिखा दिये थे और उन्होंने इन तारों को पास भी कर दिया था। किंतु ये तार गांधी और नेहरू को नहीं दिये गये। १८ सितम्बर को क्वीज़ॉन को वाशिंगटन-स्थित ब्रिटिश राजदूत लार्ड हैलीफ़ैक्स का पत्र मिला कि भारत के वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने तारों को गांधी और नेहरू के पास भेजने से इन्कार कर दिया है।

सितम्बर १९४२ में व्हाईट हाल में प्रशांत कौंसिल की जब सभा हुई तो क्वीज़ॉन ने भारत की समस्या का प्रश्न उठाया और अमेरिका द्वारा हस्त-क्षेप किये जाने की वांछनीयता के पक्ष में अनेक तर्क भी दिये। प्रेज़िडेन्ट रूज़-वेल्ट, जो कौंसिल का सभापतित्व कर रहे थे, बोले कि भारत के सम्बन्ध में मेरी जानकारी बहुत ही थोड़ी है, किंतु अधिकांश अमेरिकन भारत के स्वतंत्र किये जाने के पक्ष में हैं और ब्रिटेन तथा भारतवर्ष के लिए यह अपेक्षित है कि वे आपस में बातचीत कर समझौता करें। उस सभा में लार्ड हैलीफैक्स भी उप-

स्थित थे। उन्होंने कहा कि अब से पहले भारतवर्ष में फिर से नियंत्रण स्थापित करने की आवश्यकता है और ब्रिटेन इसे स्थापित करेगा। इसके बाद क्वीज़ॉन ने चीनी राजदूत डाक्टर सुंग की ओर घूमते हुए उनकी सम्मति पूछी! सुंग ने उत्तर दिया कि "भारत, अमेरिका और इंग्लैण्ड की ईमानदारी की कसौटी है।"

भारत में ब्रिटेन की नीति केवल नियंत्रण की पुनः स्थापना करने की है, यह बात लार्ड हैलीफैक्स ने मुझसे २८ अगस्त को कही। वह बोले—"अगर मैं भारत का वाइसराय होता—मुझे खुशी है कि मैं नहीं हूं—तो मैं अब कांग्रेस से कदापि समझौते की कोई बातचीत नहीं करता। भारत के लाखों निवासी अज्ञानी और अशिक्षित भेड़ के समान हैं और अगर आपको ऐसे आदमियों पर शासन करना है तो आपको यह बात प्रमाणित करनी होगी कि आप शासन कर सकते हैं।"

यही मनोवृत्ति थी जिसके कारण चर्चिल और हैलीफैक्स से भारत के सम्बन्ध में रूज़वेल्ट को मुंह की खानी पड़ी और रूज़वेल्ट ने मामले को आगे नहीं बढ़ाया।

महात्मा गांधी ने प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट को देने के लिए मुझे एक निजी पत्र दिया था। वह पत्र आवश्यक था और यदि रूज़वेल्ट ने उसके अनुसार कार्य किया होता तो भारत की बहुत-कुछ परेशानियाँ कम हो गई होतीं। मैं चाहता था कि वह पत्र प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के पास जल्दी-से-जल्दी पहुंचे, इसलिए मैंने उसे भारत-स्थित अमेरिकन हवाई बेड़े के जनरल ग्रूबर को दे दिया, जो विशेष अनुमति से हवाई जहाज द्वारा सीधे वाशिंगटन जा रहे थे और जिन्होंने मुझसे कहा कि—वह प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट से मिलेंगे। वह पत्र, जिसे महात्मा गांधी ने सेवाग्राम में १ जुलाई को लिखा था, इस प्रकार था—

"प्रिय मित्र!

मैं दो बार आपके महान् देश में आता-आता रह गया। सौभाग्यवश मेरे वहां कितने ही मित्र हैं, कुछ परिचित कुछ अपरिचित। मेरे देश के कितने ही निवासी अमेरिका में उच्च-शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं और अब भी कर रहे हैं। मुझे यह मालूम है कि अनेक भारतवासियों ने वहाँ शरण भी ली है। थोरो और इमर्सन के लेखों से मैंने बहुत लाभ उठाया है। ये सब बातें मैं आपको इसलिए लिख रहा हूं कि मेरा आपके देश से कितना सम्बन्ध है। ब्रिटेन के सम्बन्ध में मुझे इससे कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि यद्यपि मैं ब्रिटिश शासन को सख्त नापसन्द करता हूं तब भी इंग्लैंण्ड में मेरे अनेक मित्र हैं, जिनसे मैं

अपने देशवासियों के समान ही प्रेम करता हूँ। मैंने अपनी कानूनी शिक्षा वहीं पाई थी। इसलिए आपके देश और ग्रेट ब्रिटेन के प्रति मेरे हृदय में सद्भावना-ही-सद्भावना है। अतः आपको मेरे इस कथन पर विश्वास करना चाहिए कि मैंने मैत्री पूर्ण भावनाओं से ही प्रेरित होकर यह प्रस्ताव किया है कि अंग्रेज भारतवासियों की इच्छा की चिन्ता न करते हुए और बिना किसी संकोच के फ़ौरन भारत पर से अपना शासन हटा लें। मैं चाहता हूं कि इस समय ब्रिटेन के प्रति भारत में जो बुरी भावनाएं फैली हुई हैं, उन्हें मैं, चाहे उनके विरोध में कुछ ही क्यों न कहा जाय, सद्भावना में परिणत कर दूं और इस तरह लाखों भारतवासियों को वर्त्तमान युद्ध में अपना यथोचित भाग लेने के लिए प्रेरित करूं।

जहां तक मेरे व्यक्तिगत विचारों का प्रश्न है, वे बिलकुल स्पष्ट हैं। मैं सभी प्रकार के युद्ध से घृणा करता हूं। इसलिए अपने देशवासियों को प्रेरित कर सका तो निस्संदेह वे सम्मानपूर्ण शान्ति को प्राप्त करने में बड़ी ही उपयोगी और निर्णायक सहायता देंगे। किन्तु मैं जानता हूं कि हममें सभी लोगों को अहिंसा में पूर्ण विश्वास नहीं है। विदेशी शासन में रहते हुए हम इस युद्ध में दासता के अतिरिक्त और कोई दूसरी उपयोगी सहायता नहीं कर सकते।

भारतीय कांग्रेस की नीति, जो अधिकतः मेरे ही निर्देश से कार्य करती है, ब्रिटेन को आघात न पहुंचाने की ही रही है, किन्तु साथ-ही-साथ वह अपने लिए, जो कि निस्संदेह भारत की सबसे बड़ी और पुरानी राजनीतिक संस्था है, सम्मान-पूर्वक कार्य करने की स्वतंत्रता चाहती है। क्रिप्स-योजना द्वारा प्रकट की गई ब्रिटिश नीति ने, जिसे भारत के सभी दलों ने अस्वीकार कर दिया, हमारी आंखें खोल दी हैं और उसी के कारण मुझे यह प्रस्ताव करना पड़ा है। मैं समझता हूं कि मेरे प्रस्ताव का पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया जाना ही एक-मात्र ऐसा उपाय है जिससे ब्रिटेन की रक्षा हो सकती है। मैं यह कहने का साहस करता हूं कि जब तक भारत और अफ्रीका का ब्रिटेन द्वारा शोषण होता है और स्वयं अमेरिका में हब्शियों की समस्या विराजमान है तब तक मित्रराष्ट्रों का यह कहना कि हम इस संसार को व्यक्तियों और जनतंत्र की स्वतंत्रता के लिए सुरक्षित बनाने जारहे हैं, खोखला मालूम देता है। मैंने अपने प्रस्ताव में कोई जटिलता न आने देने के विचार से अपने को भारत तक ही सीमित रखा है। यदि भारत स्वतंत्र हो जाता है तो और देश भी, यदि साथ-ही-साथ नहीं तो उसके शीघ्र ही बाद, आज़ाद हो जायंगे।

अपने प्रस्ताव को सर्वमान्य बनाने के अभिप्राय से मैंने यह सुझाव रखा है कि अगर मित्रराष्ट्र ज़रूरी समझें तो वे अपने खर्च पर भारत में फौज रख

सकते हैं। किंतु यह फौज भारत की आन्तरिक शान्ति की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि जापानी आक्रमण को रोकने और चीन की रक्षा करने के लिए रखी जायगी। जहाँ तक भारतवर्ष का सवाल है, उसे उतना ही स्वतंत्र हो जाना चाहिए जितने ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका हैं। युद्ध-काल में मित्र राष्ट्रीय-सेनाएं स्वतंत्र भारतीय सरकार के साथ समझौता करके भारत में रहेंगी। इस स्वतंत्र सरकार का निर्माण भारत की जनता करेगी और उसके निर्माण में कोई भी बाहरी देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करेगा।

यह पत्र मैं इस प्रस्ताव के प्रति आपकी सक्रिय सहानुभूति प्राप्त करने के अभिप्राय से लिख रहा हूँ; मुझे आशा है कि प्रस्ताव आपको पसन्द आएगा।

यह पत्र आपके पास श्री लुई फ़िशर ले जा रहे हैं। यदि पत्र में मैं कोई बात स्पष्ट न कर पाया हूं तो आप मुझे लिख भेजिये और मैं फौरन उसका स्पष्टीकरण कर दूँगा।

अन्त में मैं यह आशा करता हूँ कि आप इस पत्र को एक बलात् हस्तक्षेप समझकर रुष्ट नहीं होंगे, बल्कि इसे मित्रराष्ट्रों के एक मित्र और हितैषी की प्रार्थना समझेंगे।

सस्नेह आपका,
(हस्ताक्षर) एम. के. गांधी।"

भारत से लौटते समय मियामी पहुँचने पर मैंने प्रेज़िडेन्ट रूवेल्ज़ट से तार द्वारा मिलने की अनुमति मांगी। दो दिन बाद मुझे प्रेज़िडेन्ट के सेक्रेटरी एम० एम० मैकिनटायर के हस्ताक्षर से एक तार मिला, जिसमें लिखा था कि काम की अधिकता के कारण हमने सेक्रेटरी हल से आपसे मिलने के लिए कहा है।

बाद में मुझे प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट का ११ अगस्त १९४५ का पत्र मिला, जिसमें लिखा था—

"प्रिय श्री फ़िशर,

मैं अपने को स्थिति के बहुत निकट सम्पर्क में रखने का प्रयत्न कर रहा हूं। कितने ही साधनों द्वारा मुझे प्रतिदिन ताज़े-से-ताज़े समाचार मिलते रहते हैं।

आपका सुहृद्
(हस्ताक्षर) फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट

मुझे प्रेज़िडेन्ट से न मिल सकने का अफसोस रहा और मैंने सोचा कि अगर मैं पत्र को जनरल ग्रूबर के हाथ न भेजकर अपने साथ लाता तो प्रेज़िडेन्ट

से मिलने की अधिक सम्भावना हो सकती थी।

१२ अगस्त को प्रेज़िडेन्ट के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने वाले एक व्यक्ति ने मुझे निमंत्रित किया और कहा—"फ्रैंकलिन ने मुझसे कहा है कि मैं आपसे मिलूं और आपकी बातें उन्हें जाकर बताऊँ।"

जब मैं भारत से न्यूयार्क लौटा तो श्रीमती क्लेयर बूथ ल्यूस ने टेलीफ़ोन करके मुझे पूछा कि क्या मैंने वेन्डेल विलकी से मुलाक़ात की है। मैंने कहा कि नहीं और श्रीमती ल्यूस ने विलकी के साथ मेरी मुलाक़ात तै करा दी! उनसे मिलने के लिए मैं उनके दफ़्तर १५ ब्राड स्ट्रीट, गया। मेरे प्रवेश करने पर वह उठे नहीं और अपने पैर उन्होंने डेस्क पर रहने दिये। उन्होंने बताया कि वह बहुत थक गये थे। अमेरिका की इंडिया लीग के सभापति श्री जे० जे० सिंह ने बताया कि उनसे भी विलकी इसी ढंग से मिले थे। यह बात मुझे पसन्द आई। मैं उनकी ईमानदारी से प्रभावित हुआ।

विलकी ने कहा कि वह मेरे भारत-सम्बन्धी विचारों से सहमत हैं। उनका ख़याल था कि भारत के विषय में उनके विचार उस भावी अवसर के लिए लिखकर रख लिये जाने चाहिएं जब स्थिति बदल जायगी और हम अपने युद्ध-सम्बन्धी उद्देश्यों का शान्ति-सम्बन्धी व्यावहारिक अस्त्र के रूप में प्रयोग करेंगे। उन्होंने मुझे बताया कि अपने भू-पर्यटन के समय उन्होंने भारत जाना चाहा था और अपनी यह इच्छा प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के सामने प्रकट भी की थी किन्तु प्रेज़िडेन्ट का मत था कि उन दिनों किसी अमेरिकन का भारत जाना ठीक नहीं, इसलिए विलकी को चाहिए कि वह अपनी यात्रा पूरब, रूस और चीन तक ही सीमित रखें।

प्रेज़िडेन्ट के एक ग़ैर-सरकारी सलाहकार ने, जिनसे मैं कभी-कभी वाशिंगटन में मिला करता था, मेरे भारत से लौटने पर एक मित्र द्वारा मेरे पास कहला भेजा कि प्रेजिडेन्ट मुझसे नहीं मिलना चाहते।

उस समय अमेरिका की नीति यह थी कि भारत के मामले में ब्रिटेन को परेशान न किया जाय। यह एक सुविधाजनक नीति है। झगड़े में न पड़ना अक्सर सुविधाजनक होता है; किन्तु ऐसा करना मंहगा पड़ सकता है।

२७ अगस्त, १९४२ को दिन में १२॥ बजे मैं विदेश-मन्त्री कार्डेल हल से मिला। उन्होंने मुझसे भारत के सम्बन्ध में पूछा और फिर टीका करते हुए कहा—"मुश्किल यह है कि जब दूसरा पक्ष टस-से-मस नहीं होता तो हम कैसे हस्तक्षेप कर सकते हैं? यह तो वही बात हुई कि कोई बाहरी देश हमें मुनरो सिद्धान्त को कार्यान्वित करने की रीति बताने की चेष्टा करे।"

मैंने कहा कि अगर इंग्लैंड ने एक लैटिन अमेरिकन राष्ट्र की आक्रमण से रक्षा करने का कुछ भार अपने कन्धों पर ले रखा है और अगर उस राष्ट्र को सारा यूरोप मित्रराष्ट्रों की ईमानदारी की कसौटी समझता है तो उसके मामले में बोलने का इंग्लैंड को अवश्य अधिकार होगा।

हल ने कहा कि उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलनों और नई सरकारों को नियमित स्वीकार करने के सम्बन्ध में सदा अनुकूल दृष्टिकोण रखा है। उन्होंने कहा—"जब मैं नौजवान था तो मैंने क्यूबा की आजादी के लिए लड़ाई लड़न के वास्ते एक रेजिमेन्ट संगठित की थी। सन् १९३३ में मैंने अनेक बाधाओं की अवहेलना करते हुए सोवियत् रूस को नियमित मानने के लिए आवाज़ उठाई थी। लैटिन अमेरिका में हमने अच्छे पड़ोसियों की तरह रहने की नीति ग्रहण कर रखी है। चीन के लिए मैंने समान अधिकार का समर्थन किया है, किन्तु जहां तक भारत का प्रश्न है, यद्यपि प्रेज़िडेन्ट किसी भी अवसर को हाथ से निकलने नहीं दे रहे हैं, फिर भी जब तक ब्रिटेन टस-से-मस न हो तब तक हम कुछ नहीं कर सकते। हो सकता है कि दूसरा आदमी जमीन में अपनी एड़ी गड़ाकर खड़ा हो जाय और कहे कि मैं तो यहीं खड़ा रहूंगा चाहे बाकी सब चीज़ें टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो जायं।" यह बात कार्डेल हल ने कई तरह से दुहराई।

१२ बजकर ४० मिनट पर श्री हल के सेक्रेटरी ने भीतर आकर कहा "अब आप भोजन कर लीजिये।" शीघ्र ही वह एक ट्रे लाया जिसमें भुना हुआ ठंडा गो-मांस, एक सलाद, एक गिलास टमाटर का रस, एक गिलास दूध, एक गिलास पानी और एक प्याला चाय थी। इन्हें खा-पीकर हल ने कहा—"अच्छा, अब मुझे जाना चाहिए। आज मैं न्यूज़ीलैंड के प्रधान मंत्री फ्रेज़र को खाने पर बुला रहा हूं।"

एक समान शत्रु से लड़ाई लड़ने के लिए कई राष्ट्र सम्मिलित हो जाते हैं। वे अपनी सेनाओं, अपने अस्त्र-शस्त्रों और अपने साजो-समान को समन्वित कर लेते हैं। उनके लड़के रणभूमि में साथ-साथ मौत के शिकार बनते हैं। किन्तु जब शान्ति-स्थापना का समय आता है तो वे अलग-अलग रास्ते पर चलने लगते हैं, अपनी जगह पर जाकर खड़े हो जाते हैं और किसी व्यक्ति को अपनी सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप नहीं करने देते। जब तक यह बात बन्द न होगी तब तक शान्ति के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की चर्चा करना निरर्थक है।

भारत में ब्रिटेन की सार्वभौम सत्ता है, क्योंकि उसमें इसकी शक्ति है।

यदि भारतवासियों में अंग्रेज़ों को निकाल बाहर करने की शक्ति आ जाय तो सार्व-भौम सत्ता उनकी हो जाय। रूस ने बाल्टिक देशों और पूर्वी पोलेंड को जीत लिया और उन्हें अपनी सार्वभौम सत्ता में मिला लिया, क्योंकि वह उनसे अधिक शक्तिशाली था और बाहरी हस्तक्षेप सहन नहीं करता था। यह अवैध बल है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से मानव-समाज अब भी मध्य-कालीन परिस्थिति में है, जब कि सड़कों पर लुटेरों का राज रहता था और वे कमज़ोरों से कर लिया करते थे।

यदि शान्ति का नक्शा शक्तिशाली अराजकता द्वारा तैयार किया जाता है और जब उस पर अराजकता फैलाने वाली सरकारों का अधिकार होता है तो शान्ति के लिए स्थापित की गई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था पंगु बन जाती है।

उस फाशिज़म के साथ युद्ध करते समय, जिसे सिद्धान्त-विहीन या अवैध बल कहा जाता है, संयुक्त राष्ट्रों ने किस प्रकार एक ऐसी शान्ति की स्थापना की जिसमें सिद्धान्त-विहीन और अवैध शक्ति निहित है ?

अमेरिका किधर जा रहा है? संसार किधर जा रहा है? क्या एक और युद्ध—एक परमाणु-युद्ध—का होना अनिवार्य है ?

: १४ :

सुरक्षा की खोज

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की रूप-रेखा इस बात पर निर्भर होती है कि सब से अधिक शक्तिशाली राष्ट्र और उससे दूसरे नम्बर पर आने वाले देश के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हैं? नैपोलियन के युग में, यूरोप की राजनीति ब्रिटेन और फ्रान्स की शत्रुता के धुरे के चारों तरफ घूमती रही। बीसवीं शताब्दी के पहले ४० वर्षों में—सन् १९१९ से १९३५ तक के उस काल को छोड़कर जब जर्मनी कमजोर था—यूरोपीय राजनीति की कुंजी ब्रिटेन और जर्मनी की शत्रुता थी। आज यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र रूस है और इंग्लैंड उससे दूसरे नम्बर पर है। यही कारण है कि आजकल यूरोप के सारे मामले इन दो देशों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आश्रित हैं।

कई शताब्दियों तक संसार की अधिकांश शक्ति यूरोप और उसके समुद्र पार साम्राज्य के हाथों में थी। इसीलिए उन दिनों यूरोप के विदेशी मामले अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यायवाची माने जाते थे।

शक्ति का मुख्य केन्द्र अब यूरोप में नहीं रह गया। अमेरिका और रूस में (जिसका एक बहुत बड़ा भाग यूरोप से बाहर है) शक्ति के बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित होगए हैं। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उस सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है जो इस समय संसार के सब से अधिक शक्तिशाली देश अमेरिका और उससे बाद के नम्बर पर आने वाले देश रूस के बीच हैं।

यूरोप के प्रांगण में रूस को ब्रिटेन की शक्ति का सामना करना है और संसार के क्षेत्र में अमेरिका की शक्ति का। इस स्थिति के कारण अमेरिका और ब्रिटेन में एक-दूसरे के प्रति दिलचस्पी पैदा हो गई है किन्तु समय-समय पर महत्त्व पूर्ण समस्याओं पर मतभेद होना असम्भव नहीं।

तीन बड़े राष्ट्रों ने मिलकर लड़ाई जीती। आपस के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक भेदों के होते हुए भी उन्होंने एक-दूसरे की रक्षा में सहायता की। भौगोलिक दृष्टि से रूस और अमेरिका एक-दूसरे से बहुत दूर हैं—

उनमें कोई व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। फिर संघर्ष और तनातनी क्यों?

जर्मनी से इंग्लैण्ड को संकट था और यदि इंग्लैण्ड ने हाथ-पैर डाल दिये होते तो उससे अमेरिका को भी संकट उत्पन्न हो जाता। बाद में जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। इससे तीनों देश मिल गए।

जर्मन-शक्ति नष्ट हो चुकी है। जापानी शक्ति का भी अंत हो चुका है। इटैलियन शक्ति भी स्वाहा हो चुकी है। ऐसी कौन-सी वस्तु रह गई है जो तीनों राष्ट्रों को एक में बांधे रखे?

क्या एक नये युद्ध का भय उन्हें एक-दूसरे से मिलाये नहीं रख सकता? बड़ा युद्ध इन तीनों बड़े राष्ट्रों द्वारा ही लड़ा जा सकता है इसलिए यदि वे मिलकर रहें तो युद्ध असम्भव हो जाय!

इस साधारण बुद्धि की बात का राष्ट्रों की स्वाभाविक कूटनीतिज्ञता से विरोध है। राष्ट्रों का एक-दूसरे से स्पर्धा करना प्राकृतिक होता है। परस्पर सहयोग के समय भी उनमें प्रतिद्वन्द्विता की भावना रहती है। द्वितीय महा-समर में वे लगातार एक-दूसरे से स्पर्धा करते रहे।

शान्ति उसी समय स्थापित हो सकती है जब राष्ट्र अपने आत्म-बल का प्रयोग कर पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता की जन्मजात भावना को बिलकुल मिटा दें और उसकी सहायता से भावी परमाणु-युद्ध के नाश से बचें। आत्म-हत्या और स्वरक्षा की परस्पर-विरोधी भावनाओं के संघर्ष स्वरूप राष्ट्रों का जो रूप निकलेगा उसी के द्वारा मानव-समाज के भाग्य का निर्णय होगा।

राष्ट्रों की प्रतिद्वन्द्विता किस प्रकार कम हो सकता है? कुछ लोग इसे तीन या पांच बड़े राष्ट्रों में संधि या मित्रता करके और साथ-ही-साथ संयुक्त राष्ट्रीय संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना द्वारा दूर करना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में जब राष्ट्र एक-दूसरे से सहमत होना चाहेंगे तब तो होंगे, नहीं तो उन्हें एक-दूसरे से मतभेद प्रकट करने और लड़ने की स्वतंत्रता रहेगी।

चूंकि यह व्यवस्था संतोषजनक नहीं है, इसीलिए बहुत से लोग—जिनकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है—कहते हैं कि राष्ट्रों की प्रति-द्वन्द्विता और लड़ाई उसी समय बंद हो सकती है जब वे अपनी-अपनी सार्वभौम सत्ता को त्याग दें और एक उच्च अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की अधीनता में रहें जो उन्हें एक-दूसरे से सहमत रहने के लिए बाध्य करेगी।

अमेरिकन राष्ट्र एक-दूसरे से युद्ध करने की बात कभी नहीं सोचते। वे एक-दूसरे से युद्ध नहीं कर सकते। संघीय सरकार उन्हें ऐसा करने से रोक देगी। अगर सारे संसार के लिए एक संघीय सरकार की स्थापना हो जाय तो

युद्ध हो ही नहीं सकता ।

अमेरिकन राष्ट्रों को सार्वभौम सत्ता प्राप्त है, फिर भी कुछ अंशों म उन्होंने अपने को वाशिंगटन की अधीनता में छोड़ रखा है और इसका उन्हें उचित बदला मिलता है । कुछ कानून तो वे अपने लिए स्वयं बनाते हैं और कुछ अपने सहयोग से दूसरों द्वारा बनाये गए कानूनों को स्वीकार कर लेते हैं। विश्व की संघीय सरकार भी इसी रीति से कार्य कर सकती है । शान्ति का रास्ता यही है ।

अन्तर्राष्ट्रीय सरकार बनेंगी अवश्य; प्रश्न केवल यह है कि उसकी स्थापना हम स्वयं पहले से ही कर लेते हैं, मानव-समाज परमाणु-युद्ध करता है और उसके फलस्वरूप एक ऐसी विजयिनी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो सारे संसार की सत्ता अपने हाथों में ले लेगी और सब राष्ट्रों की सरकार बन बैठेगी । यह विजयिनी शक्ति रूस के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती ।

मनुष्य स्वेच्छा से स्थापित की हुई अन्तर्राष्ट्रीय सरकार पसन्द करता है । हमारे पूर्वजों के समय में शासन-सत्ता नगरों के अधिकार में थी । बैलगाड़ियों और घोड़ों के युग में देश ने सरकार का रूप ग्रहण किया था । भाप और बिजली के युग में यह स्थान राष्ट्र को मिला था और अब हवाई जहाज तथा परमाणु-शक्ति के युग में शासन-सत्ता एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के हाथों में होगी ।

फिर भी युद्ध-काल में हमारे सामने ऐसे कितने ही प्रस्ताव आये जिनका उद्देश्य संसार का पुराने ढंग की इकाइयों, साम्राज्यों, गुटबंदियों आदि में बाँट देने का था । इन सभी योजनाओं को उद्देश्य राष्ट्रीयता का प्रचार करना था ।

सन् १९४३ में गुटबंदियों के प्रस्तावों की एक आंधी-सी आई । न्यूयार्क के गवर्नर थामस डेवी ने और क्लेयर बूथ ल्यूस ने ब्रिटेन और अमेरिका की गुटबंदी पर जोर डाला । अर्ल ब्राउडर ने, जो उन दिनों अमेरिकन कम्युनिस्टों के नेता थे; ब्रिटेन, अमेरिका और रूस की गुटबंदी की सलाह दी । वाल्टर लिपमेन और दूसरे लोगों ने प्रस्ताव किया कि युद्ध के बाद शान्ति कायम रखने की एकमात्र युक्ति ब्रिटेन, रूस, अमेरिका और चीन की गुटबंदी होगी ।

एक लेख में मैंने लिखा—"ये सुझाव हानिप्रद हैं, क्योंकि गुटबंदी से संसार या अमेरिका को युद्ध से अलग रहने में सहायता नहीं मिलेगी । फिर भी बड़ी-बड़ी ग्राहक-संख्या वाले पत्र समय की ही गति में गति मिलाना पसन्द करते हैं, उन्हें आगे बढ़कर बात सोचने में हिचक होती है । आजकल गुटबंदी को लोग लड़खड़ाती हुई शान्ति का लक्षण समझते हैं । सन् १९४३ और १९४४ में

गुटबंदियों की एक चलन-सी चल गई थी। इसीलिए उन दिनों जनता से न तो गुटबंदियों के विरुद्ध कुछ कहा जा सकता था न अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए ही अपील की जा सकता थी। मेरा लेख अन्ततः तिमाही 'वरजीनिया रिव्यू' के बसन्त, १९४४ के अंक में प्रकाशित हुआ।

संयुक्त राष्ट्रीय अधिकार-पत्र के सम्बन्ध में डमबरटन ओक के प्रस्तावों को पढ़ते ही मैंने उनके अधूरेपन पर प्रकाश डालते हुए सितम्बर १९४४ में 'नेशन' नामक-पत्र में एक लेख लिखा। मैंने विशेष रूप से विशेष मताधिकार की उस धारा की निन्दा की जिससे पाँच बड़े राष्ट्रों में से प्रत्येक को इस बात का अधिकार है कि वह संयुक्त राष्ट्रों को किसी आक्रमणकारी के विरुद्ध कार्य करने से रोक दें, चाहे वह स्वयं ही आक्रमणकारी क्यों न हो। बाद में मैंने सानफ्रांसिस्को के अधिकार-पत्र में उल्लिखित बड़े राष्ट्रों के विशेष मताधिकार पर भी आपत्ति उठाई और कुछ संशोधन पेश किया। इस बात के लिए 'सन्डे रिव्यू ऑव लिटरेचर' के सम्पादक नारमैन कज़िन्स ने एक सम्पादकीय टिप्पणी में मेरी आलोचना की और मुझे सम्पूर्णतावादी (परफेक्शनिस्ट) कहकर मेरे प्रति घृणा प्रगट की। बाद में संसार पर परमाणु-बम गिरा और नारमैन कज़िन्स ने अपने पत्र में सानफ्रांसिस्को अधिकार-पत्र की बुराइयों पर एक लम्बा वक्तव्य छापा। इस पर मेरे और नारमैन के बीच एक बड़ा मनोरंजक पत्र व्यवहार हुआ।

जो विचार समय से तीन या ६ महीने पहले व्यक्त किये जाते हैं वे अनेक अमेरिकन पत्रकारों को बाधक प्रतीत होते हैं। वे घटनाओं से आगे बढ़े रहना चाहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि वे घटनाओं से पीछे रह जाते हैं और बाद में घटना घटने पर उनके पाठक आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। विशेष रूप से युद्ध के दिनों में यदि कोई व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बंध में बिना सेंसर किया हुआ सत्य कहना चाहता है तो वह ऐसा केवल रंगमंचों पर या पुस्तकों में कर सकता है। अन्य स्थानों पर तो पब्लिक को, जॉन फॉस्टर डूल्स के शब्दों में "युद्ध का पाचनशील मीठा शर्बत" पीने को मिलता था।

सन् १९४४ में चार्लसटन (पश्चिमी वर्जीनिया) के एक छोटे-से भोज में मेरी राय न्यूयार्क के एक ऐसे पत्रकार के सम्बंध में पूछी गई जो सभी विषयों पर लेख लिखा करता था। मैंने कहा—"उसे अधिक जानकारी नहीं है। वह मस्तिष्क को भोजन प्रदान करने के बदले उसमें केवल गुदगुदी पैदा करता है।"

इस पर प्रश्नकर्ता ने कहा—"फ़िशर साहब, ऐसी बातें न कहिये,

उसे पढ़कर मुझे बड़ा आनन्द आता है।"

युद्ध-काल में अधिकांश लोगों के लिखने और सम्पादन करने का उद्देश्य यही था। विजय के लिए जनता असीम त्याग कर रही थी और वह इस बात की सांत्वना चाहती थी कि सब बातें ठीक चल रही हैं। सत्य से मिलती-जुलती कोई भी गम्भीर बात उसे अच्छी नहीं लगती थी। जिन लाखों अमेरिकनों के पेट 'पाचनशील मीठे शर्बतों' के अभ्यस्त हो चुके हैं उनमें भी अधिक ठोस और स्वस्थकर भोजन पचाने की सामर्थ्य नहीं हैं।

शान्ति सम्बन्धी समस्याओं पर अमेरिका के युद्धकालीन साहित्य को फिर से पढ़ने में बड़ा दुःख होता है। उससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि पत्र में छपने वाली बातों का अक्सर उन घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता जिनके द्वारा उस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की रूप-रेखा सांचे में ढलती है। यह बात सन् १९४३ और, ४४ में की गई गुटबन्दियों पर विशेष रूप से लागू होती है।

मैंने गुटबन्दियों का विरोध इतिहास और समाचार पत्रों में छपे हुए सत्य के आधार पर किया था। तिमाही "वरजीनिया" वाले अपने लेख में मैंने लिखा था—"धुरी राष्ट्र का विरोध करने वाले चार बड़े देश अब ऐसे मोर्चे संभाल रहे हैं; जहां से वे युद्ध के बाद एक-दूसरे से संघर्ष कर सकें। आने वाली शान्ति का यह काला रूप है। इससे सन् १९३९ से पहले वाली अराजकता के फैलने का भय है।

"इसके अलावा, देश अनिश्चित् हैं। पहले विश्व-युद्ध में जर्मनी के मित्र इटली ने जर्मनी को धोखा दिया और वह हमारे पक्ष में आ मिला। जापान भी हमारे ही पक्ष में था। इस युद्ध में इन दोनों देशों ने हमारा विरोध किया है।

"सन् १९०४-५ में रूस और जापान में लड़ाई हुई थी। सन् १९१४-१९१७ के युद्ध में वे एक दूसरे के मित्र थे। सन् १९१८ और १९२२ के बीच उनमें फिर लड़ाई हुई। सन् १९३८-३९ में उन्होंने एक-दूसरे के साथ डटकर युद्ध किया। आज वे फिर मित्र बन गए हैं, यद्यपि उनके युद्ध-सहकारी एक-दूसरे के विरुद्ध हैं।

"सन् १९१४-१८ के बीच जर्मनी से लड़ते हुए ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के सिपाहियों ने कितने ही रण-क्षेत्रों में भाई-भाई की तरह खून बहाया था। कुछ ही वर्षों में ब्रिटेन की नीति जर्मनी से भी अधिक फ्रांस-विरोधी हो गई।

"मित्रता-पूर्ण संधियों को शक्ति की तुला में तोलकर देखा गया है और उनमें कमियां पाई गई हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक

शक्ति-संतुलन-गुट की स्थापना ने एक दूसरे शक्ति-संतुलन-गुट का उत्पत्ति के लिए प्रेरणा दी है और अन्त में दोनों गुटों में युद्ध होगया है। सन् १९१८ में ब्रिटेन और फ्रांस ने विजय प्राप्त की थी और जर्मनी के मानो प्राण निकल रहे थे। किन्तु यूरोप की पारस्परिक शत्रुताओं के कारण और हवाई जहाज के एक निर्णायक युद्ध -अस्त्र के रूप में प्रकट हो जाने से नाजी जर्मनी को फिर से युद्ध करने का अवसर मिला। इसी प्रकार नई वैज्ञानिक युक्ति या रासायनिक पदार्थ के आविष्कार से शक्ति-संतुलन-गुट में फिर परिवर्तन आ सकता है और उस समय भय या आशा या द्वेष के कारण अजेय दिखाई देने वाली गुटबन्दी नष्ट हो सकती है और इसकोनिर्बल बना सकती है ताकि उससे किसी दूसरे देश या राष्ट्र-समूह को युद्ध-मार्ग ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहन मिले।

"इसलिए वर्तमान स्थिति को कायम रखने के लिए गुटबन्दी की आवश्यकता नहीं है, बल्कि युद्ध के कारणों को दूर करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता है।"

जो लोग अखबारों को पढ़ना जानते थे उन्हें अखबारों के पृष्ठों में तीन बड़े राष्ट्रों के युद्धोत्तर संघर्ष का अपशकुन स्पष्ट रूप से दिखाई दे सकता था, किन्तु इस संसार में राजनीतिक मूर्ख भरे पड़े हैं। युद्ध के नाद और काल्पनिक विचारों का भनभनाहट में भावी विपदाओं की घरघराहट सुनाई नहीं दे पाई। दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मन्त्री फ़ील्डमार्शल जान क्रिश्चियन स्मट्स नें २५ नवम्बर १९४३ को ब्रिटिश लोकसभा में एक ऐसा वक्तव्य दिया था जिसे उन्होंने स्वयं "विस्फोटक" कहकर पुकारा था। उनकी बातें बिलकुल असंगत थीं, फिर भी वे इतनी महत्त्वपूर्ण थीं कि उन पर खूब चर्चाहुई; वे तोड़ी-मरोड़ी गईं और ब्रिटिश सरकार ने उनके समस्त भाषण को प्रकाशित कर दिया।

स्मट्स ने घोषणा की कि युद्ध के बाद इस संसार पर त्रिशक्ति का अधिकार होगा। इनमें से ब्रिटेन "निर्धन और यूरोप में पददलित" होगा, रूस यूरोप में "सर्वशक्तिमान्" होगा और अमेरिका के पास तो "अपार धन, बल और साधन हैं ही।" यह असमानता स्मट्स को खटकती थी। वह चाहते थे कि तीनों राष्ट्र हर दृष्टि से शक्ति और प्रभाव में बराबर रहें। "मैं असमान साझीदारी पसन्द नही करूँगा," उन्होंने कहा था।

स्मट्स की त्रिशक्ति के समान अधिकार की इच्छा एक प्रकारसे शक्ति-संतुलन की इच्छा है। किंतु यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक राष्ट्र जो दूसरे दो राष्ट्रों से कमजोर और असमान है, उनके साथ समानता प्राप्त कर

ले ? स्पष्टत: वह ऐसा या तो शेष दो राष्ट्रों को क्षति पहुँचा कर, कर सकता है—जोकि मुश्किल है—या छोटे-छोटे देशों और उपनिवेशों के कन्धों से बन्दूक चला कर। स्मट्स दूसरा बात चाहते थे। अपने भाषण में उन्होंने दो रास्ते बताये—पहला यह कि ग्रेट ब्रिटेन अपने साम्राज्य को अपने साथ और भी घनिष्ठता के साथ जकड़े रखे और दूसरा यह कि वह पश्चिमी यूरोप के छोटे-छोटे देशों का एक महान् यूरोपियन राष्ट्र स्थापित करे।

अपने इस भाषण में स्मट्स ने उन मूर्खों को उत्तर दिया है जो कहते हैं कि हाथी और गिलहरियां मिलकर शान्ति की स्थापना नहीं कर सकतीं; बड़े और छोटे राष्ट्र एक साथ बैठकर शान्ति का मसविदा नहीं तैयार कर सकते ; यह काम तो हाथियों पर ही छोड़ देना चाहिए। किंतु कठिनाई तो यह है कि सभी हाथी बराबर नहीं हैं। स्मट्स ने अपने भाषण द्वारा प्रकट किया कि एक हाथी इंग्लैण्ड को इस बात का भय है कि वह कहीं गिलहरी न समझा जाय और इसलिए वह अपने को शेष दो हाथियों के बराबर शक्ति-शाली बना लेना चाहता है। दो हाथियों में सामंजस्य होना उतना ही भ्रामक है, जितना हाथी और गिलहरी में सामजंस्य होना। निस्सन्देह यदि हाथी गिलहरी पर अधिकार करने की चेष्टा करे तो न तो हाथी और गिलहरी में प्रेम उत्पन्न होगा, और न हाथियों में ही परस्पर सामंजस्य स्थापित होगा।

इस सम्बन्ध में ब्रिटेन की नीति विदेश-मंत्री एन्थनी ईडेन द्वारा ब्रिटिश लोकसभा में २८ सितम्बर १९४४ को स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई थी। उन्होंने बिना किसी हिचक के कहा था—"यदि हम अपने साम्राज्य और पश्चिमी यूरोप के पड़ोसियों की ओर से भी बोलें तो दूसरे बड़े राष्ट्रों पर हमारी अधिक धाक जमेगी। मेरी समझ में यही वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर हमें भवन-निर्माण करने की चेष्टा करनी चाहिए और सच पूछिये तो यही वह कार्य है जिसमें हम लोग इस समय लगे हुए हैं।" ईडेन के इस वक्तव्य से रहस्य पर से परदा उठ जाता है। उन्होंने यह कहकर कि इससे दूसरे राष्ट्रों पर हमारा अधिक धाक जमेगी स्वीकार कर लिया है कि तीनों राष्ट्रों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता है।

एकता की शाब्दिक ओट में शत्रुता चलती रही। किन्तु इस ओट के पीछे जाकर देखने के प्रयत्न को लोग निराशावाद कहकर उपेक्षित करते रहे। यह निराशावाद तो अवश्य था, किंतु था सत्य। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि वह रचनात्मक निराशावाद था। उसकी उपेक्षा करके समस्याएँ हल नहीं होतीं। सत्य को दबा देना या विकृत करना सर्व-सत्तावादियों के लिए तो एक सामान्य

बात है, किंतु जनतंत्री देशों के लिए ख़तरे से ख़ाली नहीं।

दिसम्बर १९४३ के बाद जब कि मुझे न्यू यार्क के ब्रिटिश सूचना कार्यालय से मार्शल स्मट्स के भाषण का पूरा विवरण मिला, तो मैंने जितने भी भाषण दिये उनमें प्रत्येक में मैंने स्मट्स का भाषण विस्तार के साथ उद्धृत किया और बताया कि किस प्रकार रूसी प्रभाव के अन्तर्गत एक पूर्वी गुट की स्थापना हो रही है और साथ-ही-साथ ब्रिटिश-प्रभाव के अन्तर्गत भी एक पश्चिमी गुट बनाने का प्रयोजन हो रहा है।

मैं इस प्रकार की गुटबंदियों और प्रभाव-क्षेत्रों की स्थापना के विरुद्ध हूँ, क्योंकि न तो वे व्यावहारिक होते हैं और न उनमें कोई नैतिक सिद्धान्त ही होता है। गुटबंदियाँ दुर्बल राष्ट्रों को दास बना लेती हैं। उनसे युद्ध रुक नहीं सकता; वे सुरक्षा के लिए हमारी उग्र और आशाहीन खोज का एक अंश मात्र हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा नाम की कोई वस्तु नहीं। सुरक्षा या तो सबके लिए होती है या किसी के लिए नहीं। यह बात ६ अगस्त, १९४५ से पहले, जब हिरोशिमा पर परमाणु बम का अवतरण हुआ था, बिलकुल स्पष्ट हो गई थी और अब तो वह बिलकुल अखण्डनीय है।

रूस को अपनी सुरक्षा के लिए पोलैण्ड या बालकान देशों या आर्थर बन्दरगाह की उतनी ही कम ज़रूरत है जितनी अमेरिका को फ़िलीपाइन या ओकीनावा या सैपान की; और ब्रिटेन को भारत और सिंगापुर की। हो सकता है कि ओकीनावा पर अमेरिकनों का अधिकार होने के कारण, कुछ परिस्थितियों में फिर से सिर उठानेवाले सेनावादी जापान के कुछ काल के लिए आक्रमण रुक जायँ, किंतु आज से दस वर्ष बाद अमेरिका को अर्जन्टाइना, तुर्की, स्पेन, रूस, फ्रांस, सभी जगहों से परमाणु बम के आक्रमण का ख़तरा हो सकता है। ऐसे आक्रमणों से अमेरिका किस प्रकार अपनी रक्षा कर सकता है? यह तो सम्भव है कि अमेरिकन अधिकारी अमेरिका पर आघात कर सकने वाले सभी राष्ट्रों के पास के अड्डों पर अधिकार कर लें या उन्हें उधार पट्टे पर ले लें, किन्तु संसार भर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर अधिकार कर वे स्वभावतः विश्व के कोने-कोने में अपने प्रति रोष और शत्रुता उत्पन्न कर देंगे और उनकी सुरक्षा बढ़ नहीं पाएगी। आजकल के परमाणु बम के युग में किसी समय भी और संसार के किसी कोने से भी आक्रमण हो सकता है। इस युग में अपने को सुरक्षित रखने के लिए अमेरिका को न केवल प्रशान्त के शत्रुओं पर, बल्कि सारे भूमण्डल के देशों पर अधिकार करना होगा। किंतु सब की इच्छा से स्थापित की गई अन्तर्राष्ट्रीय शासन-संस्था इससे अधिक अच्छी होगी।

किसी आक्रमणकारी देश को जीतने या किसी शान्त देश पर शत्रुता जमाने के लिए थल, जल और नभ-सेनाएं अब भी काम में आ सकती हैं। किंतु शक्तिशाली से शक्तिशाली सेना भी बेतार के तारों द्वारा संचालित हवाई जहाजों को नहीं रोक सकती। परमाणु शक्ति से प्रेरित हो वे हजारों मीलों की दूरी पार कर वीरों की तरह हम पर आक्रमण कर सकते हैं।

प्रिन्सटन में भौतिक विज्ञान विभाग के चेयरमैन, प्रोफेसर हेनरी डिवुल्फ स्मिथ ने, जिन्होंने परमाणु-बम के निर्माण का सरकारी इतिहास लिखा था, १३ मार्च, १९४६ को कहा—"वैज्ञानिकों ने अब यह अनुमान लगाया है कि न्यूयार्क नगर पर एक परमाणु बम के गिरने से तीन लाख से लेकर दस लाख तक कुछ सेकन्डों के भीतर ही भीतर मृत्यु हो सकती है।"

प्रोफ़ेसर जे० राबर्ट आपेनहोर ने, जो लास अलामास (न्यू मेक्सिको) में, जहाँ पहले परमाणु बम का परीक्षा-रूप में प्रयोग किया गया था, परमाणु बम कार्यालय के संचालक थे, सिनेट की एक कमेटी के सामने बताया कि परमाणु बम के प्रथम आक्रमण में ४ करोड़ अमेरिकन मारे जा सकते हैं।

ब्रिगेडियर जनरल थामस एफ०फैरेल ने, जिन्होंने लास अलामास (न्यूमेक्सिको) में प्रयुक्त किये गये प्रथम परमाणु बम और जापान पर गिराये गये दो अन्य परमाणु बमों के टुकड़ों को एकत्र किया था और जिन्हें अब पता चल गया है कि ये छोटे-अपूर्ण बम भी कितने विनाशक थे, १९ अक्तूबर, १९४५ को कहा—"यदि नियंत्रण नहीं रखा गया तो परमाणु बम का इतना अधिक विकास हो सकता है कि उससे सारे संसार की जनता नष्ट हो जाय।"

अतः सुरक्षा की बात केवल मूर्ख करते हैं।

जब पंखदार बम और हवाई जहाज़ अमाप्य गति से चलते हुए दूरी की बाधाएँ मिटा देते हैं तो संसार के किसी भी कोने में सुरक्षा कहाँ? रूस की सुरक्षा कहाँ? अमेरिका की सुरक्षा कहाँ?

द्वितीय विश्व-युद्ध का एक कारण यह था कि कुछ राष्ट्रों ने सारे संसार को युद्ध से अलग रखने की बजाय केवल अपने को अलग रखना चाहा। सन् १९४१ से पहले तुष्टीकरण में विश्वास करनेवाले प्रत्येक देश का लक्ष्य यही था कि वह युद्ध से दूर रहे और अपनी शान्ति तथा सुरक्षा की पहरेदारी करे, इससे युद्ध का रास्ता साफ़ हो गया और हिटलर, हिरोहितो तथा मुसोलिनी को यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहन मिला कि वे अपने शिकारों को एक-एक कर मार सकते हैं। उन्हें सफलता करीब-करीब मिल भी गई। कोई एक देश, चाहे वह कैसी भी व्यवस्था क्यों न करे, अपने को परमाणुबम के आक्रमण

से बचाने की सम्भावना को बढ़ा नहीं सकता । वह केवल अपनी प्रत्या-क्रमण की शक्ति को बढ़ा सकता है । जो देश सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं उन्हें अपनी शक्ति से केवल एक लाभ होगा । वह यह कि स्वयं नष्ट होते समय वे दूसरों को भी नष्ट कर देंगे । किंतु कोई परमाणु-युद्ध को नहीं जीत सकता । क्या कोई सानफ्रान्सिस्को के भूचाल पर विजय पा सका ?

परमाणुबम के इतने भयंकर होने पर भी उससे युद्ध की सम्भावना के घटने की नहीं, बल्कि बढ़ने की ही आशा है । आक्रमणकारियों के लिए परमाणु शास्त्र सबसे बड़े प्रोत्साहन का काम करेंगे । हिटलर को आशा थी कि वह अपने यांत्रिक शस्त्रों और हवाई जहाज़ों से शत्रु को हराने में बड़ी शीघ्रता से सफ-लता प्राप्त कर लेगा । इसी तरह एक नया आक्रमणकारी अपने विरोधी देश से दुर्बल होते हुए भी इस बात का आयोजन करेगा कि वह परमाणु शस्त्रों को एकत्र कर एक-बारगी ही अपने शत्रु पर बरसा दे और उसे जीत ले । यदि कभी परमाणु युद्ध होगा तो वह पर्ल-बन्दरगाह की घटना से भी अधिक आकस्मिक होगा और उसका उद्देश्य केवल आधी जलसेना को डुबाना ही नहीं बल्कि आधे राष्ट्र को नष्ट कर देना होगा । परमाणु शक्ति से आक्रमण करने वाला देश अपने पहले आक्रमण में ही शत्रु को इतना पंगु बना देना चाहेगा कि वह उलट कर सफलता पूर्वक प्रत्याक्रमण ही न कर सके । ऐसे संघर्ष में जो देश पहले आक्रमण कर देगा उसका पल्ला बहुत ज्यादा भारी रहेगा ।

"जिन परमाणुबमों ने जापान के दो नगरों को मटियामेट कर दिया वे उन बमों की तुलना में, जो आगामी दस या बीस वर्ष में तैयार होंगे, केवल पटाखों के सदृश्य थे ।" यह बात शीकागो विश्वविद्यालय के तीन परमाणु शास्त्रियों ने ६ नवम्बर, १९४५ को बताई । चूंकि मनुष्य की कल्पना-शक्ति सीमित है इसलिए हमलोग परमाणुबम के सम्बन्ध में जो अनुमान लगा रहे हैं, वह शायद सत्य से अधिक नहीं बल्कि कम है ।

परमाणुबम ने एक ऐसा युग उपस्थित कर दिया है जिसमें सुरक्षा की कोई सम्भावना ही नहीं । अब तो मनुष्य को केवल दो बातों में से एक को पसन्द करना है—विश्वव्यापी अरक्षा या विश्वव्यापी शांति ।

तो फिर १९५६ या १९६० में अमेरिका या रूस की राष्ट्रीय सुरक्षा का क्या शेष रह जायगा ? पूर्वी या मध्य यूरोप में रूस रक्षा का जो दुर्ग खड़ा करना चाहता है वह अमेरिका या ब्रिटेन के परमाणु शक्ति से चलने वाले हवाई जहाज़ों को आक्रमण करने से नहीं रोक सकेगा । यदि रूस यूरोप या एशिया में विस्तार करेगा तो उसका एकमात्र परिणाम यह होगा कि दूसरे देश भयभीत

और शंकित हो जायंगे और रूस की अरक्षितता और भी बढ़ जायगी । इसी प्रकार अमेरिकन या ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार से रूस की घबराहट बढ़ेगी और अन्य देशों में भी तनातनी की वृद्धि होगी ।

यदि बड़े देश अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो उनके लिए अच्छा यही होगा कि वे छोटे-छोटे देशों और कमजोर उपनिवेशों पर से अपना हाथ हटा लें। रूस का इंग्लैंड या अमेरिका से सम्बंध कैसा है इसका अनुमान लगाने में हमें उनके पारस्परिक सम्बध से उतनी सहायता नहीं मिल सकती जितनी इस बात से कि उनका भूमण्डल के कमज़ोर देशों से कैसा सम्बंध है ।

हिटलर ने १९३९ में ग्रेट ब्रिटेन पर आक्रमण न करके पौलेंड पर किया और उससे द्वितीय विश्व-युद्ध का सूत्रपात हुआ । आक्रमण न करने वाले बड़े देशों ने नाजियों के कुछ आक्रमणकारी कार्यों को सहन कर लिया और उनके कुछ कार्यों में सुविधा प्रदान की । किन्तु अन्त में वह समय आया जब इंग्लैड को कहना पड़ा—"बस, इतना ही; इससे आगे नहीं । अगर इस रेखा से आगे बढ़े तो लड़ाई हो जायगी ।" हिटलर उस रेखा का पार कर पोलेंड में घुस गया और इसके फलस्वरूप जर्मनी नष्ट हो गया ।

शान्ति के लिए सबसे बड़ा खतरा बड़े राष्ट्रों का विस्तार है । उनमें से कोई एक राष्ट्र उस हद तक बढ़ता चला जाता है जिसे दूसरा राष्ट्र अपना रक्षा की सीमा समझता है ।

सन् १९४५ के अन्त में रूस का आधे यूरोप, मंचूरिया और उत्तरी ईरान पर सफल नियन्त्रण था । फिर भी ७ फरवरी, १९४६ को मास्को की सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के सदस्य लाजार कागनोविच ने कहा—"हमारे देश पर अब भी पूंजी-पतियों का घेरा है इसलिए संतोष की कोई गुंजाइश नहीं । हमें इस घेरे को ढीला करना चाहिए"—अतः रूस ने तुर्की की मांग की और तेहरान में ईराकी सरकार पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा की । नए प्रदेशों पर अधिकार करने के बाद बोलशेविकों को प्राप्त नए प्रदेशों को सुरक्षित बनाने के लिए दूसरे नए प्रदेशों की आवश्यकता होगी और फिर उनकी रक्षा के लिए तीसरे नए प्रदेशों की । आखिर, इस कड़ी का कहीं अन्त भी होगा ? क्या इस प्रकार अपने लाभ केलिए दूसरे देशों को हड़पने की चेष्टा करने से दूसरे देशों का शंकित होना और प्रत्याक्रमण करना अनिवार्य नहीं है !

वर्त्तमान युग में राष्ट्रीय सुरक्षा की खोज करते-करते हम अरक्षा के पास पहुंच जाते हैं और यदि वह खोज और आगे बढ़ाई जाती है तो युद्ध हो जाता है ।

बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को जितनी ही अधिक संख्या में निगलते हैं उतने ही अधिक छोटे राष्ट्र एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं। अन्त में वह भी समय आयगा जब उनकी सीमाएँ एक-दूसरे को छूने लगेंगी और उनके बीच कोई दीवार खड़ी नहीं रह जायगी। इसलिए किस आधार पर हम सोच सकते हैं कि जिस शत्रुता से प्रेरित होकर ये देश अपना-अपना अधिकार-क्षेत्र अलग स्थापित करते हैं, वही शत्रुता उनका उस संकीर्ण बाधा के सामने जाकर खड़े होने पर समाप्त हो जायगी, जो उनके पूर्ण और शंकित क्षेत्रों को एक-दूसरे से अलग करती है? ऐसा सोचने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं।

परमाणु-बम के वर्त्तमान युग में शान्ति इस बात पर निर्भर है कि तीनों बड़े राष्ट्र छोटे देशों का आदर करें और उपनिवेशों को आज़ाद कर दें। इसका परिणाम यह होगा कि न तो तीनों बड़े राष्ट्रों के सामने लूटने-खसोटने के लिए कोई वस्तु होगी न वे एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करेंगे। उस समय हम परमाणु-बम को गैर कानूनी घोषित कर सकेंगे। सारे संसार के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय शासन-संस्था स्थापित कर सकेंगे और शान्ति से रह सकेंगे। राष्ट्रीय सार्वभौम सत्ता की उसी हद तक महत्ता है जिस हद तक उससे किसी दूसरे देश की राष्ट्रीय सार्वभौम सत्ता का दमन करने का काम लिया जाय। किंतु यदि किसी राष्ट्र की सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप ही नहीं किया जायगा तो उसे सार्वभौम सत्ता की ज़रूरत ही क्या रह जायगी! सार्वभौम सत्ता के अन्त का अर्थ है राष्ट्रीय सरकार की स्थापना।

न्यूयार्क की रियासत कनेक्टिकट की सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप नहीं कर सकती; यही कारण है कि वे दोनों एक संघ के सदस्य बनने से इंकार नहीं करते। हाँ संघीय सरकार अवश्य ही प्रत्येक रियासत की सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप कर सकती है और इस दिशा में आवश्यक परिवर्तन दसियों वर्षों तक चलते रहते हैं। किन्तु इन परिवर्तनों के कारण अब कोई देश संघ से अलग होने की चेष्टा नहीं करता।

सार्वभौम सत्ता से अरक्षा उत्पन्न होती है।

३१ अक्तूबर १९४५ को अमेरिका के विदेश-मंत्री बर्न्स ने "न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून" के कार्यालय में कहा था—"रूस केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप के अपने पड़ोसियों के साथ अधिक घनिष्ठ सम्पर्क और मैत्री स्थापित करने का जो प्रयत्न कर रहा है उसके प्रति हमने विरोध नहीं बल्कि सहानुभूति प्रगट की है। हमें यह अच्छी तरह से मालूम है कि इन देशों में उसे अपनी सुरक्षा की विशेष रूप से चिंता है।" इन शब्दों द्वारा बर्न्स ने स्वीकार किया है कि

आधे यूरोप पर रूस का प्रभाव है किन्तु यह एक निरर्थक बात है। रूस अपनी रक्षा किससे करना चाहता है ? अमेरिका और इंग्लैण्ड से ? तो क्या अमेरिका के विदेश-मंत्री रूस पर इस बात का ज़ोर डालते हैं कि वह अमेरिका से अपना रक्षा करे ? क्या दूसरे शब्दों में वह स्वीकार करते हैं कि रूस को अमेरिका से ख़तरा है ? या ब्रिटेन से ख़तरा है ? ब्रिटेन अमेरिका की सहायता के बिना रूस से नहीं लड़ेगा। या, जर्मना से ख़तरा है ? जर्मनी अब रूस के लिए ख़तरा नहीं रह गया और यदि इंग्लैण्ड और अमेरिका रूस की सुरक्षा चाहते हैं तो वह कभी भविष्य में भी रूस के लिए ख़तरा नहीं बन पायगा। जर्मनी का पुनर्निर्माण ता उसी समय सम्भव है जब अमेरिका और ब्रिटेन उसका रूस के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए उसे सहायता दें। किंतु यदि श्री बर्न्स को रूस की रक्षा की इतनी चिंता है तो वह उक्त कार्य के लिए जर्मनी का पुनरुत्थान नहीं करेंगे।

अतः श्री बर्न्स के शब्दों में कोई विश्वास की भावना उत्पन्न नहीं हुई। बल्कि, उन्होंने अपने भाषण के दूसरे अंशों में पूर्वी यूरोप में जनतंत्र क़ायम करने की बात कही, जिसका अभिप्राय यह था कि अमेरिका और ब्रिटेन रूस-प्रभावित क्षेत्रों पर से रूसी अंकुश को ढीला करना चाहते हैं। कूटनीतिज्ञों की बातों का जो अर्थ ऊपर से होता है असली मतलब अक्सर उसका उलटा होता है।

जब कि पूर्वी यूरोप के देशों में एक ऐसी सरकार का रहना आवश्यक है जिसका रूस से मित्रता-पूर्ण सम्बंध हो, तो फिर वह देश स्वतंत्र कैसे हो सकता है ? मान लीजिए कि इस देश के निवासी कोई ऐसी सरकार पसन्द करते हैं जिसे रूस अपने लिए मैत्रीपूर्ण नहीं समझता। ऐसी दशा में सम्भवतः रूस उसे अपने विशेष मताधिकार से रद्द कर देगा और किसी दूसरी सरकार की सहायता के लिए ज़ोर देगा। इसी तरह मान लीजिए कि इस देश का विदेश-मंत्री ऐसा है जिसे रूसी मित्र नहीं मानते। मैं समझता हूँ कि निश्चय ही उसे इस्तीफ़ा देना पड़ेगा। और मान लीजिए कि वह देश कोई ऐसा कर या क़ानून बनाता है जो रूस को विरोधात्मक प्रतीत होता है तो अवश्य ही उस कर या क़ानून को रद्द करना पड़ेगा। तो फिर उस देश की स्वतंत्रता ही क्या रही ? वह किस प्रकार जनतंत्रवादी हो सकता है ? उसके मामले में तो रूस दख़ल देता रहेगा और उसका दैनिक जीवन तक रूस के ही आदेशानुसार संचालित होगा। अनिवार्य मित्रता दासता का ही दूसरा नाम है। बलात् मित्रता करने की बात आजकल के कूटनीतिज्ञों ने साम्राज्यवाद पर परदा डालने के लिए गढ़ी है। जो लोग इसका समर्थन करते हैं वे बड़े राष्ट्रों के अधिकारों के पक्षपाती हैं।

रक्षात्मक घेरे, प्रभाव-क्षेत्र और साम्राज्य की बातें परमाणु-बम से पहले के युग की बातें हैं। इसी प्रकार सुरक्षा की बात भी उसी काल की बात है। फिर भी मानवता इस अप्राप्य सुरक्षा की प्राप्ति के लिए सम्भवतः सदा खरबों रुपए और लाखों प्राण निछावर करने को तैयार रहेगी। यदि संसार के सभी देश मिलकर एक संघ की स्थापना कर लें तो सुरक्षा की प्राप्ति में धन भी अधिक न लगे, और प्राणों की भी अधिक आहुति न चढ़ानी पड़े।

मैं जानता हूँ कि इस प्रयत्न के फल-स्वरूप क्या-क्या समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। किंतु यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमें परमाणु-युद्ध का सामना करना पड़ेगा, जिसमें २० करोड़ जीव स्वाहा हो सकते हैं।

रूस और संसार के शेष राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बंध क्या हो, यही अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की केन्द्रीय समस्या है।

: १५ :

रूस क्या चाहता है ?

वैदेशिक नीति के शीशे में घरेलू नीति और स्थिति का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, किंतु रूस अधिकांश व्यक्तियों की बुद्धि की पहुँच से बाहर है। जैसा कि चर्चिल ने सन् १९३९ में कहा था, वह "रहस्य की गोद में छिपी हुई एक पहेली है।" इसीलिए जब रूसी वैदेशिक नीति की व्याख्या करने का प्रश्न उठता है तो बोलने और लिखने वाले आलोचक उस सत्य के बदले, जो उन्हें प्राप्त नहीं होता या जिसका वे सामना नहीं करना चाहते, 'तर्क' से काम लेते हैं। वे कहते हैं कि—"रूस एक विशाल देश है—इसलिए स्पष्टतः उसे और साम्राज्य की आवश्यकता नहीं।" किंतु वे भूल जाते हैं कि बड़ा होते हुए भी रूस ने सन् १९३९ और १९४० में बाल्टिक राज्यों और फिनलैण्ड, पोलैण्ड तथा बालकान के प्रदेशों को हथियाया; सन् १९४५ में चेकोस्लोवेकिया, जर्मनी और जापान के प्रदेशों पर हाथ मारा और सन् १९४६ में तुर्की तथा भूमध्य सागर के अड्डों की मांग की। आलोचक कहते हैं कि रूस अब अपना सारा ध्यान युद्धोत्तर-निर्माण पर लगा रहा है और उसे विदेशों में विस्तार की इच्छा नहीं। वे भूल जाते हैं कि ये विदेश रूसी पुनर्निर्माण के लिए सामान और यंत्र के बड़े उपयोगी साधन बन सकते हैं।

रूसी वैदेशिक नीति का प्रथम उद्देश्य है रूस और यूक्रेन की राष्ट्रीयता का स्थापना और स्लाव जाति की रक्षा। कभी पहले रूस में अंतर्राष्ट्रीयता का बोल बाला था। बोलशेविज़्म ने बताया था कि व्यक्ति के जीवन में असली महत्त्व की बात उसकी आर्थिक और सामाजिक मर्यादा है न कि सिर का रूप, या चमड़े का रंग, या जन्म-स्थान। उदाहरणार्थ, सोवियत् पंथ में इस बात पर जोर दिया गया था कि यूक्रेन के मजदूर यूक्रेनियन पूंजीवादियों को अपेक्षा इटैलियन या चीनी मजदूरों के अधिक निकट हैं। रूसी शिक्षा का उद्देश्य यूक्रेनी मजदूरों को राष्ट्रीय न बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय बनाना था। मैं अपने में और अमेरिका के एक फाशिस्ट्वादी में उतनी समानता नहीं पाता जितनी कि अपने में और स्पेन

के एक फाशिस्ट-विरोधी या भारत के एक समाज-सुधारक में।

जब रूस की घरेलू नीति अन्तर्राष्ट्रीयता की थी तो उसकी वैदेशिक नीति भी स्वभावतः ऐसी ही थी और रूस के भूतपूर्व विदेश-मंत्री लिटविनाव सदा सामूहिक रक्षा के लिए अपील किया करते थे।

सन् १९३५ तक रूसी विचार-धारा में जातीय या राष्ट्रीय श्रेष्ठता का कोई स्थान नहीं था। किन्तु उसके बाद एक नया प्रवाह—रूसी राष्ट्रीयता का—बहा। मैंने अपनी "मनुष्य और राजनीति" (मैन एन्ड पालिटिक्स) नामक पुस्तक में, जो सन् १९४१ में प्रकाशित हुई थी, रूसी राष्ट्रवाद के विकास पर प्रकाश डाला था। उसके बाद से रूसी सरकार ने न केवल पूरे उत्साह और बल के साथ रूसी राष्ट्रवाद का ही भरण-पोषण किया है, बल्कि यूक्रेनी राष्ट्रवाद और स्लाव की जातीयता की भावना का भी समर्थन किया है। जातीयता की यह भावना साम्यवाद, समाजवाद, बोलशेविज्म और सोवियत् रूस की पूर्वकालीन लेनिनवादी प्रवृत्तियों के बुनियादी तत्त्वों के बिलकुल विपरीत है। यह एक प्रतिगामी प्रवृत्ति है

२४ मई सन् १९४५ को स्टालिन ने क्रेमलिन के एक भोज में कहा—"सबसे पहले मैं रूसी जनता के स्वास्थ्य के नाम पर शराब पीता हूं क्योंकि सोवियत् संघ के अन्तर्गत वही सबसे श्रेष्ठ राष्ट्र है और इस युद्ध में उसने सोवियत् संघ के सभी राष्ट्रों में प्रमुख कहलाने की ख्याति प्राप्त की है। पी० डब्ल्यू०एच० लॉरेन्स ने, जो मास्को में "न्यूयार्क टाइम्स" के सम्वाददाता थे, अभी कुछ ही दिन हुए "टाइम्स" में लिखा था कि इस वक्तव्य से यहूदियों में खलबली मच गई।

आज से ८ या १० साल पहले भोजन के समय इस प्रकार के वक्तव्य असम्भव थे। उन दिनों किसी जाति को सोवियत् रूस का मुख्य राष्ट्र कहना बोलशेविक सिद्धान्तों के प्रतिकूल माना जाता था। सभी राष्ट्र बराबर थे, न कोई प्रमुख था न कोई गौण। जब इनमें से एक प्रमुख बन जाता है तभी शेष गौण।

"रूस" शब्द का प्रयोग तो सुविधा मात्र के लिए किया जाता है। "रूस" का अर्थ रूस से नहीं बल्कि सोवियत् संघ से है। रूसी तो सोवियत् संघ के केवल ५४ प्रतिशत अंग हैं। शेष व्यक्ति कालमक, बुरियात, तुर्कमान, जार्जियन आरमेनियन, ओस्सेटियन आदि लगभग १२० जातियों के हैं। बोलशेविक इस बात की डींग हांका करते थे कि वे इन जातियों में भेद-भाव नहीं करते; जाति किसी को ऊंचा नहीं उठाती। किसी भी राष्ट्र का विशेष स्थान नहीं।

किन्तु अब रूसी राष्ट्र सोवियत् संघ का प्रमुख राष्ट्र है।

६ नवम्बर १९४५ को रूस के विदेश-मंत्री मोलोटोव ने कहा—"रूस

पर आक्रमण करके हिटलर ने केवल हमारी भूमि पर अधिकार करना नहीं चाहा था, बल्कि हिटलरवादियों ने घोषणा की कि उनका उद्देश्य रूसी जनता और साधारणत: समस्त स्लाव जाति का अन्त कर देने का है।" यदि यही बात मोलोटोव को ऐसी ही परिस्थितियों में दस वर्ष पहले कहनी होती तो वह कहते कि जर्मनी ने बोलशेविक क्रांति और साम्यवाद को कुचलना चाहा था।

बोलशेविक क्रांति में यही सबसे बड़ा परिवर्तन है। उससे सोवियत् शासन-प्रणाली की सारी रूपरेखा ही बदल गई है। इस समय रूसी राष्ट्रवाद से स्लाव जातिवाद की ओर और स्लाव जातिवाद से साम्राज्यवाद का स्वाभाविक प्रवाह चल रहा है।

जब रूस में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना थी तो बोलशेविक जाति को श्रेणी से उच्च समझने वाले उन नाजियों से बिलकुल भिन्न थे जो जातीयता को इसलिए प्रोत्साहन देते थे कि उससे राष्ट्रीयता का उन्माद पैदा हो जाय और श्रेणी-युद्ध समाप्त हो जाय। राष्ट्रीयता के उन्माद ने हिटलर के आक्रमण रूपी इंजिन में कोयले का काम किया। उसने कहना शुरू किया कि वरसाई की संधि में जर्मनी का अंग-भंग कर दिया गया था। बाद में उसने आस्ट्रियन और चेकोस्लोवाक प्रदेशों की मांग की, जो असल में जर्मनी के नहीं थे, किंतु जिनके निवासी जर्मन थे। इनके बाद वह उन प्रदेशों को जीतने बढ़ा जिनके निवासी भी जर्मन नहीं थे।

शक्तिमान् राष्ट्रवाद को भोजन की आवश्यकता होती है और वह भोजन है "भूमि"।

वह कौन-सी वस्तु थी जिसने स्टालिन को रूसी और यूक्रेनी राष्ट्रवाद तथा स्लाव जातिवाद का विकास करने के लिए प्रेरित किया? सोवियत् शासन-सत्ता ने सदा ही रूसी और यूक्रेनी राष्ट्रवाद के विरुद्ध युद्ध किया था। यूक्रेन के कितने ही राष्ट्रवादियों को निकाल बाहर करने में खून की नदियाँ बहाई गई थीं। इनमें से कुछ कम्युनिस्ट भी थे। इस शताब्दी के दूसरे और तीसरे शतकों के रूसी समाचारपत्रों में इस घटना का उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि २ करोड़ ८० लाख सोवियत् यूक्रेनियों में राष्ट्रीयता की कितनी प्रबल भावना थी। आर्थिक कठिनाइयों और यूक्रेन के १९३२-३३ के दुर्भिक्ष की नींव मास्को निवासियों के द्वार पर पड़ी थी और उससे राष्ट्रवाद की भावना को बड़ा पोषण मिला था। यूक्रेनी राष्ट्रवाद को कुचलने में सफल न हो सकने के कारण स्टालिन ने उसके प्रति मित्रता प्रकट की। वह यूक्रेनियन राष्ट्र में एक सुनहरा युग लाना चाहते हैं। अब पोलैण्ड,

चेकोस्लोवेकिया और रूमानिया में यूक्रेनी नहीं रहेंगे । अब स्टालिन उन सबको सोवियत् झंडे के नीचे एकता के सूत्र में बाँध देंगे । एक यही बात ऐसी है जिसे हम स्टालिन द्वारा चेकोस्लोवेकिया के कारपैथो-रूस या कारपैथो-यूक्रेन के प्रदेशों पर अधिकार किये जाने का कारण मान सकते हैं । रूस के सरकारी सूत्रों का कहना है कि इन क्षेत्रों में ७ लाख २५ हज़ार व्यक्ति रहते हैं, जिनमें से ६५ प्रतिशत यूक्रेनी हैं । ज़ार के समय में ये क्षेत्र रूस के अन्तर्गत नहीं थे । चेकोस्लोवेकिया ने कभी सोवियत् रूस के विरुद्ध किसी प्रकार के वैर की भावना या आक्रमण की इच्छा नहीं रखी । इसके विपरीत उसने सदा ही रूस से मित्रता रखनी चाही । कोई भी देश कारपेथियन पहाड़ों को पार कर रूस पर आक्रमण नहीं कर सकता था । फिर भी सन् १९४३ में मास्को ने कारपैथो-रूस का प्रश्न उठाया। चेकोस्लोवेकिया के अध्यक्ष बेनेश जब वाशिंगटन में ब्लेयर भवन में ठहरे हुए थे तो मैं उनसे १७ मई १९४३ को मिला । उन्होंने मुझे बताया कि वह रूसियों को कारपेथियनों के छोटे पिछड़े हुए प्रदेश पर अधिकार न करने के लिए प्रेरित करने में सफल हो गए हैं। बेनेश ने स्टालिन की महती आकांक्षाओं को पूर्ण रूप से समझने में भूल की। २९ जून १९४५ को रूस ने कारपैथो-रूस पर अधिकार कर लिया ।

यूक्रेनियों को स्टालिन ने कुछ हिस्सा पोलैण्ड का, कुछ चेकोस्लोवेकिया का और कुछ रूमानिया का दिया और इस प्रकार उनकी स्वामी-भक्ति प्राप्त करने की आशा की । महान् रूसियों को उन्होंने बाल्टिक राज्य, फिनलैण्ड का कुछ भाग और शक्तिशाली रूस का विस्तृत भूखण्ड दिया । कोकेशिया में अजरबैजानियों को वह ईरान का निकटवर्ती प्रदेश अजरबैजान देना चाहते हैं । और आरमेनियनों के लिए वह पास का तुर्क प्रान्त मांगना चाहते हैं ।

रूस का विस्तार केवल स्लाव-प्रधान क्षेत्रों में ही सीमित नहीं हैं। किन्तु रूस की नीति है कि यूरोप के स्लाव भागों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाय । जब सोवियत् संघ का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय था तो उसका नारा था—"सारे संसार के मजदूरो, एक में मिल जाओ ।" अब वह स्लावों को भी एकता के सूत्र में बाँधना चाहता है। दूसरे विश्व-युद्ध के दिनों में मास्को में कितना ही स्लाव कांग्रेसों के अधिवेशन हुए, जिनमें अनेक देशों ने प्रतिनिधियों ने भाग लिया । किंतु युद्ध-काल में मजदूर कांग्रेस या ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कोई भी बैठक मास्को में नहीं हुई । स्लाव कांग्रेसों में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि रूस और पूर्वी यूरोप के स्लाव देशों का पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिए और इस प्रकार रूस की उस पूर्वी गुटबन्दी के निर्माण का

पूर्वाभास मिला जिसके कारण ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के साथ रूस के सम्बन्ध में गड़बड़ी पैदा हो गई है। किंतु स्टालिन अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी मित्र या शत्रु को क्रुद्ध करने या आवश्यकता पड़ने पर, नष्ट तक कर देने में हिचकिचाहट नहीं दिखाते।

रूसी अधिकारी उन राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे रहे थे जो क्रांति के बाद भी कुछ व्यक्तियों में शेष रह गई थीं। साथ-ही-साथ वे क्रांति-काल में मृत-प्राय पड़े हुए राष्ट्रीय भावों को जाग्रत कर सोवियत् संघ की नई पीढ़ी के लोगों के मस्तिष्क और हृदय में घुसने की चेष्टा कर रहे थे। सोवियत् संघ में अब अधिकत: इसी पीढ़ी के लोग हैं जिन्हें पहले कभी राष्ट्रवाद का ज्ञान नहीं था और जो अन्तर्राष्ट्रीयता के ही वातावरण में पाले-पोसे गए थे।

राष्ट्रवादी भावनाओं के कारण पदार्थिक आवश्यकताओं की अपूर्ति की ओर से ध्यान हट जाता है।

पंचवर्षीय योजना के दिनों में रूसियों ने कितने ही नए शहर और बड़े-बड़े औद्योगिक कारखाने बनाये, जिनके उत्पादन से नाज़ियों को हराने में सहायता मिला। वहां पर हथियार बनाने वाली मशीनों का एक उद्योग खड़ा कर दिया गया है, विद्युत्-शक्ति का एक जाल-सा फैला दिया गया है, लोहे और इस्पात के नए-नए कारखाने खोले गए हैं, अल्यूमुनियम का भी एक उद्योग आरम्भ हो गया है, यातायात के साधनों में सुधार किया गया है, धातु और खनिज सम्बन्धी छुट-पुट साधनों के आविष्कार किये गये हैं और उनका प्रयोग भी किया जा रहा है और हज़ारों स्त्री-पुरुषों को विशेष यांत्रिक शिक्षा दी जा रही है। इन बातों के फलस्वरूप भावी उन्नति के लिए एक व्यावसायिक अड्डा-सा स्थापित हो गया है। इनके अलावा कृषि-कार्य को सामूहिक रूप प्रदान किया गया है। जब से यूरोप के नौकरी पेशा करने वाले किसान बने। तब के बाद से यह कृषि-सम्बन्धी पहला सुधार है।

किन्तु इन महान् ऐतिहासिक परिवर्तनों से अभी रूस के व्यक्तिगत निवासियों को कोई ठोस लाभ नहीं हुआ है। वहाँ की जनता का जीवन-मान पूर्वीय यूरोपियन आदर्श की अपेक्षा अब भी नीचे गिरा हुआ है। सोवियत् नागरिकों को अपनी मेहनत के अनुकूल मज़दूरी नहीं मिलेगी। उनकी मेहनत और मज़दूरी में जो अन्तर है उससे हमें नये उद्योगों, शस्त्रों के निर्माण और सरकारी नौकरियों पर खर्च किये जाने वाले धन का आभास मिलता है। किसी-न-किसी को तो कीमत देनी ही पड़ती है। यह कीमत जनता देती है और जनता ही दुःख भी उठाती है।

रूसी प्रचारक इस स्थिति को स्वीकार करते हैं, किंतु उनका कहना है कि इससे राष्ट्र को लाभ हो रहा है, इससे राष्ट्र के लोगों में अभिमान की भावना जाग्रत हुई है। किन्तु रूसी सरकार यह नहीं समझता कि बोलशेविक क्रान्ति या सोवियत् शासन प्रणाली के प्रति अभिमान उत्पन्न होने से दिन-प्रति-दिन होने वाले खर्चों के औचित्य का समर्थन किया जा सकता है। यह सोच-कर कि क्रान्ति का उत्साह ठंडा पड़ गया है, जनता को राष्ट्रवाद के रूप में एक नई प्रेरणा दी गई। जब एक बार यह प्रेरणा दे दी गई तो उसका पोषण करना आवश्यक था। रूसी विस्तार का यह सबसे पहला लक्ष्य है।

अब जब कि युद्ध जीता जा चुका है, रूस के सामने अपने देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने और अपने भग्न भवनों को फिर से बनाने का अभूतपूर्व कार्य है। रूस के अधिक-से-अधिक भीतरी भाग में घुस चुकने पर जर्मन-सेना के अधिकार में जितनी रूसी भूमि थी वह जर्मनी के वर्गक्षेत्र से तिगुनी बड़ी थी। वह भूमि सोवियत् संघ की सबसे अधिक धन-धान्यपूर्ण और उन्नत भूमि थी। लाखों जर्मन और रूसी सैनिकों के पदाक्रमण के बाद भी जो वस्तुएँ नष्ट होकर धूल नहीं बन गई थीं, उन्हें नाजियों ने जान-बूझकर नष्ट कर डाला। जो वस्तु थोड़े ही दिन पहले अत्यधिक व्यय से बनाई जाती है उसे फिर से बनाना एक कठिन कार्य है। आजकल एक बार फिर रूसी नागरिकों को कम भोजन, कम कपड़ा और कम स्थान से संतुष्ट रहकर और अधिक मेहनत करके अपने देश के प्रति अपने कर्त्तव्य का मूल्य चुकाना पड़ रहा है।

सन् १९१९ के बाद से रूसी जितना श्रम करते आये हैं उसे बाहर-वाले बहुत ही कम समझ सकते हैं। पिछले ३० वर्षों से बहुत ही कम व्यक्तियों के जीवन में ऐसे क्षण आये होंगे जिन्हें उन्होंने साधारण सुख-चैन से बिताया हो। कुछ गिने-चुने लोगों को छोड़कर शेष सभी लोगों का जीवन लगातार कार्य या त्याग से भरा रहा। लोगों को खाना कम मिला और अन्न के लिए लम्बी लाइनों में खड़ा रहना पड़ा। अब, जब कि वह क्रान्तिपूर्ण युग बीत चुका है और रक्तपातपूर्ण युद्ध भी समाप्त हो गया है, सोवियत् जनता को एक बार फिर बोझ उठाना है और आर्थिक दृष्टि से अपने देश को स्वावलम्बी बनाना है। स्वभावतः सोवियत् सरकार पुनः-निर्माण की अवधि को छोटा करना चाहती है और जनता पर उसके मूल्य का भार कम-से-कम डालना चाहती है। कैसे ? केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप और मंचूरिया की आर्थिक व्यवस्था को रूस की आर्थिक व्यवस्था में मिलाकर; ताकि उनके औद्योगिक प्रबन्ध, कच्चे

माल और मानवी साधनों से रूसी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। यही कारण है कि रूस आस्ट्रिया और रूमानिया के तेल पर नियंत्रण प्राप्त करना चाहता है और साथ-ही-साथ हंगरी के व्यवसाय और कृषि, चेकोस्लोवेकिया की फ़ैक्टरियों, यूगोस्लाविया की खानों और यूरोप के रूस-प्रभावित क्षत्रों में रहने वाले १५ करोड़ प्राणियों के आर्थिक जीवन पर भी अधिकार प्राप्त करना चाहता है। सोवियत् वैदेशिक नीति का यह दूसरा उद्देश्य है।

तीसरा उद्देश्य अवसर है। जर्मनी और इटली के हार जाने से और फ़्रांस की दुर्बलता के कारण एशिया में, विशेष रूप से चीन में, शक्ति का एक बहुत बड़ा शून्य पैदा हो गया है। प्रकृति की भांति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शून्य पसंद नहीं करती। इसीलिए तीनों बड़े राष्ट्रों में से प्रत्येक या तो इस शून्य के अधिक-से-अधिक भाग पर अधिकार करना चाहता है या कम-से-कम शेष दो को इस पर अधिकार करने से रोकना चाहता है। यही तीनों बड़े राष्ट्रों की लड़ाई की जड़ है। एक दूसरे के प्रति उलहना देने से यह लड़ाई रुक नहीं सकता। आज अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के आंगन में एक ऐसा पुरस्कार पड़ा दिखाई दे रहा है जो पिछले दसियों सालों से राष्ट्रों को लुभानेवाले सभी पुरस्कारों से बहुमूल्य है। अतः आश्चर्य ही क्या यदि प्रतिस्पर्द्धा अधिक हो।

तीनों पराजित महान् राष्ट्रों—जर्मनी, जापान और इटली—के समाप्त हो जाने से तीनों विजयी महान् राष्ट्रों—रूस, अमेरिका और ब्रिटेन—को विस्तार का अद्वितीय मार्ग मिल गया है। दुर्बल राष्ट्रों की क्लान्ति और निस्सहायता के कारण हड़पने और प्रभुता प्राप्त करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ गई है।

रूसियों, उनके विदेशी साथियों और अनेक अमेरिकनों और अंग्रेज़ों न भी, जो शक्ति-संतुलन द्वारा शान्ति स्थापित करने में विश्वास रखते हैं, मूलतः आशा की थी कि द्वितीय विश्व-युद्ध में लूटी गई सम्पत्ति तीनों बड़े राष्ट्रों में मित्रतापूर्वक बाँट दी जायगी, तीनों का प्रभाव-क्षेत्र अलग-अलग निर्धारित कर दिया जायगा और उनमें कोई झगड़े की बात नहीं रह जायगी। उन्होंने यह भी आशा की थी कि लूटी हुई सम्पत्ति के इस विभाजन के आधार पर एक ऐसा युद्धोत्तर समझौता होगा जिसे अक्षुण्ण रखने में तीनों बड़े राष्ट्रों को दिलचस्पी होगी।

किंतु घटनाओं ने बिलकुल ही भिन्न रूप धारण किया। स्टालिन ने यूरोप में झाँककर देखा कि किसी में उसे रोकने की सामर्थ्य नहीं। इसलिए उसने अपने अंक में बहुत से छोटे-छोटे देश बाँध लिये। अब ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका यह महसूस कर रहे हैं कि रूस ने यूरोपीय शून्य का अधिकांश भाग

हड़प लिया है और उसे अपने बिच्छुओं से भर दिया है । इसी प्रकार रूस अनुभव कर रहा है कि अमेरिका ने एशियाई शून्य के अधिकांश पर अधिकार कर लिया है । फिर भी अमेरिका को रूस के चीन विषयक और प्रशान्त के थल और जल क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले आयोजनों पर शंका है । शून्य में समानता कायम रखना मुश्किल है, किंतु चूँकि शक्ति का संतुलन असम्भव है इसलिए प्रत्येक राष्ट्र अधिक-से-अधिक शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है ।

निश्चय ही तीनों बड़े राष्ट्र अपने-अपने मत-भेदों को मिटाने और सहन करने की चेष्टा करते रहेंगे । वे युद्ध नहीं चाहते । वे मोल-भाव करके समझौता कर लेंगे । विश्व-शान्ति के लिए यह एक बड़ा ही संकटपूर्ण आधार है ।

इंग्लैंड, जो कि तीनों में सबसे कमजोर है, अपने अधिकार अलग बनाये रखना चाहता है । उसे रूसी आक्रमण का भय है अमेरिका और रूस एशिया में अधिकार प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे के साथ स्पर्द्धा कर रहे हैं ।

अवसर ने रूसी सरकार के दरवाजे को थपथपाया । यह अवसर रूसी शक्ति को बढ़ाने का था, प्रलोभन रोका नहीं जा सकता था ।

रूस वही कर रहा है जो अतीत में दूसरे राष्ट्रों ने किया था । अन्तर्राष्ट्रीयतावादी लेनिन ने सन् १९२१ में पोलैण्ड को इतनी भूमि दे दी जितनी उसने माँगी नहीं थी । उन्होंने सहर्ष फ़िनलैण्ड और तीन बाल्टिक राज्यों की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली । उन्होंने अफ़गानिस्तान को भूमि के कुछ टुकड़े दिये और चीन से अपने अधिकार और सम्पत्तियां हटा लीं । ज़ारों ने ईरान से जा तेल और दूसरी सुविधाएँ ली थीं उन्हें लेनिन ने ईरान को वापस कर दिया । उन्होंने तुर्की से मित्रता की । उन्हें स्लावों का कोई समूह बनाने में दिलचस्पी नहीं थी । वह एक क्रांति की रचना कर रहे थे, साम्राज्य का निर्माण नहीं । लेकिन अब लोग रूस में लेनिन को भूलते जा रहे हैं ।

नापने के लिए एक निश्चित नाप का होना आवश्यक है । रेखा, क्षेत्र, वज़न और गरमी-सरदी का मान वैज्ञानिकों द्वारा निश्चित किया जाता है। अपना नैतिक और राजनीतिक मान प्रत्येक व्यक्ति स्वयं निश्चित करता है । यह काम वह अपनी व्यक्तिगत, धार्मिक और आध्यात्मिक प्रकृतियों के अनुसार करता है । उच्चता का आदर्श वह या तो ईश्वर को मानता है या सिद्धान्तों को । किन्तु यदि उसकी उच्चता का आदर्श कोई ज़मींदार या सरकार होता है तो उसकी तोल गड़बड़ा जाती है या दूसरे शब्दों में यों कहिये कि घटनाओं और विचारों के सम्बन्ध में उसका निर्णय विकृत बन जाता है, क्योंकि सभी स्त्री-पुरुष अपने सिद्धान्तों और आध्यात्मिक विचारों से डिगते रहते हैं । कोई भी

राजनीतिक शास्त्र, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिससे चूक न हो। अतः जब एक कम्युनिस्ट यह कहता है कि सोवियत् सरकार कभी ग़लती नहीं करती, या स्टालिन सदा ही ठीक काम करता है और वह इसी मान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु को आँकता है तो निश्चय ही वह सीधे ढंग से देख या सोच नहीं सकता, वह नाप नहीं सकता। सभी देश, सभी सरकारें, सभी नेता गम्भीर भूलें करते हैं। इसका प्रमाण हमें हर सुबह समाचारपत्रों में मिलता है।

सन् १९४५ में अर्जेन्टाइना संयुक्त राष्ट्रों में सम्मिलित किया गया तो सोवियत् सरकार और उसके विदेशी समर्थकों ने इस कार्य की निन्दा की। उन्होंने कहा कि फाशिस्ट शासन-संस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। किंतु जब जून, १९४६ में सोवियत् सरकार ने पेरन की तानाशाही को स्वीकार किया और उसके साथ कूटनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किया तो किसी भी कम्युनिस्ट ने सोवियत् सरकार की बुराई नहीं की। उनके पास नापने-तोलने का कोई निश्चित मान नहीं है। यही अवसरवादिता कहलाती है। इसका मतलब यह है कि सोवियत् सरकार जो कुछ भी करती है, ठीक ही करती है, चाहे हिटलर के साथ गुटबन्दी हो, चाहे पेरन के साथ समझौता, चाहे सैनिक कार्रवाई हो, चाहे आतंक-प्रसार। नाप-तोल के ऐसे मानों के रहते हुए निर्णयों के निरर्थक बन जाने की सम्भावना रहती है।

: १६ :

क्रान्ति का क्या हुआ ?

क्रान्ति बीते कल की चिंता नहीं करती। वह तो और वर्त्तमान कार्यों की उपेक्षा कर आगामी कल की ओर प्रभावित होती है। क्रान्ति एक 'नया आरम्भ' है। अतीत का विरोध ही उसका मूल-तत्त्व है। बोलशेविक क्रान्ति परम्परागत काली ज़ारशाही पर आक्रमण थी। यही उसका औचित्य था, यही उसकी प्रेरणा थी और यही उसका कार्य था।

कार्ल मार्क्स और पीटर महान् के सिद्धान्तों के बीच जो संघर्ष चलता रहा है वही बोलशेविक क्रान्ति है। वह रूस के अतीत और कम्युनिस्टवादी भविष्य का पारस्परिक संग्राम है। इस संघर्ष में नये को पुराने के विरोध का सामना करना पड़ा। कभी मार्क्स की जीत रही तो फिर कभी पीटर की विजय हुई और मार्क्स उसका बंदी बन गया। किंतु महत्त्वपूर्ण मामलों में पीटर और मार्क्स दोनों एक-दूसरे से सहमत थे, दोनों तानाशाही के समर्थक थे। इधर कुछ दिनों से तो वे उस राक्षस का आकार ग्रहण करते आ रहे हैं, जिसका शरीर एक होता है किन्तु जिसके कन्धे पर दो भिन्न-भिन्न सिर होते हैं। कुछ लोग मार्क्स को देखते हैं, कुछ पीटर को। इससे भ्रान्ति पैदा हो जाती है।

सोवियत् रूस न तो शुद्ध रूप से मार्क्सवादी है न शुद्ध रूप से पीटर का अनुगामी। दोनों के मिश्रण ने एक बिलकुल ही भिन्न वस्तु उत्पन्न कर दी है, जो अभूतपूर्व होती हुई भी बिलकुल स्पष्ट है।

सोवियत् रूस में दुर्भाग्यवश लोकमत अक्सर घटनाओं से बहुत पिछड़ा हुआ है, यहां तक कि १० वर्ष तक पिछड़ा हुआ रहा है। सन् १९२९ के आस-पास मास्को के विदेशी संवाददाताओं ने, जिनमें एक मैं भी था, यह रिपोर्ट देनी आरम्भ की कि रूस उद्योगों का निर्माण कर रहा है और शक्तिशाली बन रहा है। इसे लोगों ने प्रचार कहकर टाल दिया। कभी-कभी प्रचार वह सत्य होता है जो हमारे उसे ग्रहण करने के लिए तैयार होने से काफी पहले ही कह दिया जाता है। जब सम्वाददाताओं ने समय से दस साल पहले लिखा कि रूस बल-

वान बनता जा रहा है तो लोगों ने उसे प्रचार कहकर पुकारा। किंतु जब यही बात दस साल देर करने के बाद राजदूत जोसेफ़ ई०डेविस ने अपनी "मास्को यात्रा" (मिशन टू मास्को) नामक पुस्तक में लिखी तो उनकी पुस्तक हाथों-हाथ बिकने लगी।

आज भी हम उन महान् घटनाओं के समझ सकने में ८ या १० वर्ष पीछे हैं जो इस समय सोवियत् रूस के भीतर घर कर रही हैं और जिनसे उसकी शासन-प्रणाली का रूप ही बदलता जा रहा है।

शासन-संस्थाएं, नेता और पार्टियाँ अक्सर बदलती रहती हैं। नैपोलियन ने अपना जीवन एक क्रान्तिकारी सैनिक-योद्धा के रूप में आरम्भ किया बाद में वह बादशाह बन गया। मुसोलिनी पहले-पहल एक वामपक्षी समाजवादी था। बाद में वह राष्ट्रवादी बन गया और ऐसा कर उसने फ़ाशिस्टवाद की ओर एक क़दम उठाया। शासन-संस्था रूपी हवाई जहाज़ के चालक अक्सर अपने सिद्धान्तों को उठाकर फेंक देते हैं ताकि दूसरे बोझ के लिए स्थान ख़ाली हो जाय। फिर भी वे अपने सिद्धान्तों का नाममात्र के लिए राग ज़रूर अलापते रहते हैं।

किसी देश की असलियत उसके सरकारी वक्तव्यों में दिखाई नहीं देती। एक बार कार्ल मार्क्स ने कहा था कि जहाँ एक गृहस्थिनी दुकानदार की बातों में विश्वास न कर मुर्ग़ी के बच्चों को स्वयं परीक्षा करके देखती है, वहाँ इतिहासकार और पत्रकार सरकार की बातें सत्य मान लेते हैं। यदि मार्क्स को आधुनिक पत्रकारों को सलाह देनी होती तो वह कहते कि सरकार द्वारा दिये जाने वाले 'मुर्ग़ी के बच्चों' को सोच-समझ कर लो।

रूस के नेताओं और उसका अधिकांश भूमि तक बाहर वालों की पहुँच नहीं होती। फिर भी उसमें हमें जो रहस्य दिखाई देता है उसका कारण अज्ञान नहीं बल्कि भविष्य को समझ सकने की असमर्थता है। यह नहीं कि हम नहीं जानते कि रूस क्या है बल्कि यह कि हमें पता नहीं कि रूस क्या करेगा। उसके रहस्यमय होने का यही कारण है। सभी तानाशाही देश रहस्यमय होते हैं क्योंकि तानाशाहों को रोकने वाला कोई लोकमत नहीं होता और किसी स्वतंत्र समाचार पत्र में उसकी पोल नहीं खोली जाती।

रूस कोई रहस्य नहीं है। यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी के साथ उसकी नीति की व्याख्या करना चाहे तो उसे रूसी पुस्तकों आदि में इसके लिए सब आवश्यक सामग्री मिल सकती है। इसके अलावा हम सोवियत् सरकार के भिन्न-भिन्न कार्यों से भी उसके सम्बंध में निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सोवियत्‌रूस के सम्बंध में सभी बुनियादी बातें उपलब्ध हैं और आसानी

से समझी जा सकती हैं।

रूस में सारी पूंजी सरकार की होती है। सोवियत् का कोई भी निवासी न ज़मीन ख़रीद सकता, न बेच सकता, न रख ही सकता है। वहाँ सब ज़मीन सरकार की है। किसी रूसी किसान के पास न अपना घोड़ा होता है, न बैल, न हल, न ट्रैक्टर। ये उत्पादन के साधन पूंजी हैं, इसीलिए उन पर सरकार का अधिकार होता है। देश की सभी फैक्टरियों, रेल की सड़कों, तेल के खेतों, खानों, सार्वजनिक उपयोग के साधनों, समाचारपत्रों, छापेख़ानों, फुटकर और थोक बिक्री की दुकानों, सौन्दर्य-सामग्री की दुकानों, नाइयों की दुकानों, होटलों, भोजनालयों, हवाईजहाज़ों और यातायात के साधनों पर सरकार का अधिकार है और वही इनका संचालन करती है। सारांश यह कि वे सब रूसी पदार्थ, जिनसे धन कमाया जा सकता है, सरकारी नियंत्रण में हैं।

लोग व्यक्तिगत रूप से घड़ी, सूट, पुस्तकालय, घर, गरमी के दिनों के लिए बंगला और मोटर भी रख सकते हैं। यद्यपि रूस इतना निर्धन है कि वहाँ शायद २०० से अधिक व्यक्तियों के पास निजी मोटरें नहीं हैं। किन्तु अगर कोई मोटर को टैक्सी की तरह इस्तेमाल करे यानी उससे रुपया कमाये तो वह पूंजी बन जाती है और रूसी जनता को पूंजी रखने का क़ानूनी अधिकार नहीं। वहाँ के नागरिक अपने या परिवार के लिए धन या व्यक्तिगत सम्पत्ति रख सकते हैं किन्तु उसका वे पूंजी के रूप में उपयोग नहीं कर सकते।

रूस की सरकार रूस का एकमात्र पूंजीपति है। आज रूस में हमेशा से ज्यादा सामूहिकता है और उड़ती नज़र डालने वाले प्रेक्षक चाहे कुछ भी कहें, रूस म पूंजी पर से सरकारी अधिकार के हटने की कोई प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती।

प्राइवेट पूंजीवाद के विरोधी प्राइवेट पूंजीवाद में अनेक बुराइयाँ बताते हैं और उनका कहना ठीक भी है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि प्राइ-वेट पूंजीवाद के समाप्त हो जाने पर कोई नई बुराई पैदा ही नहीं हो सकती।

सोवियत् बुराइयों का एक कारण उसका कार्य-प्रलोभन है। बोलशेविक कितने ही निरर्थक प्रलोभन उत्पन्न करते रहते हैं, जैसे राष्ट्र की सेवा और किसी हित के लिए मर मिटना। निस्सन्देह इन बातों का प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा रूसी पदक, प्रचार और पुरस्कारों का प्रलोभन देकर नागरिकों को कार्य करने के लिए उत्साहित करते हैं। किंतु रूस में तीन प्रलोभन मुख्य हैं और वे सभी व्यावहारिक हैं। ये हैं—वेतन, विशेष अधिकार और शक्ति।

सोवियत् सरकार हमेशा भिन्न-भिन्न प्रकार के कामों के लिए भिन्न-

भिन्न पारिश्रमिक देता रहा है। यदि किसी व्यक्ति में अधिक योग्यता होती है या वह काम को अधिक अच्छी तरह से सीखे हुए होता है या उसमें कोई विशेष प्रतिभा होती है तो उसे इसका विशेष पुरस्कार मिलता है। किंतु इधर कुछ सालों से सबसे अधिक और सबसे कम वेतन पानेवाले व्यक्तियों में अंतर बढ़ गया है। १८ मार्च १९४६ को अमेरिकन समाचार पत्रों में प्रकाशित एक रिपोर्ट में, जो रूस गये हुए एक प्रतिनिधि-मण्डल ने भी और जो पूरी तरह से रूस के पक्ष में है, बताया गया है कि वहाँ के मज़दूरों को एक प्रतिरूपक फैक्टरी में तीन सौ से लेकर तीन हज़ार रूबल तक मिलते हैं।

आजकल रूस म रुपए के प्रलोभन पर अधिक-से-अधिक ज़ोर दिया जा रहा है! कुछ नगण्य उदाहरणों को छोड़कर, उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों और किसानों को काम के हिसाब से वेतन मिलता है। कारखानों के मैनेजर और खानों के डाइरेक्टर सरकारी कारोबार के उत्पादन में जितनी वृद्धि करते हैं उसके लिए उन्हें उसी हिसाब से प्रतिशत बोनस मिलता है। युद्ध के दिनों में हवाई छतरी से उतरने वाले एक रूसी सैनिक को हर बार युद्ध के लिए कूदने पर एक महीने की अलग तनख्वाह मिलती थी। किसी उच्च-सैनिक अधिकारी की मृत्यु हो जाने पर उसके परिवार को सरकार से बड़ा ज़बर्दस्त भत्ता मिलता है। उदाहरण के लिए २७ फरवरी १९४२ को मेजर जनरल लेवाशेव के परिवार को और १२ मार्च १९४२ को वाइस कमिश्नर कार्टूरोव के परिवार को बीस-बास रूबलों की रकमें मंजूर की गईं और इसके अलावा मृत अफसर की पत्नी को पाँच सौ रूबल और उसके प्रत्येक बच्चे को तीन सौ रूबल की माहवारी पेंशन दी गई (यह स्मरण रखने गोग्य बात है कि रूस के एक साधारण मज़दूर को फी महीने पाँच सौ रूबल मिलते हैं।) यह दो फुटकर उदाहरण हैं जो रूस के दैनिक समाचार पत्रों से ले लिये गए हैं। "प्रवदा" के ११ अप्रैल सन् १९४२ के अंक में छपे हुए समाचारों के अनुसार एक लाख से दो लाख रूबल तक के 'स्टालिन-पुरस्कार' कितने ही वैज्ञानिकों को दिये गये। इसी प्रकार अगले दिन के "प्रवदा" में यह समाचार छपा कि कितने ही कलाकार और लेखकों को पचास हजार से लेकर एक लाख रूबलों के पुरस्कार दिये गए।

आर्थिक पुरस्कार को यह असमानता पारिश्रमिक रूप में दी जाने वाली अन्य विशेष सुविधाओं के कारण और भी स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है। इन विशेष सुविधाओं में अच्छे मकान, अच्छे कमरे, गरमी के दिनों के लिए विनोद-गृह, अच्छे अस्पतालों में पहुंच, रेलगाड़ियों में मुफ्त यात्रा, मोटरों इत्यादि

का प्रयोग आदि शामिल हैं। एक देश में जहां एश्वर्य के साधन दुर्लभ हैं, रहने के लिए कमरे का या चढ़ने के लिए मोटर का मिलना या किसी अच्छे कम भीड़-भाड़ वाले अस्पताल में चिकित्सा पा सकना निस्संदेह विशेष महत्व की बात होती है।

अमीर और गरीब में जितना भेद सोवियत् रूस में है, उतना पूँजीवादी देशों में भी नहीं। स्टालिन को साधारण वेतन मिलता है और वह शायद कभी रुपया छूते भी नहीं, फिर भी एक मनुष्य को जितने भी पदार्थों की आवश्यकता हो सकती है वे सब उन्हें उपलब्ध हैं। स्टालिन उतने ही सुख से रहते हैं जितने सुख से रूज़वेल्ट रहते थे। इसके विपरीत एक रूसी मजदूर को एक अमेरिकन मजदूर की तुलना में बहुत ही कम सांसारिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।

सोवियत् जनता के जीवन-मान की यह असमानता कोई आकस्मिक घटना नहीं है, यह पूर्व आयोजित है। १९ वीं शताब्दी के दूसरे शतक के मध्य में रूसी लेखकों ने समानता को बोरजुओं की संकीर्णता और जनतंत्री मूर्खता कह कर हँसी उड़ानी आरम्भ की। उसके बाद से जीवन-मान की असमानता का सरकार ने जान बूझकरके विकास किया है। इसका उद्देश्य केवल औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी उत्पादन को बढ़ाना ही नहीं बल्कि रूस में एक विशेष अधिकार—विशेष व्यक्तियों की श्रेणी स्थापित करना है। यह श्रेणी अब सोवियत् रूस में विद्यमान है।

रूस में जीवन-मान के निम्न होने के कारण और उसे उठाने म कठिनाई देखकर स्टालिन ने जान-बूझ कर शिष्ट जनों की एक नई श्रेणी बनाई। जब सभी व्यक्ति संतुष्ट किये जा सकते हैं तो इस बात की आवश्यकता नहीं कि कोई किसी अल्पसंख्यक उच्च श्रेणी के लिए विशेष रूप से कष्ट करें; किंतु जहाँ जनता को इतनी सुविधाएँ नहीं दी जा सकतीं कि वह संतुष्ट रह सके वहाँ तानाशाहों को अपने समर्थन के लिए एक उच्च वर्ग की आवश्यकता होती है। रूस में इस उच्च-वर्ग में सैनिक अफ़सर, गुप्त पुलिस के प्रधान अधिकारी, औद्योगिक मैनेजर, (अपेक्षाकृत कम संख्या में) चतुर और अधिक वेतन पाने वाले मजदूर, इंजीनियर और वैज्ञानिक शामिल हैं। इनके अलावा इस वर्ग में उच्चतम सरकारी अफ़सर, कम्युनिस्ट दल के कार्यकर्त्ता और वे कलाकार और लेखक भी शामिल हैं जो सरकस और प्रचार का काम करते हैं। कुल मिलाकर इस वर्ग में ४० लाख व्यक्ति और उनके अनगिनत आश्रित हैं। यूरोपियन जीवन-मान की कसौटी पर कसे जाने पर भी उनका जीवन-यापन संतोषजनक है और साधारण नागरिकों से तो वे कई गुने अच्छे हैं ही।

एक राष्ट्र का जीवन-मान कितनें ही तत्त्वों के जटिल मिश्रण से तैयार होता है। अन्न, कपड़ा, और घर इनमें मुख्य हैं। स्थायी नौकरी का होना भी ज़रूरी है। रूस के जो नागरिक स्वस्थ होते हैं, उनके मस्तिष्क में कोई विकार नहीं होता और राजनीतिक दृष्टि से जो आज्ञाकारी होते हैं, उन्हें सरकार की ओर से यह आश्वासन प्राप्त होता है कि वे कभी बेकार नहीं रहेंगे। यह एक बहुत बड़े लाभ की बात है।

पहले मैं सोचा करता था कि रूस में बेकारी की अनुपस्थिति समाजवाद या लाभ न लेने की प्रवृत्ति के कारण है। किंतु आज मेरा ऐसा विश्वास नहीं। सन् १९२२ और १९२४ के बीच प्रजातंत्री जर्मनी में भी बेकारी बिलकुल नहीं थी। नाज़ियों के समय में भी इस शताब्दी के तीसरे शतक में जर्मनी में बेकारी नहीं थी। इसी तरह लगभग समस्त युद्ध में अमेरिका, इंग्लैंड और नाज़ी जर्मनी में बेकारी नहीं थी।

रूस, जर्मनी और दूसरे रण-रत राष्ट्रों में जितने दिनों बेकारी न रही उतने दिनों नीचे लिखी दो बातें उनमें समान-रूप से उपस्थित थीं–(१) निर्यात या बड़े उद्योगों के विस्तार या युद्ध के लिए अधिक उत्पादन और (२) उपभोक्ताओं के लिए सामान की कमी। इन दोनों बातों के परिणाम स्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो गई।

सन् १९२४ में जब मार्क का सिक्का स्थिर बना तो जर्मनी में बेकारी फिर दिखाई देने लगी। इसीलिए सन् १९२४ और १९२८ के बीच जब रूबल का सिक्का स्थायी रहा तो रूस में भी बेकारी रही और सरकार ने नौकरी दिलाने वाली संस्थाएँ स्थापित कीं। किंतु सन् १९२८ में पंचवर्षीय योजना के फलस्वरूप रूस में उत्साहपूर्ण औद्योगिक निर्माण का एक नया युग आरम्भ हुआ। रूबल का मूल्य घट गया और सन् १९३१ तक मूल्यों की वृद्धि पूरे ज़ोर पर पहुँच गई। अन्न और उपभोक्ताओं के काम में आने वाले दूसरे सामान बहुत दुर्लभ हो गए और बेकारी दूर हो गई।

मेरा कहने का यह अभिप्राय नहीं कि दुर्भिक्ष और मूल्यारोहण के समय ही बेकारी दूर हो सकती है। किन्तु अब तक ऐसा हुआ है कि जहां जहां भी उक्त परिस्थितियां प्रस्तुत रही हैं वहीं-वहीं बेकारी भी नहीं रही है।

जब पैदा की जाने वाली सभी वस्तुओं के ख़रीदार होते हैं तो स्वभावतः बेकारीं दूर हो जाती है। बेकारी का न होना और उत्पादित पदार्थों का पूर्ण वितरण साथ-साथ चलता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से, समाजवादी देश में पदार्थों का सदा ही पूर्ण वितरण होना चाहिए। किन्तु देखा यह गया है कि

पूर्ण वितरण उसी समय सम्भव हो सका जब वितरण के लिए पदार्थों की कमी थी; जैसे, प्रजातन्त्र-कालीन जर्मनी में या सन् १९३१ के बाद के सोवियत् रूस में या युद्ध-रत देशों में। प्रश्न यह है—क्या बहुलता के युग में भी पूर्ण वितरण सम्भव होगा ? रूस से इसका कोई उत्तर नहीं मिलता, क्योंकि क्रान्ति के बाद से रूस में कभी अन्न, कपड़े या मकानों का बाहुल्य नहीं रहा। बोलशेविक क्रान्ति दुर्लभता के ही युग में हुई।

तो फिर क्या कारण है कि युद्ध में रूसी इतनी अच्छी तरह से लड़े ? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे संतुष्ट थे ?

विन्सटन चर्चिल के निर्देश में अंग्रेज़ बड़ी बहादुरी के साथ लड़े और उन्होंने शत्रु का विरोध बड़ी कुशलता के साथ किया। किन्तु बाद में उन्होंने चर्चिल को पदच्युत कर दिया। रूसी जनता भी स्टालिन के लिए उतनी ही लड़ी जितनी ब्रिटिश जनता चर्चिल के लिए या अमेरिकन जनता रूज़वेल्ट के लिए। युद्ध कोई राजनीतिक चुनाव नहीं है। भारतीय सेना ने युद्ध में इतना जो यश कमाया वह इसलिए नहीं कि उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से प्रेम था।

जटिल, दार्शनिक, भावुकता-पूर्ण और व्यावहारिक प्रेरणाओं के कारण मनुष्य युद्ध करने और मरने को तयार हो जाता है। स्पेन के गृह-युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड के अलावा, जिसमें मैंने भी नाम लिखवाया था, फ्रेंको के मूर ही सबसे अच्छे सैनिक थे। राज-भक्तों की ओर से लड़ने वाले रूसी टैंक-संचालक मुझ से कहा करते थे कि जब वे अपने गराजों में लौटते थे तो उन्हें अपने टैंकों के दांतेदार पहियों में उन मोरक्कन सिपाहियों का मांस लिपटा मिलता था जो इतनी अभूतपूर्व और अतिशय शक्तिशाली यांत्रिक शक्ति का सामना करते हुए भी पैर पीछे हटाना नहीं जानते थे। फिर भी मूरों को यह पता नहीं था कि युद्ध क्यों हो रहा है? यह एक बड़ा ही दुर्लभ दृष्टान्त है जिसमें हमें वीरता और निमित्त में कोई तारतम्य नहीं मिलता। बात यह है कि सिपाहियों के युद्ध में वीरता दिखाने से यह न समझ लेना चाहिए कि वे युद्ध पसन्द करते हैं या उन लोगों का समर्थन करते हैं जिन्होंने उन्हें लड़ने के लिए भेजा है।

जितने अच्छे सेना के अफ़सर होते हैं उतनी ही अच्छी वह सेना होती है। रूसी सेना के अफ़सर अच्छे थे। इसके अलावा, रूसी सदा ही अपने आक्रमणकारियों के साथ वीरतापूर्वक लड़े हैं। वे नेपोलियन से लड़े और उन्होंने उसे आगे बढ़ने से रोक दिया। रूसी सेना में उस समय भी आजकल की तरह अधिकांश लोग किसान थे और १९ वीं शताब्दी के दूसरे शतक के किसान दास थे। फिर भी उन्होंने अपने को एक क्रूर जार के युद्ध में मरने दिया। प्रथम विश्व-युद्ध

में भी रूसियों ने खूब अच्छी तरह लड़ाई लड़ी। यद्यपि उस समय उनके पास साजो-सामान की बहुत कमी थी। अक्सर एक रूसी सिपाही को इस बात की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी कि उसका साथी मरे तो उसे उसकी राईफ़ल मिले। फिर भी रूसियों ने कैसर के पूर्वी मोर्चे को मास्को, पीट्रोग्राड, वोलगा और काकेशिया से बहुत दूर रखा।

रूसी सिपाहियों को पता था कि सन् १९१८, १९१९ और १९२० में जब उन पर विदेशियों का प्रभुत्व था तो उन पर क्या बीती थी। उनमें से बहुतों ने जनता, कस्बों और गाँवों पर क्रूर नाज़ियों के अत्याचार होते देखे थे। रूसी जनता किसी विदेशी विजेता द्वारा शासित होना नहीं चाहती थी। बहुत से लोगों, विशेषतः अफ़सरों को क्रांति से लाभ पहुँचा था। शिक्षा और नौकरी सम्बन्धी अधिक विस्तृत सुविधाओं, देशव्यापी स्वास्थ्य-योजनाओं, पेन्शनों, वार्षिक छुट्टियों और दूसरी सामाजिक सुविधाओं के कारण रूसी जनता की अपनी सरकार के प्रति राजभक्ति दृढ़तर हो गई थी। जातीय भेदभाव न होने के कारण और अल्पसंख्यकों को भी सांस्कृतिक स्वतंत्रता मिलने के कारण सरकार के प्रति व्यक्ति की आस्था बढ़ गई थी। अत्याचार, अत्यधिक श्रम और बलिदान के बावजूद भी अधिकांश जनता ने युद्ध के समय अपने देश का समर्थन किया।

रूसी सेना के कुछ सिपाही फौज को छोड़कर चले गये और उन्होंने अपना शेष जीवन विदेशों में बिताना ज़्यादा अच्छा समझा। रूस के कुछ सेनापतियों तक ने सेना को छोड़ दिया और वे नाज़ियों की ओर से लड़े। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस या यूरोप के किसी भी अन्य देश में आपको ऐसे एक भी जनरल या उच्च सेनाधिकारी का उदाहरण नहीं मिलेगा जो अपने ही देश के विरुद्ध लड़ने को तैयार हो गया हो। किन्तु मेजर जनरल ऐन्ड्री ए. व्लासोव, जिन्होंने सन् १९४१ में मास्को की रक्षा में इतना यश कमाया था, जिन्हें २ जनवरी १९४२ को रूस का उच्च सैनिक सम्मान मिला था, जिन्हें मास्को के 'प्रवदा' पत्र ने अपने ६ जनवरी १९४२ के अंक में "एक विशिष्ट रूसी जनरल" कह कर पुकारा था और जिन्हें सन् १९४२ में नाज़ियों ने गिरफ्तार कर लिया था, हिटलर के हाथ के खिलौने बन गये और उन्होंने रूसियों से लड़ने के लिए जर्मनी-स्थित रूसी कैदियों की एक सेना तैयार की। किन्तु व्लासोव और उनके ही जैसे कुछ अन्य लोग नियम के अपवाद माने जा सकते हैं; साधारणतः रूसी सेना अपने देश के लिए बड़ी आज्ञाकारिता और योग्यता के साथ लड़ी। रूस के नागरिक

भी अधिकतः देशभक्त थे ।

तानाशाही देश जनता से बलात् आज्ञा-पालन कराने के लिए गुप्त पुलिस और आतंक उत्पन्न करने वाले अन्य शस्त्रों का प्रयोग करते हैं । इसके अलावा जनता की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए वे प्रचार और शिक्षा के अपने एकाधिकार का प्रयोग करते हैं और उन्हें प्रायः सफलता भी मिली है । जनतंत्री देशों तक में, जहाँ जनता न्याय की माँग कर सकती है और किसी मामले के दोनों पक्ष के वादविवाद सुन सकती है, सरकार के सामने व्यक्ति लाचार ही बना रहता है । तानाशाही देशों में कुछ इने-गिने साहसी व्यक्ति ही अपनी विचार-स्वतंत्रता या विचार-क्षमता पर किये गए सरकारी प्रहार का विरोध कर सकते हैं । ऐसे देशों में जनता अपने मालिकों का जो समर्थन करती है, उसके आधार पर बड़े-बड़े निष्कर्ष निकाल कर जनतंत्री प्रेक्षक अक्सर अपने को धोखा देते हैं । स्वयं तानाशाह कभी ऐसे समर्थन से छले नहीं जाते । यदि वे छले जा सकते तो वे गुप्त पुलिस, कान्सेण्ट्रेशन कैम्पों, इकतरफा चुनावों आदि की व्यवस्था तोड़ देते, देश में कही, गाई, रंगी, लिखी और चित्रित की जाने वाली सभी बातों पर से सेन्सर उठा लेते, विरोधियों का सफ़ाया न करते, जनता के मस्तिष्क को जीतने या पंगु बनाने के अभिप्राय से निरन्तर किया जाने वाला कर्कश सरकारी आंदोलन बंद कर देते, नेताओं से जनता को अलग रखने वाली गोपनीयता की दीवार तोड़ देते और निजी सुरक्षा के लिए इतने विस्तृत प्रबन्ध न करते ।

यह अक्सर कहा जाता है कि रूसी सरकार विदेशियों से सशंक रहती है । यह बात केवल अंशतः सत्य है । असलीयत यह है कि रूसी सरकार स्वयं अपने नागरिकों से, यहाँ तक कि अपने उच्च-से-उच्च अफ़सरों की ओर से भी शंकित रहती है । यदि यह बात न होती तो वह विदेशी पत्रों को अपने देश में आने से क्यों रोकती ? इस शताब्दी के दूसरे शतक में जर्मनी और ब्रिटेन के पूँजीवादी समाचारपत्र मास्को के स्टोरों और सारे रूस में अनेक स्थानों पर बिकते थे । बोरजुओं के दैनिक पत्र 'बर्लिन टैगेब्लैट' को मैं यूक्रेन और काकेशश में हमेशा रेलवे स्टेशनों से ख़रीदा करता था । लेकिन कई साल हुए विदेशी अख़बारों का इस तरह बिकना बंद कर दिया गया । अब तो केवल विशेष पुस्तकालयों में, जहाँ विदेशी पत्र मँगाये जाते हैं, कुछ चुने हुए लोग ही इन अख़बारों को देख सकते हैं । किसी भी व्यक्ति को ट्राट्स्की, बुख़ारीन या किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति की पुस्तक ख़रीदने या उधार मांगने का अधिकार नहीं, जिसने कभी स्टालिन का विरोध किया हो । क्या कारण है कि रूस के लेखकों, वैज्ञा-

निकों और औद्योगिकों को सरकारी काम के अलावा और किसी काम से विदेश जाने की इतनी कम अनुमति मिलती है और वह भी विशेष सावधानी करने के बाद ? क्या कारण है कि रूसी सरकार रूसियों को देश से बाहर जाने से रोकती है और शरणार्थियों को देश के भीतर नहीं आने देती ? क्या कारण है कि कुछ थोड़े-से चुने हुए लोगों को ही रूस में विदेशियों से मिलने की अनुमति मिलती है ? क्या रूसी सरकार को इस बात का भय है कि विदेशी लोग रूसी जनता को बिगाड़ देंगे ? क्या उसे विदेशियों में इतना कम विश्वास है ? वह क्यों नहीं आशा रखती कि उसकी जनता विदेशियों का मत-परिवर्तन कर लेगी ?

६ जून १९४५ को ब्रिटिश पार्लमेण्ट के सदस्य कमांडर किंग-हाल ने ब्रिटिश सरकार से पूछा कि रूस के कितने रेडियो-ब्राडकास्ट प्रति सप्ताह अंग्रेज़ी में रूस से ब्रिटेन आते हैं और ब्रिटेन के कितने ब्राडकास्ट रूसी भाषा में ब्रिटेन से रूस भेजे जाते हैं। श्री लायड ने सरकारी सूचना विभाग की ओर से उत्तर देते हुए ब्रिटिश लोक-सभा में बताया—"रूस से प्रति सप्ताह ५३ रेडियो ब्राडकास्ट अंग्रेज़ी में ब्रिटेन आते हैं किन्तु ब्रिटिश रेडियो-स्टेशन बी०बी०सी० से एक भी ब्राडकास्ट रूसी भाषा में रूस नहीं भेजा जाता।"

बी० बी० सी० से सभी भाषाओं में सभी देशों के लिए ब्राडकास्ट किये जाते हैं। किंतु रूस के लिए कोई ब्राडकास्ट इसलिए नहीं किया गया कि रूसी सरकार अपनी जनता को विदेशी रेडियो सुनने देना नहीं चाहती थी। कुछ उच्च सैनिक और राजनीतिक नेताओं को छोड़कर रूस में किसी व्यक्ति को ऐसे रेडियो रखने की अनुमति नहीं थी जिससे रूस से बाहर के स्टेशनों के प्रोग्राम सुने जा सकें। इसके अलावा रूस के रेडियो स्टेशन बी० बी० सी० के ब्राडकास्टों को अपने यहां से पुनः ब्राडकास्ट करने को तैयार नहीं थे। ब्रिटिश जनता तो प्रति सप्ताह रूस के ५३ ब्राडकास्ट सुन सकती है किंतु स्टालिन को अपनी जनता पर इतना भी विश्वास नहीं कि वह उसे एक भी ब्रिटिश ब्राडकास्ट सुनने दे।

रूसी सरकार अपने यहां इस मान्यता को यथासाध्य बहुत ही कम प्रचलित होने देना चाहती है कि विदेशी सरकारों में सोवियत् संघ के प्रति मित्रता की भावना है। रूस में, अमेरिका और ब्रिटेन की युद्धकालीन उधारपट्टा व्यवस्था की विशेष चर्चा न किये जाने का एक कारण यह भी है; क्योंकि पूछा जा सकता है कि यदि विदेशी सरकारें रूस से मित्रतापूर्ण व्यवहार रखती हैं तो क्या कारण है कि उनसे सम्पर्क नहीं बढ़ाया जाता। रूस में यह तनातनी

या शंका की भावना क्यों ?

तानाशाही एक दुर्बल ढंग की शासन-व्यवस्था है। यह जानते हुए भी कि वर्तमान शासन संस्थाएँ इतनी शक्तिशाली होती हैं कि साधारण शांति-काल में जन-क्रांति उन्हें भंग नहीं कर सकती तानाशाही शासकों में एक घबराहट-सी रहती है। तानाशाहों को जनता से उस समय तक किसी प्रकार का भय नहीं होता जब तक कि उन्हें पद-च्युत करने की इच्छा रखने वाले कोई दूसरे विरोधी नेता न हों। यही कारण है कि स्टालिन को सब से अधिक परेशानी नेतृत्व की समस्या के कारण रहती है। विरोधियों का अन्त करने के बाद ही उन्हें वर्तमान एकाधिकार का पद प्राप्त हुआ है और वह ऐसे प्रतिद्वन्द्वियों को जिनसे उन्हें अपने हराये जाने या काम में बाधा पड़ने का भय है, लगातार सफ़ाया करते जा रहे हैं। साथ-ही-साथ वह अपने नीचे काम करने वाले व्यक्तियों की आज्ञाकारिता और स्वामि-भक्ति प्राप्त करने की युक्तियों को भी अधिक-से-अधिक पूर्ण बनाने की चेष्टा करते रहे हैं।

रूस जैसे देश में, जहाँ शतकों से जनता को कठोर जीवन का सामना करना पड़ रहा है और अभी कई वर्षों तक ऐसी ही परिस्थिति रहने की सम्भावना है, वहाँ यदि विशेष सुविधाओं और भावी प्रलोभनों में फँसाकर उच्च वर्ग के मैनेजरों, फौज, गुप्त पुलिस और दास वृत्ति वाले विद्वानों को सरकारी बंधन में बाँधा और संतुष्ट रखा जा सके तो उससे आत्म-विश्वास-विहीन सर्व सत्ताधारी शासक को बड़ी सान्त्वना और सहायता मिल सकती है।

सार्वजनिक कठिनाइयों से प्रभावित न होने का सबसे अच्छा तरीका है उनकी पहुँच से बाहर रहना। रूस की उच्चवर्गीय जाति को जो विशेषाधिकार और ऐश्वर्य के साधन उपलब्ध हैं उनसे दो मन्तव्य पूरे होते हैं—एक यह कि वह साधारण जनता से दूर रहती है और दूसरे यह कि वह सामाजिक व्यवस्था में जकड़ दी जाती है।

जीवन का मान उच्च रहने से जनतंत्र को प्रोत्साहन मिलता है। उसके निम्न रहने से अल्पजनीय शासन, उच्च वर्गों की राजसत्ता और तानाशाही को प्रोत्साहन मिलता रहा है। लैटिन अमेरिका, एशिया और यूरोप आज ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं। रूस भी इसका एक उदाहरण है।

रूस में उच्च-वर्गों की नई राजसत्ता का जन्म कैसे हुआ, यह बात वहाँ की सैनिक जाति के प्रादुर्भाव से जानी जा सकती है। प्रत्येक सेना में अफ़सरों का होना अनिवार्य है और रूसी सेना में भी सदा अफसर रहे हैं। सन् १९३५ तक रूसी सेना के अधिकारियों और अन्य कार्यकर्ताओं में जितना कम भेदभाव

था उतना शायद किसी भी अन्य देश की सेना में नहीं था। किंतु उसके बाद एक बड़ा ही व्यापक परिवर्तन आरम्भ हुआ।

पहले रूस के सेनाधिकारियों की श्रेणी का पता उनके काम से लगता था और वे बैटेलियन कमांडर या रेजिमेंट के कमांडर आदि कहलाते थे। किंतु सितम्बर १९३५ में रूसी सेनाधिकारियों को पदवियाँ प्रदान कर दी गईं, जैसे लेफ्टिनेण्ट, कप्तान, मेजर, और कर्नल। ध्यान रहे कि उन्हें जनरल की उपाधि नहीं दी गई। देखने में यह बात सीधी-सादी मालूम देती है। जिस दिन इस नई प्रणाली की घोषणा की गई उसी दिन मेरी रूस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक सर्जे ट्रेटियाकोव से लम्बी चौड़ी बहस हुई। ट्रेटियाकोव ने इस परिवर्तन का समर्थन तो अवश्य किया किंतु वह उसकी व्याख्या नहीं कर पाये। इस सम्बंध में जो सरकारी घोषणा की गई वह बिलकुल अपर्याप्त थी; उसमें परिवर्तन का कोई कारण नहीं बताया गया था। एक आज्ञाकारी नागरिक की भाँति ट्रेटियाकोव ने एक ऐसी बात यंत्रवत् स्वीकार कर ली जिसे वह समझते भी नहीं थे। (ध्यान रहे कि बाद में विरोधियों के सफ़ाये के सिलसिले में वह गोली से उड़ा दिये गये।) उपाधि-दान का जो सबसे अच्छा कारण वह बता सके वह यह था कि अन्य देशों में ऐसा ही होता है।

"किंतु अन्य देशों में तो यह बात सन् १९१८ के बाद से ही है! आपके देश में एकाएक पूंजीवादी देशों की नकल करने की ज़रूरत क्यों आ पड़ी?" मैंने मास्को में होटेल मीट्रोपोल के चौड़े चबूतरे पर इधर-उधर घूमते हुए कहा।

मैंने यह बात स्वीकार की कि अफ़सरों की उपाधियों, विशेषत: कर्नल की उपाधि, का रूस में एक विशेष अर्थ था। उनसे ज़ारशाही यानी पुराने राजतंत्री रूस का बोध होता था जब कि सैनिक अधिकारियों को साधारण सिपाही का स्वामी बनने का अधिकार था।

"वर्तमान रूस की सेना में यह बात कदापि नहीं हो पायगी", ट्रेटियाकोव ने ज़ोर देते हुए कहा।

उन्हें यह बात नहीं मालूम थी कि कोई बात छोटे से रूप में आरम्भ होकर किस प्रकार बड़ी-से-बड़ी सीमा तक बढ़ सकती है।

७ मई १९४० को सोवियत् अधिकारियों ने जनरल और एडमिरल की पदवियाँ आरम्भ कीं। स्टालिन किसी काम को थोड़ा-थोड़ा करके करने में बड़े निपुण हैं। वह अपनी नीति को टुकड़े-टुकड़े करके कार्यान्वित करते हैं। सन् १९३५ में कर्नल की श्रेणी तक की उपाधियाँ दी गईं। इसके बाद जनता की

अरुचि को नष्ट करने का अवसर दिया गया और फिर सन १९४० में जनरल और कर्नल की उपाधियां प्रदान की गईं।

२१ जुलाई १९४० को एक नये आदेश के अनुसार जनरलों द्वारा युद्ध-क्षेत्र में प्रयोग किये जाने के लिए एक भड़कीली वरदी निश्चित करदी गई, जिसमें सोने के बटनों, गंगाजमुनी लेस और कन्धों के फ़ीतों की व्यवस्था की गई।

१० अगस्त १९४० को नौ-सेना के कमिश्नर निकोलाई कुजनेटसाव ने, जिनसे स्पेन में सन् १९३६ में मेरा खूब अच्छी तरह परिचय था और जिन्हें में एक सीधा-सादा गैर-रस्मी ढंग का जनतंत्रवादी समझता था, आदेश दिया कि भविष्य में नाविक अपनी सेना के उच्च अफ़सरों से सीधे बातचीत न करें बल्कि अपने ऊपर के निम्न श्रेणी के अफ़सर से ही सम्बन्ध रखें। उस दिन से परम्परागत सहकारिता और समानता की भावना रूसी सेना से निकल गई। ड्यूटी के समय या परेड के बाद भी अफ़सरों और नाविकों के बीच एक नई कठोरता दिखाई देने लगी। स्वेच्छिक जनतंत्री अनुशासन की भावना जाती रही।

१२ अक्टूबर १९४० को रक्षा-कमिश्नर टिमोशेंको ने अनुशासन संबंधी एक नये कानून की घोषणा की। यह एक दिलचस्प बात है कि मास्को के प्रमुख दैनिक पत्रों 'प्रवदा' या 'इजवेस्टिया' ने इस कानून को नहीं छापा। किन्तु चार दिन बाद लेफ्टिनेण्ट जनरल कुरद्यूमोव ने 'प्रवदा' में इस पर टीका-टिप्पणी की। उन्होंने लिखा—"इस कानून के अनुसार निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को अपने कमांडरों का निर्विरोध आज्ञा-पालन करना होगा। कमांडरों का आदेश ही उनके लिए कानून होगा। चाहे कोई भी कठिनाई, परेशानी और दुर्भाग्य की बात क्यों न हो, उसके कारण कमांडर के आदेश की अवज्ञा नहीं की जा सकेगी। जान-बूझकर अनुशासन भंग करने वालों के प्रति कमांडरों को कठोर-से-कठोर कार्य करने में, यहां तक कि शस्त्रों का प्रयोग करने में भी हिचकना नहीं चाहिए। ऐसे कार्यों के परिणाम का उत्तरदायित्व कमांडर पर नहीं होगा।" अनुशासन को कार्यान्वित कराने के लिए रूसी सेना के कमांडर शारीरिक दण्ड दे सकते हैं और अपराधी को गोली तक से उड़ा सकते हैं।

१६ अक्तूबर १९४० के 'प्रवदा' में जनरल कुरद्यूमोव ने लिखा—"कमांडर को उदार बनने या सैनिक नियमों की अवज्ञा की दयालुतापूर्वक उपेक्षा करने का कोई अधिकार नहीं। अधीनस्थ कर्मचारियों के सम्बन्ध में

अशुद्ध जनतंत्रवाद की भावना को पूरे उत्साह के साथ उखाड़ फेंकना होगा।"

इस अशुद्ध जनतंत्र को ही लोग सदा शुद्ध जनतंत्र समझते आये थे। बोलशेविकों और उनके प्रशंसकों ने, जिनमें मैं भी शामिल था, इसे बोलशेविक क्रान्ति की एक सबसे अद्‌भुत सफलता कहकर डींग हाँकी थी। वस्तुतः वह थी भी ऐसी ही, किंतु क्रान्ति ने जारशाही अतीत के सामने सिर झुका दिया।

७ जनवरी १९४३ को सोने और चाँदी के तारों से कढ़ा हुआ कन्धा-भरण भी रूसी अफ़सरों की वरदी का एक अंग बना दिया गया। इस सम्बन्ध में रूसी सेना के दैनिक पत्र 'रेड स्टार' ने लिखा—"हम लोग, जो रूस की सैनिक कीर्ति के सच्चे उत्तराधिकारी हैं, अपने पूर्वजों के शस्त्रागार से उन सभी उत्तमोत्तम पदार्थों को ग्रहण करते हैं जिनसे सैनिक भावना में वृद्धि हुई थी और अनुशासन शक्तिशाली बना था।"

फ़रवरी १९३१ में स्टालिन ने अपने एक भाषण में रूस की सैनिक कीर्ति की खिल्ली उड़ाई। उन्होंने कहा कि पुराने रूस के इतिहास से पता चलता है कि हमारा देश अपने पिछड़ेपन के कारण सदा ही पराजित होता रहा है। हमें मंगोल ख़ानों ने हराया, तुर्क गवर्नरों ने हराया, स्वीडिश किसानों ने हराया, पोलिश और लिथूएनियन ज़मींदारों ने हराया, अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी पूँजीपतियों ने हराया और जापानी अमीरों ने भी हराया।"

फिर भी १२ साल बाद ज़ारशाही रूस की 'पराजय' और 'विवशता' कीर्ति बन गई। तानाशाहों के हाथ में इतिहास एक खिलौना होता है।

६ जून १९४३ को साइरस शल्ज़बर्गर ने मास्को से 'न्यूयार्क टाइम्स' में निम्नलिखित संदेश भेजा—"अफ़सरों से अब यह आशा नहीं की जाती कि वे रेलवे स्टेशनों के निकटवर्ती स्थानों को छोड़कर और कहीं पार्सल या अस-बाब लेकर चलेंगे। उनसे अधिक-से-अधिक अपने बायें हाथ में एक छोटा-सा साफ़-सुथरा बंडल लेकर चलने की आशा रखी जाती है।" किपलिंग के भारत में भी अफ़सर बंडल लेकर चलने से बचते थे।

शल्ज़बर्गर ने यह भी लिखा—"गाड़ियों आदि में बड़े अफ़सरों के खड़े रहते हुए छोटे अफ़सरों को बैठने की अनुमति नहीं। बैठने के लिए उन्हें अपने बड़े अफ़सरों से अनुमति लेनी चाहिए। प्लैटून कमांडर की श्रेणी से ऊपर वाले सभी अफ़सरों के लिए अरदलियों की व्यवस्था की गई है। यह बात सरकारी रूप से बताई गई है कि सबसे पहले पीटर महान् ने अरदलियों की आवश्यकता का अनुभव किया था। इन अरदलियों का मुख्य कार्य अफ़सरों के निजी मामलों—भोजन, वस्त्र आदि—का ध्यान रखना था।"

इसके बाद इस नीति के कुफल दिखाई दिये। २४ जुलाई १९४३ को एक सरकारी आज्ञा में बताया गया कि अफ़सरों को तरक्की देने के लिए युद्ध-क्षेत्र में वीरता दिखाना अनिवार्य गुण नहीं माना जायगा। अब के बाद से तरक्कियाँ सैनिक स्कूलों के विशारदों को ही दी जायंगी।

सन् १९४३ में सोवियत् सरकार ने काउंट सुवोरोव के नाम पर सुवोराव स्कूल खोले, जिनमें भरती होकर लड़के सैनिक नेता का जीवन आरम्भ कर सकते थे। काउंट सुवोरोव एक ज़ारकालीन फील्ड-मार्शल थे। उनका जन्म सन् १७२९ में हुआ था और मृत्यु सन् १८०० में हुई। ७ नवम्बर १९४३ के 'न्यूयार्क टाइम्स' में राल्फ पार्कर ने लिखा—"ये स्कूल ज़ारकालीन सैनिक शिक्षालयों; स्कूलों की प्रणाली पर स्थापित किये गये हैं। इनमें मुख्यत: युद्ध में काम आये अफ़सरों के लड़के ही पढ़ेंगे।" ध्यान रहे मृत अफ़सरों के लड़के; मृत सिपाहियों के लड़के नहीं। जातीय भेद-भाव का प्रचार ऐसी ही बातों से होता है। ७ नवम्बर १९४५ को सोवियत् इतिहास में पहली बार सुवोरोव स्कूल के लड़के जिनकी औसत आयु १२ वर्ष की थी, सेना के साथ परेड करते हुए लाल चौराहे से गुज़रे।

मॉरिस हिन्डस नें, कालनीन नगर के पास एक सुवोरोव स्कूल का निरीक्षण करने के बाद "हैरल्ड ट्रिब्यून" के १६ मई १९४३ के अंक में लिखा—"इस स्कूल में नागरिक और ग्रामीण नृत्य को भी उतनी ही प्रधानता दी जाती है जितनी खेल-कूद को।" इसी तरह रैल्फ पार्कर ने भी अपने लेख में बताया, "रूसी सेना के दैनिक 'रेड प्लीट' ने अभी हाल ही में यह सलाह दी थी कि रूसी जल-सेना के भावी अफ़सर नृत्य की भी शिक्षा गृहण करें। भविष्य में वे रूसी शिक्षित वर्ग के सर्वोत्तम व्यक्तियों के प्रतिनिधि बनेंगे। इसलिए उन्हें समाज का आचार-व्यवहार सीखना चाहिए। किन्तु कैसा समाज ?"

रैल्फ पार्कर ने अपने लेख में आगे बताया—"जैसा कि 'रेड स्टार' नें हाल में ही लिखा था, सोवियत् अफ़सरों को पुरानी परम्पराओं में बहुत-सी ऐसी बातें दिखाई देती हैं जिनसे उन्हें रूसी सैनिक-बल के उद्गम और विकास का स्पष्ट ज्ञान होता जा रहा है। रूसियों को अब यह बात याद आ रही है कि पीटर के ज़माने में अफ़सरों में अपने सच्चे सम्मान की भावना जाग्रत हो गई थी। वर्त्तमान रूस पर जितना प्रभाव पीटर का है उतना लेनिन को छोड़कर किसी भी दूसरे पूर्वकालीन रूसी का नहीं।" तो इसका अभिप्राय यह है कि कम्युनिस्ट रूस सत्य सम्मान की भावना पीटर महान् से ग्रहण कर रहा ह, जिन्होंने रूस पर सन् १६९४ से सन् १७७५ तक राज्य किया और अपने

नगरों और महलों को बनवाने में लाखों कृषक दासों को मार डाला।

१६ सितम्बर, १९४५ को ब्रुक्स ऐटकिन्सन ने मास्को से 'न्यूयार्क टाइम्स' को निम्न लिखित तार दिया—"रूसी सेना के क्लब अब केवल अफ़सरों के प्रयोग में आ सकेंगे। पहले सेना के सभी लोगों को इन क्लबों को प्रयोग में लाने का अधिकार था।" ये क्लब, जिनमें से अधिकांश बड़े ही सुन्दर बने हुए हैं और ठाठदार मेज़ कुरसी आदि से सुशोभित हैं, रूस के अनेक नगरों में स्थित हैं और पहले इनमें अफ़सरों के अलावा दूसरे कर्मचारी भी जा सकते थे। किंतु सेना के साधारण कर्मचारी, जिन्हें अच्छा अन्न-वस्त्र नसीब नहीं होता, निम्न कोटि के "मज़दूर" समझे जाते हैं और उन्हें अब क्लबों में जाने का अधिकार नहीं।

'रेड स्टार' का कहना है—"कम्युनिस्ट पार्टी और रूसी सरकार जनरलों और दूसरे अफ़सरों के जीवन-मान को उच्च बनाने की लगातार चेष्टा कर रही है।"

उस गोल कमरे का विवरण देते हुए जिसमें अमेरिका और रूस में शतरंज का मैच हो रहा था, 'इजवेस्तिया' ने अपने २ जून १९४५ के अंक म लिखा—"दर्शकों में बहुत-से अफ़सर भी थे।" इजवेस्तिया ने प्राइवेट व्यक्तियों का कोई उल्लेख नहीं किया। दस साल पहले किसी रूसी पत्र में इस प्रकार की बातों के छपने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह बात एकदम बोलशेविक-विरोधी मानी जाती। यह है भी बोलशेविक-विरोधी।

मेजर-जनरल जॉन आर. डीन ने, जो युद्ध-काल में दो वर्ष तक मास्को में अमरिकन सैनिक मिशन के प्रधान की हैसियत से रहे, नवम्बर १९४५ में मास्को से लौटने से कुछ ही दिन बाद न्यूयार्क की एक सभा में कहा—"अफ़सरों और दूसरे सैनिक कर्मचारियों में जितना अन्तर रूसी सेना में है उतना संसार के किसी भी दूसरे देश की सेना में नहीं।"

रूस के इंजीनियरों, कम्युनिस्टों, दली नेताओं, उच्च सरकारी अफसरों, और मिल मालिकों का आर्थिक जीवन-मान साधारण जनता के आर्थिक जीवन-मान से बहुत ज्यादा ऊंचा है। 'लाइफ' (जीवन) नामक पत्र में जान हेरसी ने निकालाई पुजीरेव से अपनी मुलाकात का वृत्तान्त छापा है। पुजीरेव लेनिनग्राड की पुटीलोव इस्पात कारखाने के मैनेजर थे और एक चार कमरे वाले मकान में रहते थे। उनका मकान एक घनी आबादी वाले शहर में था, जहां चार-चार प्राणियों के कितने ही परिवार एक एक कमरे में गुजारा कर रहे थे। उनके पास निजी इस्तेमाल के लिए एक मोटर, एक शोफर, एक हवाई जहाज, एक

जल-विहार नौका, एक ग्रामीण घर, दो नौकर, और बहुत मात्रा में भोजन और शराब थी। थियेटरों में उनके लिए सबसे अच्छी सीटें रिजर्व हुआ करती थीं।

सन् १९३२ में मैं पुटीलोव कारखाने में एक सप्ताह रहा और सन् १९-३६ तक अक्सर गर्मियों के दिनों में वहां चला जाया करता था, ताकि वहां के होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कर सकूं। मैं उसके डाइरेक्टरों, इंजीनियरों, दलीय अफसरों और मजदूरों से परिचित था। सन् १९४४ में जब रूसियों और नाज़ियों में भयंकर युद्ध हो रहा था, श्री पुजीरेव जिस ऐश्वर्य के साथ रह रहे थे उसका सादृश्य शांति-काल में भी नहीं मिलता।

पूंजीवाद के कारण निर्धनता के पार्श्व में ही अतिव्ययता का जन्म होता है। रूस में तो उच्च और निम्न वर्गों का बढ़ा हुआ महान अन्तर और भी अधिक असंगत है क्योंकि वहां उच्च वर्गों से आशा की जाती है कि वे निम्न वर्गों के सहकारी और सेवक की हैसियत से काम करेंगे। समानता असम्भव या अवांछनीय हो सकती है, किन्तु जब बोलशेविज्म से उत्पन्न शासन-संस्था धनी और गरीब में बढ़ते हुए अन्तर को प्रोत्साहन देती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो क्रांति-तत्व का आधार ही जाता रहा।

फिर भी सोवियत् संघ में सर्वोच्च और निम्नतम आर्थिक स्तर में जो महान् अन्तर है वह उस खाई की तुलना में कुछ भी नहीं जो वहां के राजनीतिक शक्ति-सम्पन्न तानाशाही को राजनीतिक शक्तिविहीन व्यक्ति से अलग करती है। सोवियत् संघ में शासन का अधिकार जितना अधिक केन्द्रित है उतना संसार के किसी भी अन्य देश में नहीं।

निरंकुश शासन परोपकारी बन सकता है। वह जनता के लिए और जनता का हो सकता है किंतु जनता द्वारा चलाया नहीं जा सकता। जनतन्त्र ही एक ऐसा शासन है जिसका संचालन जनता कर सकती है। वह समाजवाद निरर्थक है जिसके अधीन रहकर जनता शासन-निर्देश में सक्रिय भाग न ले सके। लेनिन ने कहा था—"प्रत्येक रसोइये में शासन-संस्था को संचालित करने की योग्यता होनी चाहिए।"

प्रत्येक रसोइये, प्रत्येक खान-मजदूर, प्रत्येक गाड़ीवान और प्रत्येक किसान को बोलशेविक क्रान्ति के फलस्वरूप एक उच्चता की भावना का अनुभव हुआ, क्योंकि उसने समझा कि बोलशेविक सरकार उसकी अपनी सरकार है और वह उसके प्रबन्ध में सहायता दे सकता है। शासनिक कार्य का अधिकार रखने वाली रूसी म्यूनिसिपल्टियों या कौंसिलों की कल्पना इस

आधार पर की गई थी कि इनके द्वारा शासन-संस्था में जनता का व्यापक प्रवेश कराया जा सकेगा। क्रांति के लिए जितना व्यापक उत्साह इन कौन्सिलों द्वारा उत्पन्न हुआ उतना ज़मींदारी प्रथा नष्ट करने से नहीं। स्वभावतः जनता को यह बात मालूम थी कि उसे सबसे बड़ा लाभ उन पदार्थों का नहीं है जो सरकार उसे देती है बल्कि इस बात का कि उसका सरकार के ऊपर नियंत्रण है और इसलिए सरकार उससे अपने उपहारों को वापिस नहीं ले सकती।

सन् १९२३ में मैं मास्को के पास एक छोटे से कस्बे में गया। वहां मैं कुछ समय के लिए एक बूढ़े स्थानीय जज के घर ठहरा। मैंने उनकी पत्नी से, जिन्हें बोल्शेविकों से सहानुभूति नहीं थी, पूछा कि बोल्शेविक क्रांति के कारण संसार में क्या परिवर्तन हुआ है!

"लोग बातें अधिक करने लगे हैं", उन्होंने घृणा के भाव से कहा।

यह क्रान्ति की प्रधान सफलता थी। लोग अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में बातचीत करते थे, क्योंकि उन्हें ख्याल था कि उनके विचारों का भी कुछ मूल्य है।

भावनाओं का एकीकरण क्रांति का मूल आयोजन था। अतीत का नाश उनका कारण बना। आशा ने उसे शक्तिशाली बनाया। मैं समझता हूँ कि उसकी उत्पत्ति मुख्यतः व्यक्ति के समाज में समा जाने की अनुभूति के कारण हुई। जिसके फलस्वरूप वह समाज का एक अंग बना और अपने से ऊपर उठ गया।

फिर भी सन् १९१७ के बाद कुछ ही दिनों के भीतर-भीतर रूस की कौंसिल आदि अपने यहां उन कम्युनिस्टों की अधीनता में पूर्ण रूप से आगईं जो मास्को और प्रान्तीय राजधानियों के आदेशानुसार कार्य कर रहे थे। आज ये संस्थाएं क्रेमलिन (रूसी शासन-संस्था) की रबड़ की मुहर मात्र हैं और अब मनुष्य के जीवन में उनकी वास्तविकता नहीं रह गई। उनके चुनाव बड़े ही व्यस्त ढंग से होते हैं जिसमें कम्युनिस्टों का कभी विरोध नहीं किया जाता।

जो दशा इन संस्थाओं की हुई वही कुछ दिनों बाद कम्युनिस्टों की भी हुई। क्रांति के प्रारम्भिक काल में कम्युनिस्ट दल में कम्युनिस्टों को व्यापक आज़ादी प्राप्त थी। सन् १९१८ के आरम्भ में जब कैसरीय जर्मनी और नई बोलशेविक सरकार में ब्रेस्ट-लिटोवस्क में बातचीत आरम्भ हुई तो सोवियत् सरकार बड़ी कमज़ोर थी। ख़तरा भीतर से भी था और बाहर से तो जर्मनी रूस पर आक्रमण करने को तैयार बैठा ही हुआ था। फिर भी, उस जीवन और मरण के संघर्ष में कम्युनिस्ट नेताओं के एक दल ने, जिनमें रैडेक,

कोलोनवाई और ओर्सिस्की भी थे, मास्को में 'कम्युनिस्ट' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र का उद्देश्य लेनिन द्वारा साम्राज्यवादी जर्मनी के प्रति दिखाई जाने वाली शांति-नीति को पराजित करना था।

बाद में कम्युनिस्ट-कान्फ्रेंसों में लेनिन का बुखारीन और दूसरे कम्युनिस्टों से भीषण वाक्-युद्ध होने लगा। किंतु सैद्धान्तिक रूप से बुखारीन को पराजित करने के बाद भी लेनिन उनके गले में प्यार से अपनी बांहें डाल लेते थे और उन्हें बुखाश्का कहकर पुकारते थे। क्रान्ति से पहले सैद्धान्तिक मामलों पर लेनिन और ट्राट्स्की की भी कई बार लड़ाई हुई, किंतु क्रांति के बाद उन दोनों ने बड़े घनिष्ठ सहयोग के साथ काम किया।

लेनिन ने कम्युनिस्ट-विरोधियों से बहस-मुबाहसा किया और उन्हें हरा दिया। लेनिन में कुछ ऐसे निजी गुण थे जिनके कारण वह अपने से कुछ बातों में मतभेद रखने वाले लोगों के साथ भी काम कर सकते थे। स्टालिन वादविवाद में ट्राट्स्की या जिनोवीव को हरा नहीं सकते थे। किन्तु वह उन्हें गिरफ्तार कर सकते थे।

सन् १९१७ से लेकर १९२७ तक रूस की गुप्त पुलिस का मुख्य काम क्रांति के विरोधियों का अन्त करना था। सन् १९२० में रूसी गुप्त पुलिस ने स्टालिन के आदेशानुसार एक ऐसा कार्य आरम्भ किया जो बोलशेविक इतिहास में अभूतपूर्व था। उसने कम्युनिस्टों का अन्त करना आरम्भ किया। जब जनवरी १९२८ में पुलिस गुप्तचर ट्राट्स्की को उसके मास्को-स्थित घर से उठाकर सीढ़ी से नीचे ले गये तो उस पर किसी ने स्टालिन द्वारा शासित कम्युनिस्ट दल के साथ राजनीतिक और सैद्धान्तिक मतभेद प्रकट करने के अलावा और कोई अपराध नहीं लगाया। सरकारी दबाव के साधन द्वारा इस प्रकार किसी दलीय झगड़े में हस्तक्षेप करने का यह पहला ही उदाहरण था। लेकिन उसके बाद यह एक साधारण प्रथा बन गई है। अब कम्युनिस्ट दल में वाद-विवाद निरर्थक समझा जाने लगा है। स्टालिन के रूस में पुलिस गुप्तचर का रिवाल्वर ही सिद्धान्त सम्बन्धी निर्णायक तर्क है।

किसी समय, ट्राट्स्की, कॅमेनेव और जिनोवीव जैसे कम्युनिस्ट विरोधियों को अपना मत सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने की अनुमति थी। सोवियत् नेताओं और नीतियों के विरोध में वे पुस्तकें या लेख लिख सकते थे। कम्युनिस्ट दल की कांग्रेसों और कान्फरेंसों के अवसरों पर कम्युनिस्ट दल के मुखपत्र 'प्रवदा' में "वाद विवाद" का एक विशेष पृष्ठ छपता था, जिसमें विरोधी दल वाले अपना मत प्रकट कर सकते थे। अब तो कम्युनिस्ट दल के किसी भी

सदस्य को इतना साहस नहीं कि वह अपने को विरोधी घोषित करे और सरकारी नीति की आलोचना करने का अधिकार माँगे।

कम्युनिस्ट दल में लाखों सदस्य हैं। इनकी संख्या और भी बढ़ सकती है किन्तु दल की सदस्यता सीमित है। पद और श्रेणी तो इस दल रूपी बड़ी मशीन में पहियों के निष्क्रिय दांतों के समान है। स्टालिन अपनी पार्टी को कुछ बताना या उससे सलाह लेना भी पसन्द नहीं करते। सन् १९१८ से १९२५ तक युद्ध और उपद्रव के बावजूद भी पार्टी की कांग्रेस का अधिवेशन वर्ष में एक बार अवश्य होता था। उसके बाद स्टालिन तानाशाह बने। पार्टी कांग्रेस का अधिवेशन सन् १९२६ में दो साल के विश्राम के बाद हुआ। १६ वां अधिवेशन १९३० में, १७ वाँ १९३४ में और १८ वाँ १९३९ में हुआ।

सफ़ायों के कारण सोवियत् कम्युनिस्ट दल की प्रेरणा और मर्यादा मारी गई। लोगों ने सोचा कि जब श्रेष्ठतम कम्युनिस्ट भी "फाशिस्ट" और "विदेशी शक्तियों के एजेण्ट" बन सकते थे तो यह बात कैसे कही जा सकती है कि जिन लोगों का सफ़ाया नहीं किया गया उनमें भी उतनी ही गंदगी नहीं है? सच पूछिये तो जिन लोगों ने सफ़ाया किया था उनमें से कितनों पर एक साल बाद ही मुकद्दमा चलाया गया और उन्हें मौत की सज़ा दी गई।

कम्युनिस्ट दल अब तानाशाह का आपसे-आप चलनेवाला हथियार बन गया है।

पहले सोवियत् मजदूर संघों में भी स्वतंत्रता पूर्वक वाद-विवाद हुआ करते थे। हर साल भिन्न-भिन्न उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के संघों की सभाएँ हुआ करती थीं और उनका बड़ा प्रचार किया जाता था। किन्तु सोवियत् मज़दूर संघ की बैठक हुए अब पन्द्रह साल हो गए।

हर साल जनवरी के महीने में कारखानों और दफ्तरों के मज़दूर-संघों के सदस्य प्रबंधकों से बातचीत करते थे और मोलभाव के एक सामूहिक समझौते पर खुल्लम-खुल्ला विचार करते थे। यह समझौता अगली जनवरी तक चालू रहता था, जब कि उस पर फिर से विचार होता था। सन् १९३१ में मजदूरों को नौकरी देने का अधिकार केवल प्रबंधकों के हाथ में रह गया। जनवरी १९३३ में बहुत ही कम समझौतों पर पुनः हस्ताक्षर किये गये। जनवरी १९३४ में इनकी संख्या और भी घट गई और घटते-घटते जनवरी १९३६ में बिलकुल शून्य रह गई। सन् १९३६ के आरम्भ से अब तक सोवियत् रूस में एक बार भी सामूहिक मोलभाव नहीं हुआ। नौकरशाही मजदूर संघ सरकार का काम चलाते रहते हैं। यह नौकरशाही विदेशी मजदूर-संघों के आन्दोलनों

में भी काम कर सकती है।

कम्युनिस्टों, मजदूर-संघों और सोवियत् सरकार के मित्रों की स्वतंत्रता के दमन का विदेशी ख़तरे से कोई सम्बन्ध नहीं। सन् १९१८ म जब कि रूसी सरकार शक्ति-हीन थी, लोगों को जितनी आज़ादी थी, उतनी अब उसके एक महान् राष्ट्र बन जाने पर नहीं रह गई है।

रूसी शासन के अज्ञानी समर्थकों को यह कहने की आदत पड़ गई है कि सन् १९३५ से १९३८ के सफायों और मुकदमों में स्टालिन ने 'घर के भेदियों' का अन्त कर दिया। कहा जाता है कि इन्हीं सफायों के कारण युद्ध के दिनों में रूस के प्रयत्नों में कोई बाधा नहीं पड़ी। मैं पूछता हूं कि जब शासन-संस्था के शत्रु देश से निर्मूल कर दिये गए हैं तो फिर क्या कारण है कि जनता को अब भी नागरिक अधिकार नहीं दिये जाते ? क्यों नहीं सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् गुप्त पुलिस अपना खेल समाप्त करती ?

मैं समझता हूं कि रूस की स्थानीय कौंसिलों, कम्युनिस्ट पार्टी, मज़दूर-संघों की स्वतंत्रता का कुचला जाना तानाशाही का परिणाम है। (यही बात फाशिस्ट इटली और नाजी जर्मनी में भी हुई।)

रूस की राजनीतिक प्रणाली पहले चौड़े आधार वाली स्तूप-समूह के समान थी। सबसे चौड़ी और सबसे नीचे की सतह पर छोटी-छोटा सभाएँ थीं, उनके ऊपर मज़दूर-संघ, उनके ऊपर कुछ अधिक संकीर्ण कम्युनिस्ट पार्टी, उनके ऊपर पार्टी का नेता और सबसे ऊपर देश का नेता था। धीरे-धीरे स्टालिन ने इस स्तूप-समूह को उलट दिया और उसे उसकी नोक पर खड़ा कर दिया। अधिक चौड़ी सतहों में पहले जितने भी राजनीतिक अधिकार थे वे नीचे लुढ़क पड़े और बहकर शिखर यानी तानाशाह के साथ जा मिले। जब स्थानीय संस्थाओं, मजदूर-संघों, कम्युनिस्ट पार्टी, और पार्टी-नेता के अधिकार ही जाते रहे तो उनकी शक्ति, उनकी प्रेरणा, और उनका विश्वास भी नष्ट हो गया। वे एक भयभीत यांत्रिक मनुष्य की भाँति काम करने लगे।

यह एक बड़े मार्के की बात है कि स्टालिन के रूस में कोई महान् वक्ता नहीं हुआ। कम्युनिस्ट दल में कितने ही प्रसिद्ध वक्ता थे; किंतु अब वे मर चुके हैं और रूस को नये वक्ताओं की आवश्यकता नहीं। अब रूस में राजनीतिक-वादविवाद नहीं होते। सभी राजनीतिक मामले कम्युनिस्ट दल की रसोई में किराये के बावर्चियों द्वारा पका लिये जाते हैं और वक्ताओं को दे दिये जाते है। कोई भी इनसे इधर-उधर नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करना ख़तरनाक सिद्ध हो सकता है।

जिन रूसी नागरिकों में बौद्धिक और राजनीतिक सामर्थ्य होती है वे अपने कन्धों पर "सामाजिक बोझ" भी उठा लेते हैं। वे निरक्षरता को दूर करते हैं, एशियाई स्त्रियों से पर्दा छोड़ने के लिए कहते हैं, लड़के-लड़कियों को स्वयंसेवक और स्वयंसेविका दल में भरती करने के लिए प्रेरित करते हैं, कारखानों और सभाओं में भिन्न-भिन्न विषयों पर बातचीत करते हैं, ऐतिहासिक और पुरातत्त्व संबंधी स्थानों की यात्रा करते हैं आदि,आदि। किंतु कम्युनिस्टों ने यह बात मेरे सामने चुपके से स्वीकार की है कि सोवियत् रूस में राजनीतिक हलचल नहीं के बराबर है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को यह महसूस होता रहता है कि वह तो केवल दूसरों के इशारों पर नाच रहा है और 'प्रवदा' में प्रकाशित सम्पादकीय टिप्पणियों को बिना अपना मत या व्यक्तित्व प्रगट किये ज्यों-का-त्यों दुहरा रहा है।

सोवियत् जनता के जीवन में कुछ और रोमांच की बातें भी हैं—जैसे, स्टालिनग्राड की विजय का रोमांच, लेनिनग्राड निवासियों के वीरतापूर्ण संग्राम का रोमांच, हिटलर पर विजय पाने का रोमांच आदि। ये उनकी सामाजिक ध्येय और राजनीतिक उद्देश्य संबंधी दिलचस्पियां नहीं हैं; ये उनकी शारीरिक अनुभूतियां हैं; उनकी भूमि, नदी और नगर सम्बन्धी दिलचस्पियाँ हैं। इनसे हमें पता चलता है कि बोलशेविक क्रांति का क्या हुआ। यह क्रांति राष्ट्रीय इसलिए बनी कि इसे राजनीतिक नहीं रहने दिया गया। राजनीति जनता के लिए नहीं थी। उसका प्रभाव हमारी आदि भावनाओं पर अधिक पड़ने लगा और नये समाज के आदर्श पर कम। ज़ारों और ज़ारशाही जनरलों ने सुधारकों, क्रांतिकारियों और समाज-शास्त्रियों को पकड़कर परदे के पीछे डाल दिया। पीटर महान् कार्लमार्क्स पर छा गए। स्टालिन ने देखा कि रूसियों में अपनी पितृभूमि के लिए पीट्रियन भावनाएँ जाग्रत करना जितना सरल है उतना एक नई अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक प्रणाली के लिए मार्क्सियन भावना जाग्रत करना नहीं।

चूँकि स्टालिन सोवियत् जनता को काफ़ी अन्न, वस्त्र और शरण देने में असमर्थ थे और वह उसे सरकारी मामलों में कुछ कहने-सुनने का अधिकार नहीं देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने उसे राष्ट्रीयता दी। जो धर्म चाहते थे उन्हें स्टालिन ने धर्म भी दिया। कुछ अल्पसंख्यकों को, जिनकी स्वामि-भक्ति वह खरीदना चाहते थे, उन्होंने पदार्थिक ऐश्वर्य और सामाजिक सुविधाओं की अफ़ीम खिलाई।

फिर भी अभी रूस में राष्ट्रीय धन पर सरकार का ही अधिकार है।

वहाँ अनिवार्यता भी अक्षुण्ण है। यह अनिवार्यता व्यक्ति की अपनी नहीं, बल्कि उससे ऊपर की है। रूस का साधारण जन एक हेतु का साधन मात्र है। वह हेतु रूस की शक्तिशाली राज-सत्ता है।

शरीर समाजवाद का है, किंतु उसमें अब जीव नहीं रहा, क्योंकि उसमें अब आज़ादी और अन्तर्राष्ट्रीयता नहीं रही।

जनतंत्र-विहीन समाजवाद तो राज-अधिनायकता है। किसी एक राष्ट्र का समाजवाद, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीयता नहीं होती, राष्ट्रीय समाजवाद है। वह हिटलरवाद नहीं है। प्रत्येक देश का राष्ट्रीय समाजवाद अपने-अपने ढंग का है।

रूस राष्ट्रीय समाजवाद के प्रतिवादों के पंक में फँस गया है। स्टालिन ने अपने को इसी द्विविधा से बचाये रखने का प्रयत्न किया है। सन् १९३६ के विधान का निर्माण कर उन्होंने जनतंत्र की स्थापना करनी चाही; किंतु वह सफल नहीं हो सके। क्योंकि वह अधिनायकत्व की भावना को दबाने और गुप्त पुलिस को हटाने को तैयार नहीं थे। स्टालिन के तानाशाह बनने के बाद से रूस में हर साल जनतंत्र कम होता जा रहा है। सम्भवतः स्टालिन सोचते हैं कि रूस की सीमाओं को बढ़ाकर या रूसी प्रभाव-क्षेत्र में अधिकाधिक देशों को मिलाकर वह अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित कर रहे हैं। किंतु छोटे-छोटे देशों को दास बनाना, संयुक्त राष्ट्रीय संघ में विशेष मताधिकार पर बल देना और तीन बड़े राष्ट्रों द्वारा आधिपत्य की नीति का अनुकरण किया जाना अन्तर्राष्ट्रीयता नहीं है; वह अन्तर्राष्ट्रीयता से भी बढ़-चढ़कर है—वह साम्राज्यवाद है।

राष्ट्रीय तानाशाही की अधीनता में अन्तर्राष्ट्रीयता और जनतंत्र नहीं फल-फूल सकते। अतः स्टालिन की अधीनता में समाजवाद नहीं पनप सकता। रूसी समाजवाद का तो नाम-ही-नाम है। वह निर्जीव है। प्राण उसमें से निकल चुके हैं। इसका कारण यह है कि वह अपने उन शिकारों के बोझ से दब गया जो या तो गोली से उड़ा दिये गए थे या अब भी कन्सेनट्रेशन कैम्पों (बंदीगृहों) में पड़े सड़ रहे हैं।

: १७ :

लास्की-शास्त्र

ब्रिटेन में मज़दूरदली नेता और प्रकाशक हेरॉल्ड जे० लास्की मार्क्स के भौतिकवाद की दलदल में फँस गए हैं। इसलिए वह रूस को समझने में असमर्थ हैं। लास्की के विचार से, व्यक्तिगत व्यवसायी और व्यक्तिगत खपत बाज़ार के उन्मूलन से ही समाजवादी सतयुग आजाता है। यह भयंकर भूल है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बिना समाजवाद सम्भव नहीं है। पूँजीवादी शोषण को मिटा देने के बाद भी आर्थिक दासता और राज्य के राजनीतिक शासन की गुंजाइश रह जाती है।

लास्की का ख्याल है कि उत्पत्ति के साधनों पर राज्य का स्वामित्व हो जाने से और राज्य द्वारा आर्थिक योजना बनाने और कार्यान्वित करने से रूस बुराई से मुक्त हो गया है। लेकिन यदि राज्य का स्वामित्व आतंकपूर्ण हो तो वह अच्छा नहीं रहता।

लास्की मनुष्य को भूल जाते हैं। सोवियत् मशीनों के संगठन की प्रशंसा करने की धुन में वह सोवियत्-संघ के मनुष्यों के संगठन की उपेक्षा कर देते हैं।

पूँजीवाद को न मानने वाले शिक्षित लोगों में पूँजीवाद का नाश करने वाली प्रत्येक चीज़ को अपनाने के लिए तैयार रहते हैं, लास्की सबसे कुशाग्र बुद्धि हैं। ३ दिसम्बर १९४५ को न्यूयार्क में "नेशन" पत्र द्वारा आयोजित एक भोज में लास्की ने कहा था—"यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल रूस की नई दुनिया में व्यवसायी आदमी का महत्त्व नहीं रहा है।" यह सत्य है; लेकिन बात इतनी ही नहीं है। कितने ही दूसरे लोगों का भी वहाँ कोई महत्त्व नहीं रहा है, क्योंकि वहाँ केवल एक आदमी, एक तानाशाह ही सब बातों में महत्त्वपूर्ण होता है।

दुबले-पतले और तीखी ज़ुबान वाले लास्की अपने-आपको 'निर्दोष विद्वान्' कहते हैं। उनकी लेखनी प्रस्तर है, जिससे लेखकों के हृदयों में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। वे उसका अनुकरण करने में केवल अपनी कमियाँ प्रकट करके रह

जाते हैं। वह सुखपूर्वक कार्यक्रम तैयार करते हैं और सुगमता पूर्वक अपने विरोधियों को नष्ट कर देते हैं। मैंने लास्की को फेबियन सोसायटी में एक बहुत ही अच्छी तरह से तैयार किया हुआ पांडित्यपूर्ण व्याख्यान देते हुए सुना है और मैंने मज़दूरों की चुनाव सम्बंधी एक सभा में उन्हें अपनी मनोरंजक बातों द्वारा अपने श्रोताओं को हँसाते हुए भी देखा है। लेकिन हेरॉल्ड जे० लास्की के कम-से-कम दो रूप हैं और उन दोनों में आपस में कोई मेल नहीं बैठता। लास्की का दृष्टा रूप वस्तु को यथार्थ रूप में देखता है; किन्तु उसका विश्वास-कर्ता रूप प्रतिभापूर्ण तर्क करता हुआ लास्की के दृष्टा रूप से कहता है कि जो कुछ वह देखता है वह यथार्थ नहीं है।

सन् १९४३ में लास्की ने 'हमारे ज़माने की क्रान्तियों पर विचार' नाम की एक ज़ोरदार पुस्तक लिखी थी। इसमें सोवियत् रूस की तानाशाही की भयंकरताओं और स्टालिन के आतंक की पर्यालोचना कई पृष्ठों में की गई है। सन् १९४४ में उन्होंने 'धर्म, तर्क और सभ्यता' नाम की एक दूसरी पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने 'रूसी विचारों को संसार का रक्षक धर्म' बताया जो कभी ईसाइयत का स्थान ग्रहण कर लेगा।

मैंने 'धर्म, तर्क और सभ्यता' की आलोचना अगस्त १९४४ के 'कॉमन सेन्स' पत्र में की थी। आलोचना का शीर्षक था—'लास्की को इससे अधिक जानना चाहिए।' सम्पादक ने उसकी एक प्रति डाक से लास्की के पास इंग्लैण्ड भेज दी और उनसे उसका प्रत्युत्तर माँगा था। लास्की ने उत्तर में लिखा—"इस सम्बंध में लुई फ़िशर ने मेरे ऊपर जो चोट की हैं, उसे मैं उनके साथ अपनी मित्रता के नाते बिना किसी आपत्ति के नम्रता पूर्वक स्वीकार किये लेता हूँ।"

मैं हेरॉल्ड लास्की के साथ अपनी मित्रता को बहुमूल्य समझता हूँ और मुझे विश्वास है कि उस पर इस आलोचना का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

मैंने पुस्तक की आलोचना में लिखा था—"प्रोफेसर लास्की ने एक समाजवादी विचारक के रूप में अपने जीवन की सबसे बड़ी बुनियादी ग़लती की है। उन्होंने संसार से अनुरोध किया है कि वह रूस के नए विचारों को स्वीकार कर लें, जब कि स्वयं रूस इन विचारों को छोड़ रहा है और पूँजीवादी जगत् के पुराने विचारों को अधिकाधिक स्वीकार करता जा रहा है।"

लास्की ने अपनी नई पुस्तक में कहा है—"नास्तिकता पर ईसाइयत की विजय प्राप्त होने से मनुष्य के विचारों को नई शक्ति मिली है। मैं नहीं समझता कि यदि कोई आदमी सावधानी से हमारे युग की स्थिति की जाँच करे, तो उसे लगातार यह खयाल न हो कि मनुष्य के विचारों को फिर नई

शक्ति देने के लिए फिर किसी धर्म की जरूरत है।" मैं इसे स्वीकार करता हूँ। लेकिन चूँकि नया धर्म इतना महत्त्वपूर्ण है, इसलिए प्रत्येक आदमी को सावधानी से चुनाव करना चाहिए। लास्की ने स्वयं चेतावनी दी है कि नए धर्म का आधार राष्ट्रवाद नहीं होना चाहिए। वह घोषित करते हैं—"राष्ट्र-वाद के लिए नया उत्साह हमें सुगमता से उस मार्ग पर ले जा सकता है जिसके अंत में व्यापक संकट आता है। "नए रूसी विचारों के विरुद्ध, मेरी आपत्ति यही है कि उनकी गाड़ी को राजनीतिक तानाशाही, आर्थिक राज्यसत्तावाद और रूसी राष्ट्रवाद के तीन घोड़े खींचते हैं।

लास्की ने साम्यवाद की कल्पना की तुलना ईसाई जगत् की वास्त-विकताओं से की है। इसमें साम्यवाद की कल्पना श्रेष्ठ ठहरती है। उनको साम्य-वाद की तुलना रूसी जगत् की वास्तविकताओं से भी करनी चाहिए थी।

मैंने लिखा था—"लास्की कहते हैं कि हमें नए धर्म की खोज में सोवियत् रूस जाना चाहिए, लेकिन स्टालिन ने, जिनकी जानकारी हमारे अंग्रेज मज़दूरदली मित्र से अधिक है, कई वर्ष पहले यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वह अपना नया धर्म मध्ययुगीन रूस और ज़ारकालीन अतीत से प्राप्त करेंगे। इसीलिए सोवियत्-संघ के नए नायक मध्यकालीन रूसी सरदार और पुजारी अलेक्जेन्डर नेवस्की, अठारहवीं सदी के लुटेरे जनरल सूवोरोव, जार-कालीन सरदार कुट्ज़ोव, जिन्होंने नैपोलियन को हराकर रूस में फ़्रांसीसी क्रांति को घुसने नहीं दिया और एक शताब्दी तक रूस की उन्नति का मार्ग बन्द कर दिया और ऐसे ही दूसरे अत्यन्त प्राचीन और सड़े-गले व्यक्ति हैं जिनको लेनिन और दूसरे बोलशेविक गालियाँ दिया करते थे और उनका विरोध किया करते थे।

रूस का अतीत क्रान्तियों से पूर्ण है। लेकिन स्टालिन प्रतिगामी अतीत से ही प्रेरणा ग्रहण करते हैं। सोवियत्-संघ में सबसे ऊंचे सैनिक सम्मान का चिह्न 'सूवोरोव पदक' है। उसके बाद दूसरा स्थान 'कुट्ज़ोव पदक' का है। तीसरा पदक 'बोडमाल ख़मेलनित्जकी पदक' है, जो अक्तूबर १९४३ से वितरित किया जाने लगा है। ख़मेलनित्जकी एक यूक्रेनी नेता थे जिनका शिक्षण-गैलीशिया के जेसुइट स्कूल में हुआ था। वह सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। वह पोलैण्ड निवासियों से लड़े थे और उन्होंने यहूदियों की हत्या की थी। इसीलिए सोवियत् पत्रों ने उस पर जोर दिया। वह स्वतंत्र यूक्रेन को ज़ारशाही सरकार से संयुक्त करने के हिमायती थे।

लास्की की पुस्तक का विश्लेषण करते हुए मैंने आगे लिखा था—"रूस में इस समय जो साहित्य प्रकाशित हो रहा है उसमें स्लाव लोगों के एकी-

करण और राष्ट्रवाद की हिमायत की गई है। स्टालिन का नया धर्म यही है। इसके अतिरिक्त लास्की की दृष्टि इन हवाई किलों के बावजूद इतनी आगे बढ़ गई है कि उन्हें यह भी दिखाई नहीं देता कि सोवियत् राज्य की अधीनता में रूस में गिरजों को जो फिर स्वतंत्रता दी गई है, वह बालकान राज्यों के यूनानी कट्टर ईसाइयों का समर्थन प्राप्त करने या सोवियत् रूस के धार्मिक दलों को संतुष्ट करने की दृष्टि से ही नहीं दी गई हैं। यह इस बात की ओर संकेत है कि रूस में गम्भीर धार्मिक संकट पैदा हो गया है। स्टालिन की देख-रेख में क्रान्ति की ज्वाला इतनी ठंडी पड़ गई है कि उससे रूसी लोगों के हृदयों में कोई उत्साह पैदा नहीं होता।"

वास्तविक बात यह है कि संसार-व्यापी धर्म-संकट के इस समय में रूस में और भी बड़ा धर्म-संकट आ उपस्थित हुआ है। लास्की चाहें तो रूसी विचारों को ईसाइयत का स्थान ग्रहण करने वाली नई 'कपोल-कल्पना' या 'नए विचार' कुछ भी कह सकते हैं, क्योंकि उनकी पुस्तक के अधिकांश पाठक इसके सम्बन्ध में अनभिज्ञ हैं। और जो अज्ञात है उसे धार्मिक रूप देना सुगम होता है। लेकिन रूस के लोग अपने देश को जानते हैं, इसलिए वे जान जाते हैं कि स्टालिन गंदले अतीत में से उनके लिए एक 'कृत्रिम धर्म' बना रहे हैं।

मैंने 'कॉमन सेन्स' में की गई आलोचना में शिकायत की थी—"लास्की ने कभी एक बार भी यह नहीं कहा कि स्टालिन 'नए रूसी विचार' की जगह नए धर्म की तलाश में हैं।" मैंने लिखा था—"लास्की ने जो कुछ कहा है उसके विरुद्ध वह एक ही दलील स्वीकार करते हैं और वह उनके कथन के विरुद्ध जाती है। वह स्वीकार करते हैं कि स्टालिन की सरकार ने 'उन्मादपूर्ण निर्दयता के कार्य किये हैं।' लेकिन उनका विश्वास है कि हत्यायें, नजरबन्द-शिविर, विद्रोही तत्त्वों का उन्मूलन और मुकदमे क्रान्ति की विजय को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक थे। यही उनकी सबसे बड़ी भूल है। मुझे कहना चाहिए कि मुझे इसमें संदेह है कि लास्की सोवियत् इतिहास को भी समझते हैं या नहीं। क्रांति को सुदृढ़ करन के लिए आरम्भ में जो आतंक-जनक कार्य किये गए, मुझे उनसे कोई विरोध नहीं। मेरा विरोध तो स्टालिन के आतंककारी कार्यों से है जो उन्होंने रूस की वर्तमान क्रान्ति-विरोधी क्रान्ति की जड़ें मजबूत करने के लिए किये। विद्रोही तत्त्वों के उन्मूलन का रहस्य अब तक प्रकट हो जाना चाहिए था। स्टालिन ने क्रान्ति को समाप्त करने के लिए क्रान्तिकारियों को ही समाप्त कर दिया।"

लास्की ने युद्ध-काल में और स्टालिनग्राड की महान् विजय के मनो-वैज्ञानिक भावावेश में लिखा था–"हिटलरवाद के विरुद्ध गत दो वर्ष की लड़ाई में रूसियों ने जो वीरता दिखाई है, उससे समस्त संसार के आम लोगों को यह विश्वास हो गया है कि सन् १९१७ की क्रांति में कोई जादू है जो उनकी अपनी समस्याओं पर भी लागू हो सकता है।" लेकिन 'धर्म, तर्क और सभ्यता' में दूसरी जगह लास्की अपना दोष आप बताते हैं। वह कहते हैं "हमें उन आदमियों से बड़ा खतरा है जो साहस को 'विचार' समझ लेते हैं।"

क्या स्टालिनग्राड में दिखाया गया साहस ? हाँ, अगाध साहस। उतना ही साहस जितना डन्कर्क में, अल-आमीन में, तरावा में, इवोज़िमा में, वारसा में, और लंदन एवं कन्वेन्टरी की सड़कों पर दिखाया गया। नाज़ी और जापानी भी उन्माद पूर्वक लड़े। इसलिए मैं नाज़ी जीवन या जापानी धर्म को स्वाकार नहीं करता। आधुनिक मानव यदि अपने विचार युद्ध-भूमि में से ग्रहण करेगा तो वह नष्ट हो जायगा। किस युद्ध-भूमि में से ? ब्रिटेन और अमेरिका भी तो लड़ाई में विजयी हुए हैं।

स्टालिनग्राड में रूसियों की जीत इसलिए हुई कि एक ऐसे स्थान में जहाँ जर्मनी को सबसे अधिक दूर चलकर सामान ले जाना पड़ता था किंतु रूसियों की रक्षित जन-शक्ति जिसके निकटतम थी, स्टालिन उस स्थान की रक्षा के लिए सैनिकों का बलिदान करने के लिए तैयार होगए। यह लड़ाई शायद द्वितीय विश्व-युद्ध की निर्णायक लड़ाई थी। स्टालिन के दृढ़ निश्चय और लाल सेना की वीरता की जितनी प्रशंसा कवि और इतिहासकार करें, उतने के वह अधिकारी हैं। लेकिन स्टालिनग्राड में तो शक्ति का चमत्कार दिखाया गया था। इससे रूसी विचारों की उत्कृष्टता उससे अधिक सिद्ध नहीं होती जितनी ब्रिटेन और अमेरिका के उड़ाकों, पनडुब्बी-चालकों, छाता-सैनिकों, आम स्टाफ के अफसरों, वैज्ञानिकों, और कारखानों के गौरवपूर्ण कार्यों से अंग्रेजों और अमेरिकनों के विचारों की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। तोपों की गूंज और बमों के विस्फोट की अपेक्षा एक शांतिपूर्ण और छोटी आवाज़ में विचार के मिलने की अधिक सम्भावना होती है।

स्टालिनग्राड और कई दूसरे स्थानों में लड़ाई में जो बहुत और आश्चर्यजनक वीरता दिखाई गई वह केवल यह बताती है कि मानव-पशु जीवन-कला की अपेक्षा मरण-कला में अधिक निपुण है। उस सभ्यता में कोई-न-कोई दोष है जिसका अच्छा-से-अच्छा स्वरूप इस प्रकार की जाने वाली नर-हत्या है।

लास्की के विविध विषयों के विचार पृथक्-पृथक् कोष्ठों में बन्द मालूम होते हैं, जिससे उनमें पारस्परिक सम्पर्क न पैदा हो जाय। उनका सबसे बड़ी कठिनाई यही है। लास्की ने ईसाइयों के इतिहास का उल्लेख करते हुए लिखा है—"मेरे विचार से अत्याचारों के परिणाम-स्वरूप अत्याचारी में निर्दयता और अभिमान उत्पन्न होता है और अत्याचार-पीड़ित में मक्कारी और दास-भावना।" यह रूस की स्थिति का यथार्थ-चित्रण है, लेकिन लास्की इसे स्वीकार ही नहीं करते।

लास्की ने रूसी जीवन को समझने में इसलिए भूल की कि रूस में क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप नया राज्य और नया मनुष्य उत्पन्न हो गया है।

अगस्त १९४४ में लास्की की पुस्तक के सम्बन्ध में विचार करते हुए मैंने लिखा था—"रूसी राज्य उसी प्रकार शक्ति-संतुलन की राजनीति में रत है जिस प्रकार कई राज्य पहले इस प्रयत्न में रत रहे हैं और इस समय भी रत हैं। मुझे रूस की वैदेशिक नीति में ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं देता जिसे हम 'रूस के विचारों की उत्पत्ति' कह सकें। उसका मूल मन्तव्य अपने राष्ट्र का लाभ है। रूसी सरकार ने फाशिस्टों, तानाशाही राज्यों, राज्य-सत्तावादियों प्रतिगामियों, परिवर्तनवादियों और जनतंत्रवादियों सभी से मित्रतापूर्ण शर्तों के साथ सहयोग किया है।" रूस में यद्यपि आर्थिक साधनों पर राज्य का अधिकार है; तथापि इससे साम्राज्यवाद के प्रसार में कोई बाधा नहीं आई है।

इसी प्रकार रूस में आर्थिक साधनों पर राज्य का अधिकार होने पर भी वहाँ कोई समाजवादी व्यक्ति नहीं पैदा हुआ है और न कोई नई समाजवादी नैतिकता ही बनी है। लास्की का विश्वास है कि "सोवियतों की छत्र-छाया में वह व्यक्तिगत पूर्णता की भावना पैदा होती है जो किसी दूसरी प्रणाली में रहते हुए नहीं पैदा होती।" वह कहते हैं कि रूस में क्रान्ति के बाद "मनुष्य के सहज गौरव" पर जोर दिया गया है। बोलशेविकों के रूस में संसार में अन्य देशों की अपेक्षा "अधिक नर और नारियों को आत्म-विकास का अधिक अवसर प्राप्त है।"

मैं लास्की से पूछता हूँ कि जहाँ भय है वहाँ गौरव कैसा? स्वतंत्रता के बिना व्यक्तिगत पूर्णता कैसे सम्भव है? रूस में धन्धों में व्यस्त लोगों को आत्मोन्नति का खूब अवसर प्राप्त है। कथित "निम्न-वर्गों" में लोगों, अल्प-संख्यक जातियों के सदस्यों को (जो कभी पीड़ित थे) और स्त्रियों को क्रान्ति के कारण नए और बहुत अवसर प्राप्त हुए हैं। रूस की विकासोन्मुख अर्थ-योजना के कारण लोगों को धंधा पाने और शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति करने की सम्भा-

वनाएं बहुत बढ़ गई हैं। इससे अन्ततोगत्वा रूसी लोगों के रहन-सहन का वर्त-मान नीचा दर्जा भी ऊँचा होगा ही।

इन स्थितियों से जो रूसी नागरिक और विदेशी लोग बहक जाते हैं, उन्हें मैं समझता हूँ, क्योंकि स्वयं मैं भी कई वर्ष तक इसी प्रकार भ्रम का शिकार रहा हूँ। रूस की बढ़ती हुई उत्पत्ति के आँकड़ों और रूसी उद्योगों के विकास को देखकर मुझमें उत्साह पैदा हो जाता था। शिक्षा-सम्बन्धी सुवि-धाओं की वृद्धि और पुस्तकों एवं समाचार-पत्रों के प्रचार की मैं प्रशंसा करता था। अल्पसंख्यक जातियों, स्त्रियों, औपनिवेशिक देशों, साम्राज्यवाद, सामूहिक सुरक्षा और कुत्सित आन्दोलन के रूप में आरम्भ होने पर फ़ाशिज्म के बारे में रूस की जो नीति थी उसने मुझे सोवियत्-संघ का कट्टर समर्थक बना दिया था। सोवियत्-शासन के मित्र के रूप में मैंने बहुत समय तक बहुत कुछ किया है।

मैंने सोवियत्-संघ के प्रति अपना रुख क्यों बदला?

मैंने सोवियत् रूस के प्रति अपने रुख में इसलिए परिवर्त्तन किया कि रूस खुद बदल गया था। मेरे विरोध का कोई व्यक्तिगत, गोपनीय या मेरे धन्धे से सम्बंधित कारण न था। स्टालिन के रूस की नई नीतियों और नई अवस्थाओं की मेरे ऊपर प्रतिक्रिया हुई थी। रूसी राष्ट्रवाद, अमानुषिक शुद्धीकरण, बढ़ती हुई असमानता, नई अमीरी हुकूमतें, मानवीय स्वभाव के प्रति बढ़ती हुई घृणा (जिसका एक फल सोवियत् नाज़ी संधि के रूप में सामने आया था) और अपनी सब बुराइयों सहित वैयक्तिक तानाशाही—इन सबकी प्रतिक्रिया मुझमें प्रकट हो रही थी।

मैं रूस की राष्ट्रवादी, साम्राज्यवादी और अप्रजातंत्री नीतियों के कारण सोवियत् सरकार का विरोधी बना। खास तौर से रूस के नए राष्ट्रवाद की मैं उच्च-स्वर से निन्दा करता हूं। रूस की अन्तर्राष्ट्रीयता मेरे लिए सबसे बड़ा आर्कषण थी। मैं चौदह वर्ष तक सोवियत्-संघ में रहा। इन दिनों मुझे उस देश की भूमि, नदियों, पत्थरों और वृक्षों में कभी दिलचस्पी नहीं हुई। रूस में जो भारी परिवर्त्तन हो रहे थे, वे उस देश के लिए और अन्य देशों के लिए लाभप्रद हो सकते थे, इसलिए मुझे रूस में दिलचस्पी थी। सबसे बड़ी बात यह है कि जो रूस में अन्तर्राष्ट्रीय भावना बढ़ रही थी उसमें मुझे बहुत दिलचस्पी थी, क्योंकि मेरे खयाल में राष्ट्रवाद सबसे बड़ी बुराई है। वह मानव जाति के लिए भारी अभिशाप और लड़ाइयों का मुख्य कारण सिद्ध हुआ है। रूस ने राष्ट्रवाद को फिर स्वीकार कर लिया, यह मेरे जीवन की सबसे दुःखपूर्ण घटना है। मैं

सोवियत्-संघ से उसकी अन्तर्राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद के विरोध, और जनतंत्री उद्देश्यों के कारण बड़ी आशायें बांधे बैठा था।

जब मैं इन बातों को अस्वीकार करता हूँ तो क्या मैं चुप बैठा रहूँ? तानाशाही की एक बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह आलोचना को सहन नहीं कर सकती। आलोचना ही जनतंत्रीयता है। जो जनतंत्रवादी यह आग्रह करते हैं कि सोवियत्-सरकार को आलोचना से मुक्त कर दिया जाय वे तानाशाही के हित-साधन में लगे हुए हैं। ऐसे युग में जब सरकारें सर्वत्र ही भूलें करती हैं और मनुष्यों के लिए विपदाएं खड़ी कर देती हैं, किसी सरकार को आलोचना से बरी कर देना हानिकर है। जो लोग यह कहते हैं, क्या वे सोवियत्-सरकार के अतिरिक्त किसी दूसरी सरकार पर अपने आक्रमण बन्द कर देंगे। कुछ लोगों की दृष्टि में बेकिन, ट्रूमैन, डिगाल, पोप और चांग-काई-शेक की आलोचना पूर्णतः उचित है। स्टालिन की आलोचना साम्यवादियों के लिए हितकर है। रूस में स्टालिन की आलोचना बिलकुल नहीं होती। तानाशाही के विदेशी समर्थक, जो यह बात पसंद करते हैं, रूस के बाहर भी स्टालिन की आलोचना को निषिद्ध करना चाहते हैं। आलोचना से बचने का सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि उन अवस्थाओं को हटाया जाय या उनमें सुधार किया जाय जिनके कारण यह आलोचना करना उचित है। आलोचना को दबाना इसका इलाज नहीं है।

मैंने 'नेशन' के लेखदाता-संपादक का कार्य इसलिए छोड़ दिया था, कि यह पत्र रूस के सम्बंध में कुछ कहता ही न था, जब तक कि उसके सामने कुछ बात उसके अनुकूल कहने के लिए न हो। इसके परिणाम-स्वरूप संसार के सबसे बड़े चुनौती देने वाले देश की कितनी ही घटनाओं के सम्बंध में उसका मुँह बन्द रहता था।

राष्ट्रों की मित्रता वास्तविक तथ्य को दबाने से कायम नहीं रहती। असत्यों के बदले खरीदी हुई मित्रता नाज़ुक होती है और वह थोड़ा-सा ज़ोर पड़ते ही टूट जाती है।

मैं यह आशा नहीं करता कि मेरी सरकार पूर्ण ही होगी। प्रत्येक व्यक्ति किसी सामाजिक संगठन या सरकार से जो सम्बन्ध रखता है वह अच्छाई और बुराई के अनुपात से निश्चित होता है। यदि उसमें अच्छाई बुराई से अधिक है, या अधिक होने की सम्भावना होती है, तो वह उसके पक्ष में हो जाता है। यदि बुराई अच्छाई से बहुत अधिक हो जाती है और वह अच्छाई की भी हत्या करने पर उतारू हो जाती है, तो वह उसके विपक्ष में हो जाता है।

जो लोग जनतंत्री देशों में रहते हैं उनके सामने जब सोवियत् रूस की अवस्थाएं प्रस्तुत की जाती हैं तो इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह सामने आती है कि वे प्राय: यह अनुभव नहीं कर पाते कि तानाशाही किस हद तक बुरी हो सकती है। उदाहरण के लिए कुछ प्रतिगामी अमेरिकन यह आक्षेप करते हैं कि फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट तानाशाह थे, और उद्योगों की नई व्यवस्था (न्यू-डील) के सम्बंध में उन्होंने मनमानी से काम लिया था। जो आदमी किसी तानाशाही शासन में रहा है, उसको इससे हँसी आयगी। इसका अर्थ तो यह है कि इस प्रकार का दोष लगाने वाले यहीं नहीं जानते कि तानाशाही कैसी होती है। इसी प्रकार यह कहा गया है कि चांग-काई-शेक तानाशाह हैं। मैंने स्वयं उनकी प्रतिगामी नीतियों के कारण उनकी आलोचना की है। लेकिन कुछ समय पूर्व कुनमिंग के कुछ अध्यापकों ने चांग-काई-शेक को एक पत्र भेजा था। एक अध्यापक ने इस पत्र को १८ दिसम्बर १९४५ के 'न्यूयार्क हेरॉल्ड ट्रिब्यून' में छपवा दिया। पत्र में कहा गया था—"एक दलीय तानाशाही का अंत करना आवश्यक है।" इसके अतिरिक्त उन्होंने लिखा था—"एक व्यक्ति के हाथों में सत्ता का केन्द्रीकरण अब समाप्त हो जाना चाहिए।" जो भी रूस की स्थितियों से परिचित है वह यह जानता है कि रूस में यह बात अकल्पनीय है। कोई भी प्रोफ़ेसर या दूसरा आदमी जब तक आत्म-हत्या न करना चाहे, तब तक ऐसे शब्द किसी कागज़ के टुकड़े पर नहीं लिख सकता, उनको स्टालिन के पास भेजने का ख़याल नहीं कर सकता और न क़िसी दूसरे देश के लिए डाक में छोड़ने का साहस कर सकता है।

रूस की गुप्त पुलिस के आतंक से मैं सदा ही घृणा करता था, लेकिन पहले मुझे आशा थी कि यह कम हो जायगा।

दूसरे मैं इसकी तुलना उसकी सामाजिक और आर्थिक सफलताओं से करता था। कुछ समय बाद मैंने देखा कि यह आतंक प्रतिवर्ष अधिकाधिक निर्दयतापूर्ण होता जाता है। क्रांति ने अपने शत्रुओं को चौपट करने के बाद अपने निर्माताओं और अपनी सन्तानों को ही खाना शुरू कर दिया था। मुझे यह भी दिखाई देने लगा कि व्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में बोलशेविज्म के कितने ही लाभों का वास्तविक मूल्य जाता रहा था।

उदाहरण के लिए अल्पसंख्यक जातियों को दी गई स्वतंत्रता को ले लें। शाब्दिक दृष्टि से देखने से जार्जिया, यूक्रेन और सोवियत्-संघ में सम्मिलित दूसरे छोटे राष्ट्रों को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि वे चाहें तो सोवियत्-संघ से अलग हो सकते हैं। लेकिन वस्तुत: उन्हें ऐसा नहीं करने दिया

जाता। शाब्दिक दृष्टि से उनको राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त है, लेकिन वास्तविक रूप में उनके साम्यवादी, जिनका उन पर प्रभुत्व है, रूसी सरकार की आज्ञाओं से संचालित होते हैं। वास्तव में सन् १९४१ से रूसी सरकार ने कई जातीय जनतंत्रों को दबाया है और उनकी खुदमुख्तारी छीन ली है। इसके लिए कोई सरकारी घोषणा नहीं की गई। यह तभी मालूम हुआ जब मत-दाता-क्षेत्रों की सूची प्रकाशित की गई। यह सोवियत्-विधान को भंग करके किया गया। लेकिन सांस्कृतिक मामलों में रूसी सरकार अल्पसंख्यक जातियों को अपनी रुचियों और इच्छाओं के अनुसार चलने देती है, सिवा इसके कि इन लोगों को अभी रूसी इतिहास और रूसी भाषा सिखाने पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है और अभी हाल के वर्षों में प्रकाशित रूसी पुस्तकों के अनुसार रूसी सरकार ने कुछ अल्पसंख्यक जातियों, जैसे तातारों और स्लाव नस्ल से भिन्न नस्लों के लोगों में, बढ़ते हुए राष्ट्रवाद को कुचलने का प्रयत्न भी किया है।

अल्पसंख्यक जातियों के साथ जातीय पक्षपात करना सभ्यता और शिष्टता के विरुद्ध है। फिर भी बोली बोलने वाले दलों को सांस्कृतिक स्वतंत्रता मिली हुई है, चाहे व्यक्तियों को भले ही रत्ती भर भी स्वतंत्रता न हो। सोवियत्-संघ के अन्तर्गत आर्मेनियम जाति को स्वतंत्रता प्राप्त है, लेकिन वहाँ के किसी भी निवासी को व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। उजबक, यूक्रेनी और ताजिक भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित हैं। इस सम्बन्ध में सबकी एक-सी दशा है।

उजबक, यूक्रेनियों या रूसियों के अत्याचार से पीड़ित नहीं हैं। लेकिन गुप्त पुलिस उसको किसी भी क्षण बिना कुछ पूछ-ताछ किये गिरफ़्तार कर सकती है और मुकदमा चलाये बिना निर्वासित कर सकती है। वह साम्यवाद-विरोधी को इसी प्रकार मत नहीं दे सकता, जिस प्रकार एक अमेरिकन पूँजीवाद के विरोधी को मत दे सकता है। वह सरकार या उसके नेताओं की राजनीति की आलोचना नहीं कर सकता। यदि करना है तो उसे निजी रूप से गम्भीर परिणाम भुगतने पड़ते हैं। उसको सहमत होना और आज्ञा पालन करना होता है, यदि वह असहमत भी हो तो भी वह कहेगा यही, कि वह सहमत है। वह इसी में बुद्धिमानी समझता है।

जहां तक सब जातियों का सवाल है सोवियत् शासन सभ्य है लेकिन जहां सब लोगों का सवाल है, वहां वह असभ्य है। विज्ञान के प्रति सोवियत् सरकार का नया ही रुख़ है। वह वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए बहुत-सी सहा-

यता और कई ठोस सुविधाएं देती हैं। किन्तु विज्ञान के स्वतंत्र होने पर भी वैज्ञानिक वहां स्वतंत्र नहीं हैं। वैज्ञानिकों पर सोवियत्-संघ के उच्च-वर्गों का शासन है। रूसी वैज्ञानिक विदेशी वैज्ञानिकों से स्वतंत्रतापूर्वक पत्र-व्यवहार नहीं कर सकते। इस बात की व्यवस्था गुप्त पुलिस की मार्फत होनी आवश्यक है। रूसी वैज्ञानिक अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेसों में नहीं जाते। यदि उन्हें विदेश जाने की जरूरत हो तो भी वे विदेश नहीं जा सकते। सोवियत्-संघ का भौतिक विज्ञान-शास्त्री, वनस्पति-शास्त्री, गणित-शास्त्री, तत्त्व-वेत्ता और इतिहासकार अवश्य ही सावधान रहता है कि उसका निष्कर्ष मार्क्सवाद और भौतिकवाद के वर्त्तमान अर्थों से विपरीत न हो। क्योंकि वह जानता है कि उसके कितने ही साथियों की निन्दा की जा चुकी है और कितने ही साथी क्रांति-विरोधी कहकर दंडित किये जा चुके हैं, क्योंकि उन्होंने विरोधी विचार प्रकट किये थे। कितने ही रूसी वैज्ञानिक सफाये के शिकार हो चुके हैं।

प्रो० लास्की के मित्र प्रमुख अंग्रेज वैज्ञानिक जूलियन हक्सले सन् १९-४५ में रूस गये थे। 'नेचर' पत्र में उन्होंने लिखा था— "रूसी विज्ञान की कुछ शाखाओं में वैज्ञानिक राष्ट्रवाद की कुछ भावना दिखाई देती है जो लोग विरोध करते हैं वे बरखास्त कर दिये जाते हैं।"

प्रो० पीटर कपीत्सा एक महान् भौतिक विज्ञान-वेत्ता हैं। सन् १९२२ म जब रूस के कुछ लोग बाहर जा सकते थे, कपीत्सा रूस से इंग्लैण्ड के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में चले आये। सन् १९२६ में प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक लार्ड रदरफ़ोर्ड ने कैम्ब्रिज में खास तौर से एक रसायनशाला बनाई जहाँ कपीत्सा चुम्बकीय सुरंगों और इससे मिलते-जुलते विषयों पर खोज कर सकें। सन् १९-३५ में वह रूस गये। सोवियत् सरकार ने उनको उनकी इच्छा के विपरीत वहीं रोक लिया और उसने ब्रिटिश सरकार, लार्ड रदरफ़ोर्ड और दूसरे लोगों के विरोध-प्रकाश की कोई परवाह नहीं की। इस पर लन्दन-स्थित रूसी राजदूत ने एक वक्तव्य दिया; जिसमें कहा गया था कि सोवियत्-संघ में विज्ञान का साधारण विकास हो रहा है और वैज्ञानिकों की बहुत अधिक कमी है। उसको ध्यान में रखते हुए रूस के लिए विदेशों में काम करने वाले अपने वैज्ञानिकों का उपयोग करना आवश्यक कहा गया है। उसमें यह भी कहा गया था कि प्रो० कपीत्सा अच्छी जगह रखे गए हैं और उनको अच्छा वेतन दिया जारहा है। यह निस्संदेह सत्य है, लेकिन कपीत्सा, जो सम्भवतः अणु का रहस्य खोल सकते हैं, स्वतंत्र नहीं हैं।

इन्हीं महीनों में अमेरिका और इंग्लेण्ड के घाघ रूसी बहानेबाजों ने

जनता को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि जनतंत्री, पाश्चात्य देशीय और रूसी कल्पनाओं में गहरा अन्तर है। उन्होंने यह भी कहा कि सोवियत्-संघ के नागरिक स्वतंत्र हैं, यद्यपि उनकी स्वतंत्रता भिन्न प्रकार की है। इस बकवास पर बहुत कम रूसी नागरिक चुप रह सकेंगे। रूसी नागरिक दो तरह के हैं; एक वे जो जानते हैं कि वे स्वतंत्र नहीं है और इससे उनको दुःख भी होता है; दूसरे वे जो जानते तो हैं, लेकिन परवाह नहीं करते। क्योंकि उनकी स्वतंत्रता की आवश्यकता और उसके लिए उनकी रुचि बदल गई है।

जिनकी आयु सन् १९२७ में सोलह वर्ष से अधिक थी, उन्हें इस बारे में साम्यवादी दल में जो खुला विचार हुआ था, उसका स्मरण होगा। कितने ही कार्यकर्ताओं को स्मरण है कि वे पहले सामूहिक बातचीत कर सकते थे; लेकिन अब नहीं कर सकते। पारिवारिक घर में रहने वाला प्रत्येक आदमी जानता है कि ३ बजे प्रातःकाल ही रूसी गुप्त पुलिस आती है और परिवार के एक-दो सदस्यों को ले जाती है। जब दिन में निश्चित समय पर अरबत स्ट्रीट से सब लोगों को हटा दिया जाता है तो पैदल चलने वाले जान जाते हैं कि स्टालिन की मोटर यहाँ होकर गुजरनें वाली है। वे आश्चर्य के साथ सोचते हैं कि यदि वे मार्ग के एक ओर खड़े हो जायं और उसे देखते रहें तो इससे क्या नुकसान हो जायगा ? जब रूसी खुफिया पुलिस के आदमी उस मार्ग के दोनों ओर, जिस पर स्टालिन अपनी पत्नी के शव के पीछे-पीछे जानें वाले थे, घरों को देखने गए तो लोगों ने यह अनुभव किया कि उनका विश्वास नहीं किया गया।

यदि रूसी नागरिकों का यह ख़याल हो कि वे स्वतंत्र हैं तो वे इतनी कानाफूसी न करें। वे अपनी गर्दनों को पीछे की ओर मोड़-मोड़ कर यह न देखें कि कहीं उनकी बात कोई सुन तो नहीं रहा है। वे अपने एक पुराने मित्र से केवल इसीलिए सम्बन्ध न तोड़ लें, कि उसका एक सम्बन्धी गिरफ्तार कर लिया गया है। सोवियत्-संघ के लोग इस पुलिस-राज के अभ्यस्त हो गए हैं और कुछ समय बाद वे यह सब कार्य इतना यंत्रवत् करने लगते हैं कि उसको करते समय उन्हें उसका भान ही नहीं होता।

सोवियत् पत्रों में जनतंत्री देशों की हड़तालों की ख़बरें छपती हैं। सोवियत् मज़दूर जानते हैं कि वे हड़ताल नहीं कर सकते, यद्यपि कभी-कभी करना भी चाहते हैं। इसका प्रमाण यह है कि जब सन् १९३५ में स्टारबनोव ने उत्पादन-वृद्धि का आन्दोलन उठाया और मज़दूरों या खनकों के कार्य की मात्रा बढ़ा दी, तो इस आन्दोलन में कुछ मज़दूर मार दिये गए या पीटे गए।

रूसी अखबारों ने इन घटनाओं और सज़ाओं की ख़बरें भी छापीं।

सोवियत्-संघ के नागरिक जानते हैं कि एकदलीय चुनाव में उनके मतों का कोई महत्त्व नहीं है। जो लोग भोले-भाले हैं--जैसी मेरी नौकरानी--वे पूछ बैठते हैं कि केवल एक उम्मीदवार के सूचक मत-पत्र को भरने का क्या प्रयोजन है। रूस में अब अधिकांश लोग कोई पूछ-ताछ ही नहीं करते। वे जो कुछ उनसे करने की आशा की जाती है वही करते चले जाते हैं।

सोवियत्-संघ के निवासी अशक्त होने पर भी मूर्ख नहीं हैं। वे जानते हैं कि वे तानाशाही हुकूमत में रहते हैं।

रूसी गुप्त पुलिस द्वारा की जाने वाली गिरफ़्तारियों के प्रति रूस की जनता जो भावना दिखाती है, वह सोवियत् जीवन की सबसे आश्चर्यजनक बातों में से एक है। किसी के बंदी बनाये जाने पर रूसी जनता में साधारणतः यह प्रतिक्रिया नहीं होती कि गिरफ्तार किया गया व्यक्ति अपराधी है; बल्कि यह कि वह अभागा है। अधिकांश सोवियत् नागरिक गुप्त रूसी पुलिस के जाल में फँसने वाले व्यक्तियों के इतने निकट सम्पर्क में रहते हैं कि उन्हें यह बात आसानी से मालूम हो जाती है कि उनकी गिरफ्तारी सफ़ाये के उद्देश्य से की जाती है और उसका उनके निजी दुराचरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन गिरफ्तारियों के कुछ और भी कारण होते हैं, जैसे निजी द्वेष की पूर्ति के लिए दोषी ठहराना या किसी राजद्रोही के साथ जीवन पर्यन्त मैत्री करना आदि।

अलेक्ज़ेंडर अफ़ीनोगेनाव रूस के एक बड़े ही सफल नवयुवक नाटककार थे। उनके खेल मास्को के कला-भवन और दूसरे उम्दा थियेटरों में खेले गए थे। अन्य कलाकारों और लेखकों की भांति वह भी रूसी गुप्त पुलिस के प्रधान अधिकारी, जेनरिख यगोडा के यहाँ जाया करते थे। जेनरिख अपने को कलाओं का सरंक्षक समझा करते थे। असल में अफ़ीनोगेनाव-परिवार यगोडा को बहुत ही प्रिय था और उसे मास्को के उस सुन्दर मकान का हिस्सा मिला हुआ था जिसमें गुप्त पुलिस के अफ़सर रहा करते थे। किंतु यगोडा गिरफ्तार कर लिये गए और उन पर यह मुकदमा चलाया गया कि रूसी नेताओं को राज-द्रोह के अपराध में पकड़ते और गोली से उड़ाते समय उन्होंने राज-द्रोहात्मक कार्य किये थे। यगोडा पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें मौत की सज़ा दी गई। यगोडा के गिरफ़्तार कर लिये जाने पर अफ़ीनोगेनाव से कमरा छीन लिया गया और वह कम्युनिस्ट दल से निकाल बाहर किये गए। इसके बाद सभी छोटे आलोचक अफ़ीनोगेनाव पर टूट पड़े और कहने लगे कि उनके नाटक कभी भी अच्छे नहीं हुए। थियेटरों ने इन्हें खेलना बंद कर

दिया। साहित्य-सभाओं में अफीनोगेनाव पर "क्रान्ति विरोधी प्रवृत्तियों" और बोलशेविक-विरोधी विचारों का दोषारोपण किया जाने लगा। ऐसा मालूम हुआ कि सदा की भांति गिरफ़्तारी के लिए पृष्ठभूमि तैयार की जा रही है किंतु एकाएक अफ़ीनोगेनाव को फिर पूर्व-सम्मान प्राप्त होगया और जिन छोटे आलोचकों ने उस पर थूका था वे ही फिर से उसकी प्रशंसा करने लगे। अधिकांश लोगों ने सोचा कि यह बात स्टालिन के निजी हस्तक्षेप के कारण हुई है। बात यह थी कि वर्तमान शताब्दी के द्वितीय शतक में अफ़ीनोगेनाव ने रूसी जीवन के पाखण्ड पर एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम उन्होंने "झूठ" (दी लाई) रखा था। एक दिन उनके पास स्टालिन के दफ़्तर से बुलावा आया। पुस्तक की प्रतिलिपि स्टालिन के पास पढ़ने के लिए भेजी गई थी। स्टालिन ने अफ़ीनोगेनाव से कहा कि नाटक है तो अच्छा किंतु यह रंग मंच पर खेला नहीं जाना चाहिए। स्टालिन ने अफ़ीनोगेनाव पर नाटक को रंगमंच से हटा लेने के लिए ज़ोर दिया और अफ़ीनोगेनाव ने ऐसा ही किया।

राजनीतिक सम्मान पुन: प्राप्त करने के बाद एक दिन अफ़ीनोगेनाव मुझे और मेरी पत्नी मारकूशा को अपनी फोर्ड मोटर गाड़ी में बैठाकर अपने गांव वाले बंगले में ले गये। मैं उनके पास आगे की सीट पर बैठा और बातचीत के दौरान में बोला—"शूरा, तुम जानते हो कि तुम पर जितने भी दोषारोपण किये गए थे वे सब असत्य थे। क्या इसका यह मतलब नहीं हुआ कि अगर तुम दूसरे पर भी ऐसे ही दोषारोपण की बातें सुनोगे तो तुम्हें यह ख़याल होगा कि वे झूठ हैं।"

मेरी ओर घूमकर अफ़ीनोगेनाव मुसकराये। वह मुझसे सहमत थे। युद्ध के दिनों में जर्मनी ने मास्को पर बम-वर्षा की तो अफ़ीनोगेनाव भी उनकी भेंट हुए।

लास्की ने क्या कहा था? दण्ड देने से "दण्डित व्यक्ति के हृदय में पाखंड और दासता की भावना उत्पन्न हो जाती है।" साथ-ही-साथ, इससे दण्डित व्यक्तियों और दण्ड का समाचार सुनने वालों में चिड़चिड़ापन भी उत्पन्न हो जाता है। रूसी नागरिक दण्ड को अपराध से संबंधित नहीं समझते। वे उसे दण्ड देने वाले के किसी राजनीतिक आयोजन का अंग मानते हैं। बोलशविक क्रान्ति के परिणामस्वरूप लोगों में कानून के प्रति भय तो अवश्य बढ़ गया है किंतु उसके प्रति सम्मान नहीं बढ़ा है। कानून के प्रति सम्मान न होने का कारण यह है कि सोवियत्-संघ में वस्तुत: कोई कानून है ही नहीं। तानाशाही खुद क़ानून है। पहले कानूनों की रत्ती भर भी चिंता न कर वह

कानून बनाती-बिगाड़ती और उनमें परिवर्त्तन भी करती है, जिससे प्रमाणित होता है कि वह स्वयं कानून का आदर नहीं करती। रूस में कानून से भय मानने का अर्थ है कि उन लोगों का भय मानना जो स्वयं कानून हैं; कानून तो उसी समय रह सकता है जब सरकार उसका पालन करे और उसी दशा में जनता से भी उसके पालन किये जाने की आशा की जा सकती है।

सन् १९३६ के स्टालिन-विधान की दफ़ा १२१ में लिखा हुआ है—"सोवियत् यूनियन के निवासियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। इस अधिकार की रक्षा के लिए प्रारम्भिक शिक्षा व्यापक और अनिवार्य बना दी गई है, प्राइमरी और उच्च दोनों ही प्रकार की शिक्षाएँ निःशुल्क कर दी गई हैं और विश्वविद्यालयों के अधिकांश विद्यार्थियों के लिए सरकारी वजीफ़ों की व्यवस्था कर दी गई है ....।"

बड़ी सुन्दर घोषणा है यह! किंतु २ अक्तूबर १९४० को रूसी सरकार ने एक नया आदेश घोषित कर उच्च श्रेणी के हाई स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और उच्च यांत्रिक स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा बंद कर दी। साथ-ही-साथ, वजीफ़े और छात्र-वृत्तियां आदि भी ख़त्म कर दी गईं।

विधान में कोई परिवर्त्तन नहीं किया गया। जनता से सलाह नहीं ली गई। सरकार ने विधान की नितान्त उपेक्षा की और उसके विपरीत कार्य किया। किसी ने विरोध का एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। ऐसा करने का किसे साहस होता? उस विरोध को छापता कौन? सरकारी प्रेस?

रूसी सरकार के इस अवैधानिक कार्य से मजदूरों और किसानों के लड़कों के लिए हाई स्कूलों और कालेजों में पढ़ना अधिक कठिन हो गया और इसके फलस्वरूप धनियों के लड़के-लड़कियों के लिए जगहें खाली हो गईं। स्टालिन उच्च-वर्ग के व्यक्तियों की एक पीढ़ी तैयार कर रहे थे।

विधान की धारा १२१ के रद्द किये जाने के अगले ही दिन रूसी सरकार नें कारखानों और रेलों के आस-पास हाई-स्कूलों को उच्च श्रेणी के टेकनीकल स्कूलों के बनाये जाने की आज्ञा दी। ताकि उनमें वे ६ हज़ार विद्यार्थी भरती किये जा सकें जो फीस सम्बंधी आदेश के कारण हाई-स्कूलों और कालेजों में पढ़ने का ख़र्च बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

इस प्रकार उच्च-वर्ग के लड़के-लड़कियों को उनके भावी जीवन—इन्जीनियर, प्रोफ़ेसर, व्यवसायी, वैज्ञानिक आदि बनने—के मार्ग पर डाल दिया गया। इसके विपरीत मजदूरों और किसानों के लड़के-लड़कियों को मिस्त्री, कारीगर, ट्रैक्ट-चालक और रेलवेमैन आदि की शिक्षा प्राप्त करने में लगा दिया गया।

फरवरी १९४४ में जब कि विधान की इस प्रकार बलात् उपेक्षा करने के फलस्वरूप उच्चवर्गीय नवयुवकों-नवयुवतियों का विश्वविद्यालयों में प्रवेश हो गया और निम्न कोटि के नवयुवकों-नवयुवतियों को उद्योगों और कृषि की द्वितीय श्रेणी की नौकरियों में अपना भविष्य सीमित दिखाई देने लगा तो तानाशाह सरकार ने एकाएक और बिना कोई कारण बताये ही धारा १२१ को पुनः लागू कर दिया। और इसके साथ-ही-साथ उसने कालेजों की शिक्षा को निःशुल्क घोषित कर दिया और छात्रवृत्तियाँ भी पुनः आरम्भ कर दीं।

इस घटना से पता चलता है कि सरकार सर्वोच्च कानून का किस प्रकार पालन करती है, तानाशाही राज्य-व्यवस्था में शिक्षा का कितना आदर किया जाता है और नेता जनता के साथ कैसा व्यवहार करते हैं। नेता वहमी होते हैं; जनता भी वहम और उदासीनता का कवच पहनना सीख जाती है। इसलिए यदि घटना-चक्र पर अपना कोई प्रभाव नहीं तो आप व्यर्थ ही क्यों चिन्ता करते हैं ?

मेक्सिको नगर में एक स्वागत-सभा में भाषण देते हुए रूसी राजदूत कान्सटैन्टाइन औमांस्की ने, जो मास्को के मेरे पुराने मित्र थे और जिनकी एक विमान-दुर्घटना में मृत्यु हो गई, रूस की शिक्षा-सम्बंधी सुविधाओं के विस्तार पर बातचीत की।

"क्या मैं पूछ सकती हूँ कि इस आश्चर्यजनक शिक्षा से लाभ क्या, जब आपके देश में लोगों को मत-प्रकाश की भी आजादी नहीं ?" एक महिला ने पूछा।

"श्रीमती जी, मैं इस प्रश्न को एक प्रतिगामी प्रश्न समझता हूँ और इसका उत्तर देने से इंकार करता हूँ", औमांस्की ने उत्तर दिया। यह बात एमिली ब्रैरेट ब्लैनचर्ड ने 'सटर्डे ईवनिंग पोस्ट' के २३ दिसम्बर १९४४ के अंक में एक लेख म बताई। औमांस्की का उत्तर उन्होंने स्वयं अपने कानों से सुना था।

आजकल हम जिसे पसन्द नहीं करते, वही हमारे लिए "प्रतिगामी" हो जाता है। असल में हम उसे "फ़ाशिस्ट" कह बैठते हैं। किन्तु महिला के प्रश्न करने पर भी कूटनीतिज्ञ औमांस्की का उत्तर न देना एक विचारणीय बात है। निस्सन्देह साक्षरता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु विचार-शक्ति और कला की उत्पत्ति में "स्वतंत्रता" का उतना योग नहीं जितना "साक्षरता" का। सन् १९३६ के विधान में लिखे होने के बावजूद रूसी नागरिकों को मत-प्रकाश या सभा-समाज करने की आज़ादी नहीं है, सिवा उस आज़ादी के जो सरकार उन्हें किसी विशेष उद्देश्य से देना चाहती है।

६ दिसम्बर १९३६ को रूस के ३० नेताओं ने क्रेमलिन में बैठकर गम्भीरतापूर्वक नये विधान पर हस्ताक्षर किये। इनमें स्टालिन, मोलोटोव, वोरोशिलाव और लिटविनाव भी थे। सन् १९३९ तक हस्ताक्षर करने वालों में से १५ व्यक्तियों का बिना किसी मुकदमे के सफ़ाया कर दिया गया। इनमें दूर पूरब की रूसी सेना के कमांडर मार्शल ब्लूशर, सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के सदस्य कोस्सियोर, उस संस्था के डिप्टी मेम्बर रड्ज़ूटाक, यूक्रेन के कम्यु-निस्ट दल के नेता पोस्टीशेव; गुप्त पुलिस के प्रधान अधिकारी येज़ोव, जो यगोडा के उत्तराधिकारी बने थे, और पश्चिमी साइबेरिया के कम्युनिस्ट दल के प्रधान ईशे भी थे। यही वह व्यवहार था जो स्टालिन ने रूस के संस्थापकों के साथ किया। इस बात की कोई घोषणा नहीं की गई कि इन लोगों का सफ़ाया कर दिया गया है, न उनके सफ़ाये का कोई कारण ही बताया गया। बस, वह अदृश्य भर हो गए और उसके बाद दिखाई नहीं दिये।

चिरस्थायी, कठोर और व्यापक तानाशाही विवेक-शक्ति को प्रोत्साहन नहीं देती क्योंकि उसे वह खतरनाक समझती है। साथ-ही-साथ वह राजनीतिक साहस को भी मृत्यु का संकेत समझकर प्रोत्साहन नहीं देती और लोगों की चिन्तन-प्रवृत्ति को दबाती है क्योंकि उसके विचारानुसार इसकी आवश्यकता उच्च-वर्ग के कुछ इने-गिने व्यक्तियों को ही होती है। अन्य सब लोग तो उनके ही विचारों को दुहराते हैं। रूसी शिक्षा का उद्देश्य कार्य है; चिन्तन नहीं।

बोलशेविज़्म के संस्थापकों को यह भय पहले से ही था कि समाजवाद के अन्तर्गत राज्य-सत्ता नष्ट हो जायगी। किंतु उनकी आशा के बिलकुल विप-रीत, रूस से समाजवाद ही उड़ गया है। वहाँ के लोगों में अब राजनीति के प्रति दिलचस्पी न रह गई, न न्याय, नैतिकता और चिन्तन की ही कोई चिन्ता रह गई।

यही वह रूस है, जिसके प्रति लास्की हमसे नया विश्वास उत्पन्न करने को कहते हैं।

हैरॉल्ड जे० लास्की को और उनके साथ-ही-साथ उनके रूस सम्बन्धी विचार से सहमत होने वाले व्यक्तियों को इस समस्या का सामना करना ही पड़ेगा। रूस की नई पीढ़ी के अधिकांश व्यक्ति, जिनमें तीस वर्ष तक की आयु वाले सभी लोग शामिल हैं, पूर्णतः भौतिकवादी हैं। चूँकि उनके पूर्वज सूअरों के बाड़ों के पास रहते थे और अशिक्षित थे और वे स्वयं शिक्षक, सैनिक-अफ-सर आदि बन सकते हैं और उन्हें अपने बच्चों की शिक्षा का विश्वास है, इस-लिए वे रूसी शासन को अच्छा समझते हैं। और आज़ादी? "आज़ादी किसे

कहते हैं ?" वे उत्तर देते हैं—"क्या पूंजीवादी देशों में आजादी है ? अगले साल हमें खेती के लिए एक और ट्रैक्टर और जूतों के लिए कुछ और चमड़ा मिल जायगा ?" इस तरह की बातें रूस में कई आदमियों से हुईं।

व्ही० कावेरीन के सन् १९३१ के "अज्ञात कलाकार" नामक एक रूसी उपन्यास में एक नायक ने कहा है—"सच्चरित्रता ! मुझे तो इस शब्द के सम्बन्ध में सोचने तक की फुर्सत नहीं। मैं काम में लगा हुआ हूं। मैं समाजवाद का निर्माण कर रहा हूं। किन्तु यदि मुझसे कोई पूछे कि तुम सच्चरित्रता को अधिक पसन्द करते हो या पतलून को तो मैं उत्तर दूंगा–पतलून को।' इस कलाकार को रूस की भावी प्रवृत्ति का काफी पहले से ही आभास हो गया था। कावेरीन से बहुत पीछे मैं भी यह समझा कि तानाशाही राज्य-सत्ता आदर्शवाद की हत्या कर देती है।

रूस की वर्तमान जीवन प्रणाली में भौतिक पदार्थों पर ही ध्यान केन्द्रित होता है। ये पदार्थ अधिकांश रूसियों के लिए आज भी दुर्लभ हैं और सदा ही दुर्लभ रहे हैं। इन्हें प्राप्त करना और पेशेवर उन्नति की अधिकाधिक सम्भावनाओं से भरे हुए आरामदेह जीवन की आशा ही मनुष्य के समस्त प्रयासों का लक्ष्य होता है। यदि तानाशाही राज्य-व्यवस्था से इस उद्देश्य की पूर्ति की आशा हो सकती है तो वह अनिन्द्य है, चाहे उसकी कार्य-प्रणाली कितनी ही अनैतिक, अजनतन्त्री और सांस्कृतिक तथा चरित्र सम्बन्धी विचारों के लिए विनाशकारी क्यों न हो।

यही आजकल रूस की प्रधान भावना है।

कहा जा सकता है कि रूसियों के जीवन-मान में काफी उन्नति करने से स्थिति में परिवर्त्तन आजायगा। किंतु वह उन्नति अभी सालों दूर है। तब तक नागरिक अधिकारों का दमन, व्यापक हत्या-काण्ड, बड़े-बड़े कान्सेन्ट्रेशन कैम्प, सर्वसत्तावादी नीरस प्रचार और ऐसी ही दूसरी तानाशाही युक्तियों को, जो कि जनता के लिए अधिक भण्डारों, स्कूलों, पुस्तकों, बच्चों और शस्त्रों की व्यवस्था करने के बहाने से प्रचलित हैं—एक ऐसी महान् दार्शनिकता का रूप दिया गया है कि जिसके प्रलोभन को पश्चिमी देशों के उदार दल वाले और समाज-शास्त्री भी नहीं रोक सकते। इसके अलावा, तानाशाहों द्वारा स्वयं जनता को इस बात का विश्वास दिलाया जारहा है कि उन्हें सब प्रकार की स्वतन्त्रताएं प्राप्त हैं। ये स्वतन्त्रताएं भावी भौतिक लाभों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण हैं और पूंजीवादी देशों में भी किसी को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। जिस तरह आजादी भोगकर ही आजादी के प्रयोग की योग्यता सीखी जाती है उसी प्रकार

आजादी के अधिक दिनों तक प्रयोग में न आने से उसे भोगने की इच्छा कुंठित हो जाती है। सन् १९१७ के महीनों को छोड़कर रूस में कभी नागरिक स्वतन्त्रता नहीं रही, इसलिए अधिकांश रूसी नागरिकों को यह पता ही नहीं कि यह स्वतन्त्रता कितनी सुखकर होती है।

रूस के अनेक नागरिकों में वह मानसिक क्षमता ही नहीं जिसकी सहायता से वे स्वतन्त्रता को समझ सकें। पर्लबक के 'माशा स्कॉट से रूस के सम्बन्ध में बातचीत' नामक लेख में श्रीमती स्कॉट, जो पहले रूस के एक कारखाने में काम करती थीं और जिनका अमेरिकन लेखक जान स्कॉट से विवाह होगया है, पर्लबक से कहती हैं—"मैं आपको यह बता देना चाहती हूं कि आप जनता को शिक्षित बनाने का जो ढंग प्रयोग में लाते हैं उसे मैं अच्छा नहीं मानती। उदाहरण के लिए हमारे देश रूस में आप यह बात कहीं नहीं पा सकते कि दो भिन्न-भिन्न समाचार-पत्रों के दो भिन्न-भिन्न मत हों। अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि किसी बात को एक आदमी तो ठीक बताये और दूसरा उसी को ग़लत कहे। जनता कैसे जान सकती है कि इनमें से सत्य कौन-सा है ?"

माशा स्कॉट और उसकी पीढ़ी के लोगों ने, जो कि रूस की नई पीढी है, सत्य बताने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति पर ही निर्भर रहना सीखा है। यह काम उनके लिए रूसी सरकार करती है।

मेरा बड़ा लड़का जार्ज २१ वर्ष की उम्र में अमेरिकन सेना में कप्तान था। युद्ध के दिनों में वह एक साल तक सोवियत्-यूक्रेन-पोलरावा के अमेरिकन हवाई अड्डे पर तैनात रहा। उन दिनों मैं रूस में विदेशी संवाददाता की हैसियत से काम करता था। उसे वहां बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ और वह रूसी भाषा बहुत अच्छी तरह बोलता है। सन् १९४४ के शरत्-काल में पोलटावा के अड्डे पर काम करने वाले अमेरिकनों ने राष्ट्रपति के चुनाव में अपने मत दिये। ऐसा करने से पहले उनमें उम्मीदवारों की वैयक्तिक योग्यता के सम्बन्ध में स्वभावतः बड़ा वाद-विवाद हुआ। उनके साथ काम करने वाले रूसियों ने इस असाधारण राजनीतिक हलचल को देखा और पूछा कि बात क्या है।

जार्ज ने कहा—"हर चौथे साल हम अपने राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। इस साल जनतंत्र की ओर से रूज़वेल्ट खड़े हैं और वही इस समय राष्ट्रपति भी हैं, रिपबलिकन दल की ओर से डेवे खड़े हैं और हमें इन दोनों में से किसी एक को मत देना है।"

"मैं कुछ नहीं समझा" रूसी सेना के एक लेफ्टीनेन्ट ने कहा, "आपका

कहने का मतलब यह है कि रूज़वेल्ट जनतन्त्रवादी हैं और वह कई वर्षों से राष्ट्रपति हैं और फिर भी अमेरिकन सेना में रिपबलिकन हैं ?"

यदि रूज़वेल्ट की जगह पर स्टालिन होते तो वह निस्संदेह इन रिपबलिकनों का अन्त कर देते।

क्या लास्की ने रूस के नूतन निवासी की मानसिक प्रवृत्ति का निकटवर्ती रूप देखा है ? तानाशाही का अर्थ केवल बन्दीगृहों और फांसियों से नहीं है। तानाशाही शरीर का बध करने से भी अधिक भयंकर काम करती है। वह जीवित बचे हुए व्यक्तियों के मस्तिष्क और संकल्प को भी मार देती है।

स्वेच्छाचारी तानाशाही का इस आधार पर समर्थन करना कि उससे सबको नौकरी मिल जाती है और जनता को उत्तमतर जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त होता है, केवल रूस में ही सीमित नहीं रह गया है। अब यह एक विश्व-व्यापी समस्या बन गई है; आधुनिक पुरुष के सामने शायद यह सबसे बड़ी समस्या है। यदि तानाशाही राज्य-व्यवस्था द्वारा हम बहुलता और सुरक्षा की ओर बढ़ सकते हैं तो एशिया, यूरोप, अफ्रीका, और लैटिन अमेरिका के डेढ़ खरब निवासी, जो शतकों से दरिद्रता की यंत्रणा भोगते आये हैं—रूसी जीवन-प्रणाली और साम्राज्य-विस्तार के समर्थक बनाये जा सकते हैं। किन्तु रूस के अनुभव से यह बात सिद्ध नहीं हुई है। इसी तरह यदि रूस शांति की गारण्टी है— जैसा कि सीधे-सादे, अज्ञानी और कुटिल कवि कहते हैं, किन्तु जिसे रूस के आक्रमणकारी कार्य द्वारा प्रमाणित नहीं करते—तो क्यों न जनतंत्र मिटा दिया जाय और सभी जगह स्टालिनवाद स्वीकार कर लिया जाय।

आगामी दस वर्षों में एशिया के एक खरब निवासियों और सम्भवतः यूरोप के भी करोड़ों व्यक्तियों को रूसी या अमेरिकन जीवन-प्रणाली में से किसी एक को चुनना होगा। कुछ अमेरिकन विद्वान् उन्हें रूसी जीवन-प्रणाली स्वीकार करने को कह रहे हैं। लास्की ने उन्हीं के सुर-में-सुर मिलाया है।

लास्कीवादियों पर बड़ी जबरदस्त जिम्मेदारी है। जनतंत्र द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भी मरा नहीं, किन्तु जब तक सोवियत् रूस की सारी बातें पूरी तरह से खोलकर नहीं कह दी जायंगी तब तक इस बात की सम्भावना नहीं कि जनतंत्र उस बौद्धिक गृह-युद्ध में जीवित बच सकेगा जो इन सभ्य जनतंत्री देशों में होता है। झगड़े की सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि उदार-दल वाले जहाँ एक ओर भिन्न-भिन्न देशों के अत्याचारों के विरुद्ध एक आन्दोलन-सा उठा रहे हैं वहाँ वे उस रूसी शासन-प्रणाली का भी समर्थन कर रहे हैं जहाँ क्रूरतापूर्ण मृत्यु-दण्ड, देश-निकाला, निजी स्वतंत्रता और कलाकारों, लेखकों आदि

की आजादी का दमन एक दैनिक घटना है। उन बातों का एक कारण यह भी है कि लोगों को आशा है कि रूसी जीवन-प्रणाली आधुनिक संसार की आर्थिक समस्याओं को हल कर देगी।

अब तक यह बात सबको मालूम होजानी चाहिए थी कि प्राइवेट व्यवसायियों और व्यवसायों का अन्त करने से रूस में सतयुग नहीं आ पाया है। पूंजीपति को गद्दी से उतारकर उसके स्थान पर एक ऐसे अत्याचारी को बैठाने से जिसके हाथों में सर्वसत्ताधारी राज्य और साथ-ही-साथ समस्त पूंजीपतियों की शक्ति भी है, हम शिष्टता, बहुलता या शांति की ओर अग्रसर नहीं हो सकते। निश्चय ही इनका मार्ग कोई और है।

: १८ :

जोसेफ स्टालिन

एक दिन मारकूशा ने आकर मुझे अचम्भे में डाल दिया। यद्यपि १९४४ में "माई लाइव्स इन रशा" लिखने के बाद अब वह रूस के सम्बन्ध में एक उपन्यास लिख रही है फिर भी उसे मेरे छान-बीन के काम में हाथ बटाने की फुर्सत मिल जाती है। अचानक पुस्तकालय में उसकी नज़र मेरे एक लेख पर पड़ गई, जो मैंने १९२५ में "करेंट हिस्ट्री" के जून वाले अंक में लिखा था। मैंने इस लेख को उतनी ही दिलचस्पी के साथ पढ़ा, जितनी से किसी ऐसे पुराने पत्र अथवा डायरी को पढ़ा जाता है, जिसमें किसी व्यक्ति के बीते हुए जीवन की भूली हुई बातों पर प्रकाश पड़ता हो।

लेख में स्टालिन के सम्बन्ध में निम्न वाक्य थे--"जिनोवीव से अधिक योग्य तथा शक्तिशाली स्टालिन है, जो कम्युनिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी है। १९२४ में लेनिन की मृत्यु के बाद रूस के शासन की बागडोर जिनोवीव, कामेनीव और स्टालिन की जिस त्रिमूर्ति के हाथों में आई, उसमें सबसे शक्तिशाली स्टालिन ही है। उसका जन्म जुगोशिविली में हुआ और पादरी बनने की शिक्षा पाई। फिर क्रान्तिकारी कार्रवाइयों के कारण वह पांच बार गिरफ्तार हुआ और पांचों बार साइबेरिया भेज दिया गया और पांचों ही बार वहां से भाग निकला। ऐसा स्टालिन, स्वभाव से चुप रहने वाला और शक्की मिज़ाज का व्यक्ति है। वही बोलशेविक सत्ता के भीतर छिपी रहस्यपूर्ण शक्ति है। वह एक अच्छा संगठन-कर्त्ता तथा विवाद-पटु व्यक्ति है। बदला लेने में वह बड़ा निर्दय तथा घृणित है। वह न तो किसी को माफ करना ही जानता है और न उसकी दृष्टि में सरल व्यवहार का कोई मूल्य है। वह एक प्रकार से बोलशेविक क्रान्ति का मूर्तिमान प्रतीक है--भावना-हीन, लौह-संकल्पी, कठोर, अपने उद्देश्य के मार्ग में किसी बाधा को सहन न करने वाला और अंतःकरण जैसी किसी वस्तु से रहित। जो थोड़े शब्द उसके होठों से निकलते हैं उनसे मानों शक्ति चूती रहती है। उसका दफ्तर, जहां वह रात-दिन बैठा रहता है, शक्ति का महान्

स्रोत है। जिस प्रकार पावर-हाउस से बिजली की लहर निकलती है उसी तरह उसके दफ्तर से निकली हुई विद्युत्-लहर से पार्टी का कार्य निरंतर चलता है। वह पार्टी का सेक्रेटरी और इसीलिए प्रधान व्यवस्थापक है।

"लेनिन स्टालिन पर विश्वास करता है, पर स्टालिन किसी पर विश्वास नहीं करता" ये शब्द हैं, जो रूस में स्टालिन के सम्बन्ध में लोग कहते हैं। यह बात सच हो या नहीं, पर इससे पता चलता है कि स्टालिन के सम्बन्ध में लोगों का क्या मत है। इसका चित्र अपनी कहानी अलग कहता है। स्टालिन की आंखों के चारों तरफ पड़ी हुई सिकुड़नें तथा झुर्रियां उसकी चतुराई तथा चालाकी को प्रकट करती हैं।"

अब दुनिया स्टालिन के बारे में पहले से बहुत अधिक जान गई है, क्योंकि अब वह संसार का सबसे प्रभावशाली व्यक्ति हो चुका है। उसके इतना प्रभावशाली होने का कारण यह नहीं है कि उसका देश संसार में सबसे शक्तिशाली है, बल्कि यह कि वह उसकी शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करता है।

स्टालिन शक्तिशाली व्यक्ति है। वह शक्ति प्राप्त करने और उसे बनाये रखने के तरीकों को खूब जानता है। देश के भीतर उसे शक्ति की ज़रूरत थी और वह उसने प्राप्त कर ली। विदेश में शक्ति प्राप्त करने की उसकी इच्छा हुई और उसे पाने के उपाय करते उसे देर न लगी।

स्टालिन का असली नाम जोसेफ विसारयोनोविच जुगोशिविली है। उस का जन्म १८७९ में एक मोची के घर हुआ, जिसे शराब पीने का शौक था। माता कुछ धार्मिक प्रवृत्ति की थीं और उसने उसे पाठशाला भेजा, पर वह शाला से निकाल दिया गया।

"स्टालिन" का अर्थ है इसपात। इसपात की शलाखें या तो सीधी और मजबूत होती हैं और या उन्हें नाजुक स्प्रिंग अथवा घुमावदार स्क्रयू का रूप दिया जा सकता है। स्टालिन का व्यक्तित्व जिस इसपात से बना है, वह जहां एक तरफ़ सख्त और कड़ा है वहां दूसरी तरफ़ नर्म और लचीला भी है। बंदूक या रिवाल्वर का घोड़ा दबाने में उसे ज़रा भी देर नहीं लगती, किन्तु वह अनन्त काल तक अवसर की प्रतीक्षा भी कर सकता है। अन्य लोग जल्दबाज़ी में असफल कार्य करने की ग़लती कर सकते है, किन्तु स्टालिन धैर्यपूर्वक मौका देखते रहना पसंद करता है। वह पक्का काम करने वाला, मेहनती और रूखा है। अपने आगे आत्म-समर्पण करने वाले को वह भरपूर इनाम देता है, किन्तु विरोध करने वाले को कभी माफ नहीं करता। उसे कभी कोई बात नहीं भूलती।

सोवियत्-नेता अपने संस्मरण नहीं लिखते। हम स्टालिन के सम्बन्ध में

उसके भाषणों और लेखों के आधार पर तो मत बनाते ही हैं, किन्तु उसके व्यक्तित्व तथा विशेषताओं का सबसे अधिक ज्ञान आज के रूस को देखने से होता है, क्योंकि १९२६ से अब तक स्टालिन सोवियत् रूस को अपनी ही प्रतिमूर्ति बनाने की चेष्टा करता रहा है। सोवियत् रूस के सम्बन्ध में कुछ जानने से स्टालिन के सम्बन्ध में जानकारी अपने-आप हो जाती है और स्टालिन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने से सोवियत् रूस के सम्बन्ध में हमें अनायास ही बहुत कुछ मालूम हो जाता है।

यूरोप में मित्रराष्ट्रों की विजय के कुछ ही दिन बाद जनरल ड्वाइट आइजनहोवर ने लाल सेना के सुप्रसिद्ध सेनापति, मास्को के वीर और बर्लिन के विजेता, मार्शल जुकोव को फ्रांकफर्ट में दावत दी थी। दोनों सेनापतियों में जो वार्ता हुई उसे नीचे दिया जाता है। यह वार्ता "न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून" के १८ जून १९४५ वाले अंक में और फिर अमरीकी सेना के सरकारी विवरणों में प्रकाशित हुई थी।

जुकोव—"हमारे अधिकार में रासायनिक तेल की कुछ ऐसी मशीनें हैं, जो हमें अपने कब्जे में आये क्षेत्र में मिली हैं। हमने उनकी मरम्मत कर ली है, पर चला नहीं पाये हैं। शायद अपने अपने क्षेत्र में कुछ ऐसी ही मशीनों को चलाना शुरू कर दिया है। क्या मैं अपने कुछ कारीगरों को भेजूं, जो देख लें कि आपकी मशीनें कैसे चल रही हैं?"

आइजनहोवर—"जरूर, भेज दीजिए। हम उन्हें मशीनें चलाना सिखा देंगे।"

जुकोव—(चकित होकर) "तो क्या आपको अपनी सरकार से अनुमति लेनी पड़ेगी?"

आइजनहोवर—"नहीं, बिलकुल नहीं। आप भेज दीजिये।"

जुकोव को आश्चर्य इसलिए हुआ था कि गुप्तचर पुलिस अथवा स्टालिन से पूछे बिना वह स्वयं ऐसा कभी न कर पाता। बड़े-से-बड़े सोवियत् अफसर को किसी विषय में निर्णय करने का अधिकार नहीं होता—उसे तो केवल आदेश का पालन करना होता है। यही सोवियत् शासन-प्रणाली है, जिसका स्टालिन ने निर्माण किया है।

यह एक ऐसी बात है, जो हम रूस और स्टालिन के सम्बन्ध में जानते हैं।

अक्तूबर १९४४ के "रीडर्स डाइजेस्ट" में अमरीकी चेम्बर आॅफ कामर्स के अध्यक्ष एरिफ ए० जॉन्सन का "जोसेफ स्टालिन से मेरी वार्ता"

शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। जॉन्सन मुझे बता चुके हैं कि लेख में जो बातचीत दी हुई है, वह स्टालिन के कार्यालय द्वारा दिये गए विवरण से ज्यों-की-त्यों ली गई है।

एरिक जॉन्सन साइबेरिया के भ्रमण को निकला था। उसने स्टालिन से कहा —"मैं अपने साथ चार अमरीकी पत्र-प्रतिनिधि यूराल ले जाने की अनुमति चाहता हूं।"

"जरूर, क्यों नहीं ?" स्टालिन ने कहा।

"तो इसका मतलब है कि मैं ले जाऊं ?"

"अवश्य, ही।"

"धन्यवाद, मार्शल स्टालिन" जॉन्सन बोला—"पर क्या मोलोटोव स्वीकार करेंगे ? देखिये, अभी तक उसके कार्यालय (विदेश विभाग) ने मेरा अनुरोध स्वीकार नहीं किया है।"

"इस समय मोलोटोव मेरी ओर देख रहा था"—जॉन्सन लिखता है—एकाएक उसने स्टालिन की ओर दृष्टि फेरी और जल्दी से बोल उठा, "मैं मार्शल स्टालिन के फैसलों को हमेशा स्वीकार करता हूं ?"

मार्शल ने अपना सिर एक तरफ को फेरा और खीसें निकाल दीं—"मि० जॉन्सन, सचमुच आपका यह ख़याल नहीं हो सकता कि मोलोटोव का मुझसे मतभेद होगा।"

यह है स्टालिन का व्यक्तित्व, स्टालिन की तानाशाही और आज का रूस।

सोवियत् रूस के रक्षा-मन्त्री मार्शल वोरोशिलोव से मैंने तथा यूनाइटेड प्रेस के प्रतिनिधि फ्रेडरिक कुट्ट ने भेंट की थी। भेंट का जो विवरण श्री कुट्ट ने तैयार किया उसका विदेश भेजे जाने से पहले सेंसर किया जाना जरूरी था। वोरोशिलोव में उसका सेंसर खुद करने की हिम्मत न थी। इसलिए वह उसे स्टालिन के पास ले गया।

पहले तो तानाशाह स्टालिन अपने सहकारियों को कोई महत्त्वपूर्ण निश्चय करने से रोक देता है। कुछ दिन यह परिस्थिति रहने के बाद वे खुद ही कोई निश्चय करना नहीं चाहते। इसी में रक्षा है और यही आसान है। सोवियत् अफसरों की विशेषता अपनी जिम्मेदारी ऊपर वाले अधिकारी के सिर टाल देना है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सोवियत् प्रतिनिधि जो देरी किया करते हैं उसकी वजह भी यही है कि वोट देने या प्रश्न का उत्तर देने से पहले उन्हें क्रेमलिन (रूसी सरकार का कार्यालय) से पूछ-ताछ करनी पड़ती है। जिस

प्रकार एरिक जॉन्सन के सामने स्टालिन द्वारा अपमानित किये जाने पर मोलो-टोव ने अपने को "शक्तिहीन" अनुभव किया था उसी प्रकार सभी सोवियत् अधिकारी पहले अपने को "शक्तिहीन" अनुभव करते हैं और फिर वास्तव में "शक्तिहीन" बन जाते हैं और इस स्थिति से स्टालिन खूब प्रसन्न होता है।

इसी नीति के परिणामस्वरूप सोवियत्-नाजी-संघर्ष के सम्बन्ध में प्रत्येक रूसी नागरिक स्टालिन को ही प्रधानता देता है । जब लाल सेना पीछे हट रही थी उस समय स्टालिन के नाम का सोवियत् पत्रों तथा रेडियो से प्राय: लोप हो गया था। रूसी तानाशाह मनोविज्ञान का अच्छा पंडित है। जिस समय रूसी जनता पराजय की आशंका से चिन्तित थी उस समय स्टालिन नहीं चाहता था कि लोग उसके सम्बन्ध में कुछ भी सोचें। परन्तु जब युद्ध का पासा लालसेना के पक्ष में पलटने लगा तो स्टालिन का नाम फिर सुनाई देने लगा और विजयों का श्रेय भी उसी को दिया जाने लगा।

कुशल प्रचारकों द्वारा स्टालिन के सम्बन्ध में जिन जनश्रुतियों को जन्म दिया गया है उन्होंने रूसी तानाशाह को संसार और इतिहास का सबसे महान् सेनापति बना दिया है। इसमें सत्य का अंश कहां तक है, मैं नहीं बता सकता और न स्टालिन के निकट-सम्पर्क में रहने वाले चंद आदमियों को छोड़कर दूसरा ही कोई बता सकता है। मास्को, वाशिंगटन, लंदन अथवा पेरिस नहीं है, जहां गुप्त-से-गुप्त बातभी जल्दी या देर में प्रकट हो जाती है। कौन कह सकता है कि स्टालिन ने रण-नीति की योजनाएं स्वयं तैयार की थीं या किसी सेनापति अथवा सेनापतियों द्वारा तैयार योजनाओं पर केवल सही कर दी थी ?

चर्चिल के निजी चिकित्सक लार्ड मोरन का कहना है कि स्टालिन के मन की बात का पता लगाना सहल नहीं है। चर्चिल ने लार्ड मोरन से स्वयं यह बात कही थी। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने, जिसे भूतपूर्व इंग्लैंड का सबसे प्रमुख वार्तालाप-प्रिय व्यक्ति कहा जा सकता ह, लार्ड मोरन से कहा था कि मैं भारी-भरकम रूज़वेल्ट को तो अपनी बातों में घसीट लेता हूं किंतु काकेशियन पर्वत का वह स्व-निर्मित व्यक्ति, स्टालिन मौन ही बनाये रहता है।

स्टालिन ने स्वाभाविकता को शून्य तक घटा दिया है। उसके कार्य, शब्द, संकेत, मौन तथा अनुपस्थितियां सब राजधानी से तैयार की गई योजना के अंग होते हैं। जब स्टालिन सोवियत्--नाजी कानून पर हस्ताक्षर होते समय मुसकराया था तो उसमें हिटलर के लिए एक संदेश छिपा था।

स्टालिन नहीं चाहता था कि चर्चिल उसके मन की बात जाने।

१९३६ तक चोटी के बोलशेविक स्टालिन को "खोजयेन" या "प्रधान"

कहते थे। अचानक संकेत मिलने पर उन्होंने उसे "स्टारिक" अथवा "वृद्ध पुरुष" कहना शुरू कर दिया, जिसे रूसी भाषा में प्रेमपूर्ण सम्बोधन माना जाता है। तानाशाही शासन में सब बातें––यहां तक कि प्यार के सम्बोधन भी––तय की जाती हैं और आदेशों द्वारा उनका प्रयोग कराया जाता है।

सोवियत् प्रचारकों ने स्टालिन को जनता के दिल में कील की तरह ठोक-ठोक कर घुसा देने में कुछ भी उठा नहीं रखा है।

१९४५ में स्टालिन को श्वेत रूस के २५, ४७, ३६० निवासियों के हस्ताक्षरों से एक अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया था। १८ नवम्बर १९४५ के दिन जोसेफ बार्नीस ने मास्को से "न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून" को कजाक सोवियत् प्रजातंत्र का २५ वां वार्षिकोत्सव मनाये जाने के सम्बन्ध में एक समाचार भेजा था। इस समाचार में २५,००,००० कजाक नागरिकों के हस्ताक्षर से स्टालिन के नाम एक पत्र प्रकाशित करने का उल्लेख था। कजाक प्रजातंत्र मध्य एशिया में थोड़ी आबादी वाला प्रदेश है, जिसकी औसत जनसंख्या प्रति-वर्ग किलोमीटर ४ व्यक्ति है। युद्ध से थके देश के ऐसे भाग में कर्मचारियों को इन पत्रों के लिए हस्ताक्षर प्राप्त करने में कितना परेशान होना पड़ा होगा और इसके लिए कितनी शक्ति, समय और धन की बर्बादी हुई होगी–– यह क्या स्टालिन से छिपा होगा ? फिर भी ऐसे पत्रों की संख्या रूस में बढ़ती ही जाती है।

६ अप्रैल १९४६ को जनरल फ्रांको के आगे ७,००,००० हस्ताक्षरों की ५० जिल्दें यह प्रमाणित करने के लिए पेश की गई थीं कि स्पेनवासी अभी तक उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं। मजदूर-विभाग के मंत्री गिरोन ने जिल्दें पेश करते हुए कहा था—"केवल आप ही एक ऐसे स्पेनियार्ड हैं, जिनका अनुसरण करने के लिए हम हर एक का और हर तरह के विरोध का सामना करने को तैयार हैं।"

जनता से यत्नपूर्वक जो प्रशंसा प्राप्त की जाती है, वह ऐसा करने वालों की आंखों में चकाचौंध नहीं पैदा कर सकती। इसका उद्देश्य केवल जनसाधारण तथा विदेशियों को मूर्ख बनाने का होता है। ऐसे कार्य अनेक बार होने का, असाधारण प्रभाव पड़ता है।

"हमारा प्यारा पिता, मित्र और शिक्षक, हमारा गौरव, हमारा अभि-मान महान् स्टालिन"––ये शब्द मास्को के एक दैनिक पत्र "ट्रूड" ने १९३९ में अपने २६ जनवरी वाले अंक में लिखे थे। ऐसे ही शब्द सोवियत् रूस के अन्य किसी भी प्रकाशन में मिल सकते हैं। मास्को की "बोलशेविक" पत्रिका
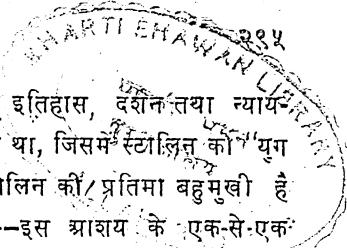
में १९४५ में अपने जुलाई वाले अंक में सोवियत् इतिहास, दर्शन तथा न्याय-शास्त्र सम्बन्धी एक गम्भीर लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें स्टालिन को "युग का सबसे महान् वैज्ञानिक" कहा गया था। स्टालिन की प्रतिमा बहुमुखी है और उसी की कृपा से अनेक देनें प्राप्त हुई हैं--इस आशय के एक-से-एक बढ़कर तारीफ के पुल बांधे जाते हैं और सोवियत् पत्रों तथा पत्रिकाओं में इसके लिए होड़-सी लगी रहती है।

एकतंत्रीय तानाशाही का "फ्यूहरर" वाला सिद्धांत बोलशेविकों ने हिटलर से कहीं पहले ही स्वीकार कर लिया था। अब से कितने ही साल पहले जब वह प्रकट हुआ था तभी से मैं उससे घृणा करने लगा था। यद्यपि सोवियत् विदेश-विभाग मास्को में रहने वाले पत्रकारों द्वारा स्टालिन की कटु आलोचना पसंद नहीं करता, फिर भी मैंने १९३० में "नेशन" के अगस्त वाले अंक में इस बात की निंदा की थी कि स्टालिन की निजी तारीफें इस असंभावित ढंग से क्यों प्रकाशित होने दी जाती हैं। मैंने लिखा था—"स्टालिन चिकनी-चुपड़ी बातों, थोथी चापलूसी तथा अरुचिकर प्रशंसा का लक्ष्य बन गया है..... लेनिन ने कभी भी ऐसी बातें अपने समय में न होने दी थीं और वह जितना लोकप्रिय था उतना होने की स्टालिन कभी आशा नहीं कर सकता... ऐसा करना न तो बोलशेविकों को ही शोभा देता है और न इसमें राजनीतिक बुद्धिमत्ता ही है। यदि स्टालिन इस सबके लिए जिम्मेदार नहीं है तो वह कम-से-कम उसे सहन तो करता है। वह संकेत मात्र से इसका खात्मा कर सकता है।"

सच तो यह है कि स्टालिन को यह सब पसंद था और अब भी है। उसने इसे प्रोत्साहन भी दिया है। जैसे-जैसे साल गुजरते गये हैं यह प्रचार अधिकाधिक अरुचिकर और भद्दा रूप ग्रहण करता गया है। स्टालिन के नाम पर आठ शहरों का नामकरण किया गया है—स्टालिनग्राड, स्टालिनो गौर्क, स्टालिनाबाद, स्टालिन, स्टालिनो, स्टालिनिर, स्टालिनिसी, और स्टालिनोल। इनके अतिरिक्त, असंख्य गांवों, कारखानों, सामूहिक खेतों तथा विद्यालयों के नाम भी स्टालिन पर रखे गए हैं। पूर्वी देशों की भाँति देवताओं की तरह पूजे जाने से स्टालिन की "पिता" बनने की भूख शान्त होती है। साथ ही यह एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा एक डिक्टेटर जनता का प्रेम प्राप्त करता है और उसे अपनी आज्ञा मानने के लिए बाध्य करता है। शायद स्टालिन सोचता है कि सोवियत् रूस जैसा कष्ट-पीड़ित राष्ट्र, जो धर्म की सुविधा से वंचित है, अपने कष्टों की जड़ इस सरकार का केवल उसी हालत में अधिक समर्थक

हो सकता है जब कि सरकार का प्रधान उसका "पिता" हो। सोवियत नागरिकों द्वारा क्रेमलिन में बन्द "पिता" के प्रति प्रेम का कोई सबूत मुझे अभी तक नहीं मिला है। लेनिन को देशवासी प्रेम पूर्वक "इलिच" कहते थे। भूतपूर्व रक्षा-मंत्री मार्शल वोरोशिलोव से जिन साधारण लोगों तथा बालकों का प्रेम था वे उसे "क्लिम" कहते थे। वोरोशिलावस्क नामक जो नगर उसके नाम पर बसाया गया था, उसका नाम हाल ही में स्टेवरोपोल कर दिया गया है। परन्तु स्टालिन, प्रत्येक प्रयत्न के बावजूद, स्टालिन--इसपात ही बना हुआ है। लोग उसके काम करने के प्रभावपूर्ण ढंग पर मुग्ध हैं। परन्तु वह ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसे कोई भी प्रेम करेगा। उसमें स्पन्दन का अभाव है। उसका चेहरा देखने से पता चलता है कि बाहर से जो कुछ आता है उसमें समा ही जाता है, कुछ भीतर से बाहर नहीं जाता। हिटलर ने लाखों प्राणियों को अपने भावावेश से आकर्षित कर लिया था। चर्चिल ने इंग्लैण्ड को तथा उसकी सीमा के बाहर के भी कितने ही लोगों को मोह लिया था। रूज़वेल्ट की मधुर आवाज़ तथा व्यवहार की मृदुता तथा सरलता ने उसके मित्रों की संख्या बढ़ाई और उसे सफल बनाया। परन्तु स्टालिन में आकर्षण, सम्मोहन-शक्ति और व्यवहार की मृदुता अथवा सरलता का पूर्ण अभाव है। एक बार मुझे मुलाकात के समय उसके पास सवा छः घंटे बैठने का मौका मिला। सब कुछ मिलाने पर मुझे उसमें शान्त शक्ति, दृढ़ संकल्प, चेतना युक्त निर्देशन तथा एक लक्ष्य के पीछे समस्त प्रयत्नों को केन्द्रीय करने के गुण ही दिखाई दिये। दुनिया में अन्य नेताओं ने जो अधिकार सार्वजनिक आकर्षण के बल पर प्राप्त किया वही स्टालिन ने ऊपर बताई विशेषताओं के साथ राजनीतिक कौशल तथा उच्चकोटि की संगठन-शक्ति द्वारा पाया है। और इस अधिकार तथा शक्ति को पिछले बीस वर्षों से जो वह बनाये हुए है, यह भी कुछ कम बड़ी मौलिक अथवा राजनीतिक सफलता नहीं है। ऐसा करने में स्टालिन को जहाँ एक तरफ उन असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ा है, जो दूसरी सरकारों के सामने उठती हैं, वहाँ दूसरी तरफ उसे उन संस्थाओं को निर्बल करना पड़ा है और उन व्यक्तियों को नष्ट करना पड़ा है, जो तानाशाह के इरादों की आलोचना करते, उसे चुनौती देते अथवा उसमें बाधा डालते।

स्टालिन के संगठन का सिद्धान्त रण-नीति से मिलता-जुलता है। वह जहां अपनी शक्ति बढ़ाने की चेष्टा करता है वहां विरोधी की शक्ति को कुचल डालनें के लिए भी सचेष्ट रहता है। वह इस सिद्धान्त को सोवियत् रूस के घरेलू मामलों तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समान रूप से काम में लाता है। इन

दोनों ही क्षेत्रों में उसने विरोधियों में फूट पैदा करने, उन्हें अस्त-व्यस्त कर देने, और उनकी शक्ति को प्रभावहीन कर देने की विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

स्टालिन ने सोवियत् प्रणाली का संगठन जिस ढंग से किया है उसमें विरोध की सम्भावना नगण्य रह गई है। देश में किसानों की ही संख्या अधिक है। ये सरकारी खेतों पर मिल-जुल कर काम करते हैं। भूमि, मशीनों तथा कृषि के औजारों पर सरकार का अधिकार है और वही फसल की खरीदार है। इन किसानों को वर्गों के रूप में संगठित होने की स्वतन्त्रता नहीं है। इस प्रकार किसानों में न तो राजनीतिक एकता है और न आर्थिक शक्ति ही। श्रमजीवियों की मालिक स्वयं सरकार है और ये श्रमजीवी हड़ताल करने को स्वतंत्र नहीं हैं। जिस प्रकार अन्य देशों में मज़दूर सभाएं मालिकों के सामने अपनी मांग रख सकती हैं उस प्रकार रूसी मज़दूर सभाएं नहीं रख सकती। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वहां मज़दूर-सभाएं हैं ही नहीं। यही नहीं, सरकार के लाखों कर्मचारियों तथा सरकारी कारखानों के लाखों मैनेजरों के पास अपने डिक्टेटर की प्रभुता को रोकने अथवा उसका विरोध करने का भी कोई साधन नहीं है। यह ठीक है कि कर्मचारीवर्ग के सहयोग के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। परन्तु रूस में काम न करने वाले को भोजन नहीं मिलता और इस किसी बात पर आपत्ति करने वाले को गिरफ़्तार कर लिया जाता है। उच्च अधिकारीवर्ग स्थिति को बनाये रखने में और भी सहायक हैं। किसी अफसर को कहीं भी भेजा जा सकता है और जेल का द्वार भी उसके लिए सदा खुला रहता है। मोलोटोव से लेकर छोटे-से-छोटा कर्मचारी अपील का अवसर दिये बिना सदा के लिए मार्ग से हटाया जा सकता है। नौकरशाही कारखाने की एक आवश्यक कल है, किन्तु यह कल जिस बिजली से चलती है वह उसे तानाशाह से प्राप्त होती है। कम्युनिस्ट दल भी स्टालिन से स्वतंत्र होकर उस के विरुद्ध कार्रवाई नहीं कर सकती। पहले यह दल ही राजनीतिक शक्ति का स्रोत मानी जाती थी, किन्तु उसके नेताओं का एक-एक करके सफाया कर दिया गया और जो बच गए हैं वे इतने भयभीत हैं कि चूं भी नहीं कर सकते। कम्युनिस्ट दल के बाहर राजनीतिक कार्य हैं हा नहीं और दल के भीतर स्मशानवत् शान्ति है। कोई भी व्यक्ति प्रतिवाद अथवा विरोध करने को स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि मनुष्य स्वतन्त्र तभी रह सकता है जब कि गुप्तचर पुलिस से बचा रह सके। ऐसी स्वतन्त्रता भी क्या स्वतंत्रता है!

इसलिए कहा जा सकता है कि स्टालिन के रूस में विरोध प्रकट करने

के साधन का अभाव है। समाचार पत्रों, पार्टी, मजदूर सभाओं, खेत-सभाओं तथा सरकारी दफ्तरों के हाथ में जो शक्ति होनी चाहिए थी उस पर तानाशाह ने अधिकार कर लिया है। ऐसी स्थिति में सार्वजनिक असंतोष इन साधनों द्वारा प्रकट नहीं हो सकता। लोग दंगा मचा सकते हैं अथवा भारत की तरह अहिंसात्मक असहयोग कर सकते हैं; यह तभी सम्भव है जब पुलिस में अव्यवस्था फैल जाय। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। आगपू ने सोवियत् जनता को आज्ञा-पालन खूब सिखा दिया है और उससे आत्म-विश्वास छीन लिया है।

काकेशस-स्थित जार्जिया जैसा कोई प्रजातंत्र मास्को की तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह करना चाहे तो केवल उसी अवस्था में कर सकता है, जब इस प्रकार के विद्रोह को स्थानीय अधिकारियों का समर्थन प्राप्त हो सके। परन्तु सोवियत् प्रजातंत्र संघ की सभी सरकारों में ऐसे रूसी कर्मचारी तथा कम्युनिस्ट भरे पड़े हैं, जिन्हें शीघ्र क्रेमलिन से आदेश प्राप्त होते हैं। इसलिए लालसेना की सहायता के बिना कोई विद्रोह सफल नहीं हो सकता।

इस तरह प्रकट हो चुका है कि लालसेना और गुप्तचर पुलिस ही दो ऐसी शक्तियां हैं, जो स्टालिन की शक्ति के विरुद्ध सिर उठा सकती हैं। स्टालिन दोनों ही से किस तरह पेश आता है इससे उनकी प्रतिभा तथा प्रभुत्व के कारणों पर प्रकाश पड़ता है।

सोवियत् रूस की गुप्तचर पुलिस का पूरा नाम "पीपल्स कमीसरियेट आफ इंटर्नल अफेयर्स" है, किन्तु लोग उसे "आगपू" ही कहते हैं। इस संगठन के गुप्तचर प्रत्येक शहर, गांवों, कारखानों और दफ्तरों में फैले हुए हैं। रूस की सबसे भव्य कतिपय इमारतों में इस संगठन के केन्द्र हैं, जिनके साथ ही जेल भी होते हैं। 'आगपू' अपनी शक्ति छिपाने का प्रयत्न नहीं करता। उसके कार्य अवश्य गुप्त रखे जाते हैं, किंतु उनका अस्तित्व गुप्त नहीं है।

आगपू कितने ही आर्थिक कार्य भी करता है। मैंने दासों के श्रम द्वारा आगपू को नहरें अथवा रेल तैयार करते देखा है, इस कार्य के लिए उसकी बाकायदा प्रशंसा हो चुकी है। आगपू के अपने सशस्त्र फौजी दस्ते हैं। वह सीमा पर अपने पहरेदार रखती है। उसके अपने यातायात साधन हैं और कुछ महत्त्वपूर्ण इमारतों पर उसका कब्जा है।

मैं आगपू के अफसरों से मिल चुका हूं। इनमें कुछ पुरुष थे और कुछ महिलाएं। कुछ वरदी पहने थे और कुछ सादे वस्त्रों में थे। कुछ सोवियत् रूस में मिले थे और कुछ विदेशों के सोवियत् दूतावासों में रहकर अपने तथा विदेशी कूटनीतिज्ञों के कार्यों पर नज़र रखने के लिए नियुक्त थे। कुछ आदर्शवादी थे

और उनका विश्वास था कि उनका कार्य कुछ अप्रिय अवश्य है किन्तु साथ ही आवश्यक है। कुछ अधिकार तथा विलासितापूर्ण सुविधाओं के लिए अपने पदों पर काम कर रहे थे। परन्तु सभी मेहनती, गुप्त कार्य करने वाले तथा भय-त्रस्त थे। उनके भय-त्रस्त होने का कारण यह ह कि आगपू का दण्ड जितना भयानक अपने अपराधी सदस्यों के प्रति होता है उतना अन्य किसी के प्रति नहीं। सभी में मिलकर काम करने की भावना की प्रधानता रहती है। प्रत्येक सदस्य अपने कार्य का अभिमान करता है। सब में अपने काम के लिए "कला कला के लिए" जैसी भावना रहती है। 'आगपू' एक ऐसे प्राचीन संगठन की तरह है, जिसके सदस्य मौन रखने के लिए शपथ लिये रहते हैं, जो अपने कार्य के लिए सर्वस्व निछावर करने को तैयार रहते हैं, जो सभी विशेष पद तथा सुविधाओं का उपभोग करते हैं और जो सब-के-सब असफलता को बुरा मानते हैं।

आगपू स्टालिन का आध्यात्मिक शिशु है।

कुछ वर्ष तक आगपू वाले अपनी शक्ति, अपनी संख्या, अपने महत्त्वपूर्ण कार्य तथा तानाशाह के लिए अपने असाधारण महत्त्व को देखकर अनुभव करने लगे थे कि भीतरी मामलों में वे बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। इसके अतिरिक्त, आगपू को उन सभी उपायों की भी जानकारी होती है, जिनके द्वारा तानाशाह अपनी शक्ति बढ़ाता है और अपने विरोधियों का अन्त करता है। इस विशेष स्थिति के कारण यह भ्रम होना स्वाभाविक था कि रूस की शासन-व्यवस्था में उसका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१९३१ में आगपू ने स्टालिन को चुनौती दी। उस समय मैंने "नेशन" में इसका विवरण प्रकाशित कराया था और फिर १९३३ में तत्सम्बन्धी बाद की घटनाओं पर प्रकाश डाला था। दोनों ही लेख मास्को से लिखे गए थे।

मैंने १९३३ में "नेशन" में लिखा था—"दो वर्ष पूर्व आकुलोव आगपू का उपप्रधान नियुक्त किया गया था। उस समय संगठन का कार्य-वाहक प्रधान यागोदा था, जिसके दावों की नई नियुक्ति द्वारा उपेक्षा की गई थी। संगठन के स्थायी अफसरों तथा आकुलोव में संघर्ष हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप आकुलोव को डोनेज के कोयला-क्षेत्र में एक छोटे से पद पर बदल दिया गया।"

यागोदा कितने ही वर्ष तक आगपू का प्रधान था और उसने आकुलाव के साथ काम करने से इंकार कर दिया। तब स्टालिन को विवश होकर आकुलोव को हटा कर प्रधान के पद पर यागोदा को नियुक्त करना पड़ा। इस प्रकार पहले संघर्ष में स्टालिन को आगपू के विरुद्ध मुंह की खानी पड़ी।

पर स्टालिन सहज में हार खाने वाला व्यक्ति नहीं है। अपने स्वभाव के अनुसार कुछ दिन ठहरकर उसने दूसरा प्रयत्न किया। दूसरी बार उसने आकुलोव को आगपू के भीतर न रखकर उसके ऊपर नियुक्त किया।

मैंने "नेशन" में लिखा था—"आकुलोव एक पुराना बोलशेविक तथा लेनिन के साथियों में से था। स्टालिन ने उसे सोवियत्-संघ का अटार्नी-जनरल नियुक्त कर दिया। यह एक नया पद है ······इस पद का सबसे आश्चर्यपूर्ण कार्य आगपू के कार्यों पर दृष्टि रखना भी है। अटार्नी-जनरल के कार्यों में एक इस बात की देख-रेख करना भी है कि आगपू के कार्य कहां तक कानूनन जायज़ होते हैं।

इससे बोलशेविक आतंक में कुछ कमी हुई। कई सोवियत् नागरिकों को, जिन्हें यागोदा ने गिरफ्तार किया था, आकुलोव ने छोड़ दिया। आकुलोव मरों को क़ब्र से निकालकर जिला तो नहीं सकता था, परन्तु जिन लोगों को गलत जुर्म लगाकर जेल में डाल दिया गया था उन्हें उसने छुड़ा दिया। १९३३ के उत्तरार्द्ध में तथा १९३४ के सम्पूर्ण वर्ष में वातावरण की गम्भीरता कम हुई। सोवियत् इतिहास में पहली बार वह स्थिति आई कि गुप्तचर पुलिस उच्च अधिकारियों से परामर्श लिये बिना किसी बड़े इंजीनियर अथवा लाल सेना के अफसर को गिरफ़्तार नहीं कर सकती थी।

जनवरी १९३४ में आगपू के कुछ न्याय सम्बन्धी अधिकार सोवियत् अदालतों के सुपुर्द कर दिये गए और आगपू का नाम "कमिसरियेट आफ इंटर्नल अफ़ेयर्स" रखा गया। परन्तु सात महीने तक कमिसरियेट के प्रधान कमिसार का पद खाली रहा, जो एक असाधारण बात थी। स्टालिन यागोदा की नियुक्ति का विरोध कर रहा था। अन्त में जुलाई १९३४ में यागोदा कमिसार बन ही गया। यद्यपि यागोदा के अधिकार कुछ कम कर दिये गए फिर भी विजय उसी की हुई।

दिसम्बर १९३४ में सेर्ज़ी किरोव की हत्या होने पर, जो एक प्रमुख बोलशेविक नेता होने के अतिरिक्त लेनिनग्राड का राजनीतिक प्रधान भी था, प्राण-दंड तथा निर्वासनों का तांता लग गया। किन्तु इधर कुछ समय से शासन में उदारता का जो पुट आने लगा था उसमें इन सज़ाओं से कोई बाधा न पड़ी। १९३६ में नवीन विधान जारी करने की घोषणा कर दी गई।

जहां एक तरफ विधान तैयार किया जा रहा था वहां मास्को में मुकदमों तथा विरोधियों के दमन द्वारा उस विधान की भावना का गला घोंटा जाने लगा। हज़ारों उच्च सोवियत् अफसरों को, जिनमें से सैकड़ों के नाम मैं अपनी पुस्तक

"मैन एंड पालिटिक्स" में गिना चुका हूं, गोली मार दी गई अथवा देश-निकाला दे दिया गया।

सोवियत्-विधान को जितना माना गया है उससे कहीं अधिक उसकी अवज्ञा हुई है। कुछ लोग काग़ज़ पर लिखे को ही यथार्थ मानते हैं। परन्तु स्टालिन की अधीनता में तैयार किये गए विधान में दी गई नागरिक स्वतंत्रता का सोवियत् रूस के वास्तविक जीवन में कहीं भी स्थान नहीं है। लोगों ने सोचा कि उन्हें नागरिक स्वतंत्रता मिलने जा रही है और वे बड़े खुश हुए। उनकी खुशी से प्रकट होता था कि लोग स्वतंत्रता पाने के लिए लालायित हैं और उसके अभाव का अनुभव करते हैं। सम्भवतः इसीलिए सोवियत् रूस के नेताओं ने विधान की उपेक्षा की है। जनता ने नेताओं की आशा से कहीं अधिक गम्भीरता पूर्वक विधान को ग्रहण किया। आगपू ने गुप्त रिपोर्टें पेश करके स्टालिन को राष्ट्र की भावना से अवगत कराकर यह विश्वास दिलाया कि स्वतंत्रता उसकी तानाशाही को ख़तरे में डाल देगी। सच तो यह है कि मुकदमों तथा दमन ने जिस आतंक की सृष्टि कर दी थी उसने विधान की यथार्थता को नष्ट कर दिया था। १६३४ में आतंक घटने, १६३५ में विधान के निर्माण और १६३६ में उसकी घोषणा के उपरान्त फिर मुकदमे चलाये जाने से मैं स्तब्ध रह गया। इन मुकदमों के बीच केवल कुछ प्रमुख व्यक्तियों को ही प्राण-दंड नहीं दिया गया, बल्कि स्वयं लोकतंत्रवाद का गला घोट दिया गया।

१६३६ और १६३७ में न्याय का नाटक गुप्तचर पुलिस के प्रधान जेनरिच यागोदा द्वारा खेला गया था। परन्तु २ मार्च १६३८ को यागोदा स्वयं अपराधी से कटहरे में खड़ा हुआ और १३ मार्च को अदालत ने इस नाटे, दुबले तथा हिटलरी मूंछ वाले व्यक्ति को प्राणदंड का आदेश सुना दिया। इस तरह स्टालिन ने उस व्यक्ति का अंत किया, जिसने उसकी अवज्ञा की थी।

यागोदा का उत्तराधिकारी येज़ोव पांच फुट लम्बा था। उसने दमन-चक्र तेजी से घुमाया, किन्तु स्टालिन ने उसी का दमन कर दिया। येज़ोव का उत्तराधिकारी लेवरेंरी बेरिया स्टालिन की तरह जार्जियन था। वह नाटा तथा क्रूर था। मैं उससे १६२४ में टिफलिस में मिला था, जब वह जार्जिया की गुप्तचर पुलिस का प्रधान था। उसने जार्जिया के मेंशेविकों का दमन किया था। उसकी उन्नति मुख्यतः स्टालिन के कारण हुई। बेरिया की अधीनता में आगपू तानाशाह का आज्ञाकारी अनुचर बन गया। अटार्नी-जनरल को इन दिनों बिलकुल भुला दिया गया!

१४ जनवरी १९४६ के दिन कर्नल-जनरल सेर्ज़ी एन० क्रुग्ल्योव ने बेरिया का स्थान ग्रहण किया। गुप्तचर पुलिस का प्रधान सोवियत् रूस में स्टालिन के बाद सबसे शक्तिशाली व्यक्ति होता है। स्टालिन सोचता है कि गुप्तचर पुलिस के प्रधान के पद पर अधिक दिन रहने वाला व्यक्ति स्वयं महत्वाकांक्षी तथा खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इसीलिए विचारों में ज़रा-सी आज़ादी आते ही स्टालिन उसे अपने पद से हटा देता है। अस्तु; आगपू स्टालिन का विश्वासपात्र साधन है।

स्टालिन को लाल सेना का नियंत्रण करने में भी काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। सेनापति, सैन्य-विशेषज्ञ तथा सेनाएं उन लोकतन्त्री शासन-प्रणालियों की राजनीति में भाग लेती रही हैं, जहां जनता के अधिकारों की रक्षा की बात प्रधान मानी जाती है और जहां सेना के प्रभुत्व से बचे रहने के आदर्श को माना जा चुका है। लोकतंत्री देशों ने सेना के प्रभुत्व से बचने के लिए कतिपय उपाय कर रखे हैं—चुनावों में किसी बाहरी प्रभाव को न पड़ने दिया जाय और उनमें किसी प्रकार की जोर-जबर्दस्ती न हो, कितने ही अधिकारियों की चुनाव द्वारा नियुक्ति की जाय, सेना के लिए खर्च की मंजूरी पार्लमेंट ही करे, और समाचार-पत्र विधान के प्रति अवज्ञा को प्रकट करने के लिए स्वतंत्र रहें। परन्तु तानाशाही में इन सुविधाओं का अभाव होता है। यदि तानाशाही बहुमत का निर्णय मानने को तैयार हो तो फिर उसे तानाशाही कौन कहेगा? जनता का समर्थन प्राप्त न होने के कारण ही तानाशाही को लोकतंत्री सत्ता की अपेक्षा सेना पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। इससे सेना का महत्त्व बढ़ जाता है। युद्ध से पूर्व जापान में सेना का ही शासन था। हिटलर को अपने सेनापतियों पर सदा कड़ी दृष्टि रखनी पड़ती थी। सेनापति हिटलर का आदेश मानते थे। अन्य कितने ही विशेषज्ञों के निर्णय के विरुद्ध उन्होंने सेना को युद्ध में फंसा दिया था, किन्तु कितने ही सेनापतियों ने हिटलर को साथ नहीं दिया और अन्त में उसे मार डालने का षड्यंत्र भी किया। मुसोलिनी को भी सेना के साथ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। स्पेन, आर्जेन्टाइना तथा अन्य देशों में तानाशाहियों को सदा सेना से भयभीत होकर रहना पड़ता है।

फिर रूस में तो लोकप्रिय होने के कारण सेना का और भी अधिक महत्त्व है। यह वास्तव में जनता की सेना है और जनता उसे चाहती भी है। सोवियत् तानाशाही तो एक भावनाहीन शस्त्र है और स्टालिन, मोलोटोव,

ज़ेनोव, एंड्रीयेव या मालेनकाव में से कोई भी सोवियत् नेता जन-साधारण के सम्पर्क में भी नहीं आ पाया है। इसके विपरीत, लाल सेना भावना पर आधारित है। उसके मार्शल तथा जनरल, तुख़ाचेवस्की, तिमोशेंको, जुकोव तथा अन्य सेनापति अपने समय में जनता के बड़े प्रेम-पात्र रहे हैं।

लाल सेना के सम्बन्ध में स्टालिन की कठिनाई पर प्रकाश डालने के लिए दो सेनापतियों—जनरल बोरिस एम० शेपोशनिकोव और मार्शल माइकल एन० तुख़ाचेवस्की से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का उल्लेख कर देना असंगत न होगा।

शेपोशनिकोव का जन्म १८८२ में हुआ था और वह ज़ार की सेना में एक कर्नल था। उसने सैनिक कार्य पेशे के रूप में ग्रहण किया था और राजनीति में उसे दिलचस्पी न थी। पहले वह कम्युनिस्ट दल में शामिल नहीं हुआ था, किन्तु १९३० में अपने उच्च-पद के कारण उसके लिए ऐसा करना आवश्यक होगया।

ज़ारशाही के हजारों दूसरे अफसरों की तरह वह लालसेना में इसलिए भरती हुआ था कि एक देशभक्त के रूप में देश की रक्षा करते हुए शत्रु से लड़ सके।

तुख़ाचेवस्की का जन्म १८९३ में हुआ था। वह नई पीढ़ी का था। वह ज़ार की सेना में लेफ्टिनेंट था और १९१८ में कम्युनिस्ट दल में शामिल हो गया था। उन दिनों दल में सम्मिलित होना बड़ी जिम्मेदारी और ख़तरे का काम था। २७ वर्ष की अवस्था में तुख़ाचेवस्की ने पोलैंड के भीतर वारसा के द्वार तक लालसेना की विजय-यात्रा का नेतृत्व किया। यूरोप में उसे "आधुनिक नेपोलियन" का नाम दिया गया। परन्तु तुख़ाचेवस्की पहले दर्जे का सेनापति होने के साथ-ही-साथ राजनीतिक दृष्टि से विचारशील भी था। लाल सेना के युवा कम्युनिस्ट-अफसर उसे अपना नेता मानते थे।

क्रमशः लालसेना में दो दल हो गए। एक में राजनीति में दिलचस्पी न रखने वाले पुराने सैन्य विशेषज्ञ थे, जिनका नेता शेपोशनिकोव था। दूसरे दल में तुख़ाचेवस्की जैसे युवा कम्युनिस्ट अफ़सर थे। दोनों दलों में प्रतिस्पर्धा बढ़ी, जिसमें स्टालिन ने शेपोशनिकोव का पक्ष लिया।

१९३६ में शेपोशनिकोव को लालसेना का चीफ ऑफ स्टाफ नियुक्त किया गया। परन्तु तुख़ाचेवस्की के अनुयायी-अफसरों के विरोध करने पर उसे वोल्गा ज़िले में एक छोटे पद पर बदल दिया गया। साथ ही तुख़ाचेवस्की को चीफ़ आफ स्टाफ बना दिया गया।

१९३७ में तुखाचेवस्की को भी हटाकर वोल्गा जिले में एक छोटे पद पर बदल दिया गया और उसके स्थान पर फिर शेपोशनिकोव को चीफ़ आफ स्टाफ नियुक्त किया गया।

उसी वर्ष १२ जून को तुखाचेवस्की तथा आठ सर्वोच्च जनरलों और मार्शलों को षड्यंत्र करने के अभियोग में, जो प्रमाणित न हो सका था, प्राण-दंड दे दिया गया। ११ मई के जिस आदेश के द्वारा तुखाचेवस्की को वोल्गा जिले में भेजा गया था उसी आदेश के द्वारा सेना के साथ राजनीतिक कमिसार रखने की प्रथा फिर जारी कर दी गई। कमिसार ग़ैरसैनिक अफसर होते थे। सेना के अधिकार उनके तथा सैन्य अफसरों के बीच बंटे थे—यहां तक कि कभी-कभी वे सेना के अफसरों के आदेशों को रद्द भी कर देते थे। 'प्रवदा' के शब्दों में कमिसार "सेना में कम्युनिस्ट दल की आंखें और कान" थे। वास्तव में दल और आगपू का उद्देश्य तुखाचेवस्की के मृत्यु-दण्ड के बाद उसके अनुयायी-अफसरों पर कड़ी नज़र रखने का था।

सेना के अफसर कमिसार रखे जाने के विरुद्ध थे और वे शेपोशनिकोव को भी नहीं चाहते थे। १० अगस्त १९४० को शेपोशनिकोव को चीफ़ आफ स्टाफ के पद से अलग कर दिया गया। १२ अगस्त को कमिसार नियुक्त करने की प्रथा भी तोड़ दी गई।

कमिसार शेपोशनिकोव के साथ आये थे और उसी के साथ गये।

जुलाई १९४१ में जब कि लालसेना जर्मनों से मार खाकर पीछे हट रही थी और अफसरों का प्रभाव घट रहा था, कमिसारों को फिर रखा गया। १ नवम्बर १९४१ में, जब जर्मन-सेना मास्को के द्वार पर पहुंच गई थी, शेपोशनिकोव को फिर चीफ़ आफ स्टाफ बनाया गया।

स्टालिन की चालों में कोई नवीन सूझ-बूझ नहीं दिखाई देती, किन्तु बार-बार दोहराये जाने के कारण उनका चमत्कार बढ़ जाता है। इसी तरह स्टालिन के युद्धकालीन भाषणों तथा युद्ध-आदेशों में जो दृष्टिकोण ग्रहण किया गया था उसमें भी कोई विशेषता नहीं थी। अपनी युद्ध-समीक्षाओं में उसने एक विषय को सदा एक ही प्रकार उपस्थित किया है। यही कारण है कि वे हमें स्कूली बालकों को पढ़ाये जाने वाले संक्षिप्त विवरणों से अधिक और कुछ नहीं जान पड़तीं। उन समीक्षाओं में नवीन विचार-धारा अथवा साहसपूर्ण विश्लेषण का अभाव ही रहता है। इस पिष्टपेषण में ही उसकी शक्ति छिपी हुई है। स्टालिन में बौद्धिक-ज्ञान अधिक न होने के कारण उसकी ध्वनि में अहम्मन्यता या घमंड का लेश नहीं रहता। दूसरे व्यक्ति द्वारा यह कह सकने की सम्भावना

कि स्टालिन यह पहले कह अथवा कर चुका है, तानाशाह को कभी परेशान नहीं करती और न ऐसा खयाल ही कभी उसके मन में उठता है। एक बात के बार-बार दुहराने से स्टालिन की इस कमजोरी पर प्रकाश भले ही पड़ता हो, किन्तु उसका शिकार जो भी कोई बनता है उस की सुध-बुध जाती रहती है।

स्टालिन ने यागोदा को गुप्तचर पुलिस विभाग में आगे बढ़ने से दो बार रोका। सेना में राजनीतिक विचार वाले अफसरों की रोक-थाम के लिए स्टालिन ने कमिसारों को तीन बार रखा। एक ही कार्य वह एक हीं ढंग से कितनी ही बार करता है।

१० अक्टूबर, १९४२ को स्टालिन ने क़मिसारों को एक बार फिर हटाया और सेना-नायकों के हाथ में पूरे अधिकार सौंप दिये। इससे उनके अधिकारों पर तहरीरी छाप लग गई। स्टालिन ने सेना में जिस विशेष वर्ग को जन्म दिया था उसके आगे युद्ध-परिस्थिति के कारण स्वयं उसी को सिर झुकाना पड़ा। जर्मनी के साथ युद्ध के मध्य में वह उसका दमन नहीं कर सकता था।

यद्यपि स्टालिन अफसरों के आगे झुक गया था फिर भी वह अन्य उपाय करने से चूका नहीं। वह सेनापतियों को अक्सर बदल दिया करता और छोटे अफसरों का समर्थन पाने की चेष्टा करने लगा। यह ख़याल करके सैनिक अपने सेनापतियों के प्रभाव में रहते ही हैं, स्टालिन ने ग़ैर-सैनिक कम्युनिस्ट नेताओं को सेना में उच्च-पद देना आरम्भ कर दिया। एंड्री ए० ज़ेनाव को कर्नल-जनरल तथा यूक्रेन की कम्यनिस्ट दल के नेता एन० ख़ुशचेव को लेफ्टीनेन्ट जनरल का पद दे दिया गया। उसने इस बात की विशेष सावधानी रखी कि कोई प्रथम श्रेणी का सेनापति सर्वोच्च पोलिटब्यूरो में न आने पाय। परन्तु आगपू का प्रधान उसमें उप-सदस्य के रूप में रख लिया गया। यद्यपि वह एक भी मोर्चे पर नहीं लड़ा था, फिर भी उसे मार्शल का पद देकर सर्वोच्च सेना-पतियों के समकक्ष बना दिया गया। स्टालिन नहीं चाहता था कि लाल सेना आगपू से बढ़ जाय। स्टालिन ने स्वयं अपने को प्रधान सेनापति के पद से विभूषित किया।

वाल्टर केर रूस के सम्बन्ध में ऐसी छोटी-छोटी बातों का उल्लेख करने के लिए प्रसिद्ध है, जिनसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। १९४२ में उसने 'न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून' के १८ नवम्बर वाले अंक में मास्को से भेजा हुआ अपना एक लेख प्रकाशित कराया था। इसमें उसने लिखा था कि सोवियत् पत्रों में जहाँ सोवियत्-संघ के १४ ग़ैर-सैनिक नेताओं के नामों का अक्सर

उल्लेख होता है, वहां सेना के सर्वोच्च सेनापतियों, जैसे जनरल जुकोव, मार्शल तिमोशेंको, मार्शल शेपोशनिकोव और मार्शल बुडेनी की कभी भी चर्चा नहीं रहती। बात यह है कि स्टालिन सेनापतियों को अधिक लोकप्रिय नहीं होने देना चाहता और न वह यही चाहता है कि उन्हें विजयों के लिए अधिक श्रेय मिले।

राजनीति का चतुर कलाकार स्टालिन अनेक कठिनाइयों के बावजूद युद्धकाल में सेना पर अधिकार बनाये रख सका है। शान्ति में तो तानाशाह का कार्य और भी सरल हो जाता है।

परन्तु स्टालिन रूसी सैन्यवाद का विकास रोक नहीं सका है और न इसका कोई प्रमाण है कि वह उसे रोकना चाहता था। कितने ही रूसी कूटनीतिज्ञ हमें सैनिक वर्दियों में दिखाई देते हैं। कितने ही एडमिरल और जनरल कूटनीतिक पदों पर काम कर रहे हैं। १९४० में ३० अगस्त को 'प्रवदा' ने लिखा था "सेनानायक का पेशा देश में सबसे सम्मानपूर्ण माना जाता है।" युवकों को सेना में जाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। सोवियत् स्कूलों में सह-शिक्षा को जो बंद कर दिया गया है उसका कारण यह है कि लड़कों की सैन्य-शिक्षा स्कूलों में आरम्भ हो जाती है और ऐसी परिस्थिति में लड़कियों के स्कूलों का अलग होना ही उचित है। जनरल जॉन आर० डीन का, जो मास्को में अमरीकी सेना के प्रतिनिधि थे, कहना है कि लालसेना की शान्ति-कालीन संख्या ४०,००,००० निर्धारित की गई है, किन्तु देश की आर्थिक अवस्था देखते हुए यह संख्या अधिक है। इतनी विशाल स्थल-सेना बनाये रखने और नौ-सेना का स्टालिन के आदेशों के अनुसार विस्तार करने का मतलब यह होगा कि विशेष सुविधाओं का उपभोग करने वाले तथा राजनीतिक आकांक्षाएं रखने वाले अनेक अफसर देश भर में फैले रहेंगे। इसका यह भी मतलब होगा कि सोवियत् प्रचारकों को रूसी जनता से यह कहने का अवसर मिल जायगा कि देश को विदेशी शत्रुओं से खतरा है और इसलिए लोगों को चाहिए कि राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए कोई प्रयत्न बाकी न छोड़ें। इस प्रकार रूस में घबराहट तथा थकान का वातावरण बना ही रहेगा।

१८१३ में रूस की एक जारशाही सेना ने पेरिस में प्रवेश किया था। उस समय रूसी अफसरों तथा सैनिकों ने यूरोप देखा था। उसे देखकर अपने देश की पिछड़ी हुई अवस्था निर्धनता तथा अत्याचारों के प्रति उनकी आंखें खुल गईं। १८२५ में फ्रांस की क्रांति से प्रेरणा पाकर कुछ रूसी अफसरों ने प्रसिद्ध डिसेम्ब्रिस्ट-क्रान्ति कर डाली। विद्रोह असफल रहा, किन्तु जनता के

मस्तिष्क से उसकी स्मृति कभी नहीं मिटी।

अब एक दूसरी रूसी सेना यूरोप देख चुकी है। यद्यपि यह बम-वर्षा से ध्वस्त, भूखा, फटे हाल, सुस्त, संकट-ग्रस्त, दुखी तथा दुविधा में पड़ा यूरोप था, फिर भी रूसी सैनिकों तथा अफसरों को वह अपनी मातृभूमि से अधिक सुखद, अधिक प्रगतिशील तथा अधिक स्वाधीन लगा। रूसी अधिकारियों ने इसे देखा और वे कुछ चिन्तित हो उठे। सितम्बर १९४४ में एक दिन "प्रवदा" ने एक छः कालम का लेख प्रकाशित किया, जो लालसेना के साथ बुख़ारेस्ट जाने वाले विशेष युद्ध-संवाददाता की कलम से लिखा गया था। इसमें रूसी सैनिक से अनुरोध किया गया था कि उसे इस "बेढंगे प्रकाश" से चकाचौंध में न आना चाहिए। १९४५ के अक्तूबर मास में रूसी उपन्यासकार सिमोनेव ने इस विषय को लालसेना के मुखपत्र "रेड स्टार" में दुबारा उठाते हुए रूसी सैनिक से अनुरोध किया कि विलासितापूर्ण नागरिक जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा देश के लिए त्याग करना कहीं उत्तम है। इस अनुरोध का प्रभाव न पड़ने का अनुमान करके सिमोनोव ने यह भी आश्वासन दिया कि भविष्य में सोवियत् नागरिकों के लिए अधिक उत्तम सामग्री जुटाई जायगी।

यूरोप की अवस्था देखने से लालसेना की जो आंखें खुली हैं उसके परिणामस्वरूप अब वह जनता की आर्थिक अवस्था में सुधार के लिए जोर डालेगी। रूस की मौजूदा हालत ऐसी नहीं। ऐसी अवस्था में जनता के रहन-सहन के दर्जे में उसी हालत में सुधार किया जा सकता है, जब कि लालसेना के लिए आवश्यक व्यवसायों तथा धनराशि की दिशा बदल दी जाय,यह स्टालिन के लिए सबसे ताजी समस्या है।

कल्पना कीजिये कि स्टालिन की मृत्यु हो जाती है। इस प्रश्न पर समस्त लोकतंत्रीय संसार में विवाद हो चुका है! किसी एक व्यक्ति की सम्भावित मृत्यु के सम्बन्ध में शायद ही कभी इतनी बहस छिड़ी हो—उससे शायद ही कभी इतनी आशाएं की गई हों। क्या स्टालिन की मृत्यु के बाद लालसेना अधिकार ग्रहण कर लेगी? क्या वह उसके उत्तराधिकारी का चुनाव करेगी; इन प्रश्नों का उत्तर "न" ही हो सकता है।

किसी भी व्यक्ति के साथ उसके कार्यों का अंत नहीं हो जाता। वह अपनी विरासत छोड़ जाता है और स्टालिन की विरासत तो सचमुच बहुत ही बड़ी है। उसके बीस वर्ष के शासन के परिणाम को तुरंत मिटाया नहीं जा सकता। विशेषकर इस हालत में और भी जब कि उसके कार्यों ने भौगोलिक, मानसिक तथा संस्थाओं का रूप-धारण कर लिया हो। स्टालिन ने मानचित्र ही

बदल दिया है। यह मानचित्र अभी बना हुआ है। उसने मस्तिष्कों का पुनः संस्कार किया है। यह भी आसानी से नहीं बदला जा सकता। उसने निजी पूंजीवाद को नष्ट करके उसका स्थान राज्य को दिया। इस मौजूदा हालत में तबदीली करने का शायद ही कोई नेता साहस करेगा।

स्टालिन के मरने पर सोवियत् प्रणाली में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने की कोई आशा नहीं है। लेनिन के मरने पर रूस में घमासान लड़ाइयाँ छिड़ गईं। ये काफी अरसे तक चलीं और पहले दर्जे के सभी बोलशेविक नेताओं ने उसमें भाग लिया। परन्तु बोलशेविक सत्ता के लिए कभी भी खतरा नहीं उपस्थित हुआ। देश भर में इस समस्या को लेकर बहस छिड़ गई। नेता तथा साधारण लोग खुलकर तर्क-वितर्क करने लगे। आज दल क्रेमलिन (सोवियत् सरकार) के कार्यों की साधन बन गई है। उसकी आत्मा मर चुकी है।

स्टालिन की मृत्यु पर उसके इर्द-गिर्द रहने वाले नेताओं की मंडली के बाहर राजनीतिक संघर्ष होने की सम्भावना नहीं है। यदि स्टालिन ने अपना उत्तमराधिकारी चुना, जैसा कि मुझे आशा है वह करेगा, तो उसके फैसले को केवल आगपू ही बदल सकता है, सेना नहीं।

आगपू लालसेना की अपेक्षा छोटा है और इसमें सैनिक भी कम हैं। फिर भी राजनीतिक शक्ति उसके हाथ में अधिक है। स्टालिन और उसका आगपू सदा लालसेना को मुंह की खिला सकते हैं; जिस तरह हिटलर और हिमलर मिलकर राजनीतिक संघर्ष में जर्मन-सेना को परास्त कर सकते थे। यही कारण था कि स्टालिन तुखाचेवस्की तथा लालसेना के प्रमुख सेनापतियों को मृत्यु के घाट उतार सका था। इस संगीन घटना को सोवियत् इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना कह सकते हैं, किन्तु इसमें आवश्यकता केवल यही पड़ी कि आगपू के सैनिकों ने सूचा में निशान लगे ६ जनरलों तथा मार्शलों के मकान घेर लिये। यदि जनरल षड्यंत्र कर रहे थे तो उन्हें अपने सैनिकों के बीच रहना चाहिए था और गिरफ्तार किये जाते समय लड़ना चाहिए था। परन्तु सम्भवतः ये लोग सोते हुए मिले और आगपू के सैनिकों ने उन्हें जगाया। सेनापतियों में से एक, जनरल गमार्निक बोलशेविक गृह-युद्ध में बड़ी वीरता से लड़ा था और सेना में राजनीतिक शिक्षा का डाइरेक्टर था। उसके सम्बन्ध में प्रकाशित सरकारी समाचार में कहा गया था कि गुप्तचर पुलिस के बुलाने पर उसने आत्म-हत्या कर ली। अन्य जनरल भी जानते थे कि उनके आगे दो ही मार्ग हैं, एक तो यह कि अपने रिवाल्वर से मुँह में गोली मारकर मर जायं और दूसरा यह कि आगपू के रिवाल्वर से पीछे गर्दन में गोली खाकर मरें।

इस ख्याल से कि मृत्यु जितनी देर के लिए टले, अच्छा है—इन लोगों ने आगपू के ही हाथों मरना उत्तम समझा।

स्पष्ट है कि डिक्टेटर की स्थिति सेना की तुलना में अधिक लाभपूर्ण है। सेना का कोई वर्ग सत्ता प्राप्त करने के लिए या तो गुप्त षड्यंत्र कर सकता है और या तानाशाही पर दबाव डाल सकता है किन्तु दबाव डालने पर गुप्तचर पुलिस असंतुष्ट व्यक्तियों का सफाया करके तानाशाह के रास्ते का कांटा दूर कर सकती है।

ऐसी अवस्था में लालसेना के असंतुष्ट व्यक्तियों के आगे दो ही रास्ते हैं—सशस्त्र विद्रोह अथवा मौन आज्ञा-पालन। चंद अफसर स्टालिन या उसके उत्तराधिकारी के विरुद्ध विद्रोह कर सकते हैं या एक ही अफसर तानाशाह की हत्या की चेष्टा कर सकता है; परन्तु स्टालिन की खूब देख-रेख की जाती है। स्टालिन के सामने उपस्थित होने से पूर्व लाल-सेना के जलरल तक को तलाशी देनी पड़ता है। सलिए किसी एक व्यक्ति द्वारा हत्या होने की सम्भावना कम है, यद्यपि उसे असमय नहीं कहा जा सकता। साथ ही यह भी मानी हुई बात है कि हत्यारों या षड्यंत्र-समिति के सदस्यों को अपने उद्देश्य में सफलता मिले या नहीं, किन्तु वे अपने-अपने परिवारों, मित्रों, सहयोगियों तथा जान-पहचान वालों तक के प्राणों को संकट में डाल देंगे। विद्रोह के लिए अखिल राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता पड़ेगी। इतना ही नहीं, षड्यंत्रकारियों को विभिन्न क्षेत्रों के सेनापतियों से सलाह लेनी पड़ेगी।

लाल सेना का एक जनरल षड्यंत्र की बात सेना के अपने किसी मित्र से कर सकता है। वे दोनों एक तीलरे व्यक्ति से बातें कर सकते हैं। परन्तु यदि वे तीनों किसी चौथे या पांचवें आदमी से बात करें तो उसके मन में सहसा प्रश्न उठेगा—"क्या ये मेरी परीक्षा कर रहे हैं? क्या ये आगपू के लिए पता लगाना चाहते हैं कि मैं कितना राजभक्त हूं। यदि मैं उनकी शिकायत नहीं करता तो ये मेरी शिकायत कर देंगे।" इसलिए अपनी हिफ़ाज़त के खयाल से वह उनकी शिकायत पुलिस से कर देगा। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक दफ्तर और रेजिमेंट में गुप्तचर पुलिस के भेदिये रहते हैं, जो अधिकारियों के विरुद्ध होने वाले षड्यंत्र का भंडाफोड़ करने को उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार रूस में शक्ति की कुंजी आगपू के हाथ में है। सोवियत् संघ से सशस्त्र विद्रोह भी बड़ी भारी बाज़ी लगाने के समान हैं। उच्च आदर्शवादी या दुस्साहसी लोग ही ऐसा कर सकते हैं और यह प्रायः निश्चित है कि वे असफल होंगे।

आगपू का लाल सेना के ऊपर जो अधिकार है उससे दोनों में दुर्भावना

बनी रहती है। कहीं-कहीं एक ही प्रकार के कार्य करने के कारण उनके मध्य शत्रुता बढ़ गई है। आगपू और लाल सेना दोनों के गुप्तचर विदेशों में काम करते हैं। सोवियत् सीमा पर आगपू का पहरा है। इससे कुछ पीछे लाल सेना की चौकियां हैं। जिन सरकारों के विभाग अधिक-से-अधिक सहयोग पूर्वक काम करते हैं उनमें भी कार्यक्षेत्र सम्बन्धी विवाद उठ खड़े होते हैं। सेना में आगपू के विरुद्ध जो असंतोष है उसका एक कारण यह भी है कि वह सेना में अपने गुप्तचर रखता है और सेना के अफसरों को गिरफ्तार कर सकता है।

यह भविष्यवाणी करना मूर्खता होगी कि स्टालिन से कम चतुर तानाशाह आगपू अथवा सेना पर नियंत्रण रखने में समर्थ न हो सकेगा। गुप्तचर पुलिस तानाशाह के सामने षड्यंत्र अथवा शत्रु का पता लगा कर अपना महत्व सिद्ध कर सकती है। सेना विदेश में युद्ध छेड़ कर स्वदेश में अपनी राजनीतिक शक्ति बदल सकती है।

लालसेना के आगपू विरोधी होने के कारण कुछ लोगों ने आशा की है कि लाल सेना रूस को अधिक लोकतंत्री बना सकेगी, क्योंकि आगपू पर विजय वास्तव में उसके आतंकवादी उपायों तथा व्यक्तिगत जीवन पर आक्रमण करने के असीम अधिकारों पर विजय प्राप्त करने के समान होगा। अब तक इसका कोई भी लक्षण प्रकट नहीं हुआ है कि लालसेना अथवा अन्य कोई संगठन सोवियत् रूस में लोकतंत्र की वृद्धि करेगा। मैं चाहता हूं कि रूस के समाचार पत्र इस दिशा में कुछ करें। इस सम्बन्त्र में कोई लक्षण देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगा। रूस में लोकतंत्र की स्थापना होने से सोवियत् राष्ट्र और हमारा यह संसार ख़तरे से अधिक ख़ाली हो जायगा।

रूसी अधिकारियों ने जो यह नीति ग्रहण की है कि वहां पहले ही लोकतन्त्र है, इससे स्टालिन के बाद भी लोकतन्त्र स्थापित होने की आशा क्षीण हो गई है। बोलशेविक शासन के शुरू के दिनों में लोकतंत्र को ध्येय बताया जाता था, किंतु स्वतन्त्रता की मात्रा कम हो जाने के बावजूद अब सरकार कहती है कि रूस में लोकतंत्र पहले ही से मौजूद है। यदि स्वाधीनता के अभाव को सरकारी तौर पर स्वाधीनता बताया जा रहा है तो स्वाधीनता के लिए आन्दोलन को कैसे सहन किया जा सकेगा? उसे तो स्वाधीनता पर हमला ही बताया जायगा।

मास्को के "न्यूटाइम्स" ने जनवरी, १९४६ में कहा था कि रूमानिया तथा बलगारिया की पश्चिमी लोकतंत्र के निगूढ़ सिद्धान्तों से रक्षा होनी चाहिए। उस का यह भी कहना था कि आजकल ये देश ठोस रूसी लोकतन्त्र का उपभोग कर रहे हैं, किन्तु मि० बेविन उस पर पश्चिमी ढंग का लोकतंत्र

लादना चाहते हैं। पश्चिमी लोकतन्त्र के सिद्धान्त निगूढ़ हो सकते हैं, किन्तु वे निगूढ़ केवल उन्हीं के लिए हैं, जो उनका उपभोग नहीं करते। उनमें जा भी कुछ अच्छा है, बहुत अच्छा है। परन्तु स्टालिन ने अब तक जिस प्रकार स्वतन्त्र चुनावों, स्वतन्त्र सभाओं, स्वतन्त्र मजदूर सभाओं, स्वतंत्र अदालतों, स्वतंत्र भाषणों और स्वतन्त्र समाचार पत्रों के अभिशाप से रूस को बचाया है उसी तरह इन बुराइयों से वह रूमानिया और बलगारिया की भी रक्षा करना चाहता है। स्टालिन राज्य के हाथ में पूरा अधिकार देना चाहता है।

एक ऐसा राज्य, जो व्यक्ति को न तो राजनीतिक अधिकार देता है और न उसके सुख-सुविधा के सामान ही जुटा पाता है, आखिर उसे क्या देता है ? उसने सोवियत् नागरिक को राष्ट्रीयता दी है। उसने नागरिक की छाती पर पदक लगाये हैं, उसे मूर्ति दी है कि कहीं वह मूर्ति-भंजक न बन जाय। राज्य ने अधिक संतान उत्पन्न करने तथा निर्धनों के लिए तलाक की सुविधाएं उपलब्ध न करने के संदिग्ध तरीकों द्वारा पारिवारिक बंधनों को अधिक दृढ़ बनाने की चेष्टा की है। उसने सरकार की सामाजिक सफलताओं का डंका पीटा है और पश्चिमी देशों के "पूंजीवादी गुलामों" द्वारा सहन किये जाने वाले कष्टों' से उनकी तुलना की है। उस राज्य ने अपने नागरिकों को त्यौहारों के रूप में सर्कस, कार्नीवाल, हवाई तमाशे और साइबेरिया के आरपार होनेवाली उड़ानें दी हैं और समाचारपत्रों नें इनकी प्रशंसा में धूम मचा दी है और अपने आधे कालम भर दिये हैं, जैसे अन्य किसी देश ने कभी ऐसी उड़ानें, ऐसी परेडें और ऐसे तमाशे कभी देखे ही न हों।

सभी देशों के तानाशाहों ने अपने यहां के लोगों का ध्यान बटाने के लिए तरह-तरह के तरीकों से काम लिया है, किन्तु स्टालिन ने तो उसे ललित-कला का रूप दे दिया है।

कभी-कभी जनता का ध्यान उसके कठोर जीवन से हटानें के लिए कूटनीतिक तथा सैनिक विजयों का आसरा लिया जाता है। नाजियों, इटालियन फासिस्टों और जापानी सेनावादियों को अपनी जनता पर नियंत्रण रखने के लिए विदेशों में विजय पाने की जरूरत हुई थी। उन्होंने युद्ध का एक देन के रूप में स्वागत किया था। १९३४ में मुसोलिनी ने लिखा था—"केवल युद्ध ही मनुष्य की शक्ति का प्रदर्शन चरम-सीमा पर पहुंचाता है और जो राष्ट्र उसका सामना खुलकर करता है उस पर वह श्रेष्ठता की छाप लगा देता है।" स्टालिन ने ऐसी मूर्खतापूर्ण बात कभी नहीं कही है और न बालशेविकों ने कभी उसका प्रचार ही किया है।

दार्शनिकों ने कुछ राष्ट्रों की आक्रामक प्रवृत्तियों की जिम्मेदारी उनके दार्शनिकों पर लादी है। मनोविज्ञान के पंडितों ने इन प्रवृत्तियों का कारण राष्ट्रीय आघात, मानसिक अव्यवस्था या बर्बर अवस्था को बताया ह। मूल कारण जो भी हो, हाल के इतिहास से पता चलता है कि यदि अधिकार तानाशाहियों के हाथ में न हो तो इन प्रवृत्तियों के रहते हुए भी युद्ध नहीं छिड़ते। सोवियत् रूस ने दार्शनिक न रहने पर भी हमला किया है।

दूसरा महायुद्ध छेड़ने की जिम्मेदारी तानाशाहियों पर है और लोकतंत्रों ने खुशामद करके तथा तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण करके उसमें तानाशाहियों की सहायता की है। तुष्टीकरण का मतलब है शक्ति का परित्याग; और ह बुद्धि के परित्याग का परिणाम है। हिटलर के शुरू के दिनों से ही भौतिक शक्ति अधिक होने पर भी लोकतंत्र तानाशाहियों के आक्रमण से भयभीत होकर पीछे ही हटते रहे हैं।

जहां तक हिटलर, मुसोलिनी और हिरोहितो का सम्बन्ध है, लोकतन्त्रों की पृष्ठगति भौतिक थी; वे बढ़े, हम पीछे हटे। इस तरह हमने तानाशाहों की शक्ति उनके देशों में बढ़ा दी। उनका घृणा हमारे प्रति बढ़ गई। वे सोचने लगे कि वे दुनिया को जीत सकते हैं।

जहां तक स्टालिन का सम्बन्ध है, पश्चिमी महाशक्तियों की पृष्ठगति भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक भी है। हम उसके सामने झुकते ही नहीं, हम उसका मान भी बढ़ाते हैं। यह हमारे युग की सबसे चकित करने वाली बात है।

रूस के इस पुत्र स्टालिन ने अपने महाद्वीप पर जादू कर रखा है और यूरोप पर भी प्रभाव जमा दिया है। रूस तथा साम्यवाद के मित्रों द्वारा उसका प्रभाव अमरीका के प्रत्येक कोने में फैल गया है। अन्य किसी एक व्यक्ति का (पोप को छोड़कर--और इसलिए उन दोनों की शत्रुता भी है) संसार के इतने अधिक व्यक्तियों के जीवनों पर ऐसा प्रभाव नहीं है।

स्टालिन का इतना अधिक अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव उसकी अपनी योग्यता, उसके देश की शक्ति तथा सफलताओं तथा पश्चिमी संसार के बौद्धिक दिवालियेपन और राजनीतिक अव्यवस्था के कारण हैं। पूंजीवाद को स्वयं अपने ही पर विश्वास नहीं है। अपनी कमियों के कारण वह अपने बुद्धिवादियों पर भी नियंत्रण नहीं रख सकता। लोकतंत्रवाद अनिश्चित् तथा अरक्षित है। स्टालिन पश्चिम की भीतरी नैतिक कमजोरी को जान गया है और इसी आधार पर वह अपनी विदेश-नीति की रूपरेखा निर्धारित करता है।

: १९ :
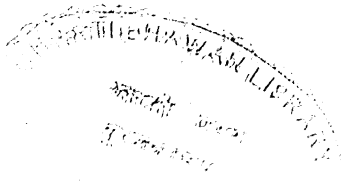
रूज़वेल्ट, चर्चिल और स्टालिन के शान्ति-प्रयत्न

आखिर युद्ध-नेता ही सुलह करने वाले बने। अभी लड़ाई चल ही रही थी कि उन्होंने शांति के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

जिन शांति सम्मेलनों को वास्तविक महत्व का कहा जा सकता है उनमें पहला तेहरान (दिसम्बर, १९४३) में, दूसरा क्रीमिया (फरवरी, १९४५) में और तीसरा पोट्सडम (जुलाई-अगस्त १९४५) में हुआ था। युद्ध के दौरान में और उनके बाद रूज़वेल्ट, चर्चिल तथा स्टालिन की अन्य जितनी भी बैठकें हुईं, उनमें तेहरान और मास्को वाली बातचीत में तैयार की हुई योजना को ही आगे बढ़ाया गया था।

साधारण तौर पर होता यह है कि पहले युद्ध में विजय प्राप्त कर ली जाती है और फिर कहीं शांति की रूप-रेखा तैयार की जाती है। शायद रूज़वेल्ट और चर्चिल भी यही करते। अमरीकी सरकार के प्रधान अधिकारी कार्डेल हल ने १८ नवम्बर, १९४३ के दिन कांग्रेस को बतलाया था कि अमरीकी सरकार युद्ध समाप्त होने से पूर्व सीमा सम्बन्धी कोई विवाद न उठाना चाहेगी। परन्तु इसमें रूस को कोई लाभ न था। शान्तिकालीन व्यवस्था का निर्णय वे देश नहीं किया करते, जिन्होंने विजय प्राप्त करने में सबसे अधिक हाथ बटाया हो बल्कि वे देश करते हैं जिनमें युद्ध समाप्त होने के उपरान्त सबसे अधिक शक्ति बची रहती है। स्टालिन जानता था कि जन तथा धन के नाश के कारण रूस कमज़ोर हो जायगा। वह यह भी अनुभव करता था कि जब तक युद्ध के लिए रूस की सहायता का महत्व रहेगा तभी तक वह अन्य मित्रराष्ट्रों को अपनी बात मानने के लिए विवश कर सकता है, किन्तु युद्ध समाप्त होने पर वही यह बोल न रह जायगा।

मान लीजिये कि किसी काम में तीन व्यक्ति हिस्सेदार हैं, और वे तीनों मिल कर ही उस काम को कर सकते हैं। यदि ऐसी अवस्था में उनमें से एक हिस्सेदार कोई माँग उपस्थित करे तो अन्य दो हिस्सेदारों को उसकी यह माँग

पूरी करनी पड़ेगी। तेहरान और माल्टा में स्टालिन की यही चाल थी।

परन्तु इंग्लैंड और अमरीका भी तो युद्ध में हिस्सेदार थे। वे रूस पर ज़ोर क्यों न डाल सके ?

स्टालिन जानता था कि अमरीका और इंग्लैंड हिटलर या जापान से सुलह नहीं कर सकते। परन्तु रूज़वेल्ट और चर्चिल को स्टालिन के प्रति उतना विश्वास न था। शान्ति सम्बन्धी व्यवस्था का निर्माण करते समय स्टालिन को यह सबसे बड़ा लाभ प्राप्त था।

अगस्त, १९३९ की सोवियत् नाज़ी-संन्धि संसार के कूटनीतिक क्षेत्र पर अपनी स्थायी छाप छोड़ गई थी। इस से प्रकट हो गया कि नाजियों का कट्टर विरोधी और मिलजुल कर आक्रमणकारी का सामना करने की नीति का पक्षपाती सोवियत् रूस भी जरूरत पड़ने पर नाज़ी जर्मनी के साथ मैत्री और तटस्थता की संधि कर सकता है। रूज़वेल्ट और चर्चिल को यह आशंका निरंतर बनी हुई थी कि कहीं फिर रूस शत्रुओं से संधि न कर ले।

कासब्लांका (जनवरी, १९४३) में रूज़वेल्ट और चर्चिल ने अपनी प्रसिद्ध घोषणा की थी, जिसमें शत्रु से बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण करने को कहा गया था। उस घोषणा में ब्रिटेन और अमरीका ने मिलकर स्पष्ट कर दिया था कि शत्रु के पूर्ण पराजित होने तक वे सुलह न करेंगे। यह घोषणा नारमंडी में मित्रराष्ट्रीय सेना उतरने से १८ महीने पूर्व की गई थी। उस समय तक अमरीकी सेना केवल उत्तरी अफ्रीका में ही अपने पैर जमा पाई थी। इस घोषणा का हिटलर की नीति पर तो क्या प्रभाव पड़ता, बल्कि इससे हिटलर और जर्मनों के लड़ते रहने के संकल्प में वृद्धि होने की ही सम्भावना थी। इसलिए कहा जा सकता है कि यह घोषणा कम-से-कम जर्मनी के लिए नहीं थी। साथ ही वह अमरीकनों का जोश बढ़ाने के लिए भी नहीं थी, क्योंकि जब उन्होंने युद्ध में भाग लेने का निश्चय कर लिया था तो उसे समाप्त करते ही रूज़वेल्ट और चर्चिल ने बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण करने के लिए शत्रु से जो कहा था उसका उद्देश्य यही था कि स्टालिन भी वैसी ही घोषणा करे। परन्तु स्टालिन के लिए ऐसा करना मूर्खता होती। रूज़वेल्ट और चर्चिल ने कासब्लांका में जो कुछ किया उससे स्टालिन के इरादों के सम्बन्ध में उनके संदेह पर प्रकाश पड़ गया। यह स्टालिन भी ताड़ गया और उसने स्थिति से लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। स्टालिन ने शत्रु को आत्म-समर्पण के लिए कहने के स्थान पर उससे बिल्कुल उलटा ही कार्य किया। उसने १ मई, १९४२ को जर्मन सेना तथा जर्मन राष्ट्र के नाम एक अपील निकाली। उस अपील में उसने कहा—"जर्मन सेना को

अपना तथा अन्य राष्ट्रों का खून बहाने के लिए इसलिए नहीं कहा जाता कि इससे जर्मनी का कोई लाभ होगा, बल्कि इसलिए कि जर्मन महाजनों तथा धनाधीशों की तिजोरियां भर सकें······जर्मन राष्ट्र को यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि उसने अपने-आपको जिस स्थिति में फंसा लिया है उससे मुक्ति प्राप्त करने का उसके लिए एक ही उपाय है और वह यह कि हिटलर तथा गोइरिंग जसे लुटेरों के चंगुल से जर्मनी को छुटकारा दिलावे·········हम दूसरे देशों की भूमि पर अधिकार नहीं करना चाहते और न अन्य राष्ट्रों पर विजय पाना ही हमारा उद्देश्य है। हमारा उद्देश्य स्पष्ट तथा सम्मानपूर्ण है। हम अपनी सोवियत् भूमि को जर्मन फाशिस्ट-पशुओं से आज़ाद करना चाहते हैं।"

७ नवम्बर, १९४२ को स्टालिन ने अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा—"हमारा उद्देश्य जर्मनी का नाश करना नहीं है; हमारा उद्देश्य जर्मनी की सेना को भी नष्ट करना नहीं है, क्योंकि रूस की तरह जर्मनी की सेना का विनाश केवल असम्भव ही नहीं वरन् भविष्य को देखते हुए अवांछनीय भी है।"

दूसरे शब्दों म, स्टालिन ने कहा था, जर्मन सेनापतियों को हिटलर के हाथ से शक्ति छीन कर रूस से संधि कर लेनी चाहिए।

चर्चिल ने मास्को पहुंच कर स्टालिन से कहा था कि अभी अंग्रेजों के लिए पश्चिमी यूरोप में फौजें उतार कर दूसरा मोर्चा खोलना सम्भव नहीं है। फिर भी दूसरे मोर्चे के लिए चिल्ल-पों मचती रही। रूसी तथा रूसियों के विदेशी हिमायती निरंतर यही मांग करते रहे। रूस के लिए ऐसा करना स्वाभाविक था। उस समय उसके आगे जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था। इसी अवस्था में नाजी सैनिकों के दूसरे युद्धक्षेत्र में भेजे जाने के रूप में सहायता प्राप्त करने की रूस की मांग बिल्कुल वाजिब थी परन्तु स्टालिन को दूसरे मोर्चे वाली योजना की सूचना दे दी गई थी। ऐसी अवस्था में दूसरे मोर्चे के आन्दोलन से यही मतलब लगाया जा सकता था कि उस समय रूस अपने मित्रों से नाखुश था और उनसे अधिक सहायता चाहता था। इससे यह भी ध्वनि निकलती थी कि मित्र-देशों से सहायता न मिलने पर वह जर्मनी से अलग संधि करके भी अपने कष्टों का अन्त कर सकता था।

१९४३ की ग्रीष्म ऋतु में स्टालिन के इरादों के सम्बन्ध में लंदन तथा वाशिंगटन के हलकों की घबराहट अपनी चरम-सीमा पर पहुंच गई। १२ जुलाई, १९४३ को सोवियत् तत्त्वावधान में स्वाधीन जर्मनी की राष्ट्रीय समिति स्थापित की गई। उसमें रूसमें रहने वाले कुछ जर्मन कम्युनिस्ट, तथा कुछ नाज़ी युद्धबंदी थे। इन युद्धबंदियों में कुछ जर्मन अफ़सर और कुछ जर्मन-सामंत

भी थे, जिन्हें इस विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही जेल से मुक्त किया गया था। समिति नें १० जुलाई को एक घोषणा-पत्र तैयार किया था, जिसकी लाखों प्रतियां लालसेना के वायुयानों ने जर्मन मोर्चों पर बरसाई थीं और फिर उसे मास्को के "प्रवदा" पत्र में भी प्रकाशित किया गया।

घोषणा-पत्र में हिटलरी-सत्ता के स्थान पर एक "वास्तविक-जर्मन राष्ट्रीय सरकार" की स्थापना का अनुरोध किया गया था। उसमें आगे कहा गया था —"यह सरकार युद्ध-कार्य तुरंत बन्द कर देगी, जर्मन सेना को जर्मन सीमा पर वापस बुला लेगी और जीते हुए स्थानों से अधिकार छोड़कर सुलह की बात शुरू कर देगी। इस प्रकार यह शांति प्राप्त करेगी और एक बार फिर जर्मनी को अन्य राष्ट्रों के समकक्ष स्थान दिलायेगी।

"सुलह की बातें" "जर्मनी को अन्य राष्ट्रों के समकक्ष स्थान" यह बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण तो नहीं है।

इस सबको हम हिटलर तथा जर्मन-सेना के बीच फूट डालनें के प्रयत्न कह सकते हैं। परन्तु इसका रूज़वेल्ट और चर्चिल ने यह मतलब नहीं लगाया। ३१ अगस्त १९४३ को चर्चिल ने क्वीवेक में एक भाषण दिया, जिसमें यद्यपि स्टालिन तथा रूस के प्रति सम्मान प्रकट किया गया था किन्तु साथ ही दूसरे मोर्चे की मांग के सम्बन्ध में कटु विचार प्रकट किये गए थे। चर्चिल ने कहा था—"एक समय था जब फ्रांस में हमारा बड़ा अच्छा मोर्चा बना हुआ था, किंतु हिटलर की सेना की केन्द्रित शक्ति के कारण उसकी धज्जियां उड़ गईं। अपना मोर्चा नष्ट करा देना आसान है, किंतु उसे फिर से बनाना कठिन है।" इस प्रकार चर्चिल ने परोक्ष रूप से सोवियत्-नाजी संधि के सम्बन्ध में स्टालिन की नीति की कड़ी आलोचना की थी और विचार प्रकट किया था कि यदि रूस अपनी पहली नीति पर कायम रहता तो फ्रांस की रक्षा हो सकती थी। रूस के साथ समझौता होने के कारण ही जर्मनी फ्रांस के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति युद्ध में झौंक सका था।

इन शब्दों में चर्चिल ने रूस के प्रति अपना असंतोष प्रकट किया। इस से भी अधिक अचम्भे में डालने वाला वक्तव्य उसी वर्ष हैरी हॉपकिन्स ने दिया। रूज़वेल्ट के इस राजनीतिक सलाहकार ने "अमरीकन मैगजीन" में लिखा था—"यदि हम रूस से हाथ धो बैठे तो मेरा विश्वास है कि हम युद्ध हारेंगे नही।" उस समय लालसेना स्टालिनग्राड ले चुकी थी और एक दूसरे मोर्चे पर भी जर्मनों को पीछे हटा रही थी। अब हिटलर के आघातों से रूस की कमर टूट जाने का कोई सवाल न था। उन दिनों पश्चिमी राष्ट्रों की रूस

से हाथ धो बैठने की सम्भावना स्टालिन द्वारा जर्मनी से पृथक् संधि करने की अवस्था ही में उठती थी।

१९ जनवरी, १९४४ को कार्डेल हल ने मुझे बताया था कि पिछले वर्ष वह विदेश मंत्रियों के प्रथम सम्मेलन में भाग लेने के लिए मास्को क्यों गया था। उसने कहा था—"वाशिंगटन, लंदन और चुंगकिंग में रूस तथा जर्मनी के मध्य पृथक् संधि होने की जो अफ़वाहें उड़ रही थीं, मैं उनकी असलियत का पता लगाना चाहता था। इस सम्बन्ध में हम बिल्कुल अंधकार में थे।"

अमरीकी तथा ब्रिटिश सरकारें इस बात के लिए चिन्तित थीं कि कहीं स्टालिन हमारे गुट से अलग न हो जाय। दिसम्बर, १९४३ में अमरीका तथा ब्रिटेन की नीतियों के भीतर तेहरान में यही भावना काम कर रही थी। इससे स्टालिन को बड़ी अनुकूल परिस्थिति मिली। पोलिश भूमि और अन्य जिस भी रियायत की मांग स्टालिन की तरफ से की गई उसके पीछे यह धमकी भी थी कि यदि इन मांगों को अस्वीकार किया गया तो हिटलर के पतन के बाद रूस जर्मनी से संधि कर लेगा।

तेहरान सम्मेलन में स्टालिन की पूर्ण विजय हुई। यही कारण था कि विदेशी कम्युनिस्टों—विशेषकर बाउडर के नेतृत्व में अमरीकी कम्युनिस्ट दल ने तेहरान वाली शर्तों को अपना नारा बना लिया। परन्तु सोवियत् अधिकारियों ने अनुभव किया कि तेहरान सम्मेलन से रूस की भावी नीति स्पष्ट हो गई है, जो ठीक नहीं हुआ। स्टालिन दूसरे पर प्रकट नहीं होने देना चाहता था कि उसकी मंशा क्या है। इसलिए १७ जनवरी, १९४४ को "प्रवदा" के काहिरा-स्थित संवाददाता ने (बाद में प्रकट हुआ कि काहिरा में इस पत्र का तब कोई भी संवाददाता न था) यह विवरण प्रकाशित कराया कि दो "प्रमुख अंग्रेज़" नाज़ी विदेशमंत्री रिबनट्राप से पृथक् संधि की वार्ता चला रहे हैं। "प्रवदा" के इस "निज संवाददाता" ने लिखा था कि उसे यह खबर यूनानी तथा स्लाव सूत्रों से मिली है और रिबनट्राप से वार्ता "आइबीरियन प्रायद्वीप" पर चल रही है।

प्रत्येक लक्षण से प्रकट होता था कि बात बिल्कुल मनघड़ंत है। साधारणतौर पर "प्रवदा" ऐसे मनघड़ंत समाचार नहीं छापता, किंतु इस बार ऐसा विशेष उद्देश्य से किया गया था। अमरीकी तथा ब्रिटिश पत्रों ने इस सवाद को पहले पृष्ठ पर दिया था। महत्व इस अफ़वाह का नहीं था, बल्कि इस बात का था कि "प्रवदा" ने उसे प्रकाशित किया था।

"प्रवदा" का यह सनसनीपूर्ण समाचार जिस दिन अमरीका में प्रकाशित हुआ उस दिन में वाशिंगटन में ही था। मुझे ब्रिटिश राजदूत लार्ड हैलीफ़ैक्स के साथ अकेले चाय पीने का भी अवसर मिला था। लार्ड हैलीफ़ैक्स ने

मुझे देखते ही कहा--"ज़रा बताइये तो, रूसी चाहते क्या हैं ? वे ब्रिटिश सरकार पर जर्मनी के साथ पृथक् संधि करने का आरोप क्यों कर रहे हैं ?" उन नोंदिमें सैक्रेटरी कार्डेल हल, अंडर-सेक्रेटरी स्टेटिनस, असिस्टेंट सेक्रेटरी एडाल्फ ए० बर्ले आदि जिस भी अमरीका या ब्रिटिश राजनीतिज्ञ से मिला; प्रत्येक ने मुझ से यही प्रश्न किया। वे सभी दुविधा में पड़े थे।

मेरे विचार में "प्रवदा" में प्रकाशित समाचार का उद्देश्य यही दुविधा उत्पन्न करना था। कटनातिज्ञ कहते थ--"अंग्रेजों द्वारा जर्मनी से पृथक् संधि की वार्ता का समाचार छाप कर कहीं सोवियत् रूस जर्मनी के साथ ऐसी ही वार्ता का सूत्रपात करने का बहाना तो नहीं खोज रहा।" बस, तेहरान सम्मेलन के बाद रूस के प्रति विश्वास की जो भावना जमी थी, वह लोप हो गई। हमारे कूटनीतिज्ञ दांत पीसने लगे। रूस को फिर मनाना पड़ेगा। उसका किसी प्रकार विरोध न होना चाहिए। ऐसे वातावरण में रूज़वेल्ट और चर्चिल से प्राप्त रियायतों को हज़म करके स्टालिन नई माँगें पेश कर सकता था। इसी कारण उधार-पट्टा-प्रणाली के अन्तर्गत अमरीका से जितनी सामग्री की आशा स्टालिन को थी, उससे कुछ अधिकप्राप्त हुई।

१९४३ में जब रूस ने लड़ाइयां जीतना आरम्भ कर दीं तो पृथक् सोवियत्-जर्मन संधि की आशंका और भी बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि स्टालिन ने तेहरान में इंग्लैंड और अमरीका से मनचाही शर्तें प्राप्त करलीं। बाद में लालसेना पूर्वी और मध्य यूरोप में आगे बढ़ने लगी और रूस वहां के छोटे देशों पर हावी हो गया। इससे "तीन बड़ों" के सम्बन्धों में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। रूस की एकांगी नीति तथा उसकी लोलुपता को कम करने के लिए अमरीका और ब्रिटेन को माल्टा में सोवियत् सरकार की इच्छाओं के आगे और भी झुक जाना पड़ा।

युद्धकाल में लोकतन्त्री सरकारों को जनता का उत्साह बनाये रखने की आवश्यकता जान पड़ती थी। जनता चाहती थी कि सब कुछ ठीक चलता रहे और राजनीतिक नेताओं ने उसे यही विश्वास दिलाने का प्रयत्न भी किया। इसीलिए मित्रराष्ट्रों के प्रत्येक सम्मेलन को विजय तथा "युद्धोत्तर स्वर्ग" की ओर ले जाने वाला एक महत्वपूर्ण कदम बताया जाता था। रूज़वेल्ट और चर्चिल समझौते तथा प्रगति की ज़ोरदार घोषणा किये बिना तेहरान या माल्टा से रवाना न होना चाहते थे। और स्टालिन प्रत्येक समझौते पर हस्ताक्षर करने से पूर्व उसकी कीमत वसूल कर लेता था।

परन्तु दूसरा मार्ग ही और क्या था ? क्या रूज़वेल्ट और चर्चिल के लिए उचित था कि रूस को नाराज़ करके उसे जर्मनी से पृथक् संधि कर लेने

देते ? इसका मतलब यह होता कि युद्ध अधिक काल तक चलता और ब्रिटिश, अमरीका तथा अन्य देशों के सैनिकों का मृत्यु-संख्या कहीं अधिक बढ़ जाती। हैरी हॉपकिन्स के आशावाद के बावजूद, रूस का साथ छूटने पर पश्चिमी मित्रराष्ट्र शायद युद्ध में हार जाते। स्टालिन ने पालेंड में जो कुछ मांगा था वह न दिये जाने पर वह शायद जर्मनी से समझौता करके प्राप्त कर लेता। १९३९ में उसने ऐसा किया ही था और वह सम्भवतः सोचता कि तब की अपेक्षा अब परिस्थिति कहीं उसके अनुकूल है।

सचमुच जिम्मेदारी महान् थी। मैं जब कभी भी युद्ध के दिनों में होने वाले शान्ति के प्रयत्नों के सम्बन्ध में मित्र राष्ट्रीय अधिकारियों से बातें करता था तो वे सदा इसी प्रश्न को दुहरा देते थे—"और मान लीजिये कि रूस युद्ध से पृथक् हो जाय ?" एक बार मैं पोलेंड तथा बाल्टिक राज्यों के सम्बन्ध में रूस की चालों के विषय में सेक्रेटरी हल से बातें कर रहा था। वह बोला—"यदि आप रूस से ये रियायतें लेना चाहते हैं तो आपको अमरीकी सेना और जंगी बेड़ा अपने साथ मास्को ले जाना पड़ेगा।" उसके इस कथन का तात्पर्य दूसरे शब्दों में यह था कि स्टालिन केवल ऐसे साधनों तथा उपायों के प्रयोग से ही बात मान सकता था, जो अमरीका और ब्रिटेन काम में नहीं लाना चाहते थे।

साधारण नागरिक अपनी सरकारों की आलोचना कर सकता है। परन्तु नागरिक जिस नीति का समर्थन करना चाहता है उसके अनुसार काम करने पर तो एक लाख युवकों की जानें जाने की सम्भावना होती ? रूज़वेल्ट, हॉपकिन्स और चर्चिल ने रियायत पर रियायत देकर स्टालिन की जो इतनी खुशामद की तो इसका कारण यह था कि युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में सन्देह उठ खड़ा हुआ था। परन्तु वास्तव में ऐसा होना नहीं चाहिए था। जर्मनी से रूस की पृथक् संधि होने की कोई सम्भावना नहीं थी। सच तो यह है कि ऐसा होना बिलकुल असम्भव था। यह होता भी कैसे ? यदि जर्मनी सुलह का प्रस्ताव करता तो उससे प्रकट हो जाता कि अब जर्मनी में खड़े होने की शक्ति नहीं रह गई है और फिर उस अवस्था में स्टालिन के लिए वह प्रस्ताव स्वीकार करना मूर्खता होती। इसी प्रकार रूस की तरफ से सुलह के प्रस्ताव को जर्मनी में कमज़ोरी का लक्षण माना जाता और उस हालत में जर्मनी रूस को कुचल डालने के लिए अपने प्रयत्नों में दुगनी गति लाना आरम्भ कर देता।

दूसरी ओर स्टालिन-हिटलर-संधि के मार्ग में दुर्निवार्य बाधाएं थीं, और, जैसा कि १९४४ तथा १९४५ के जर्मनी के इतिहास को देखने से स्पष्ट

हो जाता है कि हिटलर को अपदस्थ नहीं किया जा सकता था। मास्को में स्वाधीन जर्मन समिति की स्थापना तथा जर्मन-सेना के लिए स्टालिन के संकेतों का कुछ भी महत्त्व न था, क्योंकि आत्म-हत्या के दिन तक हिटलर अपने पद पर बना था।

इसके अतिरिक्त, युद्ध-काल में जर्मनी और यूरोप की बहुत-सी भूमि हड़प जाने के लिए रूसी अधिकारियों की लिप्सा बलवती हो उठी थी। यदि रूस की जर्मनी से पृथक् संधि हो जाती तो उसकी ये आकांक्षाएं कभी पूरी न हो सकती थीं। यह सुलह एक समझौता होती, जिससे रूसियों के इरादों का सीमित होना भी स्वाभाविक ही था। पृथक् संधि करने की अवस्था में रूस अपने विस्तार की जितनी आशा कर सकता था उससे कहीं अधिक विस्तृत साम्राज्य रूस का आजकल है। कम-से-कम इस इरादे के कारण रूस पृथक् संधि कभी न करता।

१९४३ से कुछ महीने पूर्व ही वह काल था जब हिटलर रूस को कुचल डालने की अपनी शक्ति के सम्बन्ध में सन्देह कर सकता था। इसके बाद ही स्टालिन विश्वास करने लगा था कि वह जर्मनों को रूस के बाहर निकाल सकता है। यही काल था जिसमें रूस और जर्मनी के मध्य पृथक् संधि की बात सोची जा सकती थी। परन्तु हिटलर का हठ पहली बाधा थी और हिटलर के सम्बन्ध में स्टालिन का अनुभव दूसरी।

भविष्य कुहरे से भरे आकाश की तरह है। वायुयान के चालक के समान राजनीतिज्ञ अपने अनुमानों के आधार पर उड़ता है। वह भविष्य की ओर अपने यंत्रों के द्वारा इंगित दिशा में बढ़ता है और ये यंत्र हैं राजनीतिज्ञ का अपना ज्ञान, निर्णय करने की उसकी योग्यता, उसकी सूझ-बूझ और शत्रु के सम्बन्ध में उसका अध्ययन। रूस-जर्मन-संधि होने की सम्भावना इतनी कम थी और ब्रिटेन तथा अमरीका के पास रूस को प्रभावित करने के साधन (उधार पट्टा सामग्री, बढ़ती हुई सैन्य-शक्ति इत्यादि) इतने जोरदार थे कि यह तो कहा ही जा सकता है कि रूज़वेल्ट और चर्चिल ने तेहरान और माल्टा में जैसा पूर्ण आत्म-समर्पण स्टालिन के आगे किया था, कम-से-कम वैसा तो न करना चाहिए था। अगस्त १९४५ में पोट्सडम सम्मेलन के समय तो उनके आत्म-समर्पण करने का और भी कम कारण था, क्योंकि तब तक जर्मनी घुटने टेक चुका था और जापान पर भी परमाणु-बम डाले जाने वाले थे। सच तो यह है कि वार्ता के मध्य स्टालिन के मुकाबले में ब्रिटिश तथा अमरीकी प्रतिनिधियों ने अपेक्षाकृत कम कौशल का परिचय दिया।

राष्ट्रपति रूज़वेल्ट, सेक्रेटरी हल और अंडर-सेक्रेटरी सुमनरवेल्स ने बाल्टिक देशों पर रूस के अधिकृत होने का ज़ोरदार विरोध किया। स्टालिन ने पोलैंड की समस्या का जो युद्धकालीन हल बताया, उस पर भी रूज़वेल्ट और चर्चिल ने स्टालिन के आगे घुटने टेक दिये। ऐसा उन्होंने विवश होने पर ही किया था। उन्हें स्टालिन के पृथक् संधि करने का भय त्रस्त किये हुए था।

परिणाम यह हुआ कि युद्धकालीन सम्मेलनों के निर्णय इस आधार पर नहीं किये गए कि न्यायपूर्ण क्या है अथवा युद्ध के बाद संसार को सुखी बनाने के लिए क्या होना चाहिए, बल्कि ये निर्णय तो जल्दबाज़ी में और लेन-देन की भावना में किये गए। लेन-देन में पश्चिमी शक्तियों को जितना मिला उससे कहीं अधिक उन्होंने दिया और रूस ने केवल लिया ही, दिया कुछ भी नहीं।

स्टालिन की योजना सदा के समान पुरानी नीति का पृष्ठ-पेषण मात्र थी? पूर्वी पोलैंड पर अधिकार होने से रूस की सीमा चेकोस्लोवाकिया से मिल जायगी। बाल्टिक राज्यों और पूर्वी प्रशा पर कब्ज़ा होने से रूस का सीमा जर्मनी से मिल जायगी। कार्पेथो-रूस (रुथेनिया) पर अधिकार होने से रूस की सीमा हंगरी से मिल जायगी। ईरानी अजरबेजान पर अधिकार होने या उसके चंगुल में फंस जाने से रूस की सीमा तुर्की से मिल जायगी।

दूसरे महायुद्ध से पूर्व सोवियत्-संघ की सीमा चेकोस्लोवाकिया, या जर्मनी या हंगरी, या नार्वे की सीमाओं से नहीं मिली हुई थी। अब उसकी सीमा इन देशों की सीमाओं से मिली हुई है और इसीलिए उन पर रूस का प्रभाव भी बढ़ गया है।

रूस द्वारा आधे जर्मनी, आस्ट्रिया, और हंगरी पर कब्ज़ा जमाने से यूरोप भर में उसकी शक्ति बढ़ जानी स्वाभाविक थी। रूमानिया और बलगारिया पर रूस का अधिकार होने तथा यूगोस्लाविया में मार्शल टिटो के हाथ में शासन-सूत्र चले जाने से इटली, यूनान, तुर्की तथा भूमध्य सागर में भी रूस का प्रभाव बढ़ गया।

स्टालिन ने चीन तथा अन्य एशियाई देशों पर भी अपना प्रभाव बढ़ाया।

जिस तरह भारत में ब्रिटेन की स्थिति का सम्बन्ध हिंद एशिया, फिलस्तीन यूनान तथा इटली की घटनाओं से है उसी प्रकार फिन्लैंड में रूस के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण रूस द्वारा ईरान में किये गए कार्यों द्वारा होता है। कर्जन पंक्ति का विस्तार वस्तुतः बर्लिन तक है। रूमानिया पर अधिकार दर्रे दानियाल तक पहुँचने का एक साधन मात्र है।

स्टालिन का स्वप्न एक महान् रूसी साम्राज्य की स्थापना थी, जो जर्मन और जापानी शक्तियों के रिक्त-स्थान की पूर्ति कर सके। स्टालिन को अपने उद्देश्य की सिद्ध का भरोसा इसलिए और भी था कि उसके खयाल में युद्ध के बाद इंग्लैंड और फ्रांस की शक्ति में कमी होगी।

स्टालिन के इस युग में आइवन भयानक, पीटर महान्, केथराइन महान्, तथा अन्य ऐसे सभी ज़ारों और रूसी सेनापतियों की प्रशंसा करके उन्हें आकाश पर चढ़ा दिया गया है, जिन्होंने अपने समय में रूसी साम्राज्य का विस्तार किया था। ये सभी अपने समय में प्रजा-पीड़क शासक थे और रूसी प्रजा के प्रति उनके अत्याचारों की कोई सीमा न थी। अब स्टालिन भी रूसी शासकों के पुराने आदर्शों पर चल रहा है।

इस प्रकार युद्ध-काल में और उसके बाद सोवियत् रूस शान्ति-संस्थापन की दृष्टि से मुख्य समस्या बना रहा। अन्य दो समस्याएं यह उठीं कि ब्रिटेन ने अपना साम्राज्य समाप्त करने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई और अमरीका भी साम्राज्य की इच्छा करने लगा।

युद्ध-काल में सोवियत् अधिकारियों ने अपने साम्राज्य-विस्तार का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ब्रिटिश तथा अमरीकी साम्राज्यवादों को स्वीकार कर लिया। रूस चाहता था कि लूट का माल ब्रिटेन, अमरीका और रूस मिलकर बांट लें और ये तीनों महाशक्तियां मिलकर दुनिया का बटवारा कर लें। इन परिस्थितियों में विदेशी कम्युनिस्टों का साम्राज्यवाद के प्रति विरोध घट गया। तेहरान-सम्मेलन के उपरान्त वे कहने लगे कि साम्राज्यवाद जैसी कोई चीज अब रही ही नहीं, परन्तु युद्ध के बाद रूसी साम्राज्यवाद ने इंग्लैंड और अमरीका के प्रति अधिक विरोधी रुख धारण कर लिया।

अपना कोई भी निर्णय कार्यान्वित करने से पूर्व तेहरान और माल्टा के सम्मेलनों में यह निश्चय स्वीकार कर लिया गया कि तीन महाशक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में "तीन बड़े" पोलैंड जैसे कमज़ोर देशों के भाग्य का निर्णय उन की अनुपस्थिति में भी कर सकते हैं। धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध बीस से अधिक देशों ने संग्राम में भाग लिया था। परन्तु शान्ति की व्यवस्था का निर्णय तीन ही ने किया। मित्रराष्ट्रों के हिसाब का यह एक नमूना है। छोटे देशों की सरकारों ने कितना ही प्रयत्न और विद्रोह किया, परन्तु वे शान्ति का निर्माण करने के अधिकार की "तीन बड़ों" के चंगुल से रक्षा न कर सकीं।

विजय प्राप्त करने में इन तीनों महाशक्तियों का हाथ सबसे अधिक था। परन्तु इसका यह मतलब तो नहीं है कि बुद्धि या विचारशीलता भी केवल

उन्हीं के हिस्से में आई है। परन्तु निर्णय करने का एकाधिकार जमा लेने के कारण उनकी स्वार्थ-परता तथा बंदर-बांट करने की मनोवृत्ति को फलने-फूलने का खूब अवसर मिल गया है। शक्तिशाली व्यक्ति अथवा देश को किसी समस्या का पहले निर्णय करने का अधिकार देने पर न्याय अथवा लोकतंत्रवाद का गला घुट जाता है। प्रत्येक प्रजातंत्र राज्य में इने-गिने व्यक्तियों की शक्ति का नियंत्रण जन-साधारण की वोटों द्वारा और केन्द्रित आर्थिक शक्ति का नियंत्रण निर्वाचकों की राजनीतिक शक्ति द्वारा किया जाता है। परन्तु "तीन बड़ों" ने असंख्य "छोटों" को "परामर्श" अथवा "विवाद" कर सकने से अधिक और कुछ भी अधिकार नहीं दिया। और "तीन बड़ों' में भी एक अन्य दो के निश्चयों को अस्वीकार कर सकता था। इस प्रकार एक ही महाशक्ति संसार भर की जनता पर अपनी इच्छा लाद सकती थी। यह राष्ट्रीयता का अंतिम ध्येय और अन्तर्राष्ट्रीयता की न्यूनतम विशेषता है।

'तीन बड़ों' के प्रभुत्व से मुक्ति पाने का एक-मात्र उपाय संसार भर के लिए ऐसी शासन-व्यवस्था करना है, जिसे तीनों महाशक्तियां स्वीकार कर लें। इससे दुनिया को एक ही हुकूमत के अधीन करने की कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ता है। परन्तु तेहरान, माल्टा अथवा पोट्सडम में यह समस्या उठाई ही नहीं गई।

दूसरा महायुद्ध भूमि के बंटवारे के प्रश्न को लेकर नहीं हुआ था। यह तो हमारी सभ्यता की व्याधि के परिणाम स्वरूप हुआ था। १९४३ में 'साम्राज्य' नामक एक पुस्तक में मैंने लिखा था—"यह युद्ध या तो एक नवीन संसार को जन्म देगा और या एक नये विश्व-युद्ध को।" जिन लोगों ने शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया था उन्हें सबसे पहले यह जानना चाहिए था कि व्याधि क्या है, और फिर उसके उपचार का प्रयत्न करना चाहिए था, परन्तु उन्हें इसके लिए समय ही न था। आधुनिक राजनीतिज्ञ इतनी तेजी से काम करते हैं कि उन्हें यह विचार करने के लिए ठहरने का भी समय नहीं मिलता कि वे जा कहां रहे हैं। रूज़वेल्ट, चर्चिल और स्टालिन संसार के सबसे व्यस्त व्यक्ति थे और वे समस्त मानव-समाज के भाग्य का निबटारा करने के लिए पाँच दिन तक बात-चीत करते रहे। उनका पहला काम युद्ध में विजय प्राप्त करना था। इस विचार को ध्यान में रखकर उन्होंने सैनिक चालें चलीं और यही ध्यान में रखकर उन्होंने सुलह के प्रयत्न किये। तेहरान, माल्टा तथा पोट्सडम में शक्ति की जिस व्यवस्था के सम्बन्ध में निर्णय किया गया था उसका उद्देश्य तीसरे महायुद्ध से बचने के लिए शान्ति

स्थापित करना न होकर दूसरे महायुद्ध में विजय प्राप्त करना था। युद्ध में भाग लेने वाले मित्रराष्ट्र ख़ुश रहें—इसका यह एक प्रयत्न-मात्र था। उधार-पट्टा प्रणाली के अनुसार रूस को सामान देने या फ्रांस पर हमले की योजना तैयार करने के ही समान यह भी एक सैनिक कार्रवाई थी।

१४ अगस्त १९४१ को रूज़वेल्ट और चर्चिल ने अपना अटलांटिक घोषणा-पत्र निकाला था और १ जनवरी १९४२ को सोवियत् सरकार ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये थे। अधिकार पत्र में कुछ कमियां थीं, फिर भी उसे शान्ति-स्थापना करते समय आदर्श लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता था। यही अधिकार-पत्र तेहरान में एक रद्दी कागज-जैसा हो गया। माल्टा में उस कागज को जला दिया गया।

अटलांटिक अधिकार-पत्र की पहली शर्त यह है—"हमारे देशों का उद्देश्य भूमि प्राप्त करने या दूसरे किसी इरादे से हमला करने का नहीं है।" दूसरी शर्त में कहा गया है—"हम ऐसा कोई प्रादेशिक परिवर्तन नहीं होने देना चाहते जिसे करते समय उस प्रदेश की जनता का मत न जान लिया गया हो।"

रूज़वेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने तेहरान और माल्टा में पोलेंड तथा जर्मनी के सम्बन्ध में जो निर्णय किये थे, उनमें इन दोनों शर्तों को बुरी तरह भंग किया गया था। अपने शब्दों की अवज्ञा करके उन्होंने वास्तव में शान्ति की ही अवज्ञा की थी।

१९३९ में सोवियत् सरकार द्वारा पूर्वी पोलेंड पर अधिकार कर चुकने के बाद वहां "सर्वसाधारण" का मत लिया गया और ९० प्रतिशत मतदाताओं ने रूस के ही पक्ष में अपना निर्णय दिया था। परन्तु यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि मत लिये जाने से पूर्व १०,००,००० से अधिक व्यक्तियों का निर्वासन साइबेरिया और तुर्किस्तान को किया जा चुका था। सोवियत् कांग्रेस ने अपने उच्च आदर्शवाद के काल में १८ नवम्बर १९१८ को एक प्रस्ताव पास करके मत प्रकट किया था कि "यदि एक राष्ट्र पर दूसरे का अधिकार हो और यदि एक अधीन राष्ट्र को—ऐसी अवस्था में जब कि अधिकारी राष्ट्र की सेना हटा ली गई हो और कोई दबाव न डाला गया हो—अपनी शासन-प्रणाली का निर्णय करने का अधिकार नहीं दिया जाता तो यही कहा जायगा कि दूसरे राष्ट्र का सम्बन्ध उस पर कब्ज़ा जमाना और वहां विदेशी शासन स्थापित करना है और इसे एक अपराध माना जायगा।"

इस प्रकार स्वयं सोवियत् कांग्रेस के ही शब्दों में स्टालिन का पूर्वी पोलैंड पर अधिकार जमाना अपराध था।

कार्ल मार्क्स यूरोप की राजनीतिक समस्याओं पर अधिकार-पूर्वक विचार प्रकट किया करता था, १९ अगस्त १८८४ को उसने कहा था—"लोकतंत्रवादी जर्मनी की स्थापना की पहली शर्त लोकतन्त्रवादी पोलैंड को जन्म देना है........ यह समस्या केवल कागज़ पर स्वतंत्र पोलैंड कायम करने की नहीं है, बल्कि सुदृढ़ आधार पर एक राज्य स्थापित करने की है, जो अपना पृथक् और वास्तविक अस्तित्व बनाये रख सकें। पोलैंड को कम-से-कम वह भूमि तो अवश्य मिलनी चाहिए जो उसके पास १७७२ में थी।" निश्चय ही तब पोलैंड के पास १९३९ की तुलना में कहीं अधिक भूमि थी। क्या क्रेमलिन में मार्क्स का अध्ययन कोई नहीं करता?

रूस ने हिटलर के साथ सितम्बर १९३९ में की गई संधि के अनुसार पूर्वी पोलैंड पर अधिकार कर लिया था। ३० जुलाई १९४१ को रूस ने पोलैंड के साथ लंदन में एक संधि की, जिसके अनुसार निश्चय किया गया कि सितम्बर १९३९ वाली संधि द्वारा पोलैंड में जो प्रादेशिक परिवर्तन हुए थे, उन्हें रद्द समझा जाय। दूसरे शब्दों में हिटलर की सहायता से स्टालिन को पोलैंड में जो भूमि प्राप्त हुई थी उस पर रूस का अधिकार नहीं रह गया। लालसेना की उपस्थिति में पोलैंड में सर्व-साधारण का जो मत लिया गया था, उसे भी अमान्य ठहरा दिया गया। इस तरह वह भूमि फिर पोलैंड को मिल गई।

इतना सब हो चुकने और रूस के अटलांटिक अधिकार-पत्र पर हस्ताक्षर हो जाने के बावजूद और लालसेना द्वारा पूर्वी पोलैंड को जर्मनी से जीतने से पहले ही, रूज़वेल्ट और चर्चिल ने वह रूस को दे दिया। यह एक ज़बर्दस्ती थी। यह सब उन्होंने पोलैंड की जनता का मत जाने बिना ही किया। ऐसा करते समय उन्होंने सिर्फ स्टालिन से सलाह ली थी। स्वयं पोलैंड के सम्बन्ध में फैसला महत्त्वपूर्ण अवश्य है, किन्तु इस कार्रवाई का और भी अधिक महत्त्व है। इससे यह कुटिलतापूर्ण तथा घृणित सिद्धान्त कायम होगया कि जब "तीन बड़ों" में बातचीत हो तो सिद्धान्तों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता।

इसके उपरान्त, जैसा कि स्वाभाविक ही था, सोवियत् सरकार और कम्युनिस्ट दल के प्रचारकों तथा अन्य देशों के कम्युनिस्टों ने एक स्वर में शोर मचाना आरम्भ कर दिया कि रूस द्वारा पश्चिम में कर्जन-पंक्ति तक पोलैंड की भूमि पर अधिकार करना उचित ही है। यह हमारे युग की एक सबसे दुःखद बात है कि लोकतंत्री देशों के कितने ही लोग इस गुल-गपाड़े से प्रभावित होकर

सोचने लगे कि रूस का दावा न्यायपूर्ण है।

प्रचारकों ने कहा कि कर्जन-पंक्ति तक पोलैंड पर रूस का अधिकार था। यह असत्य है। जिस''''प्रदेश के सम्बन्ध में दावा किया गया था, उसका एक बहुत बड़ा तथा समृद्धिशाली भाग पूर्वी गेलीशिया कभी भी ज़ारशाही रूस के कब्ज़े में न था।

इस प्रदेश का केवल एक भाग ज़ारों के कब्जे में था। यह भाग ज़ारों को कैसे मिला? बोलशेविक सत्ता का जन्मदाता लेनिन इस सम्बन्ध में लिख चुका है। मई १९०७ में प्रकाशित "युद्ध और क्रान्ति" नामक पुस्तक में उसने पोलैंड तथा लटाविया के एक प्रांत कोरलैंड के बंटवारे का जिक्र किया है। यह बंटवारा ज़ारशाही रूस, जर्मनी तथा आस्ट्रो हंगेरियन राज्य के बीच हुआ था। लेनिन लिखता है—"कोरलैंड तथा पोलैंड की बंदर-बांट तीन ताजधारी लुटेरों के बीच हो चुकी है। वे लगभग १०० साल तक उनके टूकड़े किये रहे और उनसे अपने पेट भरते रहे। सबसे बड़ा टुकड़ा रूसी लुटेरे के हाथ लगा, क्योंकि तब वह सबसे बलवान था।"

बोलशेविक स्टालिन ने अपने दावे का आधार ज़ार का इस लूट को बनाया है। जब स्टालिन ज़ारों से प्रेरणा लेनें लगा ह तो उससे और आशा ही क्या की जा सकती है?

लेनिन द्वारा स्टालिन के कार्यों की निन्दा का एक और नमूना लीजिये। एक समय था जब अलेक्जेंडर पहला और नेपोलिपन पोलैंड का सौदा किया करते थे। एक समय ज़ारों ने भी पोलैंड का सौदा किया था। क्या हम ज़ारों की यही चालें काम में लाते रहेंगे। यह तो अंतर्राष्ट्रीयता को तिलांजलि देना होगा। यह तो "बहुत बुरे प्रकार की देशभक्ति है।" यह स्टालिन की साम्राज्यवादी देशभक्ति है।

यह सिद्धान्त कि किसी देश को वह प्रदेश मिलना चाहिए, जो कभी उसके अधिकार में था—कार्यान्वित नहीं हो सकता। यदि इस सिद्धान्त को माना जाय तो दुनिया एक पागलखाना बन जायगी। इस सिद्धान्त के अनुसार इंग्लैंड वर्जीनिया, बोस्टन तथा फ्रांस के एक भाग को ले लेगा, रोम लंदन पर अधिकार जमाएगा, न्यूयार्क डचों के कब्जे में चला जायगा, फ्रांसीसी न्यूआर्लियन्स ले लेंगे, मिस्र, फिलस्तीन, सोवियत् यूक्रेन, बल्गारिया, और रूमानिया तुर्कों के हाथ में चले जायंगे, स्वीडन को रूस का एक बड़ा हिस्सा मिल जायगा, केलिफोर्निया स्पेन के पास चला जायगा, इटली हिंदचीन ले लेगा, ईरान भारत का एक हिस्सा ले लेगा, यूनान भी भारत के उसी हिस्से के लिए दावा उप-

स्थित करेगा और फिर यह व्यापार अनन्त काल तक अशान्ति का कारण बन जायगा।

प्रचारकों की दलील है कि १९२० में कमज़ोर होने के कारण रूस को यह प्रदेश पौलेंड को देने के लिए विवश होना पड़ा था; यह सच नहीं है। उस समय सोवियत् सत्ता का सूत्र लेनिन के हाथों में था। वह अपने कार्यों का निर-पेक्ष भाव से विश्लेषण करने के लिए प्रसिद्ध रहा है। उसने २० नवम्बर १९२० को मास्को में कहा था—"लाल सेना ने जो विजय प्राप्त की है उसका महत्त्व वारसा की क्षणिक हार के बावजूद भी असाधारण है क्योंकि उसके कारण पोलैंड युद्ध जारी रखने में असमर्थ हो गया था। पोलैंड की साधारण अवस्था ऐसी अस्थिर हो चुकी थी कि उसके द्वारा युद्ध जारी रखने का कोई प्रश्न उठता ही न था।" यह कथन ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश डालता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि शक्तिशाली पोलैंड ने अशक्त रूस से वह प्रदेश छीन लिया। सच तो यह है कि १९२१ की संधि-वार्ता के बाद पौलेंड ने जितनी भूमि मांगी थी उससे कहीं अधिक लेनिन ने उसे स्वेच्छापूर्वक दे दी, क्योंकि लेनिन कर्जन पंक्ति-प्रदेश के निवासियों को सोवियत् रूस में सम्मिलित नहीं करना चाहता था। उनमें से कितने ही रोमन केथोलिक थे और लेनिन अपने यहां एक नई समस्या को नहीं उठाना चाहता था—वह रूस तथा पौलैंड के मध्य एक धार्मिक सीमा बनाना चाहता था। जो वह बना भी सका।

यदि रूस द्वारा कमज़ोरी की हालत में पोलैंड को भूमि देने की बात सच भी हो, फिर भी उस प्रदेश का परित्याग न्यायानुकूल बात ही कही जायगी। यदि कमज़ोरी की हालत में त्यागे गए प्रदेशों को ऐसा करने वाले देश शक्ति-शाली होकर फिर प्राप्त करने की चेष्टा करने लगें तो न्याय और स्थिरता कभी कायम न हो सकेगी। यदि जर्मनी, जापान और इटली भविष्य में अपने छिने हुए प्रदेशों को प्राप्त करने की चेष्टा करें तो क्या होगा ?

प्रचारकों की दूसरी दलील है कि कर्जन प्रदेश के अधिकांश निवासी रूसी, श्वेत रूसी या यूक्रेनियन हैं। आस्ट्रिया तथा सुडेटनलैंड के भी अधिकांश निवासी जर्मन थे। फिर हमने हिटलर द्वारा उन्हें हड़प जाने का समर्थन क्यों नहीं किया ? जबरन कब्ज़ा करने की सफाई में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि वहां रूसियों का बहुमत था तो सोवियत् अधिकारियों ने लाल सेना तथा आगपू के हटने पर स्वतंत्र चुनाव का निर्णय मानने से इंकार क्यों कर दिया ?

प्रचारकों की तीसरी दलील है कि पूर्वी पोलैंड पिछली पोलिश सरकार की अपेक्षा रूसी सरकार के शासन में अच्छा रहेगा। परन्तु यह किसे मालूम है ?

और अच्छा होने का फैसला कौन करेगा ? क्या वारसा में नई और रूसी शासकों के अनुकूल सरकार नहीं है और क्या उन्हीं प्रचारकों के मतानुसार उसका शासन पिछली सरकार से उत्तम नहीं है ? फिर उसे पूर्वी पोलैंड पर राज क्यों नहीं करने दिया जाता ?

यह बहाना कि पोलैंड, बाल्टिक देशों या बाल्कान राष्ट्रों को रूस के प्रभुत्व से अथवा उसमें मिलने से लाभ पहुंचेगा—वास्तव में साम्राज्यवादियों की अहं-भावना है। यह तो ब्रिटेन तथा मुसोलिनी के तर्कों के समान है कि भारत में श्वेत जाति की विशेष जिम्मेदारी है; और इटली ने अबीसीनिया पर उसे गुलामी से छुड़ाने के लिए आक्रमण किया था। दक्षिण अमरीका के देशों पर संयुक्त राष्ट्र का अधिकार होने पर उनके रहन-सहन के मान, उनके स्वास्थ्य, उनकी शिक्षा, उनकी यातायात व्यवस्था और राजनीतिक स्थिति में उन्नति होगी। तो क्या संयुक्त राष्ट्र को उनपर कब्ज़ा कर लेना चाहिए ?

फिन्लैंड, एस्थोनिया, लटविया, लिथुआनिया, पोलैंड, ईरान और तुर्की में १९३९ से ही रूस के कार्यों के सम्बन्ध में सोवियत् सरकार और उसके हिमायती जो बहाना बनाया करते थे उनका उत्तर रूस के भूतपूर्व विदेश-मन्त्री लिटविनोव एक समझौते द्वारा पहले ही दे चुके हैं। इस समझौते पर सोवियत् रूस ने अफ़ग़ानिस्तान, फिन्लैंड, एस्थोनिया, लटविया, लिथुआनिया, ईरान, पोलैंड, रूमानिया, युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया और तुर्की के साथ १९३० में हस्ताक्षर किये थे। समझौते में आक्रमण क्या होता है, इसकी व्याख्या की गई थी। समझौते में कहा गया था—"राजनीतिक, सैनिक अथवा आर्थिक—किसी भी कारण को आक्रमण के लिए उचित ठहराने का हेतु नहीं कहा जा सकता।" इसका कारण यह है कि यदि एक महाशक्ति आक्रमण करती है या अपने साम्राज्य के विस्तार की चेष्टा करती है तो दूसरी महाशक्तियों का संदेह बढ़ता है और उनसे उसका झगड़ा बढ़ता है। परिणाम यह होता है कि उन अन्य महाशक्तियों को बदले की कार्रवाई करनी पड़ती है। इसी प्रकार युद्ध छिड़ जाते हैं; दूसरा महायुद्ध भी इसी तरह छिड़ा था।

परन्तु आश्चर्य की बात है कि हिटलर, मुसोलिनी और हिरोहितो के आक्रमण के परिणामस्वरूप होने वाले युद्ध के बीच में ही रूज़वेल्ट और चर्चिल ने तेहरान और माल्टा में रूस के नए आक्रमणों को स्वीकृति दे दी।

२२ दिसम्बर, १९२० को लेनिन ने एक सम्मेलन में कहा—"आप जानते हैं कि पश्चिमी सीमा पर स्थित कितने ही ऐसे देशों से हमारी संधि हो गई है, जो पहले रूसी साम्राज्य के अंग थे। सोवियत् सरकार की आधारभूत

नीति के अनुसार इन देशों की स्वतन्त्रता तथा स्वाधीन-सत्ता को बिना किसी शर्त के स्वीकार कर लिया गया है।"

अब स्टालिन ने इन देशों की स्वाधीनता का अंत करके सोवियत्-नीति के "आधारभूत सिद्धांतों" का गला घोंट दिया है। मैं सोवियत् रूस की विदेश-नीति के सम्बन्ध में १९३० में दो ग्रंथ लिख चुका हूं। मैं कितने ही वर्ष तक सोवियत् रूस की विदेश-नीति के लिए उत्तरदायी राजनीतिज्ञों के निकट-सम्पर्क में रह चुका हूं। मैं इस सम्बन्ध के सभी महत्वपूर्ण ग्रंथों तथा अन्य सामग्री का अध्ययन कर चुका हूं। १९२० से १९३९ तक किसी सोवियत् राजनीतिज्ञ अथवा ग्रंथ द्वारा फिन्लैंड या पोलैंड को स्पर्श करने वाली रूस की सीमा की आलोचना नहीं की गई थी। और न बाल्टिक देशों की स्वाधीनता को ही अनुचित बताया गया था। सोवियत् सरकार इन सभी देशों की स्वाधीनता स्वीकार करती थी और उन सबसे उसके व्यावहारिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध कायम थे। यदि इन देशों की सीमाओं से सोवियत् अधिकारी असंतुष्ट थे तो वे बेसराविया प्रदेश की तरह उनकी स्थिति से भी असंतोष प्रकट कर सकते थे। बेसराविया प्रदेश रूमानिया ने १९१९ में हड़प लिया था, किन्तु सोवियत् अधिकारियों ने सिद्धान्त रूप से बेसराविया को सोवियत् रूस के ही अंतर्गत माना था और नक्शों में भी वे उसे रूस के अंतर्गत दिखाया करते थे। परन्तु सोवियत् अधिकारियों ने पोलैंड के कर्जन पंक्ति वाले प्रदेश, फिन्लैंड के किसी प्रदेश अथवा बाल्टिक राज्यों के सम्बन्ध में कभी ऐसा नहीं किया था। उन्होंने इनके लिए उसी समय दावा पेश किया, जब उन पर अधिकार करने की शक्ति सोवियत् सरकार में आ गई। साथ ही उनके हिमायतियों ने भी लोकतंत्रवादी देशों की जनता को भ्रम में डालने के लिए शोर मचाना आरम्भ कर दिया। अब उन्हें सफलता भी मिल गई है। दुनिया में जो इतनी बुराई फैली हुई है उसका दोष सिर्फ बुरा काम करने वालों पर ही नहीं है, बल्कि दोष उन अच्छे आदमियों का भी है, जो बुरे काम करने वालों की खुशामद करने और उन्हें खुश करने के लिए सदा तैयार रहते हैं।

सोवियत् रूस के राष्ट्रपति माइकेल केलिनिन ने नाज़ियों के आक्रमण की निन्दा करते हुए प्रशा के फ्रेडरिक द्वितीय के निम्न शब्दों का उद्धरण दिया था, जो स्वयं सोवियत् आक्रमणों पर भी लागू होता है—"यदि आपको कोई विदेशी प्रदेश पसंद है, और साथ ही आपके पास पर्याप्त सेना है तो उस पर तुरन्त अधिकार जमा लीजिए। जहां एक बार आपका कब्जा हो गया, आपको यह कहने वाले बहुत से मिल जायंगे कि उस प्रदेश पर अधिकार करना आपके लिए उचित था।"

राजनीति के अधिकांश विद्यार्थी सोवियत् रूस की विदेश-नीति के सम्बन्ध में ईरान और पोलैंड में उसके रूप को देखकर अपने विचार स्थिर करते हैं। इसी प्रकार अमरीकी विदेशनीति को चीन में उसके रूप को देखकर समझा जाता है। किसी देश की विदेशनीति को समझने का अधिक उत्तम तराका उद्गम स्थान में ही उसके अध्ययन करने का है। ऐसा करने पर ही हम जान सकते हैं कि किसी देश की विदेशनीति उसके भीतर कितने ही व्यक्तियों के पारस्परिक संघर्षों, आर्थिक दबावों, राजनीतिक स्वार्थों इत्यादि का परिणाम है। यदि देश प्रजातन्त्र है तो उसकी विदेश-नीति पर उस नीति की रूपरेखा तैयार करनेवाले राजनीतिक दलों के संघर्षों का भी प्रभाव पड़ेगा। यह बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि अमरीका की सरकार ने राजतन्त्री स्पेन के लिए शस्त्रों के निर्यात पर जो रोक लगाई थी उसका कारण स्पेन की कोई तात्कालीन समस्या न थी। बात यह थी कि रूज़वेल्ट की राजतन्त्रवादियों से सहानुभूति थी और वह जनरल फ़्रांको की विजय नहीं चाहता था। हथियारों के निर्यात पर रोक कैथोलिकों तथा ब्रिटेन के दबाव और तटस्थता नीति के हिमायतियों के भय से लगाई गई थी। ऐसे ही अन्य कितने ही निर्णयों को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

पोलैंड के सम्बन्ध में रूस के इरादों की छानबीन करते हुए हम उस स्थान पर पहुंच जाते हैं, जहां सोवियत् विदेशनीति के सब रहस्यों को गुप्त रखा जाता है। पूर्वी पोलैंड में लाखों यूक्रेनियन हैं। इसलिए पूर्वी पोलैंड पर अधिकार करके सोवियत् अधिकारियों का उद्देश्य सोवियत् यूक्रेन के निवासियों को खुश करना था। दूसरी तरफ इसका उद्देश्य रूस के उन राष्ट्रवादियों को खुश करना भी था, जो अपने देश की सीमा का विस्तार रूसी साम्राज्य का ज़ारशाही सीमा तक या उनसे भी आगे करना चाहते थे। युद्ध के दिनों में सोवियत् सरकार ने क्रान्ति की सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक सफलताओं पर ज़ोर नहीं दिया, बल्कि इस बात पर कि क्रान्ति के कारण ही देश की रक्षा हो गई। २१ जनवरी, १९४४ को एक सोवियत् नेता मि० ए० एस० शेरवाकोव ने कहा कि—"ज़ारशाही रूस ऐसे मार्ग पर अग्रसर हो रहा था, जिसका अंत अनिवार्य रूप से स्वाधीनता के नाश से होता। बोलशेविक दल ने देश को इस लांछना से बचा लिया।" राष्ट्रवादियों का समर्थन प्राप्त करने के लिए कम्युनिस्टों के पास इससे अच्छा तर्क और क्या हो सकता था। देश के बाहर के प्रदेश पर अधिकार करना राष्ट्रवादी को आश्वस्त करने के लिए सब से बड़ा तर्क है।

यूरोप में जर्मनी की केन्द्रीय स्थिति का ज्ञान बोलशेविकों को बहुत दिनों से था। जर्मनी का भाग्य-सूत्र अपने हाथ में लेने के लिए स्टालिन ने अपने कार्य-क्रम में निम्न बातों को सम्मिलित किया था। पोलैंड के आधे पूर्वी भाग पर रूस का अधिकार, पोलैंड की इस हानि की पूर्ति के लिए अपर साइलेशिया, पेमीएनिया, और पूर्वी प्रशा में कुछ बड़े-बड़े जर्मन प्रदेशों को पोलैंड के सिपुर्द करना, पूर्वी प्रशा के एक बड़े भाग पर, जिसमें कोनिग्सबर्ग का नगर भी सम्मिलित था, रूस का अधिकार, जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति के लिए दी जानें वाली रकम के बहुत बड़े भाग के लिए रूस की तरफ़ से माँग उपस्थित करना, युद्ध के उपरान्त आधे जर्मनी पर लालसेना का अधिकार रहे और शेष आधे जर्मनी पर अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस अधिकार करें और बर्लिन पर रूसी सेनाएं ही अधिकार करें, जिससे उनकी धाक जम जाय।

रूज़वेल्ट और चर्चिल नें स्टालिन की ये सभी बातें तेहरान और माल्टा में स्वीकार कर ली थीं।

कर्जन पंक्ति से पूर्व के प्रदेश से हाथ धो बैठने के कारण पोलैंड कमज़ोर हो गया। उधर जर्मनी के कितनें ही उद्योग-प्रधान प्रदेश मिलने से पोलैंड के आगे अनेक टेक्निकल, आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक समस्याएं उठ खड़ी हुईं। इनके निबटारे के लिए वह रूस पर निर्भर हो गया। इन बातों तथा जर्मनी को पराजित करने के समय पोलैंड में उपस्थित रहने वाली लालसेना के कारण नई पोलिश सरकार स्टालिन की कठपुतली हो गई। पोलैंड की सीमा बहुत दूर तक जर्मन सीमा से मिली हुई है। जर्मनी पर अधिकार रखने के लिए रूस को पोलैंड पर अधिकार रखना आवश्यक है। इसलिए स्टालिन ने पोलैंड के प्रति जो व्यवहार किया है वह जर्मनी के प्रति बरती जाने वाली रूसी नीति का अंग है। इसी प्रकार स्टालिन की जर्मनी के प्रति बरती जाने वाली नीति उसकी यूरोपीय नीति की अंग है। जिस महाशक्ति का जर्मनी पर नियंत्रण होगा वही समस्त यूरोप पर नियंत्रण करेगी।

एशिया में माल्टा सम्मेलन के द्वारा रूस को सखालिन द्वीप का दक्षिणी भाग, जापान के उत्तर में क्यूराइल द्वीप, मंचूरिया के दो बंदरगाह और मंचूरियन रेलवे का नियंत्रण हुआ। स्टालिन ने ये शर्तें लिखा ली थीं और उन पर रूजवेल्ट तथा चर्चिल के हस्ताक्षर करा लिये थे। यह सब उसे जापान के विरुद्ध युद्ध छोड़ने के बदले में मिला था। यह है लोकतंत्रवादी देशों के प्रति स्टालिन का सौदा।

युद्धकालीन शान्ति सम्मेलनों के मध्य अमरीका या ब्रिटेन में से किसी

का भी यूरोप अथवा एशिया में एक भी प्रदेश नहीं मिला। यह कोई शिकायत नहीं है, बल्कि एक तथ्य का उल्लेख है। यह मान लिया गया था कि रूस तथा इंग्लैंड के यूरोप में अलग-अलग प्रभाव-क्षेत्र रहेंगे। रूस तथा अमरीका के प्रभाव-क्षेत्र एशिया में होंगे। और इंग्लैड ने एशिया में अपना साम्राज्य बनाये रखा।

"तीन बड़ों" द्वारा प्रदान की हुई शान्ति यही थी। पहले उन्होंने दूसरे देशों के प्रदेशों पर अधिकार जमाने की स्वीकृति दे दी और फिर सिद्धान्तों का प्रश्न उठाया। पहले उन्होंने प्रभाव क्षेत्र निर्धारित कर दिये और इसके उपरान्त डगमगाती हुई नींव पर संयुक्त राष्ट्र संघ का भवन खड़ा किया। यह भी एक ऐसा संघ था कि उससे अधिक अपूर्ण संघ की कल्पना नहीं की जा सकती।

राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने आशा की थी कि पहले महायुद्ध के बाद हुई संधि की बुराई को राष्ट्रसंघ दूर कर देगा। राष्ट्रपति फ्रेंकलिन रूज़वेल्ट ने यही विश्वास संयुक्त राष्ट्र के सम्बन्ध में किया।

१९४४ में डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान पर अमरीकी, ब्रिटिश, रूसी और चीनी प्रतिनिधियों ने उस मसविदे का अधिकांश भाग तैयार किया था, जिसे बाद में सान-फ्रांसिस्को अधिकारपत्र का नाम दिया गया था। परन्तु उन के बीच एक बड़ा भारी मतभेद "नकारात्मक मत" के सम्बन्ध में रह गया था।

इसलिए इस प्रश्न को माल्टा में "तीन बड़ों" द्वारा निबटारे के लिए छोड़ दिया गया था। अधिकार पत्र की सब से बड़ी विशेषता रूज़वेल्ट, चर्चिल और स्टालिन का यह निर्णय ही है। संयुक्त राष्ट्र का मुख्य कार्य आक्रमण रोकना तथा शान्ति बनाये रखना है, किन्तु इस निर्णय ने इस कार्य के लिए संयुक्तराष्ट्र को बिल्कुल प्रभावहीन कर दिया।

संयुक्तराष्ट्र की परिषद् में सभी सदस्य-राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व प्राप्त है, किन्तु वह आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध कोई प्रभावपूर्ण कार्रवाई नहीं कर सकती। केवल ११ सदस्य-राष्ट्रों की सुरक्षा-समिति हीसंयुक्तराष्ट्र की तरफ से शान्ति-भंग करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध कोई निर्णय कर सकती है। और इस समिति में, जैसा कि माल्टा के निर्णय और सानफ्रांसिस्को अधिकार-पत्र द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है, "पांच बड़ों" यानी अमरीका, सोवियत् रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन में से कोई एक आक्रमणकारी के विरुद्ध की जाने वाली कार्रवाई को रोक सकता है, चाहे आक्रमणकारी वह स्वयं ही क्यों न हो। महाशक्तियों के "नकारात्मक मत" प्रदान करने के अधिकार का यही मतलब है।

ऐसी अवस्था में संयुक्तराष्ट्र आक्रमण अथवा युद्ध को कैसे रोक सकता है।

स्टालिन ने माल्टा में 'नकारात्मक मत' के लिए हठ किया था। सोवियत् राजनीतिज्ञ अभी तक इसकी सफ़ाई में आलोचकों को उत्तर दिया करते हैं। स्वयं रूज़वेल्ट ने अनुभव किया था कि 'नकारात्मक मत' प्रदान करने के अधिकार के बिना राष्ट्रवादी सदस्य सानफ्रांसिस्को अधिकार-पत्र को शायद अमरीकी सीनेट में न पास होने देते। चीन ने खुलकर 'नकारात्मक मत' का विरोध किया था, ब्रिटेन ने इसके सम्बन्ध में तटस्थता का रुख ग्रहण किया था।

न्यूज़ीलैंड के प्रधानमंत्री पीटर फ्रेज़र ने 'नकारात्मक मत' को "अधिकार-पत्र पर "एक धब्बा" कहा है। सचमुच ही यह बहुत बड़ा और काला धब्बा है।

इस नकारात्मक मत के द्वारा·······एक ही देश संयुक्तराष्ट्र अधिकार-पत्र के संशोधन में स्थायी अड़ंगा लगा सकता है।

यही है युद्ध-काल में निर्मित शान्ति की व्यवस्था !

पहले महायुद्ध में एक तो रूस पराजित हुआ था और दूसरे विजयी मित्रराष्ट्र बोलशेविकों के विरुद्ध थे। इसलिए उसे (रूस को) शान्ति-सम्मेलन में स्थान नहीं दिया गया। १९१९ में शान्ति की जिस व्यवस्था का निर्माण किया गया था उसमें जर्मनी, बलगारिया, तुर्की और मुख्यतः आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य को अपराधी माना गया था। अब रूस ने केवल दूसरे महायुद्ध में ही विजय नहीं प्राप्त की है प्रत्युत उसने पहला महायुद्ध भी जीता है, क्योंकि अब उसे जो कुछ प्राप्त हुआ है वह पहले आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य, बलगारिया और आधा जर्मनी था। तुर्की अपवाद है।

ब्रिटेन ने सैनिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पहले महायुद्ध में विजय पाई थी। उसका प्रतिस्पर्धी जर्मनी पराजित हो चुका था। रूस क्रान्ति में व्यस्त था। तुर्की का साम्राज्य घटा दिया गया था। जापान तथा अमरीका ने अभी तक ब्रिटेन के प्रभुत्व को चुनौती नहीं दी थी और उसकी आर्थिक शक्ति खूब बढ़ी-चढ़ी थी। ब्रिटेन ने दूसरे महायुद्ध में भी विजय पाई, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से नहीं। रूस उसे पीछे धकेल रहा है। ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति भी ख़राब है। उसके उद्योग-धन्धों तथा नगरों का पुनर्निर्माण आवश्यक है। उसके साम्राज्य में असंतोष फैला हुआ है। युद्ध की थकान ने उसे इतना शिथिल कर दिया है कि रूस और अमरीका के मुकाबले में अपने प्रभुत्व की रक्षा करना उसके लिए असम्भव हो गया है।

अमरीका दोनों ही महायुद्धों में विजयी हुआ। पहले महायुद्ध में अमरीका इंग्लैंड और फ्रांस पर जर्मनी की विजय न होने देने के लिए सम्मिलित हुआ था। इस उद्देश्य की सिद्धि होने पर अमरीका अपने घर वापस चला गया। उसे लाभ उठाने अथवा अतिरिक्त जिम्मेदारी लेनें की इच्छा न थी। यूरोप की चिन्ता से मुक्त होकर वह अपनें आमोद-प्रमोद में फिर से डूब जाना चाहता था। दूसरे महायुद्ध में अमरीका इंग्लैंड और फ्रांस पर जर्मनी की और सम्पूर्ण चीन पर जापान की विजय न होने देने के लिए सम्मिलित हुआ था। इस उद्देश्य की भी सिद्धि हो गई, पर अबकी बार अमरीका घर वापस नहीं गया।

भाग—३

दोहरी अस्वीकृति

: २० :
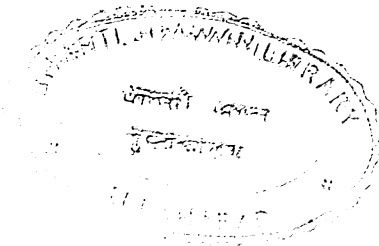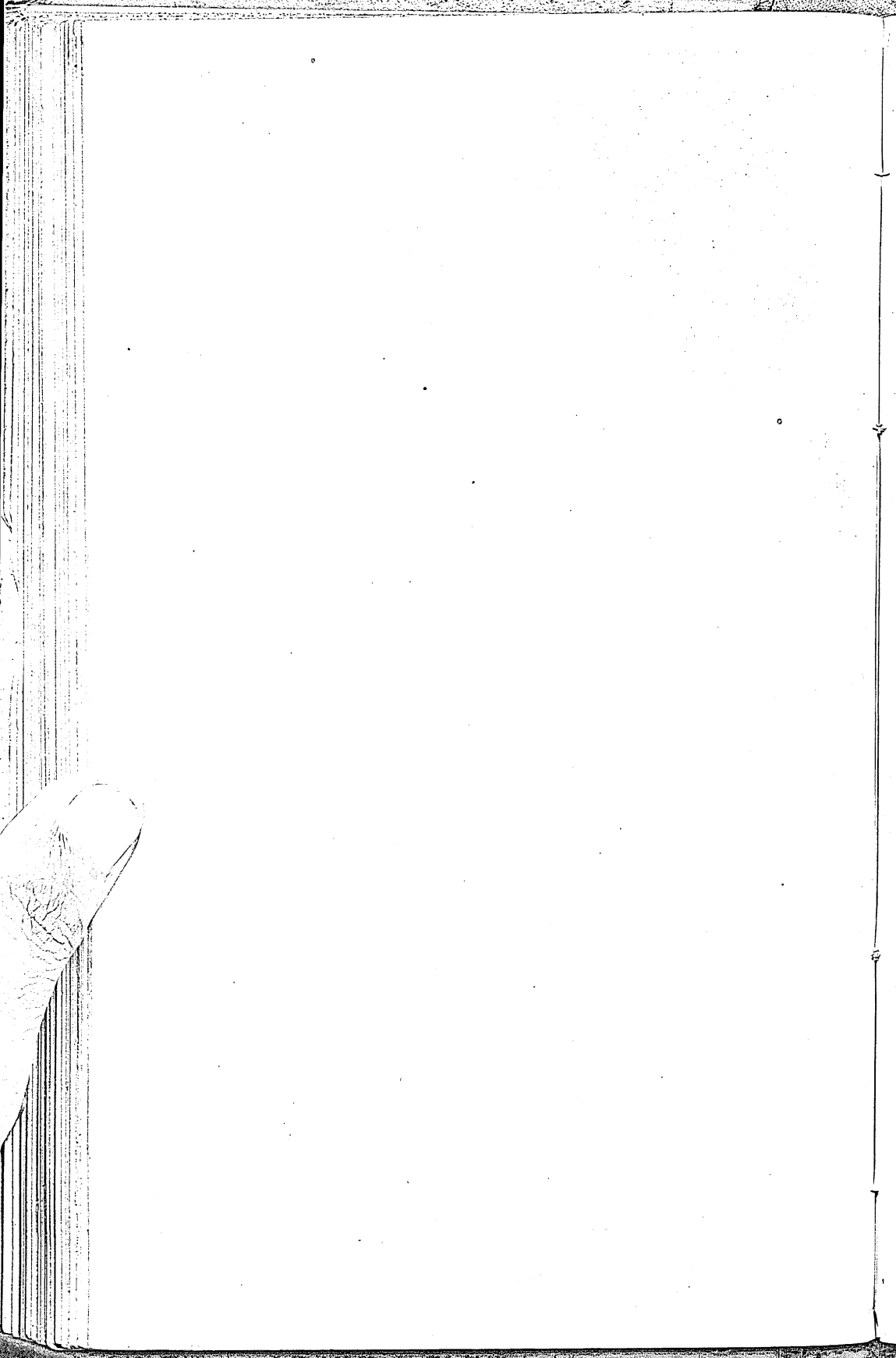
दोहरी अस्वीकृति

मैं जब भारत में अंग्रेजों से बात करते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निन्दा करता था तो वे कहते थे—"और अमरीका वाले हब्शियों के प्रति जो व्यवहार करते हैं उसके सम्बन्ध में आपका क्या कहना है ?"

मैं उत्तर देता था—"मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जिस प्रकार निन्दा करता हूँ उसी प्रकार अमरीकी श्वेतांगों द्वारा हब्शियों के विरुद्ध भद-भाव की नीति की भी निन्दा करता हूँ।"

मैं दोनों ही की निन्दा करने वाला हूँ !

मैं पोलैंड के जमींदारों और वहां की कठपुतली प्रजा—दोनों ही को नापसंद करता हूं। जर्मनों द्वारा किये गए अत्याचारों और उन पर होने वाले अत्याचारों दोनों ही का मैं निंदक हूं। मैं तो अत्याचार-मात्र का निंदक हूं।

यदि आप एक बुरी बात को अस्वाकार कर देते हैं और उसी के समान तथा वैसी ही एक अन्य बुराई को स्वीकार कर लेते हैं तो आप वस्तुतः एक सिद्धान्त की हत्या करके अच्छी बात के लिए अपनी लड़ाई का परित्याग कर देते हैं। हो सकता है कि जिसे आप कम बड़ी बुराई मानते हैं वह अधिक बड़ी बुराई निकले। इससे अच्छा तो यह है कि आप दोनों में से एक भी बुराई न स्वीकार करें और मानव-समाज का उपकार करने वाला एक तीसरा ही मार्ग खोज निकालें।

कम बड़ी बुराई का सिद्धान्त हमारी संस्कृति के लिए एक भारी ख़तरा है। इसका असर व्यावहारिक राजनीति पर भी पड़ता है।

चर्चिल रूस की विस्तार-नीति की निन्दा करता हैं, किन्तु ब्रिटेन और अमरीका की संधि की हिमायत करता है। स्टालिन चर्चिल का निंदक है। परन्तु नेहरू विश्व-व्यवस्था और उसके अंतर्गत भारतीय स्वाधीनता का हामी है। चर्चिल और स्टालिन में से मैं किसी का प्रशंसक नहीं हूं। नेहरू को पसन्द करता हूँ।

एक आदमी रूमानिया, पोलैंड और ईरान में रूस के कार्यों की निन्दा

करता है। दूसरा आदमी रूस का हिमायती है। वह कहता है—"ठीक है, किन्तु आप भारत तथा हिंद एशिया में अंग्रेजों के सम्बन्ध में क्या कहते हैं ?"

मैं रूस और ब्रिटेन दोनों ही के साम्राज्यवाद को अस्वीकार करता हूँ।

एक दूसरी बातचीत का नमूना लीजिए। एक साहब कहते हैं—"अगर रूस क्यूराइल द्वीप या पोर्ट आर्थर मांगता है तो क्या बुरा करता है ? क्या अमरीकी ओकीनावा तथा प्रशान्त के अन्य टापू नहीं मांग रहे ?"

दोनों ही बुरे हैं। दोनों ही मूर्ख हैं। द्वीप, अड्डे या प्रदेश प्राप्त कर लेने से ही रक्षा नहीं हो जाती।

साम्राज्यवाद अच्छा है या बुरा। यदि वह इंग्लैंड के लिए अच्छा है तो रूस, अमरीका, फ़्रांस और हालैंड के लिए भी अच्छा होगा। यदि साम्राज्यवाद बुरा है तो वह आपके राष्ट्र के लिए भी बुरा होगा। जिस देश से आपको नफ़रत है उसकी बुराई को आप बढ़ाकर बताते हैं और जिस देश के प्रति आपका प्रेम है उसकी वैसी ही बुराई की आप प्रशंसा करते हैं तो आप निश्चय ही एकांगी देशभक्त हैं।

"न्यूयार्क पोस्ट" में केंडेल फोस ने बर्लिन में एक बुढ़िया से अपनी मुलाकात का विवरण बताया है। बुढ़िया बोली—"रूसी आदमी नहीं राक्षस हैं। उन्हें मनुष्य के प्राणों और उसकी चीजों का कुछ भी ख़्याल नहीं रहता। वे लोगों को सड़क से पकड़ लेते हैं और फिर उनके बारे में कभी कोई बात नहीं सुनाई देती। रूसी अधिकृत प्रदेश में मेरी बहन के मकान के सामने रूसी पुलिस ने जेल खोला है। मेरी बहन अच्छे कपड़े पहने हुए स्त्री-पुरुषों को दरवाज़े के भीतर घसीटे जाते देखती है और रात को उनका आर्त्तनाद सुनाई पड़ता है। इस तरह की एशियाई अव्यवस्था की रोक-थाम होनी चाहिए।"

श्री फोस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि रूसी अधिकृत क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है उसके लिए पहले की परम्परा मौजूद है। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि एक अत्याचार दूसरे अत्याचार की परम्परा के आधार पर किया जाय तो इस संसार का क्या होगा ?

सितम्बर १९४५ में "तीन बड़ों" का जो सम्मेलन लंदन में हुआ था उसमें अमरीका के प्रधान अधिकारी बर्न्स ने रूमानिया तथा बलगारिया में स्वतन्त्र चुनाव करने की मांग की थी। तब कुछ आलोचकों ने कहा था—"मि० बर्न्स बालकान देशों में स्वतन्त्र चुनाव की मांग क्यों करते हैं, जब उनके अपने प्रान्त दक्षिणी क़ैरोलिना में ही स्वतन्त्र चुनाव की सुविधा नहीं है।"

मुझे बर्न्स द्वारा रूमानिया और बलगारिया में स्वतन्त्र चुनाव की मांग

करने पर कुछ भी आपत्ति नहीं है। इससे दक्षिण केरोलिना में स्वतन्त्र चुनाव की मांग पेश करने का रास्ता साफ हो जाता है।

कैथोलिक लोग स्टालिन की नित्य ही आलोचना करते हैं। परन्तु जब रूसी पोप की राजनीति की आलोचना करते हैं तो वे नाराज़ होते हैं। कम्यु-निस्ट चीन में स्वतंत्रता को कम करने के लिए चांग-काई-शेक की निन्दा करते हैं। परन्तु रूस में सोवियत् सरकार ने स्वतन्त्रता का जो पूर्ण अपहरण कर लिया है, इससे उनके कान पर जूँ भी नहीं रेंगती।

सिद्धान्तों के परित्याग तथा कायरता के कारण हमारी सभ्यता संकट में पड़ गई है, शायद निर्दोष सरकार तो कोई हुई ही नहीं, मेरा देश गलती कर सकता है, चाहे वह मेरा देश ही क्यों न हो। यदि मेरी सरकार तानाशाही होती तो मैं उसे भी उलटने का प्रयत्न करता।

जिस प्रकार अन्य देश द्वारा किये किसी दुष्कर्म से मैं घृणा करता हूं उसी प्रकार अपने देश के कुकृत्य से भी मैं घृणा करता हूं। दोहरी अस्वीकृति के लिए मनुष्य को तटस्थ होकर विचार करना चाहिए और तटस्थ होकर ही अपना मत स्थिर करना चाहिए।

कुछ लोगों में अपनी मातृभूमि के प्रति धार्मिक भावना होती है। कुछ लोगों का किसी विदेश के ति धार्मिक भाव रहता है। दुनिया की घटनाओं के प्रति उनके दृष्टिकोण पर जब इस धार्मिक भावना का प्रभाव पड़ता है तभी वे सत्य की बलि चढ़ा देते हैं। वे अपने को भ्रम में डालते हैं। वे राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से विचार करते हैं और उसी दृष्टिकोण के आधार पर अपना मत स्थिर करते हैं।

आजकल स्त्री-पुरुष विशुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से विचार नहीं करते। परिस्थिति का स्पष्ट चित्र प्राप्त करने के स्थान पर धार्मिक, राष्ट्रीय, जातीय तथा दलगत भावनाएं उनके विचारों को प्रभावित करती हैं। मैं स्वयं अनुभव कर चुका हूं कि भावनाएं मनुष्य की दृष्टि को कितनी धूमिल बना सकती हैं। इसलिए मैंने फैसला कर लिया है कि मुझे अपने साथ कुछ भी रियायत नहीं करनी चाहिए। घटनाओं का विश्लेषण तथा अध्ययन करने वाले को भावनाओं से प्रभावित नहीं होना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो अपने साथ न्याय नहीं करता।

इस निरपेक्ष दृष्टि से कार्य करने की इच्छा को प्रोत्साहन मिलता है। इस बात का ज्ञान कि यह बुराई सभी जगह घुसी हुई है, उस बुराई का मुका-बला करन् के संकल्प को बल प्रदान करता है। दोहरी अस्वीकृति से कार्य करने के लिए स्फूर्ति मिलती है, क्योंकि मानव-समाज के उद्धार के लिए कुछ करने की

आवश्यकता का हम अनुभव करने लगते हैं। १९३० में अत्यधिक आशावाद दूसरे महायुद्ध का एक कारण था। जनता के मन में भ्रम पैदा हो गया था कि परिस्थिति उतनी गम्भीर नहीं है, जितनी बताई जाती है। वह सोचती थी कि किसी-न-किसी तरह परिस्थिति में सुधार हो जायगा और हिटलर भी क्रमशः रास्ते पर आ जायगा। उस समय निराशा अथवा घबराहट होती तो कदाचित् दूसरा महायुद्ध न छिड़ता। इस प्रकार निराशावाद कभी-कभी उपयोगी होता है। अब भी दोहरी अस्वीकृति के दृष्टि-कोण से हमें इर्द-गिर्द फैले हुए संकटों का बोध हो सकता है।

अधिकांश व्यक्ति, कभी-कभी बिना जाने हुए ही, दोहरी अस्वीकृति से बचना चाहते हैं। दोहरी अस्वीकृति की अवस्था में उनके लिए सिद्धान्त पर जम जाना आवश्यक हो जाता है। परन्तु सिद्धान्त पर जमना कितनें व्यक्तियों को अच्छा लगता है?

कुछ अमरीकी, जो रूस की तारीफ के पुल बांधा करते हैं, इसका कारण है। अमरीकी-प्रणाली की बुराइयों के कारण वे उसे अस्वीकार कर देते हैं। तब वे एक दूसरी—रूसी-प्रणाली को स्वीकार करते हैं। यदि उनसे कहा जाय कि रूसी प्रणाली में भी बुराइयां हैं तो उन्हें प्रसन्नता नहीं होती। ऐसा कहने से उनका नैतिक आधार जाता रहता है।

किसी ऐसी अच्छाई को स्वीकार कर लेना, जिससे आपका परिचय नहीं है, अथवा निकट की किसी भी परिस्थिति को स्वीकार कर लेना, क्योंकि दूसरी परिस्थिति का ज्ञान नहीं है, कमजोरी प्रकट करता है। बोलशेविज़्म में जो भी बुराई है, उसे मैं नहीं मानता। इसी प्रकार पूंजीवाद की बुराई भी मुझे मान्य नहीं है। मैं तो कोई ऐसी वस्तु चाहता हूं, जो इन दोनों से बढ़कर हो।

दोहरी अस्वीकृति नकारात्मक अस्वीकृति नहीं होती। यह एक क्रियात्मक सिद्धान्त है, जो मौजूदा हालत में परिवर्तन चाहता है। वह उज्ज्वल भविष्य की तरफ अग्रसर होने का हामी है।

अज्ञात समुद्रों में बढ़ने वालों को ही नये महाद्वीपों या नई दुनिया का पता लगता है। नई दुनिया की जरूरत है। यह नई दुनिया कहां है? यह उज्ज्वल भविष्य किस दिशा में बढ़ने से प्राप्त हो सकता है? नई दुनिया या उज्ज्वल भविष्य का दिखाई देना आसान नहीं है। यह हमें पुरातनवादियों से नहीं प्राप्त हो सकता। यह ता हमें सुधारवादियों या निश्चित कार्यक्रम रखने वाले ऐसे असंतुष्ट व्यक्तियों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जिनमें कल्पना है, जो संकुचित पथ पर बहादुरी से आगे बढ़ना जानते हैं और जो दोनों मार्गों के विरोधियों की गोलियों को सहने के लिए तत्पर रहते हैं।

: २१ :

एक भारी संकट

हममें से प्रत्येक व्यक्ति विद्रोही होता है। यह विद्रोह एक रात, एक दिन, एक वर्ष या जीवन भर रह सकता है। यह भी सम्भव है कि विद्रोह का अंत किशोरावस्था के साथ ही हो जाय अथवा उसका प्रारम्भ उस समय हो जब वृद्धावस्था आने वाली हो। यह विद्रोह किसी काम की थकान से, शत्रुओं से घिरे रहने पर या जीवन में दिखाई देनें वाले पाखंडों के प्रति हो सकता है। निर्धनता, अधिकार, धन, स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों पर लगे प्रतिबंधों अथवा माता-पिता के शासन के विरुद्ध यह विद्रोह उठ सकता है। मुख्य बात यह है कि हम सभी में कम या अधिक विद्रोह की मात्रा रहती है।

जहां एक ओर धनाधीश अपनी सुसज्जित नौका में बैठा हुआ कम्युनिज़्म का स्वप्न देखता है, वहां दूसरी ओर निराशापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला हब्शी मजदूर धर्म की शरण में जाने की सोचता है। यदि अंग्रेज़ कवि एक समय कम्युनिज़्म से प्रेरणा प्राप्त करते थे तो अब वे केथोलिक बनते हैं या जीवन से मुक्ति पाने के लिए योग की शरण में जाते हैं। एक नाज़ी-विरोधी जर्मन कम्यु-निस्ट कवि ने १९३९ में सोवियत् सरकार की नीति में एकाएक परिवर्तन होने के कारण आत्म-हत्या कर ली थी। हीवुड ब्राउन नामक पत्रकार ने पहले कम्यु-निस्ट सिद्धान्त स्वीकार किये और फिर उन्हें छोड़कर रोमन केथोलिक बन गया। हिटलर के शासन-सूत्र संभालते ही जर्मनी के कम्युनिस्ट दल के एक तिहाई सदस्य नाजी बन गये। फ्रांसीसी फाशिस्ट-नेता डोरिअट पहले कम्युनिस्ट इंट-र्नेशनल का उच्च अधिकारी था। नाजियों का मित्र लवाल भी एक समय कम्यु-निस्ट था।

कम्युनिज्म, केथोलिक सम्प्रदाय और एक सीमा तक फाशिज़्म दुनिया के सभी प्रश्नों का अलग-अलग उत्तर प्रदान करते हैं। एक व्यक्ति ने इनमें से पहले एक को अपनाता है और असन्तुष्ट रहने पर दूसरे की शरण में जाता है।

एक हब्शी, एक यहूदी और एक फाशिस्ट कम्युनिस्ट हो जाता है और

एक कम्युनिस्ट आत्म-हत्या कर लेता है, या केथोलिक हो जाता है या नाज़ी बन जाता है। जो भी जीवन वे बिता रहे होते हैं उसके प्रति यह विद्रोह है। वे विद्रोही हैं और मौजूदा जीवन उन्हें नहीं सुहाता इसलिए उसका परित्याग कर रहे हैं।

हिटलर से पूर्व जर्मनी में कितने ही यहूदी कम्युनिस्ट बने और फिर यहूदी धर्म में प्रविष्ट हो गए। इस प्रकार उन्होंने परोक्ष रूप से जर्मनी के प्रति अपनी विद्रोह की भावना प्रकट की।

अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस में ऐसे कितने ही लोग हैं, जिन्होंने पहले कम्युनिस्ट दल से सम्बन्ध तोड़ दिया था और अब फिर उसी में सम्मिलित हो गये हैं। वे दूसरा मार्ग खोजना चाहते थे, पर वह उन्हें मिला नहीं।

कम्युनिस्टों का स्टालिन और रूस की सत्ता में विश्वास है। उनकी भी नींव मार्क्स के सिद्धान्त हैं और पार्टी उनका संगठन है। कम्युनिज़्म और केथोलोसिज़्म के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर है, किन्तु मानसिक दृष्टि से एक को छोड़कर दूसरे में जाना एक पग आगे बढ़ाने से अधिक महत्त्व का नहीं है।

इस युग के सबसे बड़े राजनीतिक विद्रोही कम्युनिस्ट अथवा फाशिस्ट रहे हैं। कम्युनिस्ट पूँजीवादी संसार का परित्याग करते हैं। वे रूस का पक्ष ग्रहण करते हैं, जिसे वे परित्यक्त पूँजीवादी संसार का शत्रु समझते हैं। कम्युनिस्टों का विचार है कि पूंजीवाद में सुधार असम्भव है। वे क्रान्तिवादी हैं। वे पूर्ण परिवर्त्तन के हामी हैं। इस परिवर्त्तन के लिए वे रूस को एक साधन मानते हैं। वे संघर्ष इसलिए करते हैं कि उन्हें और रूस को परिवर्त्तन करने के लिए शक्ति प्राप्त हो सके। कम्युनिस्ट दल सुधार का साधन नहीं है, वह तो शक्ति प्राप्त करने का साधन है।

कम्युनिज़्म और फाशिज़्म की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि सभी वर्गों, दलों तथा व्यक्तियों के हाथ से शक्ति छिनकर राज्य में केन्द्रित हो जाती है, राज्य इतना शक्तिशाली हो जाता है कि व्यक्ति में विद्रोह करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। इस प्रकार विद्रोह का अन्त विद्रोह को असम्भव कर देने के रूप में होता है।

सोवियत् रूस में स्त्री और पुरुष कम्युनिस्ट दल में अपने विश्वास और परम्परा के कारण ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक तथा आर्थिक कारणों से भी सम्मिलित होते हैं। इसके विपरीत, रूस के बाहर लोग कम्युनिस्ट दल में अपने विद्रोही विचारों के कारण सम्मिलित होते हैं। वे संसार की व्यवस्था में परिवर्त्तन करना चाहते हैं। कम्युनिस्ट दल क्रियाशील है। वह अपने सदस्यों

से अनुशासन, सचाई और सेवा-भावना की आशा रखती है। दल की शरण में कम्युनिस्टों को काम तथा साहचर्य प्राप्त होता है। कुछ अमीर आदमियों, जैसे विरासत में भारी सम्पत्ति प्राप्त करनें वालों और हालीवुड के लेखकों के अंतःकरण को कम्युनिस्ट दल में सम्मिलित होने से शान्ति मिलती है। अन्य लोग कम्युनिस्ट इसलिए होते हैं कि वे एकाकी, निराश, कार्य करने को उत्सुक अथवा समाज से असंतुष्ट हैं। कम्युनिस्ट बनने से दोस्त मिलते हैं; पार्टियों में जाने का अवसर मिलता है, और संचित शक्ति को व्यय करने का रास्ता निकलता है।

औसत कम्युनिस्ट एक औसत फाशिस्ट की अपेक्षा अधिक सरस और सच्चा होता है। फाशिज्म ऐसे लोगों को आकर्षित करता रहा है और अब भी करता है, जिनकी अपराधी मनोवृत्ति है, जो समाज से निकाले हुए हैं और जिन्हें हिंसा से प्रेम है। फाशिस्टों में ऐसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति भी आपको मिलेंगे, जो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए बदमाशों का समर्थन प्राप्त करते हैं। इसके सिवा फाशिस्टों में ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है, जिनमें घृणा भरी हुई है और जिन्हें मरने-मारने में ही आनंद आता है।

कभी-कभी निराशा मनुष्य को क्षुब्ध कर देती है और क्षुब्ध व्यक्ति को सिद्धान्तों का मोह नहीं होता। उन्माद मनुष्य की शान्ति नष्ट कर देता है। घबराहट और खून की गरमी उसके मस्तिष्क को निकम्मा कर देते हैं। बुद्धि भावोद्वेग की दासी बन जाती है। विचार विश्वास के मध्य डूब जाता है। सिद्धान्त का महत्त्व नहीं रह जाता, क्योंकि सिद्धान्त को महत्त्व देने पर कार्य की सिद्धि के लिए अवसरवादिता का आश्रय नहीं लिया जा सकता।

अब प्रत्येक लोकतंत्रवादी सत्ता को तानाशाही की छूत लग रही है। इसछूत नें संसार में एक सांस्कृतिक संकट उत्पन्न कर दिया है।

अभी कुछ समय पूर्व मुझे इसका एक उदाहरण देखने में आया। एक ब्रिटिश प्रकाशक ने सितम्बर १९४५ में मेरी पुस्तक "साम्राज्य" प्रकाशित की और पाठ्य-सामग्री में कतिपय परिवर्त्तन कर दिये। प्रकाशक, विशेषकर अंग्रेज प्रकाशक, इस विषय में बड़ी सावधानी रखते हैं। परिवर्त्तन करने से पहले वे लेखक से अनुमति ले लेते हैं। परन्तु इस पुस्तक में परिवर्त्तन करते समय मुझ से सलाह नहीं ली गई। मैंने लिखा था कि चाहे गांधी को भारत भर में सभी न जानते हों, किन्तु "इससे भारत की स्वाधीनता के लिए योग्यता के सम्बन्ध में कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। सोवियत् सरकार की स्थापना के समय १०० रूसियों में से कदाचित् एक ने भी लेनिन या ट्राट्स्की का नाम नहीं

सुना था।" पुस्तक के ब्रिटिश संस्करण में "५१ ट्राट्स्की" शब्दों को निकाल दिया गया था। एक अन्य स्थान पर मैंने लिखा था कि "मैं रूस विरोधी नहीं हूं, मैं स्टालिन-विरोधी हूं।" इन शब्दों को भी निकाल दिया गया था। एक अन्य स्थल पर मैंने लिखा था—"जब से मैं भारत आया हूं और यहां जिन लोगों से मिलनें का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है उनमें से प्रत्येक पांचवें आदमी ने मुझसे कहा है कि वह जेल जा चुका है। मैं रूस और जर्मनी में भी रह चुका हूं। उन देशों में ऐसा कोई व्यक्ति शायद ही मिले, जो जेल जा चुका हो। वहां जेल जाने वाले जेल में ही रह जाते हैं।" यहां भी रूस का उल्लेख निकाल दिया गया था। इसी प्रकार एक अन्य स्थान से भी रूस-विरोधी तथा स्टालिन-विरोधी अंश को निकाल दिया गया था।

निश्चय ही यह काट-छांट किसी कम्युनिस्ट ने या कम्युनिस्टों से सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति ने की थी। उसकी दृष्टि में अमरीका या ब्रिटेन की नीति की आलोचना करने में कोई हर्ज नहीं है, परन्तु स्टालिन और उसकी नीति पर किसी तरह आँच न आनी चाहिए।

हमारी सभ्यता की एक बहुत बड़ी विशेषता का यह एक साधारण-सा उदाहरण है। यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यह तानाशाही पाखंड का ही एक अंग है। मास्को के मुकदमों में यही प्रवृत्ति दिखाई दी थी। अब भी यह हमें सोवियत् प्रकाशनों, कम्युनिस्टों की विदेशी पत्रिकाओं तथा उनके तर्कों में मिलती है। यदि एक कम्युनिस्ट किसी लेखक के अप्रिय शब्दों को दबा देने के लिए तत्पर रहता है तो वह स्वयं लिखते या बोलते समय उतनी ही ईमानदारी या सचाई का परिचय क्यों नहीं देता? तानाशाही के अन्य हिमायतियों की तरह कम्युनिस्ट भी सत्य की रक्षा का विशेष ध्यान नहीं रखते।

एलीनर रूज़वेल्ट ने २२ जून, १९४५ को लिखा था—"कम्युनिस्टों के अपने दल के सदस्य होने अथवा उनके उद्देश्यों पर मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है। कितने ही वर्षों से वे मिथ्यावाद के सिद्धान्त का प्रचार करते रहे हैं। उन्होंने यह भी प्रचार किया है कि दल के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन और दल के नेताओं के आदेशों को मानना सर्वोपरि बात है और वह भी ऐसी दशा में जब कि दल के नेताओं तथा अमरीका के स्वार्थ सदा एक जैसे नहीं होते। मैं अमरीकी कम्युनिस्टों के धोखे को देख चुकी हूं। इसलिए मैं कभी उन पर विश्वास नहीं कर सकती।"

यदि आपको उन पर विश्वास नहीं है तो आप उनके साथ काम भी नहीं कर सकते।

मिथ्या बातों का प्रचार कम्युनिस्टों के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। सत्य की रक्षा की कम्युनिस्ट खिल्ली उड़ाते हैं। लिखने और बोलने को वे अपने उद्देश्य की सिद्धि का साधन मात्र मानते हैं और यही करते भी हैं। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े असत्य का प्रयोग करने से वे नहीं चूकते। चरित्र की हत्या करने और दूसरे को बदनाम करने को भी वे उद्देश्य-सिद्धि का उत्तम साधन मानते हैं।

यह दूसरे को बदनाम करने का युग है। तर्क के अभाव में तानाशाहियां कीचड़ उछालती हैं। "प्रतिक्रियावादी", "ट्राट्स्की का अनुयायी", "फाशिस्ट" आदि कहकर किसी को बदनाम करना सर्वसाधारण के मस्तिष्क पर अधिकार करने का सबसे सहज तरीका है।

शब्दों का गलत प्रयोग करके किसी को बदनाम करना आजकल की सबसे बड़ी बुराई है। गोइबल्स पश्चिमी राष्ट्रों को "अमीर पूंजीवादियों की यहूदी लोकतंत्रवादी सत्ताएं" कहा करता था। कम्युनिस्ट पहले नाज़ियों को "समाजवादी फाशिस्ट" कहा करते थे और फिर उन्हीं से उन्होंने समझौता कर लिया था। आजकल कम्युनिस्ट लोग प्रत्येक कम्युनिस्ट बात को "लोक-तंत्रीय" और "फाशिस्ट-विरोधी" कहते हैं और प्रत्येक लोकतंत्रीय तथा उदार वस्तु को कम्युनिस्ट-विरोधी तथा प्रतिक्रियावादी बताते हैं। इसी प्रकार ब्रिटेन के कट्टरपंथी प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जिसे वे नहीं पसन्द करते, कम्युनिस्ट कहते हैं।

यदि हमारी आंखें नहीं खुलतीं तो यही कटु शब्द लोकतंत्रवाद को बांध रखने वाली जंजीरें बन जायंगे। शब्द विचारों को आगे बढ़ाते हैं और विचार दुनिया को उचित अथवा अनुचित रूप से प्रभावित करते हैं।

कम्युनिस्टों में सचाई का अभाव और उनके द्वारा सत्य का अनादर ही उनके लोकतंत्रवाद के विरोध का मुख्य कारण है। शब्दों और विचारों के एक विशेष उद्देश्य की प्राप्ति का साधन होने के कारण वे एकांगी दृष्टिकोण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। जब राजनीतिक उद्देश्य की प्रधानता मुख्य है तब विचार किस प्रकार स्वतंत्र रह सकते हैं?

लेखकों, व्याख्यानदाताओं तथा कलाकारों के लिए विचार-स्वातंत्र्य महत्त्व की वस्तु है, किन्तु वे कम्युनिस्टों के इशारों पर चलना आवश्यक समझते हैं। कम्युनिस्टों का संगठन चाहे जिस भी देश में क्यों न हो, मजदूर-सभाओं अथवा उनके राष्ट्रीय संगठन चाहे जहां क्यों न हों, नागरिकों का संघ अथवा ऐसी पत्रिका कहीं भी क्यों न हों—यदि कम्युनिस्टों का उन पर प्रभाव है तो

ये पत्रिकाएं और संगठन कभी रूस के सम्बन्ध में सत्य बात नहीं कहेंगे। वे इंग्लैंड, फ्रांस, अमेरिका तथा अन्य देशों की बड़ी उत्साह से निन्दा करते हैं पर वे रूस की आलोचना कभी नहीं करते। यद्यपि यह सरासर झूठ का प्रचार है, फिर भी कम्युनिस्ट-दलों की तरफ लोग आकर्षित होते हैं।

ऐसा करने वालों के इरादे अलग-अलग होते हैं। कुछ अधिक बड़ी फौजों का समर्थन चाहते हैं। कुछ इस धमकी से प्रभावित होते हैं कि यदि अमुक बात का समर्थन नहीं किया गया तो उनका जीवन नीरस और शुष्क कर दिया जायगा। अन्य लोग इसलिए सम्मिलित होते हैं कि प्रकाश में आने वाले दूसरे कितने ही लोग कम्युनिस्टों की हां-में-हां मिलाते हैं और वे स्वयं भी उन्हीं के समान प्रकाश में आने को उत्सुक हैं। कुछ लोग केवल हलचलों, डिनरों, सम्मेलनों तथा विभिन्न कार्रवाइयों में शरीक होना चाहते हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि दुनिया में चारों तरफ बुराई-ही-बुराई है, पर ऐसे विरले ही हैं जो उस बुराई से लाहा लेते हैं। स्वाधीनता और सुख का प्रसार करने वाली एक प्रणाली के लोप होने का संकट केवल इसीलिए बढ़ गया है कि कुछ लोग और अधिक स्वाधीनता तथा सुख चाहते हैं। परन्तु इस संकट से प्रणाली के समर्थकों को स्वाधीनता और सुख के क्षेत्र का विस्तार करने के लिए प्रेरणा नहीं प्राप्त होती। इससे केवल प्रणाली के शत्रुओं को ही बल प्राप्त होता है, जो अधिक स्वाधीनता तथा अधिक सुख की मृग-मरीचिका दिखाकर स्वाधीनता का पूरी तरह गला घोंटकर ही दम लेंगे।

ब्रिटेन में मजदूर-दल के शक्तिशाली होने के कारण वहां कम्युनिस्ट-दल की शक्ति अधिक नहीं है। युद्ध से पूर्व आस्ट्रिया में कम्युनिस्टों का बल बहुत कम था, क्योंकि समाजवादी-प्रजातन्त्र दल वालों के सिद्धांतों का आकर्षण अधिक था और उनकी राजनीतिक शक्ति भी अधिक थी। १९३६ से पूर्व स्पेन में कम्युनिस्टों को अधिक अनुयायी नहीं मिले, क्योंकि समाजवादियों तथा सिंडीकलिस्टों––मजदूर-संघों के हाथों में विभाजन एवं उत्पादन सौंपने के समर्थकों का दल––ने विद्रोह का झंडा फहरा रखा था। भारत में कम्युनिस्टों को अधिक समर्थक नहीं प्राप्त होते, क्योंकि वहां गांधी और नेहरू के नेतृत्व में साम्राज्यवाद के विरुद्ध मोर्चा लेने वाली प्रमुख संस्था कांग्रेस है।

ब्रिटेन के मजदूर-दल, आस्ट्रिया के समाजवादी दल और स्पेन के समाजवादी दल ने जहां एक ओर पीछे धकेलने वाले कट्टर पंथियों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया वहां दूसरी ओर तानाशाही कम्युनिस्ट के भी पैर नहीं जमने दिये। इस प्रकार दोहरी अस्वीकृति जहां प्रभावपूर्ण होती है वहां असत्य

के आधार पर कार्य करने वाले पाखंडी विद्रोहियों की दाल नहीं गलने पाती।

लोकतंत्रवादी सत्ता में जितनी ही कम कमजोरियां होंगी उतनी ही कम सम्भावना उस पर आक्रमणों की होगी। लोकतंत्रवादी सत्ता में जितनी अधिक उन्नति होगी उतनी ही वह आलोचकों द्वारा की गई निन्दा को कम पसंद करेगी, यदि लोकतंत्रवादी सत्ता निष्क्रिय होने लगेगी तो अन्य ऐसे लोगों को दोष नहीं दिया जा सकता, जो उसके स्थान पर अधिकार करना चाहते हैं।

यदि लोकतंत्रवाद को नष्ट नहीं होना है तो उसे स्वयं अपने रक्षक खोज निकालने पड़ेंगे।

लोकतंत्रवाद के शत्रु उसे नष्ट करना चाहते हैं और इसीलिए उन्होंने उसे चुनौती दी है। कम्युनिस्टों या फाशिस्टों का लोकतंत्रवाद में विश्वास नहीं है, फिर भी वे अपने को लोकतंत्रवादी कहते हैं। फाशिस्ट लोकतंत्रवादियों में सम्मिलित होने के बाद भीतर से उसकी शक्ति नष्ट करना चाहते हैं। इससे लोकतंत्रवादी शक्तियां क्षीण होती हैं और फाशिज्म का बल बढ़ता है। यूरोप के कई देशों में कम्युनिस्टों के कारण फाशिज़्म की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी से हिटलर को बड़ी सहायता मिली थी। अमेरिका के ट्रेड यूनियन आन्दोलन की एकता और शक्ति के ह्रास का कारण कम्यनिस्ट ही हैं।

यदि लोकतंत्रवाद में अपने पुनर्निर्माण के लिए साहस, ओज और कल्पना की कमी है तो यह उसके लिए सबसे बड़ी चुनौती है। यदि कहीं लोकतंत्रवाद में त्रास, दमन अथवा जातीय भेद-भाव बना हुआ है तो यह उसके लिए एक भारी संकट है।

: २२ :

दूसरे महायुद्ध के बाद

छोटे राष्ट्रों पर महाशक्तियां छा गई हैं। पृथ्वी के बंटवारे के प्रश्न पर महाशक्तियों में समझौता नहीं हो पा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीयता के आवरण के पीछे आक्रामक राष्ट्रीय प्रवृत्तियां छिपी हुई हैं। साम्राज्यवादी लूट-मार के लिए "रक्षा" का बहाना बनाया जाता है। आर्थिक युद्ध छिड़ जाते हैं। उपनिवेशों की विद्रोही जनता का क्रूरता से दमन किया जाता है। जिन करोड़ों प्राणियों ने कष्ट में युद्ध के दिन गुज़ारे थे अब वही प्रतिहिंसापूर्ण शान्ति की यातनाएं भुगत रहे हैं। न्याय तथा जनता के हितों का गला घोंट कर शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। कहीं-कहीं इन्हें रोकने की शक्ति सरकारों में नहीं है और कहीं सरकारों के ही आगे जनता का बस नहीं चलता। नेता सत्य पर पर्दा डालने के लिए प्रयत्नशील हैं, क्योंकि सत्य प्रकट होने पर उनकी नेतागिरी संकट में पड़ जायगी। सरकारी अफसरों ने झूठी आशा फैला रखी है। अधिकारीवर्ग अनिश्चित नीति का सहारा पकड़े हुए हैं और सोचते हैं कि कदाचित् उसी पर चलने से सफलता मिल जाय। समस्याओं का समझदारी से निबटारा हो सकने में जनता का कुछ भी विश्वास नहीं रह गया है। यह सब प्रवृत्तियां हमारे लिए नई नहीं हैं। इन्हें हम पहले भी देख चुके हैं। संसार में युद्ध अभी जारी है।

सबसे अधिक चिन्ता में डालने वाली बात तो वर्तमान अवस्था की पिछली कुछ उन परिस्थितियों से समानता है, जिन के कारण युद्ध छिड़ चुके हैं।

कोई भी ईमानदार व्यक्ति नहीं कह सकता कि जिन परिस्थितियों के कारण दूसरा महायुद्ध हुआ वे युद्ध में बरते गए अथवा शान्ति के लिए काम में लाये गए तरीकों के कारण मिट सकी हैं। युद्ध जिस उद्देश्य से लड़ा जाता है उसके सिद्ध हुए बिना वह समाप्त नहीं होता। इसीलिए कहा जा सकता है कि अभी दूसरा महायुद्ध समाप्त नहीं हुआ है। वर्तमान शान्ति को शान्ति नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि दुनिया में अभी तक संघर्ष चल रहा है।

हिटलर, मुसोलिनी और जापानी युद्ध-नेता अब नहीं रहे। जर्मनी, इटली और जापान की युद्ध-कालीन सरकारों का भी नाम-निशान बाकी नहीं है ये बड़ी सफलताएं हैं और इन्हें प्राप्त करने के लिए असंख्य प्राणी अपनी जानें होम चुके हैं और कितने ही व्यक्ति अपने अंग, अपना स्वास्थ्य और अपना मानसिक शान्ति गंवा चुके हैं। परन्तु यदि हम अधिक सुखद संसार का निर्माण कर सकते तो ये सफलताएं और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होतीं। परन्तु अब तो इनके कारण कितनों ही को अपनी राष्ट्रीय स्वार्थपरता की प्यास बुझाने, प्रदेशों के लिए छीना-झपटी करने, अन्यायपूर्ण एकांगी कार्य करने और पिछली संधियों को भंग करने का अवसर मिल गया है।

इतना ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में हमें एकता की तरफ अग्रसर करने वाले किसी सिद्धान्त किसी नैतिक आदर्श, कार्य करने के किसी संयुक्त कार्य-क्रम, किसी समान लक्ष्य और किसी स्पष्ट उद्देश्य का भी अभाव दिखाई देता है।

हिटलर, मुसोलिनी और जापानी युद्ध-नेता अब नहीं हैं। परन्तु क्या फाशिज्म का अन्त हो गया ? क्या तानाशाही मर चुकी ?

युद्ध पांच वर्ष से कुछ अधिक चला। इससे कितने ही देश तबाह हो गए। किन्तु जिन लोगों को युद्ध के स्मशानों और मलवे के बीच रहना पड़ रहा है उन्हें भी युद्ध एक साधारण घटना के ही समान जान पड़ रहा है, क्योंकि इसके बाद जो कुछ देखने में आ रहा है वह बहुत कुछ उसके पहले हो चुकने वाली बातों के ही समान हैं।

मानव-समाज किधर जा रहा है ? क्या अधिकारीवर्ग में से कोई कुछ जानता है ? क्या इसकी जिम्मेदारी किसी पर है ? सूर्य-मंडल में ग्रह विशेष नियमों से परिचालित होते हैं, जिनके कारण वे एक दूसरे से टकरा नहीं जाते। परन्तु राष्ट्रों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। वे समय-समय पर टकरा जाते हैं। क्या युद्ध के बाद राजनीतिज्ञ कोई ऐसा तरीका निकाल पाये हैं, जिससे वे इन टक्करों से बच सकें। नहीं, बिलकुल नहीं। परमाणु-बम की भयंकरता से भी हमें पर्याप्त शिक्षा नहीं मिल सकी।

पहले महायुद्ध ने ऐसे लाखों शान्तिवादियों को जन्म दिया, जो सैनावाद के हिमायती हैं। वे कहते हैं, युद्ध बड़ा सत्यानाशी होता है, परन्तु युद्ध अनिवार्य है; इसलिए उसके लिए तैयार रहो।

युद्ध से केवल एक ही वस्तु शेष रही है—शक्ति की अतृप्त लालसा। बड़ी सेनाएं विचारों तथा नैतिकता को धूल में मिला देती हैं। युद्ध में विजय

प्राप्त करने वाला चाहे बदमाश ही हो—राजा वही होता है। विजेता के पीछे जाना ही पड़ेगा—चाहे वह कैदखाने को ही ले जाय। झूठ और बेईमानी से काम भले ही लेना पड़े—शक्ति जरूर प्राप्त करनी चाहिए। कम्युनिस्ट तथा फाशिस्टों का यही विचार है। "शक्ति मिलने पर हम वैसे ही भीषण अत्याचार दूसरों पर करेंगे, जो वे हमारे साथ कर चुके हैं।" यह नया सिद्धान्त है। तानाशाहियों ने प्रतिरोध के कानून को स्वीकार कर लिया है।

शक्ति के पुजारियों के लिए नैतिकता एक बेहूदा शब्द है। वे कहते हैं—"आदर्शवाद--परमाणु-युग में ? क्या पागल हो गए हो ?"

उनके विचार हैं, "गांधी स्वप्नदृष्टा है, नेहरू इस दुनिया का नहीं है। उनमें धोखा देने की शक्ति नहीं है। वे जो सोचते हैं वही कह देते हैं—यहाँ तक कि अपने सम्बन्ध में भी। उनका व्यक्ति में विश्वास है।"

तानाशाही शक्ति के पूजक हैं—उसी शक्ति के, जो मनुष्य को गुलामी की बेड़ी में जकड़ लेती है और अन्त में उसे नष्ट कर देती है। फाशिस्ट विदेश-मंत्री सिम्रानो की जो डायरी प्रकाशित हुई है उसे पढ़ने से प्रकट होता है कि मुसोलिनी की दृष्टि में मनुष्य के प्राणों का क्या मूल्य था। इटली के पास खाद्य, कच्चे माल और धन की बेहद कमी थी, किन्तु मुसोलिनी यही चाहता था कि हिटलर उस के अपर्याप्त शस्त्रास्त्र से सुसज्जित इटालियन सिपाहियों का रूस के विरुद्ध अधिक-से-अधिक प्रयोग करे, ताकि उसे भी रूस का विजेता बनने का श्रेय मिले। हताहत होने वाले तथा अपंग व्यक्तियों की कोई गिनती न थी--"जो मरता है उसे मरने दो' "इटली' और 'राष्ट्र' का सम्बन्ध मुसोलिनी की दृष्टि में उस देश में रहने वाले व्यक्तियों से कुछ भी न था। देश की शक्ति क्षीण हो चली थी, पर मुसोलिनी नवीन प्रदेश पर आधिपत्य होने की आशा में खुश था। वह कमजोर और बोदे आदमियों के देश को शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहता था। सभी तानाशाहों की यही मनोवृत्ति होती है। शक्ति के भंडार को भरने की उनकी लिप्सा का कहीं भी अन्त नहीं होता।

यह तानाशाही युग है। इसका आरम्भ १९३९ से पहले हो चुका था। परन्तु युद्ध से इसका अन्त नहीं हुआ है। युद्ध इसलिए लड़ा गया था कि जिस प्रकार तानाशाहियों में केवल पशु-बल से निर्णय होते हैं उसी प्रकार संसार में भी पशु-बल के द्वारा फैसले न होने लगें। युद्ध में प्रमुख फाशिस्ट शक्तियाँ नष्ट हो गईं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पशु-बल का अब भी बोल-बाला है।

न्याय की पुष्टि के लिए बल की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु न्याय के बिना जब बल का प्रयोग किया जाता है तो वह तानाशाही का रूप धारण कर

लेता है। विचारहीन बल नास्तिकवाद है। बल का बल के लिए प्रयोग फाशिज्म है। बल द्वारा शासन लोकतन्त्रवाद के लिए सबसे बड़ा संकट है।

यदि लोकतन्त्रवादी राष्ट्र १६३६ अथवा १९३७ में अथवा १६३८ में ही सतर्क होते तो दूसरे महायुद्ध को रोका जा सकता था। इसके विपरीत 'सफल सम्मेलनों' के समाचार प्रकाशित करके लोकतन्त्रवादी राष्ट्रों की जनता को निश्चिन्त कर दिया जाता था। इतना ही नहीं, बल्कि उनमें यह धारणा भी उत्पन्न की जाती थी कि यदि वे कुछ न करेंगे—यदि वे मंचूरिया, अबीसीनिया और स्पेन में तटस्थ बने रहेंगे तो सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य रहेगा। परन्तु हुआ यह कि युद्ध छिड़ गया।

अपने अस्तित्व के लिए संकट उपस्थित हो उठने पर भी लोकतंत्रवादी राष्ट्र इतने बेख़बर क्यों रहते हैं ? वे दूर बने रहने, विरोधी राष्ट्रों को मना-कर खुश करने या चुपचाप हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने की नीति का क्यों अनुसरण करते हैं ?

आधुनिक लोकतन्त्रवाद निर्दिष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिए कोई आन्दो-लन न होकर रहन-सहन का एक ख़ास तरीका है। राष्ट्र अपने अस्तित्व की रक्षा और दौलत या दूसरे प्रलोभनों की प्राप्ति के लिए जो संघर्ष करते हैं लोकतन्त्रवाद उन संघर्षों से विश्राम की अवस्था है।

आधुनिक सभ्यता मनुष्य के क्रुद्ध होने के स्वभाव को दबा देती है। शायद इसी तरह वह चारों तरफ फैली हुई बुराइयों के प्रति निरन्तर क्रोध करने के मानसिक त्रास से बच जाता है। ईश्वर पर विश्वास रखने अथवा आज के कष्टों के बदले में भविष्य में सुख और शान्ति उपलब्ध करने के सब्ज़ बाग दिखाकर धर्म मनुष्य की विरोधी-भावना को शान्त कर देता है। व्यक्ति-वाद प्रत्येक मनुष्य की समस्या को अलग-अलग हल करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।

तानाशाही जनता को लड़ने के लिए सदा कटिबद्ध रखती है। ताना-शाही शासक अपनी प्रजा को युद्ध के लिए तैयार रहने के आदेश देते रहते हैं। इसके विपरीत लोकतन्त्रवाद सामूहिक क्रियाहीनता की ओर ले जाता है।

लोकतन्त्रवादी समाज की आंखें खोलने के लिए पर्लहार्बर के आक्रमण, अथवा सितम्बर १९३९ में इंग्लैंड के लिए उपस्थित होने वाले संकट जैसे किसी संकट अथवा घोर आर्थिक मन्दी की आवश्यकता पड़ती है। लोकतंत्रवादी जनता अपनी इच्छा से प्रेरित होकर कोई कार्य शायद ही कभी करती है। लोकतन्त्रवादी राष्ट्र को किसी कार्य के लिए उसका एक विशेष वर्ग—जैसे

मजदूर दल, कोई जातीय अल्पसंख्यक समुदाय अथवा पूंजीपतियों का कोई एक गुट विवश करता है और इसमें सफल होने के लिए उसे समाज के अधिकांश भाग का सुस्ती और उदासीनता पर विजय पानी होती है।

सार्वजनिक प्रश्नों पर जनता के बीच जो मतभेद होते हैं उनसे लोकतन्त्री सरकारों को कुछ न करने का बहाना मिल जाता है और कभी-कभी ता इन मतभेदों के कारण सरकारें सचमुच ही कोई कार्रवाई नहीं करने पातीं।

लोकतन्त्रवाद का कार्य अल्पसंख्यकों से बहुसंख्यकों की, बहुसंख्यकों से अल्पसंख्यकों की और एक अल्पसंख्यक समुदाय की दूसरे अल्पसंख्यक समुदाय से रक्षा करना होता है। इससे उसमें निष्क्रियता आ जाती है। लोकतंत्रवाद में विरोधी शक्तियों की रोक-थाम और संतुलन होता रहता है। निष्क्रियता इस रोक-थाम से और भी बढ़ जाती है।

लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति समाज को उसकी छोटी-से-छोटी इकाइयों—व्यक्तियों और परिवारों में बांट देती है। इस प्रकार लोकतन्त्रवाद विघटन को प्रोत्साहन देता है और विघटित होने पर वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है। ट्रेड यूनियनें, पूँजीपतियों के संघ तथा अन्य दल और संस्थाएं अपनी रक्षा तथा दूसरों पर हमले करती हैं, किंतु सम्पूर्ण राष्ट्र एक इकाई के रूप में कुछ नहीं कर पाता।

लोकतन्त्री सरकारें कभी कोई निर्णय नहीं कर पातीं, क्योंकि उनकी सम्पूर्ण शक्ति राष्ट्र के भीतर की विरोधी शक्तियों की रोक-थाम और उनके मध्य संतुलन स्थापित करने में ही खर्च हो जाती है।

राजनीति और विज्ञान की एक जैसी उन्नति न होने से समाज बड़ी दुविधा में पड़ जाता है। मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क जिस सर्वोत्तम तरीके को निकालने की क्षमता रखते हैं उससे परमाणु-बम का आविष्कार होता है। परंतु शान्ति-काल में परमाणु-बम के नियंत्रण का निर्णय समाज के सबसे बुद्धिमान् व्यक्तियों के हाथ में नहीं दिया जाता। इस सम्बन्ध में जो फैसला होता है वह असंख्य स्वार्थों की खींच-तान तथा अनेक आशंकाओं, प्रलोभनों, दबावों और आशाओं के घात-प्रतिघात का परिणाम है। विज्ञान का बस चलता तो निर्धनता, साम्राज्यों और पिछड़े हुए मजहबों का नाम-निशान न जाने कब का मिट गया होता, परन्तु राजनीति अभी तक इन पुरानी और बेकार बातों को कायम रखे हुए है। राजनीति शरीर की विषैली ग्रंथियों को काटकर निकाल देने से घबराती है।

दल के सबसे योग्य व्यक्ति को चुनाव में उम्मीदवार बनाया जाना

जरूरी नहीं है, बल्कि उम्मीदवार उस व्यक्ति को बनाया जाता है, जिसे सबसे अधिक वोट मिलने की सम्भावना होती है। सर्वोत्तम विचार की विजय नहीं होती, बल्कि उस विचार की होती है, जिसे जनता का समर्थन सबसे अधिक प्राप्त होता है।

लोकतंत्रवाद क्रियाशील तथा कार्यक्षम सरकार से घबराता है कि कहीं वह स्वाधीनता पर ही कुठाराघात न करने लगे। और जब किसी सरकार को सुस्ती और लापरवाही की आदत पड़ जाती है तो ज़रूरत के समय भी वह कार्य नहीं कर पाती।

इस तथ्य को समझने से स्पष्ट हो जाता है कि आक्रमणशील ताना-शाहियों का सामना होने पर लोकतंत्रवादी राष्ट्र पीछे क्यों हटते गये। इससे घरेलू समस्याएं हल करने में लोकतंत्रवादी राष्ट्रों की असमर्थता और उनके कारणों पर भी प्रकाश पड़ता है।

युद्ध से लोकतंत्रवादी राष्ट्रों की गुप्त शक्तियां सामने आ जाती हैं। संकट उनकी आंखें खोल देता है। वे अपनी शक्ति संग्रह करने लगती हैं और अंत में युद्ध में जीत जाती हैं। परन्तु राजनीति का अभिशाप और शक्ति का विघटन फिर उन पर अधिकार जमा लेता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद संसार को अनेकों महान् समस्याओं का हल करना है। यदि संकट से बचना है तो लोकतंत्रवादी देश उन समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर सकते। यातायात के साधनों की गति बढ़ने के कारण भू-मंडल पहले-से छोटा हो गया है। युद्ध के बाद महाशक्तियों की संख्या में भी कमी हुई है। संसार के एक भाग में संकट उपस्थित होने से अनेक देशों पर उसका असर पड़ेगा और यदि उसे दूर न किया गया तो इस संकट के असर की मात्रा भी अधिक होगी। राजनीतिक वार्ताएं अब मजाक न रह जायंगी, वे जीवन-मरण और राष्ट्रों के अस्तित्व का निपटारा करेंगी। लापरवाही, दूर रहने की मनोवृत्ति, सरल आशावाद और टालमटोल की नीति का परिणाम तीसरा महायुद्ध हो सकता है।

इसी प्रकार घरेलू समस्याओं ने अधिक महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर लिया है। संसार के स्त्री-पुरुष अधिक उत्तम जीवन की मांग करने लगे हैं। काम प्राप्त करना मनुष्य का आवश्यक अधिकार समझा जाने लगा है। युद्ध के समय लोकतंत्रवादी देशों में कोई बेकार न था, क्योंकि लड़ाई के कारण वस्तुओं की मांग बढ़ी हुई थी। अब शान्तिकालीन रचनात्मक उद्देश्यों के लिए ही नागरिक पूरे काम की मांग करने लगे हैं। परन्तु ग़ैर-सरकारी उद्योगों द्वारा सभी को

लगातार काम देना असम्भव है। यही कारण है कि ग़ैर सरकारी उद्योग जिन गत्थियों को सुलझाने में असमर्थ रहे हैं उन्हें सुलझाने की आशा सरकारों से की जा रही है।

इस प्रकार ग़ैर सरकारी उद्योगों का प्रभुत्व घटने लगा है। यहां तक कि निजी कारबारों को भी सार्वजनिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है। ब्रिटिश औद्योगिक संघ के अध्यक्ष सर क्लाइव वेल्यू ने ३० नवम्बर १९४५ को मांचेस्टर में भाषण देते हुए कहा था—"हम मानते हैं कि उद्योग-धंधों का नियंत्रण उनके मालिकों की ही एक-मात्र इच्छा की वस्तु नहीं है।" जनता के हितों का ध्यान रखते हुए उद्योगपतियों के अधिकार में कमी की जाती है। जिस प्रकार किसी घर के मालिक को राष्ट्रीय महत्त्व की अपनी किसी कलाकृति को नष्ट करने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार कारखानेदार को अपने कर्मचारियों को थोड़ा वेतन देकर अथवा तैयार माल का अधिक मूल्य लेकर समाज को हानि पहुंचाने का अधिकार नहीं है। मानव-अधिकारों के इस नये दृष्टिकोण ने साम्पत्तिक अधिकारों की पुरानी धारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है।

परन्तु नये दृष्टिकोण ने नये सकटों को भी जन्म दिया है। यदि राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में सरकार के कार्यक्षेत्र में विस्तार हो जाता है तो उसकी शक्ति बढ़ जाती है और तब इस देख-रेख की आवश्यकता उठ खड़ी होती है कि कहीं सरकार समाज पर अत्यधिक प्रभुत्व तो नहीं प्राप्त कर लेती। आधुनिक तानाशाहियों का इतिहास देखने से पता चलता है कि किस प्रकार व्यक्तियों तथा दलों के हाथों से शक्ति पहले सरकारों के हाथों में आई और फिर ये सरकारें जनता के नियंत्रण के बाहर हो गईं। प्रत्येक लोकतंत्रवादी राष्ट्र को तानाशाही का ख़तरा रहता है।

बेकारी, अभाव और भेद-भाव आधुनिक लोकतन्त्रवाद की कठिनाइयां हैं, जो तानाशाही के हिमायतियों का बल बढ़ाती हैं। इसके विपरीत, व्यापक अधिकारों वाली ऐसी सरकार, जो सभी आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं को हल करने का बीड़ा उठाती हो, तानाशाही का मार्ग प्रशस्त करती है।

तानाशाही में स्वतंत्रता का अभाव होता है और वेतन कम होते हैं, किन्तु काम प्रत्येक व्यक्ति को मिलता है। पुराने पूंजीवादी लोकतन्त्रीय राष्ट्रों में स्वतंत्रता तो रहती है, किन्तु काम का अभाव रहता है और जिन्हें काम मिला हुआ है वह आगे बना रहेगा इसकी कोई गारंटी नहीं है। लोकतंत्रवाद की मुख्य समस्या राजनीतिक स्वतंत्रता बनाये हुए आर्थिक सुरक्षा तथा समृद्धि में वृद्धि करना है। इस विषय में सफलता प्राप्त करने पर ही लोकतंत्रवाद

तानाशाही पर विजय प्राप्त कर सकता है।

लोकतंत्रवाद को सरकार की उपेक्षा, जिसमें अधिकांश समस्याएं बिना हल की हुई रह जाती हैं और सरकार के कार्यक्षेत्र के अत्यधिक विस्तार के, जिससे सबको काम तो मिल जाता है पर स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, बीच का मार्ग खोज निकालना है।

अमरीका संसार का सबसे समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली राष्ट्र है। वह अत्यल्प शासन तथा अत्यधिक शासन के मध्य का सुविधापूर्ण मार्ग कुछ समय तक ग्रहण कर सकता है। अधिक-से-अधिक अमरीका "नई योजना" जैसे किसी कार्यक्रम का अनुसरण कर सकता है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत "टेनीसी वेली अथॉरिटी" जैसे सरकारी उद्योग भी सम्मिलित किये जा सकते हैं। अमरीका में पहले तो सरकारी नियंत्रण थोड़ा रहे, किन्तु उसमें क्रमशः वृद्धि होती रहनी चाहिए। सरकार को अपनी योजना बनाने, निरीक्षण करने तथा मालिकों और मजदूरों के झगड़ों में पचायत द्वारा फैसला कराने के कार्य में वृद्धि करनी चाहिए। उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं की सहयोग समितियों की स्थापना भी एक अच्छी बात रहेगी। यदि इस साधारण उन्नति का कट्टर पूंजीवादियों ने विरोध किया तो अमरीकी समाज विचित्र स्थिति में हो जायगा और कट्टर-पंथियों का वामपक्षियों से संघर्ष छिड़ जायगा।

परन्तु यूरोप में लोगों को पूंजीवादी लोकतंत्रवाद और कम्युनिस्ट तानाशाही के मध्य चुनाव नहीं करना है। हिटलर के हाथों में सत्ता मुख्यतः जर्मन पूंजीपतियों और ज़मींदारों ने ही सौंपी थी और उसे ग़ैर-जर्मन प्रतिक्रियावादी वर्ग कम्युनिज्म के विरुद्ध सबसे बड़ी शक्ति मानने लगे थे। इस से यूरोप में पूंजीवाद का जनाज़ा ही उठ गया। अब यूरोप के सामने दो मार्ग हैं। पहला है समाजवाद—पूंजीवाद और लोकतंत्रवाद के साथ, जिसे समाजवादी लोकतंत्रवाद कहा जा सकता है। दूसरा मार्ग है समाजवाद—पूंजीवाद तथा लोकतंत्रवाद के बिना, जो बालशेविज़्म है।

इसी प्रकार संसार के आर्थिक पुनर्निर्माण में एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका और आस्ट्रेलिया की उद्योग और कृषि की दृष्टि से पिछड़ी हुई सरकारें भी बहुत कुछ भाग ले सकती हैं। भारत के करोड़पति व्यवसायी ने मुझे बताया कि वह भी समाजवादी है। बम्बई के कतिपय प्रमुख पूंजीपतियों ने इस बात के प्रमुख भारतीय उद्योगपति श्री जे० आर० डी० ताता के नेतृत्व में औद्योगिक उन्नति की एक १५ वर्षीय योजना बनाई है, जिसकी सफलता सरकारी सहयोग पर निर्भर है। इससे प्रकट होता है कि नवीन विचारधारा किस

दिशा की ओर बढ़ रही है। पूंजीपतियों ने स्वीकार किया है कि राज्य की सहायता के बिना वे कुछ करने में असमर्थ हैं। भारतीय पूंजीपतियों ने अमरीकी पूँजीपतियों से भी सहायता की आशा की है। इस प्रकार नई आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ मिश्रित-सी होती जान पड़ती है।

युद्ध ने समाजवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। पहले महायुद्ध में विदेशी सरकारों को अमरीकी बैंकों से ऋण मिले थे। दूसरे महायुद्ध में उन्हें अमरीकी सरकार की मार्फत उधार-पट्टा प्रणाली के अन्तर्गत माल उधार मिला है। यह अमरीका की संघ सरकार ही थी जिसने १९४१ में युद्ध-उद्देश्य से प्रेरित होकर औद्योगिक विस्तार का आयोजन किया, उसमें धन लगाया और उसके संचालन का प्रबन्ध किया। सरकारी सहायता के बिना युद्धोत्पादन का कार्य असम्भव था। अब शान्ति के समय भी लोकतंत्रवादी राष्ट्रों को उतने ही विशाल कार्य को अपने हाथों में लेना है।

इस तरह स्पष्ट है कि आर्थिक क्षेत्र से सरकारों को अपदस्थ नहीं किया जा सकता। कट्टरपंथी चर्चिल मान चुका है कि संसार में समाजवाद की तरफ जो एक लहर बह चली है—वह निश्चित रूप से एक स्थायी विचार-धारा है।

सोवियत् रूस के अतिरिक्त, जहां ग़ैर सरकारी पूँजी पर प्रतिबन्ध है, अन्य देशों में यह प्रश्न नहीं है कि ग़ैर-सरकारी उद्योग कायम रहें अथवा नहीं ? वहाँ तो प्रश्न यह है कि उद्योगों में कितना हिस्सा सरकार का रहे और कितना अन्य लोगों का और इस प्रश्न पर राष्ट्र के व्यापक हित को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय। दूसरे शब्दों में समाजवाद का मिश्रण किस सीमा तक पूंजीवाद के साथ वाञ्छनीय है। महत्त्व अनुपात को निर्धारित करने का है। अनुपात इस दृष्टि से निर्धारित किया जाय कि एक तरफ तो किसी काम का अभाव न रहे—सबकी समृद्धि बढ़े और दूसरी तरफ स्वतन्त्रता में कमी न हो। युद्ध के बाद इस प्रयोग पर ही लोकतंत्रवाद का भविष्य निर्भर है। इस प्रयोग का उद्देश्य मनुष्य को स्वतंत्र तथा सुखी बनाना है।

युद्ध के बाद सामाजिक प्रयोगशाला में सबसे पहले ब्रिटेन ने प्रवेश किया, जो लोकतंत्रवादी सत्ताओं में सबसे परिपक्व है।

ऐसा बिरला ही भाग्यवान् राष्ट्र होगा, जिसे अपने पसन्द की सरकार मिली हो। स्पेन फ्रांको, हिटलर तथा मुसोलिनी से जूझता रहा, किंतु रहना पड़ा उसे फ्रांको के ही शासन में। फिर भी कभी-कभी, और विशेषकर प्रगतिशील लोकतंत्रवादी देशों में जनता ऐसे निर्णय कर डालती है, जो वास्तव में

राष्ट्रीय हितों के अनुकूल होते हैं। एक ऐसा ही निर्णय जुलाई, १९४५ के आम चुनाव में ब्रिटेन के मजदूर-दल की विजय थी। पार्लमेंट में मजदूर सदस्यों को भारी बहुमत में भेजकर निर्वाचिकों ने आर्थिक-क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण की नीति का और वैदेशिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयता की नीति पर चलने का फैसला दे दिया था।

ब्रिटेन की औद्योगिक व्यवस्था पुरानी पड़ गई है। उसमें सुधार करने के लिए राष्ट्रीयकरण परम आवश्यक है। १९४१ में मैं ब्रिटिश कारखानों की कुछ ऐसी मशीनों को देख चुका हूं, जो बहुत पुरानी चाल की थीं। ब्रिटेन में साधारण वस्तुओं के उत्पादन की कुछ आधुनिक मशीनें अवश्य हैं, किंतु आम-तौर पर यह कहा जा सकता है कि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के संयुक्त प्रभाव के कारण ब्रिटेन औद्योगिक उन्नति के विषय में कुछ पिछड़ा हुआ ही रहा है।

ब्रिटेन की विदेश-नीति में अन्तर्राष्ट्रीयता की आवश्यकता स्पष्ट है। अब राष्ट्रीयता की नीति का, जिसमें कमजोर राष्ट्रों को जबरन अपने अधीन रखा जाता है, उसके लिए कुछ भी महत्त्व नहीं है। अब उसे रूस और कहीं-कहीं अमेरिका का सामना करना है।

परन्तु कभी-कभी उपयोगिता न रहते हुए भी पुरानी नीति का अनु-सरण सुस्ती, पहले की आदत और नवीनता से भय के कारण होता रहता है। कभी-कभी अस्थायी अफसर पुरानी नीति के पोषक बन जाते हैं और निर्वाचित मंत्रियों की अपेक्षा उनकी अधिक चलती है। परन्तु यदि इंग्लैंड अपने पुराने साम्राज्यवाद को त्याग दे और शक्ति-संतुलन तथा पूंजीवादी नीति को तिलां-जलि दे सकें तो पहले यूरोप और बाद में एशिया उससे नेतृत्व ग्रहण करने को कह सकते हैं।

ब्रिटिश जनता ने इसीलिए मजदूर-सरकार के हाथों में शासन-सूत्र सौंपा है। मजदूर-दल के राजनीतिज्ञ भी ब्रिटेन के इस अवसर से अपरिचित नहीं हैं। यह समय ही बतायेगा कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस अवसर से लाभ उठा पाते हैं अथवा नहीं?

यूरोप की सबसे बड़ी तीन शक्तियां ब्रिटेन, रूस और पोप हैं। भूखे, थकित और क्षत-विक्षत यूरोप पर, जो युद्ध की विभीषिका के बावजूद भी सब से महान् सांस्कृतिक केन्द्र है, प्रभाव जमाने के लिए इन तीनों के ही बीच स्पर्धा होती है।

ब्रिटेन सामाजिक लोकतंत्रवाद का नवीन सिद्धान्त लेकर आगे बढ़ रहा है। रूस बोलशेविज्म——रहन-सहन के सोवियत् तरीके को लेकर अग्रसर हुआ

है। अपरिवर्तनवादी कैथोलिक, अपरिवर्तनवादी पूँजीपति राजतंत्रों के हिमायती और फाशिस्ट इन दोनों ही विचार-धाराओं के विरुद्ध हैं। ब्रिटेन, रूस और पोप के इस त्रिकोण के प्रति अमेरिका के सम्बन्धों का असाधारण महत्त्व है।

१९४४ में स्टालिन ने धार्मिक समस्याओं के सम्बन्ध में एक पत्र पोप को लिखा था। स्टालिन ने पोप के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाया था। यहां तक कि उसने रूस के पुराने यूनानी सम्प्रदाय और रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय दोनों को मिला देने तक का प्रस्ताव किया था।

स्टालिन की चिन्ता पोलैंड के सम्बन्ध में थी। जर्मनी जाने के लिए पोलैंड रूस के पुल के समान है और जर्मनी यूरोप का हृदय—उसका केन्द्रस्थल है। पोलैंड रामन कैथोलिकों का देश है। स्टालिन जानता था कि पोलों पर आधिपत्य जमाने में उसे विशेष कठिनाई होगी। वह यह भी जानता था कि पोल लोग दीर्घकाल तक उसका सक्रिय विरोध करते रह सकते हैं। इसीलिए स्टालिन पोप की सहायता का इच्छुक था। पोप और स्टालिन का समझौता होने पर पालैंड में रूस की कठिनाइयां दूर हो सकती थीं।

अमेरिका में बसे हुए एक कैथोलिक पादरी फ़ादर ओरलेमनस्की ने १९४४ में स्टालिन से मिलने के उपरान्त एक वक्तव्य निकाला था कि पोलैंड के रोमन कैथोलिकों को रूस किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाना चाहता। परन्तु पोप ने इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना ठीक न समझा। जब पोप ने स्टालिन के पत्र का उत्तर बहुत समय तक न दिया तो राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने इसमें कुछ दिलचस्पी ली। एक अमरीकी नेता एडवर्ड जे० फ़्लिन कई बार रोम और मास्को गया। वह माल्टा-सम्मेलन में भी उपस्थित था। परन्तु समझौते का यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ और पोप न स्टालिन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उसी दिन से सोवियत् पत्रों तथा रूस के हिमायतियों ने सभी जगह रोमन कैथोलिकों के विरुद्ध विष-वमन करना आरम्भ कर दिया।

स्टालिन और पोप दोनों अपने-अपने क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयता हामी हैं, किन्तु उनके आदर्श तथा राजनीति परस्पर टकराती हैं। दूसरे महायुद्ध से यूरोप में कैथोलिकों का प्रभाव घट गया। कैथोलिकों का मुख्य देश इटली हार गया। जर्मनी में भी कैथोलिकों की संख्या अधिक है, किन्तु दूसरे महायुद्ध के बाद उसकी कोई राजनीतिक स्थिति नहीं रही। दो अन्य कैथोलिक देश स्पेन और पुर्तगाल अभीतक फाशिस्ट हैं। इसलिए उनका भी कोई प्रश्न नहीं उठता। फ़्रांस पहले प्रथम कोटि की शक्ति था, किन्तु अब दूसरी कोटि में आगया है। पोलैंड, जो पोप की राजनीतिक व्यवस्था का एक आधार-स्तम्भ था, रूस के प्रभाव में होगया

है। इसलिए पोप ने अब अमरीकी देशों की ओर दृष्टि फेरी है। इसका यह मतलब नहीं कि पोप ने यूरोप में हार मान ली है, बल्कि इसके विपरीत, वह अमरीका को भी इस संघर्ष में घसीटने की चेष्टा कर सकता है।

संसार के अपरिवर्तनवादी रूस तथा ब्रिटेन के विरुद्ध पोप को अपना मित्र मानते हैं। परन्तु फ्रांस और इटली में कैथोलिक वर्ग प्रगतिशील हैं और नई विचार-धाराओं से प्रभावित हो चुके हैं। वे ब्रिटेन से मैत्री कर सकते हैं।

ब्रिटेन और रूस एक संघर्ष में व्यस्त हैं। दोनों के घात-प्रतिघातों की गूंज यूरोप और एशिया में सुनाई देने लगी है। दूसरे महायुद्ध के बाद यह एक और निर्णयात्मक संघर्ष चल रहा है।

वाल्टर लिपमान प्रभाव-क्षेत्रों के बंटवारे और 'तीन बड़ों' के प्रभुत्व के विरुद्ध नहीं है। उसका कहना है कि ब्रिटेन और रूस में झगड़ा होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि जहां ब्रिटेन ह्वेल अर्थात् सबसे महान् जल-शक्ति है वहाँ रूस हाथी अर्थात् सबसे बड़ी स्थल-शक्ति है, परन्तु, एशिया में इंग्लैंड बहुत बड़ी स्थल-शक्ति है और उधर रूस महान् जंगी बेड़े का निर्माण कर रहा है। वह अटलाँटिक की तरफ क्रमशः बढ़ रहा है। स्टालिन की आँखें प्रशान्त, बाल्टिक सागर, फारस की खाड़ी और भूमध्य सागर की तरफ लगी हुई हैं।

इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि "ह्वेल' 'हाथी' के जंगल में घुस सकती है या नहीं। प्रश्न यह है कि क्या ब्रिटिश 'सिंह' रूसी 'रीछ' के साथ निर्वाह कर सकेगा? 'सिंह' चाहे 'रीछ' के साथ विश्राम करना भले ही मंजूर कर ले, पर रूसी 'रीछ' स्फूर्ति से भरा हुआ है और एक जगह से दूसरी जगह घूमना ही पसंद करता है। कम-से-कम वह बुड्ढे 'सिंह' के साथ रहना कभी पसंद नहीं करेगा, जो निर्बल हो चुका है और जिसकी गर्जन अपनी एशियावासी प्रजा के चीत्कारों और चुनौतियों में विलीन हो जाती है।

अपनी एक पिछली पुस्तक लिखते समय मुझे जार्ज चिचरिन से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जो १९१८ से १९३० तक रूस का विदेश-मंत्री था। चिचरिन की अफगानिस्तान और ईरान में विशेष तथा पूर्व में साधारण दिलचस्पी थी। उसने कहा था कि बाकू एशिया की तरफ निर्देष करने वाली एक अंगुली है। एशिया और जर्मनी में दिलचस्पी अधिक होने के कारण उसका ब्रिटेन से मैत्री बनाये रखने में अधिक विश्वास न था। चिचरिन कम्युनिस्ट दल का सदस्य अवश्य था, किन्तु ज़ारों के विदेश कार्यालय में काम कर चुकने के कारण उसका झुकाव पिछली परम्परा कायम रखने की तरफ ही अधिक था।

परन्तु मैक्सिम लिटविनोव मुझे बताया करता था कि सोवियत् सरकार के लिए ब्रिटेन से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। मध्य-पूर्व के अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों के लिए रूस को ब्रिटेन से अपने सम्बन्ध नहीं बिगाड़ने चाहिएं। लिटविनोव चिचरिन का सहकारी था और बाद में वह भी विदेश-मंत्री हुआ। चिचरिन और लिटविनोव में विदेशी नीति के इस पहलू को लेकर लगातार संघर्ष चला करता था। स्टालिन ने जब चिचरिन की नीति स्वीकार कर ली तो लिटविनोव को अलग कर दिया गया। लिटविनोव को १६-३९ के मई महीने में निकाला गया था, जब रूस ने आक्रमणकारी नीति का श्रीगणेश किया था। लिटविनोव का विस्तार करने की नवीन सोवियत् नीति में विश्वास नहीं है और इसीलिए वह उस पर अमल नहीं करना चाहता।

१६३६ में अबीसीनिया के युद्ध के समय मैं पेरिस में था। मुझे एक फ्रांसीसी पत्र में यह पढ़कर आश्चर्य हुआ कि अबीसीनिया का पेरिस-स्थित राजदूत रूसी भाषा बोलता है। मुझे ज्ञात हुआ कि बोलशेविक क्रान्ति से पूर्व हब्शी सरदारों के लड़के ज़ारों के निमंत्रण पर सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने के लिए सेंट पीटर्सबर्ग जाते थे। उन दिनों अबीसीनिया ब्रिटेन के प्रभाव में था।

अबीसीनिया के ईसाई मोनोफिस्टिक सम्प्रदाय के हैं अर्थात् वे ईसा के मानवीय रूप को न मानकर केवल ईश्वरीय रूप को ही स्वीकार करते हैं। आर्मीनियन ईसाई भी इसी सम्प्रदाय के हैं और उनका प्रधान केन्द्र रूसी आर्मीनिया में है। रूसी अधिकारी आर्मीनियन ईसाइयों का उपयोग अबीसीनिया में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए करते रहे हैं।

ज़ारशाही रूस की नीति ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की रही है। आज भी जहाँ ब्रिटेन का प्रभाव है वहीं रूस उपस्थित होकर हस्तक्षेप करने का चेष्टा करता है।

१६४४ में मिस्री सरकार ने सोवियत् सरकार से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। यह कार्य वहां के प्रतिक्रियावादी ज़मींदारों को बुरा लगा, जो मिस्री किसानों पर अपने अत्याचारों के कारण प्रसिद्ध हैं। तब रूस ने एक चाल चली। उसका जो राजदूत काहिरा आया उसके साथ सेक्रेटरियों का बड़ा स्टाफ़ भी था और ये सब-के-सब मुसलमान थे (रूस में लाखों मुसलमान हैं)। इन मुसलिम सेक्रेटरियों का पहला काम शाह फरुख के आगे सलाम करने आना और शुक्रवार की नमाज के समय उपस्थित रह सकने की अनुमति प्राप्त करना था। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह था कि रूस की मिस्र से सहानुभूति है और वह उसकी भावनाओं का आदर करता है।

सोवियत् शासक फिलस्तीन तथा अरब राज्यों में भी दिलचस्पी लेने लगे हैं। कारण सिर्फ यह है कि यह ब्रिटेन का प्रभाव-क्षेत्र है। सोवियत् सरकार का कहना है कि अरबों तथा अन्य पूर्वी राष्ट्रों के मध्य वह अंग्रेजों का स्थान ग्रहण करने को तैयार है। सोवियत् मुसलमान, सोवियत् आर्मीनियन, सोवियत् यूनानी स्लाव ब्रिटिश देशों में और उनके इर्द-गिर्द रूस के प्रति सद्भावना उत्पन्न करने की चेष्टा कर रहे हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति इन प्रदेशों में जो कटुता की भावना है, उसे बढ़ाने का भी प्रयत्न किया जा रहा है।

रूस के इरादों का अलग-अलग मतलब लगाया जा सकता है। सवाल यह नहीं है कि दर्रे दानियाल में रूसियों के अड्डे प्राप्त करने, ईरान में रूसियों के घुस जाने, यूनान में उनका प्रभाव बढ़ाने, डोडेकोनीज द्वीपों पर उनका नियंत्रण होने और ट्रिपोलीटानिया के उपनिवेश में उनके पैर जम जाने से ब्रिटिश साम्राज्य के लिए खतरा उपस्थित होता है और मिस्र तथा भारत के लिए ब्रिटेन का मार्ग कट जाता है। यदि रूस को रक्षा के लिए उत्तरी अफ्रीका चाहिए तो ब्रिटेन दर्रे दानियाल और अमरीका पोलैंड की माँग अपनी रक्षा के लिए कर सकते हैं। इस तरह तो सम्पूर्ण भूमंडल पर अधिकार जमाये बिना रक्षा की आवश्यकताएं पूरी नहीं हो सकतीं।

ब्रिटिश साम्राज्य के भंग होने पर मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं। परन्तु अगर ऐसा रूस के दबाव से होता है तो ये उपनिवेश रूस के अधिकार में चले जायंगे और फिर एक मात्र बचे हुए महान् राष्ट्र अमरीका को विशाल रूसी साम्राज्य से टक्कर लेनी पड़ेगी।

ब्रिटेन द्वारा उपनिवेशों को आज़ादी देना अच्छा है। यदि संयुक्त राष्ट्रों का संगठन उनकी रक्षा करता रहे तो ये उपनिवेश क्रमशः उन्नति करके अन्तर्राष्ट्रीय ईर्ष्या के लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ और भी बन सकते हैं। परन्तु यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा के परिणामस्वरूप ये ब्रिटेन के प्रभुत्व से मुक्त होते हैं तो अनिवार्य रूप से सोवियत् तानाशाही के उदर में समा जायंगे। एक साम्राज्यवादी शक्ति की साम्राज्य-विरोधी नीति भी अंततः साम्राज्यवाद ही होती है।

मध्य एशिया और निकट पूर्व के देश ब्रिटिश तथा रूसी साम्राज्यों की इस कशमकश को चुपचाप खड़े होकर देखते नहीं रह सकते। वे भी षड्यंत्रों में शामिल होंगे और कभी एक महाशक्ति का और कभी दूसरी महाशक्ति का साथ देकर अपने स्वार्थ-साधन का प्रयत्न करेंगे उन्होंने ऐसा करना आरम्भ भी कर दिया है।

रूस और ब्रिटेन के साम्राज्यों के पारस्परिक संघर्ष के बीच पराधीन

राष्ट्रों के इस स्वाधीनता-प्रयत्न का विशेष महत्त्व है। जब तक इंग्लैंड अपने साम्राज्य को भंग नहीं करता तब तक इस प्रयत्न से रूस का ही लाभ होगा। एशियाई राष्ट्र प्रत्येक सम्भव तरीके से स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। ब्रिटेन की अधीनता में रहने वाला अशान्त और विद्रोही भारत साम्राज्यवादी शक्ति से लड़ने के लिए रूस को बुला सकता है। परन्तु स्वतंत्र भारत रूसी प्रभुत्व का कट्टर विरोधी होगा और वह सोवियत् आक्रमण से रक्षा के उद्देश्य से विश्व-संगठन कायम करने के लिए ब्रिटेन अथवा अमेरिका से नेतृत्व ग्रहण करने के लिए कह सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्य-विस्तार के इच्छुक रूस के पदार्पण से पश्चिमी साम्राज्यवाद की समस्या का हर पहलू बदल जाता है। इस अवस्था में रूस रंगीन जातियों का हिमायती और उनका नेता बनकर सबकी आंखों में धूल झोंक सकता है।

१९४६ के आरम्भ में रूस के सहकारी विदेश-मंत्री एंड्री विशिंस्की की इंडोनेशिया के प्रश्न पर ब्रिटिश विदेश-मंत्री बेविन से जो झड़प हुई थी उसमें मि० विशिंस्की की इस बात में कुछ भी दिलचस्पी न थी कि मित्रराष्ट्रीय संगठन का निर्णय क्या होता है, या बेविन का कहना क्या है अथवा ब्रिटिश और अमरीकी पत्र इस भाषण का कैसा मज़ाक कर सकते हैं। उसकी दिलचस्पी सिर्फ़ इसी बात में थी कि पश्चिमी साम्राज्यवाद की सम्मिलित सेना के दमन का शिकार होने वाले उपनिवेशवासियों की हिमायत लेने वाले के रूप में समस्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में उसका स्वागत किया जायगा।

अब किया क्या जाय? एशिया के लोगों को स्वाधीनता मिलनी चाहिए ताकि कोई उनसे अनुचित लाभ न उठा सके। इसके उपरान्त इन लोगों को स्वतंत्रता की रक्षा और आर्थिक उन्नति करने के लिए जिस सहायता की आवश्यकता हो वह मित्र-देशों द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से मिले।

प्रत्येक असंतुष्ट एशियावासी पश्चिमी देशों—विशेषकर इंग्लैंड और अमरीका के विरुद्ध रूस के समर्थकों की संख्या बढ़ाता है। पश्चिम को और कुछ नहीं तो केवल इसलिए साम्राज्यवाद को त्याग देना चाहिए कि वह उसके नैतिक और आर्थिक स्वार्थों के लिए हानिकर है। यदि पश्चिमी महाशक्तियों ने इस तथ्य को हृदयंगम करके उसके अनुसार कार्य नहीं किया तो रूस के दबाव के कारण उन्हें ऐसा करना ही पड़ेगा।

सोवियत् सरकार के पक्ष में दूसरा लाभ संसार भर में कम्युनिस्ट दलों का फैला होना है। मई १९४३ में तीसरी अंतर्राष्ट्रीय या कामिंटर्न भंग होने की

घोषणा की गई। परन्तु इस बात का कोई सबूत नहीं है कि विभिन्न देशों का कम्युनिस्ट दल, जिनका प्रतिनिधित्व कामिंटर्न करती थी, सोवियत्-सरकार के आदेश के बिना स्वतंत्र रूप से कोई कार्य करते रहे हैं। आज तक किसी भी कम्युनिस्ट दल ने सोवियत्-सरकार के किसी कार्य की न तो आलोचना की है और न उससे कोई मतभेद ही प्रकट किया है। सभी दल सोवियत्-सरकार के कार्यों का समर्थन ही करते रहे हैं। रूस के सम्बन्ध में स्वतंत्र निर्णय का एक उदाहरण भी सोवियत् सरकार के प्रभाव से स्वतन्त्र होने का प्रमाण माना जा सकता था, किंतु ऐसा एक भी उदाहरण अब तक देखने में नहीं आया है।

कभी-कभी किसी कम्युनिस्ट दल द्वारा ग़ैर-कम्युनिस्ट कार्यक्रमों और विचारों का समर्थन इस बात का सबूत मान लिया जाता है कि दल वास्तव में कम्युनिस्ट नहीं है और न वह सोवियत्-सरकार के इशारे पर ही नाचता है। यह तर्क असंगत है। वास्तव में रूस केवल नाम का ही कम्युनिस्ट है। चीनी कम्युनिस्टों द्वारा नरम विचारों के सुधारों का समर्थन करना आश्चर्य की बात नहीं है। उनकी परीक्षा तो इसी तरह हो सकती है कि क्या कभी उन्होंने अथवा अन्य देशों के कम्युनिस्टों ने सोवियत् सरकार की नीति की निन्दा की है या उससे सहयोग करने से कभी इन्कार किया है।

सोवियत् सरकार ने अप्रैल १९४१ की संधि द्वारा मंचूरिया को जापान के संरक्षण में एक राज्य स्वीकार कर लिया था। क्या किसी भी चीनी के लिए इस प्रकार की संधि का समर्थन करना उचित हो सकता था? परन्तु चीनी कम्युनिस्ट दल के नेताओं ने सार्वजनिक रूप से यही घोषित किया। तर्क-संगत बात तो यह थी कि १९४३ में कामिंटर्न भंग होने के परिणामस्वरूप चीनी कम्युनिस्टों की सोवियत्-सरकार के प्रति नीति में परिवर्तन हो जाना चाहिए था। परन्तु परिवर्तन हुआ नहीं, क्योंकि कामिंटर्न का तोड़ा जाना वास्तविक न था।

दूसरा महायुद्ध छिड़ने पर भारत के सभी राजनीतिक दलों ने युद्ध का विरोध किया, क्योंकि युद्ध का समर्थन परोक्ष रूप से ब्रिटेन का समर्थन करने के समान था। जब रूस पर हमला हुआ तो भारतीय कम्युनिस्ट दल युद्ध का समर्थन करने लगा और उसने ब्रिटिश सरकार को अपना सहयोग दिया। इस प्रकार भारतीय कम्युनिस्टों के लिए रूस के हितों का प्रश्न सबसे प्रधान था। कामिंटर्न भंग होने के बाद भी भारतीय कम्युनिस्ट रूस से चिपके रहे और उन्होंने युद्ध में सहायता पहुंचाई।

इटालियन कम्युनिस्टों को साधारणतः मुसोलिनी के चीफ़-आफ़-स्टाफ़

मार्शल वेडोग्लिओ के विरुद्ध होना चाहिए था। परन्तु सोवियत्-सरकार द्वारा वेडोग्लिओ-मंत्रिमंडल स्वीकार कर लेने पर इटली के कम्युनिस्ट भी उसका समर्थन करने लगे और उसमें सम्मिलित होना मंजूर कर लिया। साधारण तौर पर अन्य इटालियन नागरिकों की तरह उन्हें ट्रीस्ट मार्शल टिटो के सुपुर्द करने के विरुद्ध होना चाहिए, किन्तु यह विचार करके कि ट्रीस्ट टिटो के हाथ में जाने से यूगोस्लाविया में कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ जायगा और रूस का प्रभाव एड्रियाटिक सागर तक पहुंच जायगा, इटली के कम्युनिस्टों ने अपने देश के हित के विरुद्ध टिटो के पक्ष का समर्थन किया।

दूसरे महायुद्ध के बाद जर्मनी से जो भूमि छीनी गई है उसका जर्मन कम्युनिस्टों को खेद है। उन्होंने जर्मनी से राइनलैंड और रूर छीने जाने का विरोध किया है। परन्तु उन्हीं जर्मन कम्युनिस्टों ने पोलैंड की भूमि रूस में मिलाये जाने का समर्थन किया है।

सोवियत्-सरकार की नीति में जब भी परिवर्तन हुए हैं उन्हें संसार के कम्युनिस्ट दलों ने प्रसन्नतापूर्वक सिर-माथे पर लिया है। इसलिए कहा जा सकता है कि सोवियत्-सरकार तथा विदेशी कम्युनिस्ट दलों के कथन तथा कार्य में तनिक भी अंतर नहीं देखने में आता और वे अब भी परस्पर सम्बद्ध हैं।

तब कामिंटर्न को भंग करने से तात्पर्य क्या था ? रूस ने अन्तर्राष्ट्रीयता से जो पीछे कदम हटाया है—यह उसी नीति का पूर्व लक्षण था। ऐसा करके संसार के कम्युनिस्ट दलों के जिम्मे एक नया कार्य सौंपा गया था।

राजनीति के क्षेत्र में स्टालिन एक कारबारी आदमी है। साधारण व्यापारी की तरह वह बही में अपने हानि-लाभ का लेखा लिख लेता है और बाद में उसकी समीक्षा करता रहता है। चीनी कम्युनिस्टों के पास एक विशाल सेना रही है और वे एक विस्तृत भूखंड पर शासन करते रहे हैं, किन्तु एक बार भी वे मार्शल चांग-काई-शेक की विदेश-नीति में परिवर्तन करने में सफल नहीं हो सके। १९३३ से पूर्व जर्मन कम्युनिस्टों का बहुत ज़ोर था और चुनाव में उन्हें ६०,००,००० से अधिक मत प्राप्त हो चुके थे। परन्तु वे न तो हिटलर के हाथ में सत्ता जाने से रोक सके और न बाद में ही उसे अपदस्थ कर सके। कम्युनिस्ट इंग्लैंड, फ़्रांस और अमेरिका में स्पेन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने में अवश्य सफल हुए, किन्तु वे स्पेन के प्रति उन देशों की विदेश-नीति में कोई रद्दो-बदल न करा सके। कहीं भी कम्युनिस्टों ने विदेशी सरकारों की नीतियों को निर्णयात्मक ढंग से प्रभावित नहीं किया।

कारण स्पष्ट था और स्टालिन भी उसे ताड़ गया। कम्युनिस्ट विशाल सार्वजनिक प्रदर्शन कर सकते थे, वे किसी संगठन पर कब्ज़ा कर सकते थे और वे ज़ोरदार प्रचार भी कर सकते थे। परन्तु विदेशी कम्युनिस्टों के इन कार्यों से सोवियत् सरकार को कभी भी अधिक लाभ नहीं हुआ, क्योंकि ये सब विरोधी पक्ष में रहने वाले दल के कार्य थे। ये कार्य वे ऐसे क्षेत्र में रहकर कर रहे थे, जिसमें शक्ति का अभाव होता था और शक्ति के बिना वे रूसी सरकार की कुछ ठोस सहायता करने में असमर्थ थे।

कामिंटर्न को भंग करके स्टालिन ने विदेशी कम्युनिस्ट दलों को अधिकार ग्रहण करने की सुविधा दे दी।

१९४३ से पूर्व रूस के बाहर ऐसी सरकार, जिसमें कम्युनिस्ट थे, केवल स्पेन की ही सरकार थी। १९४३ के बाद कम्युनिस्ट दलों के निर्बल संगठनों ने भी, जहां सम्भव हो सका है, शक्ति ग्रहण की है।

इससे कम्युनिस्टों के हाल के कार्यों पर प्रकाश पड़ता है और भविष्य की झलक मिलती है।

अब स्टालिन और कम्युनिस्ट दल स्तीफे देकर अपने यहां की सरकारों का पतन करा सकती हैं। इसी कारण, इटली और फ्रांस की सरकारें रूस के विरुद्ध नीति ग्रहण करने के लिए स्वतन्त्र नहीं रह गई हैं। यही कारण है कि फ़्रांस पश्चिमी राष्ट्रों के गुट में सम्मिलित होने में असमर्थ है। फ़्रांसीसी कम्युनिस्ट दल और दूसरे शब्दों में सोवियत् सरकार इसके विरुद्ध है।

इस प्रकार विदेशी सरकारों में कम्युनिस्टों की उपस्थिति होने पर वे सोवियत् सरकार के विरुद्ध कुछ कह या कर पाएंगी। सिर्फ विरोध करने की अपेक्षा स्टालिन के लिए इस नीति का कहीं अधिक महत्त्व है। स्टालिन के लिए कौंसिल चैम्बरों के भीतर अपने प्रतिनिधियों को मत प्रदान करने के लिए भेजना अधिक लाभकर है, बनिस्बत इसके कि वे उसके बाहर रहकर नारे लगाते रहें। समय पड़ने पर कम्युनिस्ट दोनों ही कार्य कर सकते हैं।

कामिंटर्न भंग होने के बाद अन्य देशों में काम करने वाले कम्युनिस्ट-दलों ने जो नीति ग्रहण की है उसमें समाजवाद के सिद्धांतों की तुलना में शक्ति-ग्रहण करने और रूस के राष्ट्रीय साधनों की पूर्ति का अधिक महत्त्व है, यही कारण है कि भारतीय कम्युनिस्टों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का साथ दिया था। चीना कम्युनिस्ट उस चांग-काई-शेक से सहयोग करने को तैयार हो गए थे, जिसकी वे पहले फाशिस्ट कहकर निंदा किया करते थे। रूमानिया के कम्युनिस्टों ने हिटलर का साथ देने वाले राजा माइकेल के साथ और यूरोप के एक

सबसे बड़े प्रतिक्रियावादी रूमानिया के विदेश-मंत्री जार्ज तातरेस्कू के साथ सहयोग किया था। अब कम्युनिस्ट वामपक्षी नहीं हैं—अब उन्हें केवल रूसी साम्राज्यवाद के एजेंट कहा जा सकता है।

अमेरिका जैसे देश में जहां राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होने की शक्ति कम्युनिस्टों में नहीं है वहां उन्होंने नई नीति का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया है। वे मंत्रियों, कांग्रेस के सदस्यों, पूंजीवादी समाचार पत्रों, रेडियो-स्टेशनों, ट्रेड यूनियनों इत्यादि में प्रभाव जमाने की चेष्टा करते हैं। मजदूर-दलों तथा वामपक्षियों में घुसकर उन पर कब्ज़ा करने की चेष्टा की जाती है। अन्य प्रभावशाली संस्थाओं पर भी प्रभाव जमाने का प्रयत्न किया जाता है।

इस नीति का कम-से-कम इतना प्रभाव तो होता ही है कि सोवियत् सरकार की आलोचना इन दलों तथा संस्थाओं में बंद हो जाती है। ये दल ब्रिटिश सरकार तथा अपनी सरकार की तो आलोचना करते हैं, किंतु सोवियत् सरकार के विरुद्ध अंगुली तक नहीं उठाई जाती।

यदि अन्य संस्थाओं पर प्रभाव जमाने में सफलता नहीं मिलती तो कम्युनिस्ट दल पूँजीवाद को बुरा-भला कहकर जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगता है।

इस प्रकार स्टालिन ने एक गहरी चाल चलकर अपना उल्लू साधा है। कामिटर्न को भंग कर दिया गया है। यद्यपि विदेशी कम्युनिस्ट दलों का अब सोवियत् सरकार से सम्बन्ध नहीं रह गया है फिर भी उसके लिए उनकी उपयोगिता कहीं अधिक बढ़ गई है। अब रूस को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में कम्युनिस्ट दलों द्वारा पहले से कहीं अधिक सहायता मिल सकती है।

युद्ध में सोवियत् रूस को हिटलर को पराजित करने का जो श्रेय प्राप्त हुआ है उसके कारण यूरोप और एशिया के कम्युनिस्ट दलों का कार्य और सरल हो गया है। कम्युनिस्ट और उनके समर्थक रूस के युद्ध-प्रयत्न को ही प्रधान महत्त्व देते रहे हैं। लड़ाई जीतने में ब्रिटेन, अमरीका, चीन तथा अन्य राष्ट्रों ने जो भाग लिया है उनका और उधार पट्टा सहायता का महत्त्व कम्युनिस्ट घटाकर बताते हैं। यूरोप तथा एशिया के देश रूस की सैनिक शक्ति से बड़े प्रभावित हुए हैं और एक सीमा तक उसके प्रशंसक बन गए हैं।

जो देश रूस के सम्पर्क में नहीं आये हैं उनमें यह प्रशंसात्मक भावना अभी तक बनी हुई है। प्रशंसकों में इंग्लैंड, अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, एशिया, दक्षिण अमेरिका आदि मुख्य हैं। परन्तु केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप की जनता की

आंखों का पर्दा हट गया है, क्योंकि उसने रूसी सैनिकों को हाथघड़ी चुराते देखा है।

यूरोप लाल सेना के पुराने ढंग के साज-सामान को देख चुका है। वह उसकी घोड़े से चलने वाली गाड़ियों और सैनिकों के फटे पुराने कपड़ों को भी देख चुका है।

कोई भी राष्ट्र विदेशी विजेता का स्वागत नहीं करता, किन्तु लालसेना को मध्य यूरोप में सम्मान की दृष्टि से न देखे जाने का एक और भी कारण है। यूरोप का यह भाग युद्ध के कारण पहले ही तबाह हो चुका था। फिर भी लाल सेना जो अमरीकी, ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं की सम्मिलित शक्ति से अधिक थी, उसी ध्वस्त यूरोप पर अपना निर्वाह करती थी। इसके विपरीत, अमरीकी सेना अपना ही नहीं बल्कि जर्मनों और आस्ट्रियनों तक के लिए अपने देश से भोजन लाती थी। बस मध्य तथा पूर्वी यूरोप के लोगों ने अनुमान लगा लिया कि रूसियों की तुलना में अमरीकी, ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसियों का रहन-सहन कितना ऊंचा है।

यूरोप वालों ने लाल सेना को देखकर एक और बात मालूम की। पोलैंड और बाल्टिक देशों के निर्वासित लोग ही नहीं, वरन् रूसी नागरिक भी युद्ध समाप्त होने पर रूस को वापस नहीं जाना चाहते थे। अमरीकी, ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसी सैनिक स्वदेश जाने का अवसर मिलने पर खुशी से पागल-से हो जाते थे, किन्तु रूसी सैनिक अपने प्रचारकों द्वारा चित्रित उस "मजदूरों के स्वर्ग" को लौटने से बचने के लिए कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ते थे। माल्टा सम्मेलन में स्टालिन ने सभी रूसी नागरिकों के रूस लौटाने की माँग की थी, जिसे रूज़वेल्ट और चर्चिल ने स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार अनिच्छुक रूसियों को स्वदेश वापस जाना पड़ा था। कुछ को जबरन भेजा गया था और कुछ ने विरोध में आत्म-हत्याएं तक कर ली थीं। इसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य था।

लालसेना के कुछ कार्यों ने यूरोप की जनता को आश्चर्य में डाल दिया। वहाँ के कम्युनिस्ट, समाजवादी तथा अन्य प्रगतिशील वर्ग लालसेना के आगमन की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। बर्लिन की श्रमजीवी वस्तियों तथा अन्य नगरों में खिड़कियों तथा छज्जों पर लाल झंडे लगाये गए थे। यह भय से प्रेरित होकर नहीं किया गया था, जैसा कि ऐसे अवसरों पर बहुधा हुआ करता है। यह वास्तव में उन लालसेना के वीरों के स्वागत की तैयारी थी, जो जर्मन नागरिकों को नाज़ियों से मुक्त करने आ रहे थे। परन्तु लालसेना ने जिस प्रकार अमीरों के मुहल्लों को तबाह किया उसी प्रकार श्रमजीवियों की वस्तियों में

भी लूट-मार और बलात्कारों का बाजार गरम किया। वर्गवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा का स्थान रूस की राष्ट्रीय भावना ने ग्रहण कर लिया था।

इसके अतिरिक्त रूसी सैनिकों ने चोर बाजार से भी खूब जेबें भरीं। अन्य देशों के सैनिकों ने भी यही सब किया, किन्तु माल-असबाब के लिए रूसियों की भूख सबसे अधिक बढ़ी हुई थी। इससे यूरोप के उन आदर्शवादियों की आंखें खुल गईं, जो लालसेना में रूस के उस समाजवादी समाज की बानगी देखने की आशा करते थे, उसी समाज की, जो पूंजीवाद को मिटाकर एक "नवीन मनुष्य" की सृष्टि करने का दावा करता आया है।

इसके कुछ ही समय बाद यूरोप ने देखा कि उसके कारखानों, दूकानों, खेतों और घरों का सामान ट्रेनों पर लद-लद कर रूस को जा रहा है। भूतपूर्व शत्रु-देशों की ही नहीं, बल्कि पोलैंड, चीन, चेकोस्लोवाकिया और चीन जैसे मित्रदेशों तक की सामग्री का अपहरण किया गया। आस्ट्रिया में रूसियों ने उस सम्पत्ति को हथिया लिया, जो नाजियों ने यहूदियों तथा अपने अन्य शत्रुओं से लूटी थी।

पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, रुमानिया, बल्गारिया, और युगोस्लाविया में लालसेना के अफसरों ने स्थानीय सेनाएं तैयार कर लीं। आगपू के भेदियों का जाल सभी जगह फैल गया। रूसी प्रभाव-क्षेत्र की स्थानीय सरकारों के साथ किये समझौतों द्वारा वहाँ की आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित कर लिया गया। प्रत्येक देश में या तो कम्युनिस्ट दल के हाथ में बाकायदा शक्ति आ गई और या वह परदे के पीछे रहकर कार्रवाई करने लगा।

ऐसा जान पड़ता था जैसे कि आधे यूरोप को, जिसमें लगभग १५ करोड़ प्राणी रहते हैं, रूस ने खरीद लिया है। इस परिस्थिति में संघर्ष बढ़ने की सम्भावना थी और सोवियत् सरकार ने उससे सामना करने की तैयारी भी कर ली।

पहली बात तो उसने यह की कि जर्मनी के रूसी क्षेत्र का सम्बन्ध बाहर से तोड़ दिया। बाद में किसी चुने हुए पत्र-प्रतिनिधि अथवा प्रतिनिधियों को निर्दिष्ट क्षेत्रों में घुमाया गया। विदेशी राजनीतिक अथवा सैनिक प्रतिनिधियों पर रोक लगा दी गई और पत्र-प्रतिनिधियों के विदेशों को जाने वाले तारों पर कड़ा सेंसर लगा दिया गया। जिन सरकारों को अपने प्रतिनिधियों से रिपोर्ट मिलती थीं वे सोवियत् सरकार की नाराज़ी के भय से उन्हें दबा देती थीं। सरकारें एक दूसरी से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने की फिक्र में सत्य और न्याय का गला घोंटने से नहीं चूकतीं।

यदि कभी कोई बात निकल पड़ती थी तो उससे दुनिया में एक हंगामा उठ खड़ा होता था। लोगों को खयाल नहीं रहता कि रूस से समाचार बाहर नहीं आने पाते। जब यूनान अथवा इंडोनेशिया में कोई अनहोनी घटना हो जाती है तो समाचारपत्र और रेडियो इसकी खबरें खूब विस्तार से देते हैं। परन्तु जब युगोस्लाविया, पोलैंड अथवा उत्तरी ईरान के सम्बन्ध में कोई असाधारण घटना हो जाती है तो सब चुप रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जहां यूनान अथवा इंडोनेशिया की खबरों का, जिन्हें प्राप्त करने में पत्र-प्रतिनिधियों को कोई कठिनाई नहीं होती, जनता के मस्तिष्क और अंतःकरण पर गहरा प्रभाव होता है वहां रूसी प्रभाव-क्षेत्र की परिस्थिति के सम्बन्ध में जनता अज्ञान में रह जाती है। इस अज्ञान को कम्युनिस्ट प्रचारक इस तरह और भी गहरा बना देते हैं कि वे जनता का ध्यान उन देशों से हटाकर, जहां रूस की गलती होती है, उन देशों की ओर ले जाते हैं जहां ब्रिटेन और अमेरिका की गलती होती है। यही कारण था कि एक समय जहां दुनिया का ध्यान सभी तरफ से खिंचकर स्पेन और अर्जेन्टाइना की ओर केन्द्रित होगया था। वहां एशिया तथा यूरोप में रूसी साम्राज्यवादियों की करतूतों का उसे कुछ भी पता न था।

रूसियों का यह पर्दा इतना गहरा है कि उसे भेदकर प्रकाश की एक भी किरण भीतर नहीं पहुंच पाती। इसी पर्दे के पीछे रहकर सोवियत् अधिकारी और उनके सहायक उन लोगों का नाम-निशान मिटा रहे हैं, जो तानाशाही और विदेशी शासन के विरुद्ध सिर उठाने की हिम्मत करते हैं। पोलिश अथवा युगोस्लाव सरकारों की सेनाओं तथा उनके तथाकथित शत्रुओं के मध्य होने वाली घमासान लड़ाइयों के समाचार कभी-कभी इस काले पर्दे को फाड़कर निकल पड़ते हैं और कभी-कभी पोलिश अधिकारों द्वारा की जाने वाली हत्याओं की संख्या इतनी अधिक बढ़ जाती है कि अन्य देशों की सरकारों को उसका विरोध करना पड़ता है।

फिर भी लोकतंत्रवादियों, कम्युनिस्ट-विरोधियों, प्रतिक्रियावादियों और समाजवादियों का सफाया करने की कार्रवाई अबाध रूप से जारी है। आधे यूरोप से ऐसे लोगों का नाम-निशान मिटाया जा रहा है, जो पश्चिमी देशों में स्वाधीनता और उन्नति के आन्दोलनों का नेतृत्व करते हैं। पहले तो नाजियों ने यूरोप के बुद्धिवादियों तथा निरंकुश-शासन-विरोधियों पर सितमढा ये और जो इस दमन से बच रहे उनका सफाया अब बोलशेविक कर रहे हैं। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कम्युनिस्टों ने फिन्लैंड से लेकर अलबानिया तक सभी देशों के गृह-विभागों में रूस में शिक्षा प्राप्त भूतपूर्व कामिंटर्न कर्मचारियों को मंत्री

बनवा दिया है ताकि गुप्तचर पुलिस का विभाग उन्हीं के नियंत्रण में रहे और उनके द्वारा वे अपनी मनमानी करने में सफल हो सकें।

रूस की तरह रूसी प्रभाव-क्षेत्र में भी कम्युनिस्टों ने पुलिस शक्ति को हथियाने के अतिरिक्त प्रचार द्वारा भी अपना बल बढ़ाया है। कभी-कभी प्रचार पुलिस से भी अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता है। वीरों के शरीर तलवारों का सामना कर सकते हैं, किन्तु अधिकांश व्यक्तियों के मस्तिष्क निरंतर किये जाने वाले, एकांगी प्रचार के अनिवार्य प्रभाव से नहीं बच सकते।

रूसी प्रभाव-क्षेत्र में सोवियत् सरकार की नीति क्या है? प्रश्न उठता है कि रूस राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर रहा है या वह पहले सम्पूर्ण यूरोप को और फिर समस्त एशिया को कम्युनिस्ट बनाने का षड्यंत्र रच रहा है?

इस प्रश्न का उत्तर है कि स्टालिन जैसा कूटनीतिज्ञ सदा एक ही नीति का अनुसरण नहीं करता। एक तो वह स्वभाव से ही परिवर्तनशील है और दूसरे लोगों की आंखों में धूल झौंकने के लिए भी नीति में परिवर्तन किया करता है। एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह कितने ही उपायों को ग्रहण करता है। यदि ये उपाय या साधन परस्पर विरोधी हैं तो और भी अच्छा है। इससे विरोधी विचार वालों का समर्थन प्राप्त हो जाता है और आलोचक दुविधा में पड़ जाते हैं।

सोवियत् सरकार स्लाव जाति वालों से कहती है कि रूस बड़े भाई की तरह उनकी जर्मनों से रक्षा करेगा। सोवियत् प्रचारक नित्य ही इस विरोध को बढ़ाने की चेष्टा करते रहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि चेकोस्लोवाक, बल्गेरियन, युगोस्लाव और कितने ही पोल हिटलर से मुक्ति दिलाने के लिए रूसियों के कृतज्ञ हैं। यद्यपि जर्मनों का पतन हो गया है फिर भी उनके फिर से उठ खड़े होने का भय बना हुआ है और इसमें रूसियों का लाभ है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि उनके फिर से जर्मनों के चंगुल में फंसने की सम्भावना है। यह तो सम्भावना ही है, किन्तु रूसियों का प्रभुत्व तो अभी है—आज की यथार्थता है।

परन्तु फिन्लैंड, बाल्टिक देश, रूमानिया, हंगरी, आस्ट्रिया और अल्बानिया के निवासी तो स्लाव नहीं हैं। पोल स्लाव हैं, किन्तु वे सदा से रूसियों के कट्टर शत्रु रहे हैं। पोल स्लाव और कैथोलिक दोनों ही हैं। इसलिए सभी देशों के स्लावों की एकता का आन्दोलन पूर्वीय यूरोप के टुकड़े-टुकड़े करके ही रहेगा।

स्लावों की एकता के इस आन्दोलन को रूसी पादरियों का समर्थन प्राप्त है। अखिल जर्मन एकता की तरह यह भी एक जातीय और प्रतिक्रियावादी आन्दोलन है। पूर्वीय यूरोप के उदारपंथी और समाजवादी इससे घृणा करते हैं। यहूदी भी इसके विरोधी हैं।

अखिल स्लाववाद का परिणाम यह होगा कि पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया बल्गारिया और युगोस्लाविया स्लाव-रूस के उदर में समा जायंगे और उनके पृथक् अस्तित्व का सदा के लिए अंत हो जायगा।

स्लाव देशों के भय को दूर करने के लिए रूस ने एक और चाल चली। फरवरी १९४४ में जब लालसेना एस्थोनिया होती हुई पोलैंड की तरफ़ बढ़ रही थी, सोवियत्-संघ के भीतर के सोलहों प्रजातन्त्रों को पृथक् सेनाएं रखने और विदेशी सम्बन्धों में स्वतन्त्र होने का अधिकार दे दिया गया। इसी आधार पर स्टालिन ने माल्टा में रूज़वेल्ट और चर्चिल को यूक्रेन तथा श्वेत रूस के प्रजातन्त्रों को स्वतंत्र मानने और संयुक्त राष्ट्र में उन्हें अपने पृथक् प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्रदान करने के लिए मजबूर कर दिया। परन्तु वस्तुस्थिति क्या है?

यूक्रेन, श्वेतरूस, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया अथवा युगोस्लावाकिया के जो प्रतिनिधि अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में रूस के पक्ष में मत दिया करते हैं उन्हें स्वतंत्र रूप से कुछ भी करने का अधिकार नहीं है। सोवियत् प्रभाव-क्षेत्र का जो भी अधिकारी सोवियत् सरकार का आदेश मानने से इंकार करता है उसे रूसी अधिकारी अथवा कम्युनिस्ट अपदस्थ कर देते हैं।

सोवियत् सरकार जानती है कि ऐसी परिस्थिति से सम्बंधित देशों में रूस के विरुद्ध असंतोष बढ़ता है और पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति में वृद्धि होती है। इस सम्भावना का निराकरण करने के लिए कम्युनिस्ट उन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में उत्साहपूर्वक सम्मिलित हो जाते हैं। १९४६ में चेकोस्लोवाकिया का दौरा समाप्त करने के उपरान्त मारिस हिंडस को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहां की प्रत्येक जर्मन वस्तु का बहिष्कार करने में कम्युनिस्ट सबसे आगे हैं—यहां तक कि वे बीथोवन और शिलर तक के विरुद्ध हैं। वे प्रत्येक जर्मन को, चाहे वह मजदूर हो अथवा पूंजीपति, सुडेटनलैंड से निकाल बाहर करने के लिए कटिबद्ध हैं। जर्मनी में कम्युनिस्ट जर्मन राष्ट्रीयता के पुजारी हैं। उधर फ्रांसीसी कम्युनिस्ट जर्मनी के विरुद्ध आन्दोलन करते हैं।

यूरोप में शान्ति की स्थापना का क्या यही तरीका है कि चेकों में जर्मन-विरोधी भावना की, जर्मनों में जर्मन राष्ट्रीयता की और फ्रांसीसियों में फ्रांसीसी राष्ट्रीयता

की वृद्धि की जाय ? रूसी यह चाल इसलिए चल रहे हैं कि जिससे प्रत्येक देश की राष्ट्रीय शक्ति पर वे अधिकार जमा सकें और उसे रूस का विरोधी होने से रोक सकें। टिटो के ट्रीस्ट पर अधिकार जमाने का समर्थन करने के कारण जब इटली के कम्युनिस्ट दल के अनुयायियों की संख्या घटने लगी तो उसे अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा, क्योंकि सोवियत् सरकार के लिए ट्रीस्ट के प्रश्न पर इटालियन कम्युनिस्टों की सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा इटली में एक शक्तिशाली कम्युनिस्ट दल बनाये रखना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था।

रूस ने यूरोप में जिन देशों से उनके प्रदेश छीने हैं उन्हें उनके चिर-वांछित अन्य प्रदेश दिलाकर संतुष्ट करने का प्रयत्न भी वह करता है। पोलैंड को एक बड़ा जर्मन-प्रदेश देकर खुश किया गया है। युगोस्लाविया यूनानी मेसीडोनिया और ट्रीस्ट मांग रहा है। बलगारिया टर्की के प्रदेश हड़प जाना चाहता है। नक्शे के इस काया-पलट से रूस का प्रभाव बढ़ना अनिवार्य है। ऐसा करके रूस विभिन्न देशों की भूमि-विस्तार की आकांक्षा को तुष्ट करने का भी ढोंग करता है। तब नया प्रदेश प्राप्त करने वाले राष्ट्र भूल जाते हैं कि रूस उनसे कुछ छीन भी चुका है। इसके अतिरिक्त, सीमा सम्बन्धी झगड़ों के कारण प्रत्येक बाल्कान राष्ट्र रूस का समर्थन पाने के लिए उनकी खुशामद करने को बाध्य हो जाता है। अंततः इसका परिणाम यह होगा कि जहां एक तरफ रूस के प्रभुत्व तथा प्रभाव में वृद्धि होगी वहां दूसरी तरफ यूरोप तथा निकटपूर्व में स्थायी अशान्ति का बीजारोपण हो जायगा।

तानाशाहियों की उन्नति के लिए विदेशी नीति की सफलता आवश्यक है। धुरी राष्ट्रों की शक्ति इसी प्रकार बढ़ी थी। हिटलर ने तो इसे सिद्धान्त का रूप दे दिया था। अमरीकी सरकार के हाथ लगे एक गुप्त कागज़ को देखने से पता चलता है कि जनरल फ्रांको के विदेश-मंत्री मि० सुनेर का बर्लिन में स्वागत करते हुए नाज़ी डिक्टेटर ने कहा था—"स्पेन को घरेलू क्षेत्र में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है उनका अंत विदेशी नीति की सफलता से एक दिन में हो सकता है। इतिहास का यही अनुभव है।"

आर्थिक कठिनाइयों तथा सार्वजनिक असंतोष का सामना करने के लिए तानाशाहियां राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन देती हैं। राष्ट्रीय भावना से अन्य देशों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय उत्तेजना का वातावरण उत्पन्न होते ही तानाशाही सरकार जनता से सहायता और समर्थन की अपील करती है और देश की शक्ति बढ़ाने के लिए लोगों से त्याग करने का अनुरोध करती है।

तानाशाही सरकार अपनी सत्ता कायम रखने और कठिनाइयों को दूर करने के लिए देशभक्ति का राग अलापने लगती है और लोगों को भोजन के स्थान पर बंदूक देती है। तानाशाहियों ने शत्रुओं का खूब विज्ञापन किया है। वे डिक्टेटरों के सबसे बड़े सहायक हैं।

एक डिक्टेटर दूसरे की नकल करता है। मुसोलिनी ने अपने मास्को के दूतावास को आदेश दे रखा था कि स्टालिन के तौर-तरीकों की सूचना उसे नियमित रूप से मिलती रहनी चाहिए। जिस प्रकार इटालियन गला फाड़-फाड़ कर "ड्यूस! ड्यूस!" चिल्लाते थे और स्पेन के फाशिस्ट "फ्रांको! फ्रांको" के नारे लगाते थे उसी प्रकार युगोस्लाविया की जनता अब "टिटो! टिटो" चिल्लाने लगी है। यह तानाशाह आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक मामलों में सोवियत् रूस का अनुकरण कर रहा है।

तानाशाहियां नये देशों में अपने ही यहां की प्रणाली जारी कर देती हैं। स्टालिन ९ फरवरी १९४६ को अपने एक भाषण में कह भी चुका है कि सोवियत् प्रणाली अन्य सभी प्रणालियों की तुलना में उत्तम है। ऐसी दशा में स्टालिन के लिए अपने प्रभुत्व में आने वाले नये देशों में सोवियत्-व्यवस्था कायम करना बिलकुल स्वाभाविक है।

परन्तु सोवियत् प्रणाली तुरंत जारी नहीं की जा सकती। किसी देश में वह कितनी शीघ्रता से जारी की जा सकती है यह उस देश की जनता की प्रवृत्तियों तथा राजनीति पर निर्भर रहता है। और ये विभिन्न देशों में विभिन्न होती हैं।

टिटो की शिक्षा-दीक्षा मास्को में हुई थी। उसने युगोस्लाविया में एक दल का शासन स्थापित किया है। वहां की पुलिस सर्वशक्तिमान् है और उसका संगठन आगपू के ढंग पर हुआ है।···माल्टा में स्टालिन, चर्चिल और रूज़वेल्ट के मध्य हुए समझौते के अनुसार टिटो ने अपनी सरकार में राजनीतिक विरोधियों को स्थान तो दिया, किन्तु कुछ ही दिन बाद उन्हें निकाल भी दिया।

अल्बानिया का तानाशाह होक्सा टिटो के पद-चिह्नों का अनुसरण कर रहा है। ऐसा करने में उसे टिटो से सहायता मिलती है।

रेडेस्कू के रूमानियन मंत्रि-मंडल का पतन सहकारी सोवियत् विदेश-मंत्री एंड्रीविशिस्की के हस्तक्षेप से हुआ था, जो विशेष रूप से इसीलिए बुखारेस्ट गया था। फिर विशिस्की ने एक नया मंत्रि-मंडल स्थापित किया। इसमें जूलियस मेनीयू के किसान-दल को सम्मिलित नहीं किया गया, क्योंकि वह रूस तथा कम्युनिस्टों का विरोधी था। यह रूमानिया का सबसे बड़ा राजनीतिक दल था।

बल्गारिया की सरकार में 'फादरलैंड फ्रंट' नामक दल का प्रभुत्व है। इस दल का नेता जार्ज डिमीट्रोव है, जिसे रीखटाग अग्नि-कांड के मामले में ख्याति मिल चुकी है। वह कामिटर्न का अधिकारी भी रह चुका है।

आस्ट्रिया तथा हंगरी में लालसेना के प्रवेश के समय वहां के मंत्रि-मंडलों में कम्युनिस्टों की प्रधानता थी, किन्तु जनसाधारण की कम्युनिस्टों से कोई सहानुभूति न थी।

पोलिश सरकार की स्थापना पहले मास्को में हुई थी। कुछ दिन लुब-लिन रहने के बाद अंत में वह वारसा आगई। सरकार में कम्युनिस्टों की प्रधानता थी। पहले उसमें किसान दल के नेता मिकोलाजेज्क को नहीं लिया गया था, जो एक समय निर्वासित पोलिश सरकार का प्रधानमंत्री रह चुका था। बाद में पश्चिमी राष्ट्रों के ज़ोर देने पर उसे वारसा में स्थापित सरकार में सम्मि-लित कर लिया गया। यह व्यक्ति राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से पोलिश नेताओं में सबसे बढ़कर है, किन्तु राजनीतिक शक्ति उसके हाथों में अधिक नहीं है।

फिन्लैंड की सरकार पर कम्युनिस्ट जबरन थोपे गए। इस सरकार को युद्ध के लिए रूस को हरजाना देना पड़ा। सोवियत् सरकार के आदेश से रूस से युद्ध छेड़ने के अपराध में कितने ही फिनिश अफसरों को दंड दिया गया। परन्तु सोवियत् प्रभाव-क्षेत्र के अधिकांश देशों की तुलना में फिन्लैंड को अधिक स्वाधीनता का उपभोग करने दिया गया।

एस्थोनिया, लटाविया और लिथुआनिया के मंत्रि-मंडलों का संगठन विशुद्ध सोवियत् ढंग पर किया गया है।

रूस के प्रभाव-क्षेत्र में जितने भी राष्ट्र हैं उनमें सबसे अधिक स्वतंत्रता तथा लोकतंत्रवाद चेकोस्लोवाकिया को प्राप्त है। परन्तु वहां भी कम्युनिस्ट अपनी संख्या से कहीं अधिक प्रभाव रखते हैं।

जर्मनी के रूसी क्षेत्र में स्थानीय शासन कम्युनिस्टों के ही हाथों में है और इन सब-के-सब कम्युनिस्टों को मास्को में शिक्षा मिल चुकी है।

स्टालिन का पहला कार्य नये रूसी साम्राज्य में कम्युनिस्टों को भेजना था। इससे स्टालिन को शक्ति प्राप्त होती है और बाद में शक्ति बढ़ने पर कम्यु-निस्ट अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित भी कर सकते हैं।

ये कम्युनिस्ट अथवा कम्युनिस्ट-प्रधान सरकारें इन देशों की जनता की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इसका कोई भी सबूत नहीं है कि उनकी जनता समाजवाद में विश्वास करने लगी है। जहां भी स्वतन्त्र चुनाव

हुए—जैसे आस्ट्रिया और हंगरी में—वहीं कम्युनिस्टों की शक्ति सबसे कम दिखाई पड़ी। इन चुनावों में एक प्रकार से रूस के विरुद्ध स्पष्ट मत प्रकट किया गया। यद्यपि जनता ने अपने यहां के कम्युनिस्टों के विरुद्ध मत दिये, किन्तु ऐसा करके उसने रूस के प्रभुत्व के विरुद्ध अपना निर्णय दिया। फिर भी लाल-सेना अपना नियंत्रण उन देशों में बनाये रही। हंगरी के चुनाव में कम्युनिस्टों को केवल थोड़े-से मत मिले थे, किन्तु सोवियत् सरकार के प्रभाव से उन्हें मंत्रि-मंडल में सबसे महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो गए।

रूस के प्रभाव क्षेत्र में कम्युनिस्टों को बहुमत प्राप्त न था, फिर भी उनको अथवा उनसे प्रभावित सरकारों को तानाशाही उपायों, गुप्त पुलिसों तथा रूसी संगीनों के ज़ोर से कायम रखा गया।

इस प्रकार सोवियत् रूस की शक्ति बढ़ने से संसार में तानाशाही के क्षेत्र का विस्तार हो गया है। तानाशाही का प्रथम कार्य उन लोगों को गोली मारना, कैद करना, निर्वासित करना अथवा उन्हें अपने दमन के शिकंजे में कसना होता है, जो आदर्श सम्बन्धी, राष्ट्रीय, धार्मिक, राजनीतिक, वर्गीय, आर्थिक अथवा अन्य किसी भी कारण से उसे अपदस्थ करने की चेष्टा कर सकते हैं। तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष जारी है और रहेगा, किन्तु मध्य तथा पूर्वी यूरोप भर में सोवियत्-सरकार की सर्वोपरि शक्ति राजनीतिक स्वाधीनता का गला घोंट सकती है।

परन्तु तुरंत सवाल उठाया जा सकता है कि मध्य तथा पूर्वी यूरोप में स्वाधीनता कभी रही भी है? वहां तो सदा से ही सामंतवाद का दौर-दौरा रहा है।

इस प्रकार की बात अज्ञान अथवा बौद्धिक खोखलेपन के कारण कही जाती है। युद्ध से पूर्व वहां स्वाधीनता अपूर्ण थी। निर्धनता के कारण लोग लोकतंत्रवाद का विकास नहीं कर पाए थे। इन देशों में सर्वत्र ही जातीय शत्रुता, घूसखोरी, राजनीतिज्ञों की अकुशलता, पुलिस के अत्याचार, जमींदारों, अमीरों और राजाओं का बोल-बाला था। परन्तु इन सभी में, जहां, आज कम्यु-निस्ट शासन करते हैं, पहले विरोधी दल थे। हंगरी का समाजवादी दल नाजी-विरोधी था और भूमि-प्रणाली में सुधार का पक्षपाती था। कुछ देशों में विरोधी दल के हाथ में कुछ भी शक्ति न थी और उसे दमन का शिकार बनना पड़ता था। परन्तु कम-से-कम वह पार्लमेंट में चिल्लपों मचा कर अपना पक्ष तो उप-स्थित कर ही सकता था। इस सभी देशों में विरोधी दल के पत्र थे, जो सर-कार की आलोचना करने से नहीं चूकते थे। मजदूर सभाएं थीं और हड़तालें

की जा सकती थीं। लोग देश के बाहर जा सकते थे और बाहर से देश में वापस आ सकते थे। विदेशी लोग सम्पूर्ण प्रदेश में खुशी से घूम-फिर सकते थे। विदेशी पत्र और पुस्तकें अबाध रूप से आ सकती थीं। नागरिक विदेशी रेडियो सुन सकते थे।

युद्ध से पूर्व पोलैंड, रूमानिया तथा पूर्वी यूरोप के अन्य देशों की सरकारों की मैं अक्सर आलोचना किया करता था। निश्चय ही प्रगतिशील और समाजवादी वर्गों की इच्छा यही थी कि युद्ध के उपरान्त पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतंत्रवाद का अधिक विकास हो, न कि यह कि वे स्टालिनवाद के शिकार बन बैठें।

उन लोकतंत्रवादियों तथा उदार राजनीतिज्ञों की बात मेरी समझ में नहीं आती, जो लोकतंत्रवाद के दमन से खुश हैं और लोकतंत्रवादियों के विनाश का प्रतिवाद नहीं करते।

अन्य कितने ही लोगों की तरह मैं भी भारतीय स्वाधीनता का समर्थक रहा हूं। साम्राज्यवाद एक प्रकार की तानाशाही है और मैं उससे घृणा करता हूं। हिन्दुस्तान की अंग्रेजी हुकूमत ऐसे हजारों लोगों को गिरफ्तार कर लेती है, जिन्होंने कोई नियम भंग नहीं किया है और उन्हें बरसों तक जेल में रखती है। अनेक बार गिरफ्तार व्यक्तियों पर मुकदमे तक नहीं चलाये जाते। ब्रिटेन के जंगी वायुयानों ने आसमान से हिन्दुस्तान के गांवों पर मशीनगनों द्वारा गोलियों की वर्षा की है। ये कार्य १९४२ के राजनीतिक उपद्रवों के समय हुए हैं। परन्तु साधारण वर्षों में भारतीय समाचारपत्र और राजनीतिक दल अंग्रेजों की नीति तथा अंग्रेजों के अफसरों के विरुद्ध ज़बानी जिहाद-सा जारी रखते हैं। सरकार का विरोध करने के लिए संगठन होने दिया जाता है। यह एक पराधीन देश की स्वतंत्रता है। स्थिति असंतोषजनक है, किन्तु यह एक ऐसी स्वाधीनता है, जिसका रूस अथवा रूसी प्रभुत्व वाले क्षेत्रों में अभाव है। रूसी जहां भी जाते हैं, अपनी प्रणाली को साथ ले जाते हैं। उनके साथ जो सबसे प्रधान वस्तु अन्य देशों में पहुंचती है, वह दमन है। रूस इस बात की शेखी बघारता है कि उसने मध्य तथा पूर्वी यूरोप से सामंतवाद की जड़ें खोद दी हैं। परन्तु साथ ही उसने एक ऐसी राजनीतिक तथा बौद्धिक गुलामी को जन्म दिया है, जो कम-से-कम उतनी ही बुरी है।

परन्तु स्टालिन ने अपनी दूरदर्शिता के कारण यह अवश्य अनुभव किया है कि यदि कम्युनिस्ट लोग स्थानीय जनता का समर्थन नहीं प्राप्त करते तो आगे जाकर एक दिन रूसियों के लिए अपने प्रभुत्व वाले क्षेत्र में बने रहना

असम्भव हो जायगा। यही कारण है कि उन्होंने मध्य तथा पूर्वी यूरोप में बड़े व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण और बड़ी जमींदारियों का बंटवारा आरम्भ कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जहां एक तरफ पूंजीपतियों और जमींदारों के हाथों से आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति जाती रही है, वहां दूसरी तरफ जिन किसानों और मजदूरों को जमीनें मिली हैं वे रूसियों का आभार मानने लगे हैं।

यूरोप के बहुत से भागों में निर्धन किसानों के हित-साधन के लिए भूमि-प्रणाली के सुधार और वहां के अमीर और विलासी जमींदारों के खात्मे की बहुत अधिक आवश्यकता थी। परन्तु रूसियों ने भूमि-प्रणाली का जो सुधार किया उसका लोगों ने बहुत ही अतिरंजित वर्णन किया है। इनमें से कुछ तो मेरे मित्रों ने ही उन देशों के सम्बन्ध में "दि नेशन" में लेख लिखे हैं, जिनका उन्हें ज्ञान नहीं है। बोलशेविक क्रांति से प्रेरणा प्राप्त करके फिन्लैंड, तीनों बाल्टिक राज्य, पोलैंड, रुमानिया, बल्गारिया, युगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया में भूमि-प्रणाली का सुधार पहले ही हो चुका था—यह सुधार होर्थी के हंगरी और जर्मनी में नहीं हुआ था। भूमि-प्रणाली में सुधार न होना भी लोकतंत्रवादी जर्मनी के पतन का एक कारण था।

फिन्लैंड, बाल्टिक राज्य, बल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया ऐसे छोटे किसानों के राज्य हैं, जो खेतों के स्वयं स्वामी हैं। कुछ जमींदारियां रह गईं, किन्तु देश की आर्थिक व्यवस्था में उनका कुछ भी महत्त्व नहीं रह गया। रुमानिया और पोलैंड में बची हुई जमींदारियों की संख्या अधिक थी। किन्तु इस पोलैंड में भी कर्ज़न पंक्ति से पूर्व, अर्थात् पोलैंड के रूस द्वारा लिये गए भाग में, युद्ध से पूर्व ही ८० प्रतिशत भाग किसानों के बीच विभाजित किया जा चुका था।

किसी देश में लालसेना के पदार्पण करते ही स्थानीय परिस्थितियों का ध्यान रखे बिना ही भूमि-प्रणाली में सुधार का कार्य आरम्भ कर दिया जाता है। पोलैंड, रुमानिया और हंगरी में इसका तात्कालिक परिणाम खाद्य की कमी तथा जनता के कष्टों की वृद्धि के रूप में दिखाई दिया। जिस प्रकार रूस में मिली-जुली खेती की प्रणाली शुरू करते समय सोवियत् अधिकारियों ने जनता के कष्टों की तरफ ध्यान नहीं दिया, वही अन्य देशों में हुआ।

पोलैंड में जिन किसानों को भूमि-प्रणाली के सुधार से लाभ हुआ उन्हें अधिक-से-अधिक ८ एकड़ और कुछ को इतनी कम कि ५ एकड़ भूमि मिली। इसका परिणाम यह होगा कि वे अपनी माली हालत कभी सुधार न सकेंगे और या हताश होकर उन्हें पूर्वी जर्मनी के हाल में प्राप्त प्रान्तों में चले जाना पड़ेगा।

रूस की दुहाई देने वाली लेखिका अन्ना लुइसी स्ट्रांग ने ३ फरवरी

१९४५ के "नेशन" में पालैंड की भूमि-प्रणाली के सुधार के सम्बन्ध में लिखा था---"इस प्रकार ९ लाख एकड़ भूमि को, जिस पर पहले १०००प रिवारों का अधिकार था, १ लाख परिवारों के बीच बांट दिया गया।" पर इससे प्रत्येक परिवार के हिस्से में ८ एकड़ भूमि ही आती है।

५ दिसम्बर १९३५ को पोलिश अर्थ-मंत्री क्वीआरकोवस्की ने देश का पार्लमेंट को बताया था कि जिन किसानों के पास २५ एकड़ भूमि है वे औसतन ८ डालर वार्षिक कमाते हैं। परन्तु उन्हें उन किसानों की तुलना में लखपति कहा जा सकता है, जिनके पास केवल १० या १२ करोड़ भूमि है। इनका अनुपात कुल जनसंख्या में ३१ प्रतिशत है। अन्य ३४ प्रतिशत किसानों के पास इससे छोटे खेत हैं। १ करोड़ के लगभग किसानों का देश के आर्थिक जीवन में कुछ स्थान ही नहीं है, क्योंकि उनके पास ८ एकड़ या इससे कुछ ही अधिक भूमि है। उन्हें इतनी कम आय होती है कि वे शहर का कोई भी सामान नहीं खरीद सकते।

फिर युद्ध के मध्य ही भूमि-प्रणाली में सुधार की क्या आवश्यकता उत्पन्न हो गई। अन्ना लुइसी स्ट्रांग ने इसके कई कारण बताये हैं। उसने लिखा था---"भूमि-प्रणाली में सुधार से पोलिश सेना के लिए केवल जवान ही अधिक संख्या में नहीं मिलते हैं बल्कि इससे लाखों पोलिश किसानों में पूर्वी प्रशा तथा बोमेरानियन प्रदेशों को प्राप्त करने की इच्छा में भी वृद्धि होती है, क्योंकि इन नये प्रदेशों के मिलने पर ही प्रत्येक किसान को १२ एकड़ भूमि मिल सकती है।" आठ एकड़ भूमि मिलने पर प्रत्येक पोलिश किसान १२ एकड़ भूमि प्राप्त करने के लिए जर्मनी से लड़ने को तैयार हो जाता है।

निर्धन देशों में थोड़ी भूमि पर खेती को प्रोत्साहन देने से न तो किसानों का रहन-सहन ऊंचा हो सकता है और न देश की आर्थिक उन्नति ही सम्भव है।

मध्य और पूर्वी यूरोप में स्टालिन ने भूमि-प्रणाली में सुधार की जो चाल चली है उससे इस विस्तृत भू-खंड की आर्थिक समस्या हल नहीं हो सकती। मुख्य समस्या उद्योग-धंधों तथा पूंजी का अभाव है। इस क्षेत्र में रूस विवश है। रूस अपने प्रभुत्व वाले क्षेत्र के तैयार माल की ऐसी बड़ी मंडी बन सकता है, जिसकी मांग शायद ही कभी पूरी हो सके। रूस उन देशों के कारखानों के लिए कुछ कच्चा माल दे सकता है; जिस तरह उसने पोलैंड को कपास दी भी है। परन्तु कितने ही वर्षों तक---शायद १५ वर्ष तक---रूस को अपने ही यहां भोजन, निवास-स्थान, कपड़ा, मशीनी औजार तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की कमी का सामना करना है। इसलिए वह अन्य देशों को ये चीजें दे नहीं सकता। उसे तो अन्य देशों से माल मंगाने की ही जरूरत पड़ेगी। वह आस्ट्रिया,

हंगरी, रुमानिया और पोलेंड से तेल, रुमानिया से अनाज, हंगरी से मांस और चेकोस्लोवाकिया से साधारण उपयोग में आने वाली वस्तुएं लेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रूस के प्रभुत्व में रहने वाले देशों को अमरीका और ब्रिटेन की आर्थिक सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस सहायता के बिना न तो उनकी आर्थिक अवस्था में सुधार हो सकता है और न राजनीतिक स्थिरता ही हो सकती है। अमेरिका और इंग्लैंड का रूसी क्षेत्र में प्रवेश इन देशों से सोवियत् सरकार की संधि के परिणामस्वरूप ही हो सकता है।

रूस न तो मध्य तथा पूर्वी यूरोप की आर्थिक समस्या का हल कर सकता है और न राष्ट्रीयता के सवाल का ही। हिटलर के संकुचित जाति-वाद, रूस की नीति और अखिल स्लाववाद के परिणामस्वरूप प्रायः प्रत्येक देश में राष्ट्रीयता की लहर जगी हुई है। इस क्षेत्र में चेक सबसे सुसंस्कृत हैं और ये अपने प्रदेश से जर्मनों तथा हंगेरियनों को निकाल रहे हैं। चेकोस्लाविया और पोलेंड के सीमा सम्बन्धी झगड़े अभी बने हुए हैं। धुरी राष्ट्रों ने हंगेरियनों को ट्रांसिल्वानिया प्रदेश देकर अपनी तरफ फोड़ा था। बाद में वही प्रदेश रुमानिया को देकर स्टालिन ने रुमानियनों को अपनी तरफ से लड़ने को राज़ी कर लिया, परन्तु ट्रांसिल्वानिया में हंगेरियन और रुमानियन दोनों हीं हैं, इसलिए नई व्यवस्था में हंगेरियन असंतुष्ट हैं। युद्ध के दिनों में युगोस्लाविया में क्रोटों ने सरवों की सामूहिक हत्या की थी। टिटो ने "न्यूयार्क फ़्रीवर्ल्ड" पत्रिका के एक विशेष लेख में लिखा था—"जर्मनों के उकसाने पर क्रोटों ने लाखों सरवों को मौत के घाट उतार दिया था। उधर मिहेलोविच के चेटनिकों ने जर्मनों तथा इटालियनों द्वारा भड़काये जाने पर लाखों क्रोटों का यही हाल किया था...... हमने चेटेनिकों, और चेटनिकी सरवों को यह विश्वास दिलाने में कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ा कि सभी क्रोट बदमाश नहीं होते।" प्रश्न यह है कि सरवों को विश्वास हुआ या नहीं? सरवों ने क्रोटों को क्षमा नहीं किया। क्रोट होने के कारण टिटो से और उसके हिमायती रूस तक से सरव नाराज हैं। युगोस्लाविया में सरवों का अनुपात जनसंख्या में आधा है। इसी प्रकार क्रोटों द्वारा सरवों को माफ किये जाने की कोई सम्भावना नहीं है। सरवों के विरुद्ध क्रोटों की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए रूस युगोस्लाविया से बल्गारिया और मेसीडोनिया को मिलाकर एक संघ कायम करना चाहता है। इस संघ में सरवों की संख्या अपने विरोधियों की अपेक्षा कम रह जायगी। परन्तु इससे राष्ट्रीय कठिनाइयों का अंत नहीं होगा, इससे तो संघर्ष तथा दमन का ही द्वार खुलेगा।

सीमाओं के उलट-फेर, विशाल जन-समूहों के निर्वासन अथवा अन्य किसी

भी तरीके से राष्ट्रों अथवा उपराष्ट्रों की ये समस्याएं हल नहीं हो सकतीं। इन्हें हल करने का एक-मात्र उपाय अन्तर्राष्ट्रीयता है। परन्तु सोवियत् सरकार राष्ट्रीयता के पथ पर अग्रसर हो रही है और दूसरों से भी ऐसा ही करने को कह रही है। इसलिए मध्य तथा पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों के लिए तीन ही रास्ते हैं—(१) राष्ट्रीय कटुता और संघर्ष जारी रहे, या (२) यूरोपीय राष्ट्रों को मिलाकर एक संयुक्त संघ की स्थापना हो अथवा (३) ये राष्ट्र सोवियत्-संघ में सम्मिलित कर लिये जायं।

पूर्वी यूरोप, जर्मनी और एशिया में सोवियत् सरकार को एक ऐसा दल चाहिए, जो उसके अपने स्वार्थ को इन क्षेत्रों में अग्रसर कर सके। कम्युनिस्ट दल इस कार्य में असफल रहा है, क्योंकि उसके अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं रही है। सोवियत् अधिकारियों ने परिस्थिति का सामना करने के लिए तरह-तरह के उपाय किये हैं। बलगारिया में राष्ट्रवादियों को फुसलाने के लिए उन्होंने "फादरलैंड-फ्रंट" खोला है। ईरान में उन्होंने डेमोक्रेटिक (लोकतंत्री) दल को जन्म दिया है। एक अन्य देश में उन्होंने पीपल्स (जनता का) दल स्थापित किया है।

इस तरह स्पष्ट है कि सोवियत् सरकार की चाल कम्युनिस्ट दलों को यूरोप के अन्य लोकप्रिय लोकतंत्रवादी अथवा समाजवादी दलों में मिला देने की है। उसे आशा है कि सहायता करने पर कम्युनिस्ट अधिक लोकप्रिय दलों पर अधिकार जमा सकेंगे और इस प्रकार रूस को अपने स्वार्थ-साधन का अवसर मिल सकेगा।

कम्युनिस्टों और समाजवादियों का झगड़ा आज का नहीं है। यह उस समय का है, जब स्वयं रूस में ही दो दल थे। एक था बोलशेविकों का, जो हिंसा द्वारा निम्नवर्ग की सत्ता स्थापित करना चाहते थे। दूसरा दल था मेंशे-विकों का, जो समाजवाद-युक्त लोकतंत्रवाद के समर्थक थे और हिंसा के विरोधी थे। जर्मनी में इसी झगड़े के कारण मजदूरों में फूट पड़ गई और हिटलर के लिए रास्ता साफ हो गया। कभी-कभी कम्युनिस्ट पार्लमेन्ट में नाजियों का भी समर्थन करते थे। उनका खयाल था कि वे इसी प्रकार अपनी शक्ति में वृद्धि कर सकेंगे। इसलिए उन्होंने सामाजिक लोकतंत्रवादियों का विरोध किया। इससे नाजियों को लाभ हुआ और उन्होंने दोनों ही का खात्मा कर दिया।

जर्मनी के सामाजिक लोकतंत्रवादी नरम विचारों के थे। १९१८ में उन्हें देश की सामाजिक व्यवस्था बदलने और सैनिक वर्ग तथा पूंजीपतियों के निरा-करण करने का अवसर मिला। परन्तु उन्होंने आधारभूत सुधार करने का साहस

कभी नहीं किया। अंत में शक्ति उनके शत्रुओं के हाथ में चली गई।

इस प्रकार जर्मनी के दोनों ही श्रमजीवी दलों ने अपने कर्त्तव्य का ठीक तरह पालन नहीं किया।

१९३५ में नाजियों की शक्ति से भयभीत होकर सोवियत् सरकार लोकतंत्रवादी देशों से मैत्री बढ़ाने की आवश्यकता का अनुभव करने लगी और उसने अन्य देशों के कम्युनिस्टों को सामाजिक लोकतंत्रवादियों से सम्पर्क बढ़ाने का आदेश दिया। तब कम्युनिस्टों ने उन्हीं सामाजिक लोकतंत्रवादियों के साथ काम करना स्वीकार किया, जिन्हें पहले वे "सामाजिक फाशिस्ट" कहते थे।

स्पेन में केटेलोनिया के सामाजिक लोकतंत्रवादियों और कम्युनिस्टों ने मिलकर एक गुट बनाया और यह गुट कामिटर्न में सम्मिलित हो गया। स्पेन के समाजवादी तथा कम्युनिस्ट युवक-संगठनों ने मिलकर एक संयुक्त संस्था बनाई और इसने क्रमशः विशुद्ध कम्युनिस्ट दल का रूप ग्रहण कर लिया।

सोवियत्-सरकार यही तो चाहती थी। कामिटर्न के नेता डिमिट्रोव ने मुझे मई, १९३८ में बताया कि वह प्रत्येक देश में कम्युनिस्ट और समाजवादी दलों की एकता चाहता है। उसने यह भी कहा कि अन्त में यह समाजवादी-कम्युनिस्ट संगठन कामिटर्न का स्थान ग्रहण कर लेगा।

इस प्रकार कामिटर्न भंग किये जाने का विचार डिमिट्रोव के मस्तिष्क में १९३८ में ही था। उसका यह भी खयाल था कि इस संयुक्त संगठन म कम्युनिस्टों का प्रभुत्व रहेगा। अब सोवियत् सरकार तथा कम्युनिस्टों की यही नीति है।

यूरोप के कम्युनिस्ट दलों ने सामाजिक लोकतंत्रवादी शक्तियों से एकता स्थापित करने के लिए कोई भी प्रयत्न शेष नहीं छोड़ा है। इससे उस दल के पृथक् अस्तित्व का अंत हो जायगा, जिसे श्रमजीवियों का समर्थन कम्युनिस्टों की अपेक्षा अधिक मात्रा में मिलता रहा है। इससे कम्युनिस्टों को श्रमजीवियों के संयुक्त संगठन को चलाने का अवसर मिल जायगा। कितने ही देशों में ऐसी पार्टी या तो सरकार बनाकर शासन करेगी और या सरकार पर निर्णयात्मक प्रभाव डालेगी।

जर्मनी के रूसी क्षेत्र और बर्लिन में लालसेना के अफसरों ने सामाजिक लोकतंत्रवादियों को कम्युनिस्टों से मिलकर कार्य करने का आदेश दे दिया है। अधिकांश सामाजिक लोकतंत्रवादी इस आदर्श को मान लेते हैं और जो नहीं मानते उन्हें साइबेरिया भेज दिया जाता है। अन्य कुछ अमरीकी तथा ब्रिटिश सेना की सहायता से पश्चिमी जर्मनी को भाग गए हैं।

सोवियत् सरकार को विश्वास है कि यदि श्रमजीवियों के एक-मात्र संगठन में और मज़दूर सभाओं में कम्युनिस्टों का बोल-बाला बना रहे तो रूस स्थानीय राजनीतिज्ञों की मदद से अपने प्रभाव-क्षेत्र के शासन का संचालन कर सकता है। इस हालत में लालसेना का अधिकार भी स्थानीय जनता को कम खलेगा। यदि जर्मनी के अमरीकी, ब्रिटिश और फ्रांसीसी क्षेत्रों में भी समाजवादियों का ज़ोर बना रह सके तो कम्युनिस्ट और समाजवादियों का मास्को से नियंत्रित संयुक्त दल जर्मनी भर में रूस की सत्ता स्थापित कर सकता है। इस प्रकार सोवियत्-सरकार ने "जर्मनी का क्या होगा ?" प्रश्न का उत्तर दिया है।

जहां तक पूंजीवाद और फाशिज्म के विरोध का सम्बन्ध है, समाजवादियों और कम्युनिस्टों में कोई मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु लोकतंत्रवाद के विषय में उनका सैद्धान्तिक मतभेद है। यह उनके मध्य एक गहरी खाई है। समाजवादी लोग ऐसा समाजवाद चाहते हैं, जो लोकतंत्रवाद के साथ हो। और कम्युनिस्ट ? उनके लक्ष्य की व्याख्या प्रसिद्ध जर्मन कम्युनिस्ट-नेता विलसेलापीक अपने २१ फरवरी, १९४६ के उस भाषण में कर चुका है, जो उसने समाजवादियों तथा कम्युनिस्टों की एकता के समर्थन में बर्लिन में हुए एक प्रदर्शन के अवसर पर दिया था। उसने कहा था—"हमारा लक्ष्य सदा वही सच्चा समाजवाद रहेगा, जिसकी सफलता सोवियत् रूस में दिखाई देती है।"

कम्युनिस्टों की मातृभूमि रूस है। इसीलिए जर्मन के सामाजिक लोकतंत्रवादियों ने खुले शब्दों में जर्मन कम्युनिस्टों से प्रश्न किया है कि उनका दल रूसी है या जर्मन ? एक तरफ कम्युनिस्टों का रूसी सरकार से गहरा सम्बन्ध बना हुआ है और दूसरी तरफ समाजवादी लोकतंत्रवाद की ओर झुके हुए हैं। इन विरोधी प्रवृत्तियों के कारण ही श्रमजीवियों के संयुक्त संगठन का काम रुका हुआ है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक प्रतिक्रिया, राजतंत्रवाद, पादरियों की गुलामी और फाशिज्म का पूर्ण रूप से विनाश नहीं हो सकता।

कुछ समाजवादियों का कम्युनिस्टों से मिलने की ओर झुकाव रहा है। रूसियों के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर के देशों में यह प्रवृत्ति सोवियत् सरकार के दबाव के कारण नहीं है। वहां यह प्रवृत्ति मुख्यतः अपरिवर्तनवादियों का बल बढ़ने के कारण उत्पन्न होती है। जब अपरिवर्तनवादियों के हाथ में शक्ति चली जाती है या जाने लगती है तो वामपक्षी अपने मतभेद भूलकर एकता के सूत्र में बंधने लगते हैं।

यही कारण है कि मज़दूर-दल द्वारा चर्चिल को पराजित करने से स्टालिन

प्रसन्न नहीं हुआ। चर्चिल के कट्टरपंथीपन और नरेशों से सहानुभूति के कारण स्टालिन अपनी शक्ति बढ़ने की आशा कर सकता था। चर्चिल के हाथ में शक्ति बनी रहने की अवस्था में ही कम्युनिस्ट लोग श्रमजीवियों, समाजवादियों और उदारपंथियों से एकता की अपील कर सकते थे। परन्तु हुआ यह कि ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार स्थापित होते ही लास्की ने यूरोप के अन्य देशों के समाजवादियों को कम्युनिस्टों से न मिलने की सलाह दी। समाजवादियों में कम्युनिस्टों के प्रति घृणा की भावना पहले ही थी, लास्की की सलाह से वह और भी पुष्ट हो गई। परन्तु भविष्य में कम्युनिस्ट दल समाजवादियों के आक्रमण से मुक्त केवल उसी अवस्था में रह सकता है जब कि यूरोप रूढ़िवादियों से मुक्त रहे। मध्यमश्रेणी तथा पेशेवर लोगों को युद्ध-काल में बहुत कष्ट मिला है और राजनीति में उनकी दिलचस्पी भी बहुत कुछ घट गई है। युद्ध से पूर्व फ्रांस में और हिटलर से पूर्व जर्मनी में समाजवादी लोग रूढ़िवादियों का बल बढ़ने पर मध्यम श्रेणी तथा उदारपंथियों की तरफ झुकते थे। इधर उदारपंथियों की शक्ति घटने पर समाजवादी दल रूढ़ीवादियों से लोहा लेनें के लिए अब केवल कम्युनिस्टों के समर्थन पर ही निर्भर रह सकता है।

इस प्रकार रूढ़िवादियों का बल बढ़ने पर समाजवादियों और कम्युनिस्टों की एकता को प्रोत्साहन मिलता है। इससे पश्चिम के लोकतंत्री राष्ट्रों का बल घटता है और सोवियत् सरकार को प्रसन्नता होती है। फाशिस्टों, प्रतिक्रियावादियों और राजतंत्रवादियों की शक्ति घटने पर समाजवादी वर्ग कम्युनिस्टों को धता बताने में समर्थ हो जाते हैं। तब वे कम्युनिस्ट तानाशाही से अपना बचाव कर सकते हैं।

इसलिए ब्रिटेन की मजदूर सरकार को समाजवादियों के सम्मेलनों में लास्की जैसे वक्ताओं को भेजकर ही संतुष्ट न हो जाना चाहिए। उसे यूरोप में उदार तथा लोकतंत्रीय प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना चाहिए। स्पेन में फ्रांको, पुर्तगाल में सालाजार, हंगरी में राजतंत्रवादी, आस्ट्रिया में जमींदार, जर्मनी में उद्योगपति और इटली के बचे-खुचे फाशिस्ट—ये सब समाजवादियों में कम्युनिस्टों की ओर झुकने की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं।

प्रश्न उठता है कि कम्युनिस्ट लोग समाजवादियों का कार्यक्रम क्यों नहीं स्वीकार करते ? कारण यह है कि कम्युनिस्ट दल में अनुशासन कड़ा है और उसका मुख्य कर्त्तव्य रूस के हितों को अग्रसर करना है। यदि कम्युनिस्ट दल का कोई नेता एक नीति ग्रहण करता है और मास्को से आदेश मिलने पर उसमें परिवर्तन करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है तो उसे "पूंजी-

वादियों का ग़ुलाम" कहकर बदनाम किया जाता है। कम्युनिस्ट-नेता में विचार-स्वातंत्र्य की भावना जहाँ एक बार देखी गई, बस उसे "ट्राट्स्की का अनुयायी" या "फाशिस्ट" कहा गया। इसलिए कोई भी कम्युनिस्ट दल सोवियत् सरकार की नीति के खिलाफ़ कुछ नहीं कर सकता। जब कम्युनिस्ट "लोकतंत्रवाद" की बातें करते हैं तो उनका मतलब "सोवियत् लोकतंत्रवाद" से होता है, जिसके आवश्यक अंग गुप्त पुलिस, एक ही दल और एक ही डिक्टेटर हैं। कम्युनिस्ट को "तानाशाही लोकतंत्रवादी" कहा जा सकता है।

यदि कम्युनिस्टों को सामाजिक-लोकतंत्रवादियों का सहयोग प्राप्त हो गया तो यूरोप से लोकतंत्रवाद और ब्रिटेन के प्रभाव का खात्मा हो जायगा और रूस के प्रभुत्व की पुष्टि हो जायगी। हिटलर के साथ केवल पशु-बल था। स्टालिन को राजनीति का भी बल प्राप्त है।

रूसी और ब्रिटिश साम्राज्य का पुराना संघर्ष अब नये सिरे से शुरू हो गया है और उसके विस्तार में वृद्धि भी हो गई है। पहले वह एशिया तथा पूर्वी यूरोप तक ही सीमित था। अब वह यूरोप के प्रत्येक कोने और एशिया के सभी भागों में फैल गया है। संसार के अधिक दूर के भागों तक उसका प्रभाव फैला हुआ है। नये हथियारों को काम में लाया जा रहा है। ज़ारों के शस्त्रागार में अखिल स्लाववाद, ईसाइयों का यूनानी सम्प्रदाय, कूटनीतिज्ञ, गुप्तचर और सेना के शस्त्रास्त्र थे। बोलशेविकों के पास ये सब तो हैं ही, किन्तु इनके अतिरिक्त सभी देशों में उनके क्रियाशील राजनीतिक दल फैले हुए हैं, कम्युनिज़्म का आकर्षक सिद्धान्त साम्राज्य-विरोधी नारा है। जहां ज़ारों ने सेनाओं के ज़ोर से दो बार भारत को विजय करने का असफल प्रयत्न किया, वहां सोवियत् सरकार ने समस्त उपनिवेशों की जनता से अपनी पराधीनता की जंजीरें तोड़ फेंकने की अपील की है।

इसके अतिरिक्त, १९वीं शताब्दी की अपेक्षा ब्रिटेन कमज़ोर और रूस शक्तिशाली होगया है। तेहरान और याल्टा में शान्ति की जो व्यवस्था स्टालिन, चर्चिल और रूज़वेल्ट ने मिलकर तैयार की थी उसके परिणामस्वरूप रूस की भारी विजय हुई है और उसे लगभग आधे यूरोप पर अधिकार प्राप्त हो गया है। अंग्रेजों का कहना है कि शेष यूरोप को मिलाकर एक पश्चिमी राष्ट्रों का गुट बनाया जाय और रूसी प्रभाव-क्षेत्र के जवाब में ब्रिटेन अथवा ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही मिलकर उसका नेतृत्व करें।

प्रश्न है कि क्या इस प्रकार का कोई गुट बनाया जा सकता है? रूस के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर के राष्ट्रों पर एक बार दृष्टिपात तो कीजिये!

नार्वे, स्वीडेन और डेनमार्क सदा से यूरोप की राजनीति से तटस्थ रहते आये हैं। स्कैंडेनेविया प्रायद्वीप से बाहर के राष्ट्रों से संधि करना अथवा उनसे मिलकर गुट बनाना उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त, नार्वे, स्वीडेन और डेनमार्क रूस के पड़ोसी हैं। ऐसी अवस्था में वे पश्चिमी राष्ट्रों के किसी ऐसे गुट में कैसे सम्मिलित हो सकते हैं, जिसका रुख रूस-विरोधी हो।

हालैंड और बेल्जियम पश्चिमी राष्ट्रों के गुट में शरीक हो सकते हैं। किन्तु फ्रांस में जब तक कम्युनिस्टों की वर्तमान शक्ति बनी हुई है तब तक वह ऐसा नहीं कर सकता। यदि स्पेन और पुर्तगाल में लोकतंत्रवादी शासन कायम हो जाय तो वे ऐसा कर सकते हैं। इटली का निर्णय भी एक सीमा तक वहां के कम्युनिस्टों पर निर्भर है। स्विटज़रलैंड पक्का तटस्थतावादी है। यद्यपि उसकी सहानुभूति ब्रिटेन के साथ है, फिर भी वह किसी गुट में शामिल नहीं हो सकता। यूनान में फूट फैली हुई है। उसका सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ हो जाने पर दक्षिण-पक्षियों और वामपक्षियों में विरोध बढ़ेगा और युगोस्लाविया तथा बल्गारिया के बीच कटुता बढ़ेगी। इसलिए यूनान भी गुट में सम्मिलित होने से हिचकिचाएगा। तुर्की का एक भाग यूरोप में है और दूसरा एशिया में है। निस्सन्देह उसे ब्रिटेन से बहुत कुछ आशा है, किन्तु वह रूस के आक्रमण की आशंका से भयभीत है। ऐसी अवस्था में रूस से सुलह होने की आशा जब तक बनी रहेगी तब तक वह ब्रिटेन के साथ किसी पश्चिमी गुट में नहीं शामिल होगा।

जर्मनी को छोड़कर यूरोप के शेष देशों का यह हाल है।

दूसरे महायुद्ध में असंख्य जर्मनों ने पशुओं तथा राक्षसों का-सा व्यवहार किया है। यदि मानव जाति के विरुद्ध जर्मनों के अपराधों की सूची तैयार की जाय तो जर्मनी की समस्त भूमि एक विशाल काले धब्बे से ढक जायगी। जर्मनी के युद्ध सम्बन्धी तथा उससे पूर्व के अपराधों को किसी प्रकार क्षम्य नहीं कहा जा सकता। इन सब अपराधों के लिए क्या जर्मनी को कुछ दण्ड न मिलेगा? पराजय और उसके परिणाम ही जर्मनी के लिए दण्ड हैं। जर्मनी के विरुद्ध संसार के असंतोष का सरलता से अन्त नहीं हो सकता। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो जर्मन जो कुछ कर चुके हैं उसका पर्याप्त दण्ड देना सम्भव ही नहीं है क्योंकि पहले की जो भी कार्रवाई की जायगी उससे जर्मनी के भीतर के निर्दोष जर्मन और बाहर के निर्दोष जर्मन ऐसे दब जायंगे कि संसार की उन्नति में बाधा पड़ने लगेगी। एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है। यदि जर्मनी को उसके अपराधों के लिए दण्ड दिया जाय तो दण्ड देने वालों का नैतिक अधः-पतन हो जायगा। यह एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें बुराई का बदला भलाई

से देना पड़ेगा, चाहे जिनके प्रति भलाई की जाय वे इसके योग्य न भी हों

हमारी सभ्यता किधर जा रही है ? यूराप को देखिये या एशिया को—अंग्रेज, डच, फ्रांसीसी, रूसी, आर्जेन्टाइनी, स्पेनवासी या चीनी किसी को भी देखिये; हमारे ऊपर बर्बरता उसी प्रकार छाती जा रही है, जिस प्रकार फांसी पाने वाले व्यक्ति के मस्तक पर कनटोप आ जाता है, परन्तु हमें फांसी नहीं लगाई जाती। हम कनटोप लगाये निरुद्देश्य फिर रहे हैं। हमारी सभ्यता क्षत-विक्षत होने जा रही है। प्रतिहिंसा के इस कुचक्र का कहीं तो अन्त होना ही चाहिए। प्रश्न यह नहीं है कि जर्मन अच्छे व्यवहार के योग्य हैं या नहीं ? तथ्य की बात तो यह है कि हमें केवल अच्छा व्यवहार करना चाहिए।

१८ जून १९४५ को पत्र-प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन में भाषण करते हुए जनरल आइज़न होवर ने कहा था : "घृणा अथवा हिंसा द्वारा आप शान्ति का निर्माण नहीं कर सकते।" ये शब्द एक ईसाई के मुंह से निकले थे।

१९४२ में जब मैं महात्मा गांधी के साथ ठहरा हुआ था तो उन्होंने मुझसे प्रश्न किया था : "आपके राष्ट्रपति चार स्वाधीनताओं की बात कहते हैं। क्या इनमें स्वतन्त्र होने की स्वाधीनता भी सम्मिलित है ?"

"युद्ध के बाद दुनिया में सुधार होगा"—मैंने उत्तर दिया।

गांधीजी ने मुझसे दृष्टि मिलाते हुए कहा—"आपको इसमें कोई शक तो नहीं है ?"

मैंने उत्तर दिया—"मुझे आशा है।"

गांधीजी बोले—"यदि आप मुझे विश्वास दिलाना चाहते हैं कि आप दुनिया में शान्ति की स्थापना करने में समर्थ हो सकेंगे तो मेरे विचार में इसके लिए इंग्लैंड और अमेरिका में अभी से हृदय-परिवर्तन होना आवश्यक है।" ये शब्द भी एक ईसाई के हैं—ऐसे ईसाई के, जो हिन्दू है।

कुछ समय पहले एक पादरी की पत्नी ने मुझसे पूछा था कि शान्ति की स्थापना के लिए पादरी क्या कर सकते हैं। मैंने जवाब दिया—"उन्हें ईसाइयों को ईसाई बनाना चाहिए।"

मैं अनेक देशों का भ्रमण कर चुका हूं। मैं ऐसे हिन्दुओं से मिल चुका हूं, जो ईसाई थे; और ऐसे यहूदियों से भी, जो ईसाई थे। मैं ऐसे प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों से भी मिल चुका हूं, जो ईसाई थे। परन्तु ईसाई देश मैंने आज तक नहीं देखा।

शान्ति उतनी ही अच्छी होगी, जितने अच्छे वे लोग होंगे, जो उसका निर्माण करने जा रहे हैं।

जर्मनों, जापानियों और इटालियनों ने जो युद्ध छेड़ा उसमें उन्हें अंग्रेजों, फ्रांसीसियों, रूसियों, अमरीकियों तथा अन्य लोगों की मदद मिली थी। म्यूनिख की संधि में भाग लेने वाले सभी युद्ध-अपराधा थे । सोवियत्-नाज़ी संधि करने वाले भी युद्ध-अपराधी थे। कौन कहता है कि यूरोप में युद्ध-अपराधी केवल जर्मन ही थे ?

सभी जर्मनों को युद्ध-अपराधी नहीं कहा जा सकता। मैं कुछ ऐसे जर्मनों को जानता हूं, जो उन लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक नाजी-विरोधी हैं, जो कहा करते हैं कि सभी जर्मन नाज़ी हैं। १९४५ में नूरेम्बर्ग में जर्मन युद्ध-अपराधियों के मामले पर विचार करते हुए जस्टिस राबर्ट जेकसन ने कहा था, "हमारा इरादा समस्त जर्मन राष्ट्र पर अपराध लगाने का नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि नाज़ी-दल को बहुमत के आधार पर शक्ति नहीं प्राप्त हुई थी। यह भी हमें अज्ञात नहीं है कि उसे उग्र नाज़ी क्रांतिकारियों तथा जर्मन सेनावादियों की दुरभिसंधि के कारण अधिकार प्राप्त हुआ था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है।"

यह कहना कि नाज़ियों के हाथ में अधिकार जनता की सहमति के बिना नहीं रह सकता था, तानाशाही के सबसे कठोर सत्य की उपेक्षा करना होगा। वह कठोर सत्य यह है कि तानाशाही का शासन जनता की स्वीकृति पर आधारित नहीं होता। हिटलर द्वारा समस्त जर्मन जनता का समर्थन प्राप्त करने की बात मैं किसी तरह नहीं मान सकता । उसने बहुत से जर्मनों का सम्र्थन प्राप्त कर लिया था। जिन जर्मनों ने हिटलर का समर्थन नहीं किया उन्हें भी अपना सहयाग प्रदान करना पड़ा। क्योंकि ऐसा न करने पर या तो उन्हें मौत का शिकार बनना पड़ता और या जेलों में जीवन व्यतीत करना पड़ता।

जर्मनी अथवा जापान के विरुद्ध हम चाहे जितना कड़ा व्यवहार करें—इससे शान्ति की प्राप्ति नहीं होगी। तीसरे महायुद्ध—परमाणु युद्ध—की चर्चा चल पड़ी है। परन्तु यह युद्ध जर्मनी, जापान या इटली नहीं छेड़ेंगे। वे इच्छा रखते हुए भी ऐसा नहीं कर सकते।

युद्ध और फाशिज्म केवल जर्मनी तक सीमित नहीं हैं। ये तो संसार भर की व्याधियां हैं। भूगोल, रक्त और जाति की सीमाओं से वे परे हैं।

निर्धनता, कष्ट, दमन और भेद-भाव विश्वव्यापी हैं। इन्हीं के कारण युद्ध होते हैं।

राष्ट्रवाद युद्ध छेड़ता है।

तानाशाह युद्ध छेड़ते हैं।

लोकतंत्रवादी देश युद्ध को रोकने की चेष्टा करते हैं, किन्तु लोकतंत्र-वाद सर्वत्र नहीं है।

जर्मनी के लोकतंत्रवादी संकोची, सुधारवादी और अहिंसक थे। जर्मनी के सामंतों, पूंजीपतियों और सेनावादियों के हाथों में अभी तक शक्ति बनी हुई थी। जर्मन लोकतंत्रवादियों पर अंगुली उठाने वाले अन्य देशों के लोकतंत्र-वादियों को ही ज़रा देख लें। स्पेन के लोकतंत्रवादियों की लोकतंत्रवाद में वास्तविक आस्था है और जर्मनों का ज़ोर भी वहां अधिक नहीं है। १९३१ से १९३६ तक स्पेन में सेनावादी, ज़मींदार, फाशिस्ट और राजतंत्रवादी प्रजातंत्र का गला घोंटने की तैयारी कर रहे थे, किन्तु वहां के लोकतंत्रवादियों ने क्या किया ? फ़्रांस में लोकतंत्रवाद का ज़ोर था और फ्रांसीसी बड़ी गम्भीरता से उसके पक्ष में अपने मत प्रदान करते थे। १९३९ से पूर्व लोकतंत्रवाद के जिन विरोधियों ने अनेक षड्यंत्रों में भाग लिया था क्या फ्रांसीसियों ने उन्हें देश-निकाला दिया ?

अमरीका के प्रगतिशील, उदार तथा लोकतंत्रवादी दलों को ही लीजिये। क्या वे स्वतंत्रता के घरेलू दुश्मनों, हब्शियों से घृणा करने वालों और यहूदियों, श्रमजीवियों तथा सुधारों के विरोधियों का खा़त्मा कर सके हैं? यदि जर्मनों को दोष देते हैं तो अपने को भी दोष दीजिये !

कहा जाता है कि जब फ्रांस, पोलैंड, युगोस्लाविया, इटली और यूनान में गुप्त नाज़ी-विरोधी संस्थाएं काम कर सकती थीं तो जर्मनी में क्यों नहीं, परन्तु यह कहना कहां तक उचित है ? युद्ध से पहले ही जर्मन नज़रबंद कैम्प भर चुके थे। वे उन नाज़ी-विरोधी जर्मनों से भरे हुए थे, जिन्होंने अपने प्राणों को वास्तव में संकट में डाला था और उनमें कितने ही उनसे हाथ भी धो बैठे थे। नाज़ी-अधिकृत देशों में गुप्त संगठनों के अधिक विशाल और शक्तिशाली होने का कारण यही था कि अभी उनमें नाज़ियों का दमन-चक्र पूरी तरह घूम नहीं पाया था और दूसरे विदेशी विजेताओं से मुक्ति पाने का विचार भी राष्ट्रीयता की भावना को उकसाकर गुप्त संगठनों का बल बढ़ा रहा था।

लोकतंत्रवादी देशों के उन नागरिकों को, जो मृत्यु का सामना न करने के लिए जर्मनों की निन्दा करते हैं, स्वयं अपने से ही प्रश्न करना चाहिए कि अपने यहाँ की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक बुराइयों को दूर करने के लिए वे स्वयं कितना खतरा उठाते हैं। अधिक-से-अधिक इसके लिए वे अपना कुछ समय अथवा धन खर्च कर देते हैं। क्या उपर्युक्त बुराइयों को दूर

करने के लिए वे अपने पेशे, परिवार, सामाजिक सम्बन्ध, नौकरी और प्राणों की बलि चढ़ा सकते हैं ?

स्पेन और रूस के कितने नागरिक अपने तानाशाहों से लड़ते हैं ?

१८ अक्टूबर १९४३ को न्यूयार्क में मि० सुमनर वेल्स ने कहा था—"हम एक सड़े-गले और बुरे संसार में रहते आये हैं और रह रहे हैं। जर्मनों की बुराई उस बुराई का अधिक कलुषित अंश थी, किन्तु वह कुल बुराई न थी। कुछ-न-कुछ बुराई प्रत्येक देश के हिस्से में आती है।

जापानियों की युद्ध से पूर्व की और युद्ध-काल की अपराध-सूची लम्बी है। यह कौन कह सकता है कि वह जर्मनों से अधिक लम्बी और बुरी है या नहीं ? फिर भी जापानियों के प्रति जर्मनों से भिन्न व्यवहार हुआ है। जनरल डगलस मैकार्थर की स्वीकृति से वहां जैसी प्रगतिशील सामाजिक क्रान्ति हुई है उससे अमरीकी प्रतिक्रियावादी तो आश्चर्य में पड़ जायंगे। लोकतंत्रवाद के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जापानियों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने से वंचित कर दिया गया है। भूमि-प्रणाली के सुधार का कार्य आरम्भ कर दिया गया है। समाचारपत्रों की स्वाधीनता को प्रोत्साहन दिया गया है। राजनीतिक दलों का जीवन भी स्वच्छन्द हो गया है। केन्द्रीय सरकार बनी हुई है, किन्तु सम्राट् के निरंकुश अधिकारों का अंत कर दिया गया है। सम्राट् को उसकी धार्मिक महानता तथा मर्यादा से वंचित कर दिया गया है। यह सब बिना किसा रक्त-पात अथवा संघर्ष के हो सका है। जनता लोकतंत्रवाद के लिए उत्सुक है। लोगों में विदेशियों के विरुद्ध कटुता की भावना भी नहीं है।

जापानियों के साथ जैसा व्यवहार हुआ है उसे करते समय यह नहीं सोचा गया कि क्या वे इसके योग्य हैं। कहा जाता है कि ऐसा होने का कारण यही है कि जापान के प्रति नीति-निर्धारित करने की जिम्मेदारी केवल अमराका के कंधों पर थी।

१९४६ में जर्मनी का प्रधान यहूदी धर्मोपदेशक डा० वीक अमेरिका का भ्रमण कर रहा था। वह जर्मनी में सहस्रों यहूदियों को निर्दयतापूर्वक मारे जाते देख चुका था और स्वयं भी एक नजरबन्द कैम्प में रह चुका था। उससे जब प्रश्न किया गया कि क्या भविष्य में जर्मनी लोकतंत्रवादी बन सकता है तो उसने उत्तर दिया—"अवश्य; जर्मनी लोकतंत्रवादी बन सकता है, किन्तु सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि मित्रराष्ट्र जर्मनी में रचनात्मक शक्तियों को प्रोत्साहन देने में कहां तक सफल होते हैं।" डा० बीक ने कहा कि जर्मनों से हमें घृणा नहीं करनी चाहिए। यह ठीक है कि मुख्य जिम्मेदारी स्वयं जर्मनों

की है, किन्तु जर्मनी संसार का ही एक हिस्सा है और और संसार में होने के कारण हमें जर्मनी के साथ रहना ही पड़ेगा।

जर्मनी के प्रति जो व्यवहार किया गया है वह उसके अपराधों के दंड की अपेक्षा जर्मनी के नियंत्रण के लिए अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस की स्पर्द्धा का परिणाम अधिक है।

जर्मनी यूरोपीय समस्या का केन्द्र-बिंदु है। रूस ने आरम्भ में ही पूर्वी प्रशा के एक भाग पर अधिकार कर लिया। जर्मनी के पंचम भाग को, जिसमें साइलीशिया, पोमेएनिया तथा पूर्वी प्रशा का शेष भाग है, रूस ने पोलैंड को देकर अपने प्रभुत्व में कर लिया। जर्मनी के इस भाग की समुचित व्यवस्था पोलैंड कारीगरों तथा अन्य साधनों के अभाव में स्वयं नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, जर्मनी का एक-तिहाई भाग रूसी प्रबंध में है। एक-तिहाई से कुछ कम अमेरिका के हिस्से में आया है। शेष में ब्रिटेन और फ्रांस के हिस्से हैं। यदि इन महाशक्तियों में आपसी होड़ इसी तरह चलती रही तो जर्मनी में प्राप्त स्थिति का उपयोग प्रत्येक महाशक्ति प्रतिस्पर्धी के विरुद्ध करने का प्रयत्न करेगी।

जर्मना में, चीन में और सभी जगह रूस की नीति अपने नियंत्रण के प्रदेश की शक्ति बढ़ाना और अपने नियंत्रण से बाहर के प्रदेश की टुकड़े-टुकड़े करके कमजोर करने की है।

रूस जर्मनी को कृषि-प्रधान देश बनाने की नीति पर अपने क्षेत्र में अमल नहीं कर रहा है। परन्तु अन्य क्षेत्रों में कम्युनिस्ट और उनके हिमायती जर्मन कारखानों को तोड़ने और वहां के उद्योगों को नष्ट करने पर ज़ोर दे रहे हैं। युद्ध के कारण जो तबाही हुई है और विजेताओं ने जिस पूर्णता से अधिकार कर रखा है उसे देखते हुए जर्मनी से निकट भविष्य में युद्ध छेड़ने की आशा नहीं की जा सकती। जर्मनी केवल उसी हालत में युद्ध छेड़ सकता है जब कि अमेरिका, इंग्लैंड और रूस ऐसा चाहेंगे। जर्मनी को चाहे जितना निरस्त्र किया जाय—उसके उद्योग-धंधों को चाहे जितनी पूर्णता से क्यों न नष्ट किया जाय; विजेता-शक्तियां जब चाहें इस प्रवृत्ति को उलट सकती हैं। जर्मनी ने शस्त्रीकरण का कार्यक्रम रूस की सहायता से १९२२ में आरम्भ किया था और १९३२ तक गुप्त रूप से सोवियत् भूमि में वह युद्ध-सामग्री तैयार करता रहा, जिसे तैयार करने पर वार्साई की संधि द्वारा उसे रोक दिया गया था। इस की पुनरावृत्ति किसी भी समय इसी प्रकार अथवा अन्य किसी प्रकार हो सकती है।

युद्ध में पराजित होने के कारण जर्मनी दूसरों की नीतियों का शिकार बना हुआ है। स्वयं उस पर नीति निर्धारित करने की ज़िम्मेदारी नहीं है। अब वह युद्ध नहीं छेड़ सकता। परन्तु उसके लिए युद्ध छिड़ सकता है।

यूरोप में युद्ध सबसे शक्तिशाली देश ने ही छेड़ा है। पहले रोम ने, फिर स्पेन ने, फिर फ्रांस ने और फिर जर्मनी ने युद्ध छेड़े। कारण स्पष्ट है। सबसे शक्तिशाली देश को ही युद्ध में विजय पाने की आशा हो सकती है।

: २३ :

अमेरिका और सोवियत् रूस

हब्शी-नेता वाल्टर ह्वाइट, जो काला (आदिम) जातियों के सुधार के लिए स्थापित राष्ट्रीय संघ के सेक्रेटरी थे, अक्सर प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्ट से मिलने ह्वाइट हाउस जाया करते थे। रूज़वेल्ट के मरने के कुछ ही दिनों बाद वह ट्रूमन से मिलने ह्वाइट हाउस गये। ट्रूमन के कमरे में प्रवेश करते हुए ट्रूमन ने उनसे कहा—"मैं जानता हूँ कि आप क्या सोच रहे हैं। आप सोच रहे हैं कि यह कैसी अजीब बात है कि आज इस कमरे में प्रेसीडेण्ट नहीं बैठे हैं।"

कुछ समय बाद, दो लेखकों के साथ बात-चात के दौरान में प्रेसीडेण्ट ट्रूमन ने कहा—"मैं इस पद के लिए इच्छुक नहीं था और न इसके लिए इच्छुक ही हूँ!"

ट्रूमन अमेरिकन व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। बड़प्पन का बोझ उन पर लादा गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में अपनी स्थिति के कारण अमेरिका को जो कार्य करने पड़ रहे हैं उनके लिए वह इच्छक नहीं है। विदेशों में लड़ने के लिए भेजे गए अमेरिकन सैनिकों को वापस बुला लेने के लिए अमेरिका में इतनी अनवरत, इतनी व्यापक और इससे शीघ्र सफलता प्राप्त करने वाली मांग पहले कभी नहीं हुई थी। अमेरिकावासी यही चाहते थे कि विदेशों में भेजे गए उनके सैनिक स्वदेश लौट आयें। अमेरिकावासी साम्राज्यवादी नहीं हैं। एक अमेरिकन टैक्सों को वफ़ादारी के साथ अदा करता किंतु उनसे नफ़रत करता है। भारी किस्म के जंगी-जहाजों के निर्माण और नौकरशाही के लिए होने वाले खर्चों को घटाने के लिए की जाने वाली मांग से बढ़कर लोकप्रिय कोई दूसरी मांग नहीं है और साथ ही जनरलों और फौजी सरदारों जैसे अलोकप्रिय कोई दूसरे व्यक्ति भी नहीं। सारे अमेरिका में सैनिकवाद-विरोधी भावना की ही सबसे अधिक प्रधानता है। अमेरिका के बड़े-बड़े जनरल और फौजी सरदार अपने अड्डे बनाने के लिए द्वीप, विशाल नौ-सेना, हवाई-सेना, और फौज संगठित

करना चाहते हैं। कुछ लोग अरब के तैल-क्षेत्र प्राप्त करना चाहते हैं।" उनके अनुयायियों में बहुत से "राष्ट्रवादी" और "देशभक्त" हैं। अप्रत्यक्ष रूप से वे उनके लिए शक्तिशाली-साधन हैं। कभी-कभी कुछ इने-गिने व्यक्तियों की इच्छाओं के सामने, जिनके हाथों में शासन की बागडोर है, करोड़ों जनता की इच्छाएं कम प्रभावपूर्ण साबित होती हैं।

ओकीनावा, सेईपान और ट्रक में जापानियों के विरुद्ध मोर्चे-बन्दी करने की कोई जरूरत नहीं। जापान में अमेरिका एक नया कानून बना सकता है और उसे अमल में लाने के लिए वह जर्मनों को मजबूर भी कर सकता है। इस दृष्टि से जापान में अमेरिका को अपनी सारी सेनाएं मौजूद रखने की कोई बात ही नहीं रह जाती। फिर भी सैनिकवादी अब यह दलील पेश करेंगे कि प्रशान्त महासागर के द्वीप, आइसलैंड या ग्रीनलैंड और एल्यूशियम द्वीप-पुंज अपने अधिकार में रखना और अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर शस्त्रीकरण करना रूस के विरुद्ध रक्षात्मक कार्रवाई के ही रूप में है। संसार की घटनाओं के लिहाज से मुमकिन है कि इस दलील पर जनता की सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया हो।

अमेरिका में जाति-भेद और रंग-भेद की भावना रही है। इस तरह की जाति-भेद या रंग-भेद सम्बन्धी असहिष्णुता को न तो जन-तंत्रात्मक कहा जा सकता है और न उदारतापूर्ण या मानवोचित ही। फिर भी अमेरिका प्रतिहिंसा या वैर-साधन में तत्पर रहने वाला राष्ट्र नहीं है। जनता के दबाव के कारण और ख़ास करके पादरियों की ओर से दबाव डाले जाने के कारण फरवरी १९४६ में संघ-सरकार ने स्वेच्छापूर्वक संगठित समितियों की ओर से जर्मनी के लिए सहायता के रूप में जहाजों से सामग्रियाँ भेजे जाने की अनुमति दे दी थी। जापान के सम्बन्ध में जो नीति निर्धारित की गई है उस पर औसत अमेरिकन प्रसन्नता प्रकट करता है। क्योंकि यह कठोर न होकर कम खर्च वाली और वास्तविक ही है। अमेरिकन रूसियों की कद्र करते और उनके साथ मैत्रीभाव रखते हैं। चीनियों के साथ परम्परा से उनका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा है। उनके लिए यह सोचना कठिन ही है कि इटालियन उनके शत्रु थे।

चाहे यह उनका आदर्शवाद हो या धर्म या चाहे इतने शान-शौकत के साथ रहने की वजह से यह उनको अपराध की आत्म-स्वीकृति की भावना हो, किसी को कष्ट भोगते देखकर अमेरिकावासियों में उसकी प्रतिक्रिया होती है। वे भूखों को भोजन देना चाहेंगे। उनका यही आदर्शवाद आक्रमणकारियों, अत्याचारियों और तानाशाहों के खिलाफ़ कार्रवाई करने के लिए उन्हें मजबूर कर देता है।

अमेरिकन उन लोगों का पक्ष लेना चाहते हैं जिनका पल्ला कमजोर पड़ रहा हो। अमेरिकावासी आज़ादी को जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। वे यही चाहते हैं कि संसार उन्हें अच्छी निगाह से देखे। एक नये और पहले की अपेक्षा उत्तम संसार के निर्माण के लिए अमेरिकावासी एक अच्छे प्रसाधन हैं।

लेकिन...अमेरिकन इस बात से डरते हैं कि कहीं वे 'शोषण करने का नली' न बन जायं। उनकी अनुभवहीनता और बेवकूफी से कोई बेजा फायदा उठावे, इसके वे विरोधी हैं। वे इस बात से डरते हैं कि कहीं चुस्ती-दुरुस्ती के लिहाज से पुराने देश उनसे बाजी न मार ले जायं। दूसरों की बात पर विचार करते समय अपने ही काम से सरोकार रखना वे अधिक पसन्द करते हैं। वे सुख-साधनों से सम्पन्न जीवन-यापन करने में ही मग्न रहते हैं। वे जानते हैं कि हम अणु-बम, असाधारण कोटि के हवाई किलों, शक्ति-मूलक राजनीति तथा अनेकानेक समस्याओं के युग में रह रहे हैं।

इस प्रकार अमेरिकन मस्तिष्क असंगतियों या परस्पर-विरोधी विचारों का एक पुंज है। अभी तक अमेरिका अपनी युद्धोत्तर समस्याओं को हल करने के प्रयत्न में लगा हुआ है। वह संसार के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र की हैसियत से अपनी जिम्मेदारियाँ उठाने में अभ्यस्त नहीं हो सका है। अमेरिका एक बालक के समान है जिसका हाथ एक शक्तिशाली इंजन के वाल्व पर है, जिसके द्वारा कोई भी अनहोनी बात हो सकती है।

१६ अप्रैल १९४५ को प्रेसीडेंट ट्रूमन ने कांग्रेस को सबसे पहला सन्देश देते हुए कहा था--"आज ऐसे संसार में जब कि दूरी का महत्त्व अधिकाधिक घटता जा रहा है, भौगोलिक अवरोधों से सुरक्षा प्राप्त करने की कोशिश करना व्यर्थ ही है। वास्तविक सुरक्षा एक मात्र न्याय और कानून में ही निहित है।" कितनी अच्छी बात उन्होंने कही थी ! इसी प्रकार २८ अक्टूबर १९४५ को उन्होंने कहा था, "हम संसार के किसी भी भाग में अपने लिए एक इंच भी भूमि प्राप्त करने के लिए लालायित नहीं हैं।" और उन्होंने अपने इस वाक्य की पूर्ति इन शब्दों में की थी, "अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक अड्डे कायम करने के सिवाय हम किसी दूसरे राष्ट्र के प्रदेश को अपने अधिकार में कर लेने के लिए उत्सुक नहीं हैं।" ट्रूमन सुरक्षा के विचार से अड्डे कायम करने के लिए द्वीप प्राप्त करना चाहते हैं, हालांकि कांग्रेस से वह कहते हैं, "वास्तविक सुरक्षा एक मात्र न्याय और कानून में ही निहित है।"

एक दिन तो ट्रूमन कानून की बात चलाते हैं और दूसरे दिन अड्डे के लिए द्वीप प्राप्त करने या युद्ध की बात चलाते हैं--इसका क्या कारण ? इसका कारण यही है कि कानून को अमल में लाने के साधन के बिना कोई कानून

टिक नहीं सकता। किन्तु महान् राष्ट्रों पर कानून लाद ही कौन सकता है? किसी राष्ट्र पर कानून लादने का अन्तिम उपाय, और अधिकांश मामलों में एक मात्र उपाय, यही है कि उसके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी जाय।

एक ऐसे संसार में, जिसने अणु को खण्डित किया है और साम्राज्य-वाद की सीमाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया है, अमेरिका परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं में फंस गया है। संसार के सभी राष्ट्र अभी परस्पर-विरोधी विचार-धारा में फंसे हुए हैं। यह परस्पर-विरोधी विचार-धारा मानव-जाति का गला घोंट सकती है।

कुछ लोगों का आग्रह है कि रूस को अपना प्रसार करने से रोक दिया जाय। लेकिन मान लीजिए कि वह नहीं चाहता कि उसे कोई रोके। तो क्या इसके मानी यही हैं कि संसार में एक तीसरे महासमर—प्रथम अणु-युद्ध का श्रीगणेश हो? संसार के प्रत्येक राष्ट्र की भांति और खास करके प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र की भांति रूस का अपना एक अलग कानून है।

इस प्रकार रूस की समस्या संसार में राष्ट्रीयता की समस्या बन जाती है—ऐसे संसार में जो या तो अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित करेगा या एक दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध में फंस जायगा।

यहां पर प्रश्न यह उठता है कि तीसरा विश्व-व्यापी युद्ध कैसे हो सकता है? इसका सूत्रपात कैसे हो सकता है?

सानफ्रान्सिस्को सम्मेलन (१९४५) शुरू होने के कुछ ही पहले ऐंथोनी एडिन ने, जो उस समय ब्रिटेन के विदेश-मंत्री थे, ग्लासगो में भाषण देते हुए कहा था—"जैसा कि पिछले कुछ वर्षों के इतिहास से प्रकट है, हमने हमेशा, इसी बात की कोशिश की है कि यूरोप पर किसी एक राष्ट्र का प्रभुत्व न कायम होने पाये, हालांकि हमारे इस प्रयत्न में कभी-कभी शिथिलता भी हुई है। हमने अपने लिए कभी ऐसी स्थिति प्राप्त करने की कोशिश नहीं की है, और न किसी दूसरे राष्ट्र को ही ऐसी स्थिति प्राप्त होने दी ह। क्योंकि हम जानते हैं कि अगर ऐसा हुआ तो स्वतः हमारी स्वतंत्रता शीघ्र ही यूरोप के दूसरों राष्ट्रों की स्वाधीनता के साथ-साथ छिन जायगी। इसी उद्देश्य को लेकर हमने दो महायुद्ध लड़े हैं।"

इसी उद्देश्य को लेकर अमेरिका ने भी दो विश्व-व्यापी युद्ध लड़े हैं।

यूरोप पर किसी एक राष्ट्र का प्रभुत्व कायम न होने देने के लिए पहला और दूसरा महायुद्ध लड़ने के बाद अब इंग्लैंड और अमेरिका इस बात के लिए उत्सुक हैं कि यूरोप पर रूस का प्रभुत्व कायम न होने दिया जाय। अगर

रूस यूरोप पर अंकुश कायम कर लेने में सफल हुआ तो वह एशिया पर भी अपना सिक्का जमा लेगा। यूरोप की समस्या और एशिया की समस्या दोनों मिलकर यूरोप-एशिया की समस्या में परिणत होगई हैं।

यूरोप या एशिया में रूसियों का प्रभाव न होने पाए यह अमेरिका का कार्य है और उन्हीं कारणों से यह ब्रिटेन का भी।

यूरोप या एशिया के छोटे-छोटे या कमजोर राष्ट्रों या यदि रूसी आक्रमण होता है तो उससे ब्रिटेन और अमेरिका यह समझ सकते हैं कि यह संसार की १०।। खरब जनता पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए उठाया जाने वाला रूसियों का पहला कदम है, और इसलिए यह संसार के अन्य देशों के लिए एक भारी ख़तरे के रूप में है।

हिटलर या जापानियों के आक्रमण से इसी बात का ख़तरा पैदा हो गया था जो दूसरे महायुद्ध का कारण बना।

हिटलर की दलील थी कि उसने आत्म-रक्षा के लिए युद्ध छेड़ा है। आक्रमण करने का दोष तो उसने वास्तव में पोलों के मत्थे मढ़ा। जर्मनी की इस दलील पर संसार हंसने लगा और उसे युद्ध में उतरना पड़ा। पिछले कुछ वर्षों में बोलशेविकों ने आक्रमण करने के इस नाज़ी तौर-तरीके को अख़्तियार किया है। क्या यह सच नहीं है कि १९३९ में स्टालिन और मोलोटोव ने आक्रमण के लिए ब्रिटेन और फ्रांस को दोषी बताया था? क्या विदेशों में रहने वाले कम्युनिस्ट तथा अनभिज्ञ और कम्युनिस्टों के साथ के यात्रा करने वाले अन्य सभी यात्री यही बकवाद नहीं करते थे?

अक्सर तानाशाह लोग बेतुकी बातें मुंह से निकालने के दोषी पाये जाते हैं, लेकिन वे ख़ुद इस तरह की बेतुकी या थोथी बातों को सच समझते या उनका यकीन करते हों, ऐसी बात नहीं, बल्कि वे यही आशा करते हैं कि दूसरे लोग उनका बातों को सच मान लेंगे।

किसी देश पर होने वाला आक्रमण चाहे जितना भी प्रच्छन्न हो, उसे छिपाने के लिए चाहे जितनी भी बहानेबाज़ी की जाय, लेकिन वह एक तीसरे महायुद्ध का सूचक बन सकता है।

द्वितीय महायुद्ध की पहली चिनगारी १८ सितम्बर १९३१ को भड़की थी, जब कि जापानियों ने मुकडेन को हड़प लिया था। लेकिन बहुत लोग युद्ध के इस विस्फोट की आवाज केवल तभी सुन सके जब कि कोई दस साल बाद ७ सितम्बर १९४१ को पर्ल बन्दरगाह में वह पुनः प्रतिध्वनित हुआ।

ज़ाहिरा तौर पर बहुत बुद्धिमान् समझे जाने वाले अनेक अमेरिकनों के

मैंने लेख पढ़े हैं और उनके भाषण भी सुने हैं। उनका कहना है—"अमेरिका और रूस एक दूसरे से बहुत ही दूरी पर हैं। प्रदेशों के सम्बन्ध में इन दोनों में कोई मतभेद नहीं है और वे एक दूसरे से लड़ने क्यों जायं ?"

अमेरिका का तो जर्मनी से भी कोई प्रादेशिक मतभेद नहीं था। फिर भी अमेरिका को जर्मनी से दो-दो लड़ाइयां लड़नी पड़ीं। और उसे यह दोनों लड़ाइयां यूरोप पर किसी एक राष्ट्र का आधिपत्य न स्थापित होने के ही उद्देश्य से लड़नी पड़ीं। जो लोग केवल इस बात से सन्तुष्ट हैं कि सोवियत् रूस और संयुक्तराज्य अमेरिका के बीच कोई प्रादेशिक मतभेद नहीं है वे भौगोलिक स्थिति पर बहुत अधिक और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बहुत कम ध्यान देते हैं।

युद्ध उस हालत में नहीं छिड़ता जब कि कोई बड़ा राष्ट्र किसी बड़े राष्ट्र पर हमला करता है। प्रथम और द्वितीय महासमर तभी आरम्भ हुआ जब कि बड़े राष्ट्रों ने छोटे राष्ट्रों पर हमला किया। एबीसीनिया, स्पेन, मंचूरिया, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, अलबानिया, और पोलेंड पर ही आक्रमण होने पर ओहिमो, लिवरपूल, और लेनिनग्राड से नौजवानों को युद्ध-प्रयाण करना पड़ा और संसार के सभी भागों में उनकी कब्रें बनीं। छोटे-छोटे राष्ट्रों पर होने वाला आक्रमण ही हमारी आपदाओं की जड़ होता है।

क्या रूस आक्रमणकारी राष्ट्र रहा है ?

आक्रमण की सोवियत् परिभाषा, जिसका मसविदा तात्कालीन सोवियत् वदेशिक मन्त्री मैक्सिम लिटविनोव ने तैयार किया था, लाजवाब है। इस रूसी परिभाषा का स्वरूप उस घोषणा-पत्र में सम्मिलित है जिस पर लंडन-सम्मेलन में, जो कि आक्रमण की परिभाषा निश्चय करने के लिए आयोजित किया गया था, ४ जुलाई १९३३ को सोवियत् रूस और रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, टर्की और लिथुआनिया के प्रतिनिधियों ने और बाद में पोलैण्ड, ईरान, अफगानिस्तान, फिन्लैण्ड, इस्थोनिया और लैटविया के प्रतिनिधियों ने भी हस्ताक्षर किये थे।

उस घोषणा की धारा (२) में कहा गया है, "आक्रमणकारी वह राष्ट्र समझा जायगा जो निम्नलिखित कार्य पहले करेगा :

१. किसी दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना।

२. युद्ध-घोषणा किये या न किये बिना ही किसी दूसरे राष्ट्र के प्रदेश पर अपनी शस्त्र-सेनाओं के साथ आक्रमण कर देना।

३. युद्ध-घोषणा किये या न किये बिना ही किसी दूसरे राष्ट्र के

प्रदेश, जहाजों या वायुयानों पर अपनी जल, थल या हवाई-सेनाओं द्वारा आक्रमण करना।

४. किसी दूसरे राष्ट्र के समुद्र-तटों अथवा बन्दरगाहों की नाकेबन्दी करना।

५. अपने प्रदेश में उन सशस्त्र दलों को सहायता पहुंचाना जिन्होंने किसी दूसरे राष्ट्र पर हमला कर दिया हो।"

इस घोषणा-पत्र का "परिशिष्ट" और भी रोचक या दिलचस्प है और वह खास घोषणा-पत्र से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें लिखा है, "इस घोषणा की धारा (२) के अन्तर्गत कोई भी आक्रमणात्मक कार्य अन्य बातों के अलावा निम्नांकित आधार पर औचित्यपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता :

"(अ) किसी राष्ट्र की आन्तरिक अवस्था। उदाहरण के लिए उसकी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक व्यवस्था, हड़तालों, क्रान्तियों प्रतिक्रान्तियों अथवा गृह-युद्धों के कारण वहां की शासन-व्यवस्था में उत्पन्न हुई कथित खराबियां या उथल-पुथल।" आक्रमण की इस सरकारी सोवियत् परिभाषा के अनुसार सोवियत् रूस, फिन्लैण्ड, पोलैण्ड, लैटविया, लिथुआनिया, इस्थोनिया और ईरान में, जो सब-के-सब उस घोषणा-पत्र के हस्ताक्षर-कर्ता थे, रूस ही आक्रमणकारी रहा है।

ऐसी हालत में तीन बड़े राष्ट्र-नायकों में एकता स्थापित होने की आशा दुराशा मात्र है, जब कि उनमें से एक अपना प्रसार कर रहा है। रूसियों के आक्रमण और प्रसारण को देखकर ब्रिटेन और अमेरिका सतर्क हो गए हैं। एकता और आक्रमण में कोई मेल नहीं। एकता और प्रसारण यह दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं।

इसी प्रकार एक ओर तो अमेरिकन सोवियत् मैत्री के लिए और दूसरी ओर इस मैत्री में खिचाव-तनाव पैदा करने वाले रूसी प्रसारण को माफ़ कर देने के लिए दलील पेश करना व्यर्थ है।

दिसम्बर १९४१ में जब पोलिश प्रधान मन्त्री जनरल सिकोरस्की मास्को पहुंचे थे, तो स्टालिन ने पहले पोलैण्ड से पोलिश-प्रदेश के लिए मांग की। १९४३ में रूसियों ने अंग्रेजों को सूचित किया कि वे बाल्टिक प्रदेशों को रूस में मिला लेना चाहते हैं। रूस ने १९४३ में चेकोस्लोवाक प्रदेश के लिए मांग की। रूसियों की इस शक्ति-वृद्धि की पुष्टि दिसम्बर १९४३ में तेहरान-सम्मेलन में और फिर फरवरी १९४५ में याल्टा-सम्मेलन में रूज़वेल्ट और स्टालिन ने की थी। यह बात तब की है जब कि युद्ध-कालीन तीनों मित्र-राष्ट्रों (रूस,

ब्रिटेन और अमेरिका) में कोई गहरी तनातनी या संघर्ष नहीं हुआ था। यह हिरोशिमा पर अणु-बम गिराये जाने के पहले की बात है। उस समय तो ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार बड़ी सक्रियता पूर्वक और ज़ोरों के साथ रूस को सहायता पहुंचाने में लगी थीं और उसके साथ बहुत ही मैत्री-भाव रखती थीं। इसलिए स्टालिन के प्रसारण और शक्ति-विस्तार होने का कारण अणु-बम या रूस के प्रति ऐंग्लो-अमेरिकन वैमनस्य नहीं बताया जा सकता।

हमने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कानून का एक विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत करने के इरादे से द्वितीय महासमर में पदार्पण किया था। क्योंकि जहां तक कानून है वहीं तक शान्ति है। किन्तु संधियों का अतिक्रमण अराजकता है, विदेशों में वहां की जनता की इच्छाओं के विरुद्ध सेनाएं रखना अराजकता है, रियायतें या सुविधाएं प्राप्त करने के लिए छोटे-छोटे राष्ट्रों पर दबाव डालना अराजकता है—सही माने में अराजकता, जिसके कारण १९३९ में महायुद्ध छिड़ा। कानून तोड़ने वाला आक्रमणकारी राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की सुरक्षा का अपहरण कर लेता है, लेकिन ज्यादातर अन्त में अपने ही को मुसीबत में फंसा लेता है।

'सोवियत् इन वर्ल्ड अफ़ेयर्स' नामक पुस्तक में मैंने इसका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है कि पूंजीवादी देशों से बोलशेविक रूस का क्या सम्बन्ध रहा है। सोवियत् राष्ट्र-संघ को वर्षों तक अनावश्यक सशस्त्र हस्तक्षेप, आर्थिक बहिष्कार और आर्थिक प्रतिबन्ध का शिकार बनना पड़ा था और उसके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं स्थापित किया गया था। विदेशों में रहने वाले उसके दूतों की हत्याएं हुईं और सोवियत् दूतावासों पर हमले हुए थे।

वह एक और ही युग था। यह युग तब तक रहा जब तक कि रूस अपेक्षा-कृत कमज़ोर और कम्युनिस्ट मनोवृत्ति धारण किये था—जब तक कि वह भयभीत और अनाक्रमणकारी था। अब रूस शक्तिशाली और राष्ट्रवादी बन गया है। अब रूस ने आक्रमण का रुख धारण कर लिया है। अब यह एक बिलकुल नया युग है। अगर रूस भयभीत होता तो वह आक्रमणकारी रुख धारण न करता।

नाज़ी लोग लोकतंत्रवादी राष्ट्रों को समझ नहीं सके थे। वे लोकतंत्र-वादी राष्ट्रों से नफ़रत करते थे और उनके संकल्प को तुच्छ समझते थे। स्टालिन ने इस तरह का व्यवहार किया है जिससे ऐसा जान पड़ता है कि वह भी नाज़ियों के-से विचार रखते हैं। वह अपने तईं सचाई के साथ कह सकते हैं—"तेहरान

और याल्टा सम्मेलनों में रूज़वेल्ट और चर्चिल ने हमें वही दिया था जो कि हम जर्मनी, पोलैण्ड, बालकान प्रदेशों, मंचूरिया, कोरिया, क्यूराइल द्वीप-पुंज और साखालिन में प्राप्त करना चाहते थे। उस समय पूर्वी प्रशा का कुछ हिस्सा रूस में मिला दिया जाना उन्होंने मंजूर कर लिया था लेकिन इसे वे अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेते इसके पूर्व ही मैंने दर असल उन भागों को सोवियत् रूस में मिला लिया और उन्होंने इस पर कोई आपत्ति नहीं प्रकट की। इसके बाद रूमानिया, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, और बलगारिया में मैंने अपनी इच्छा के अनुसार एकांगी सरकारें कायम कर लीं। मेरा यह कार्य याल्टा-समझौते के विरुद्ध ही हुआ था (याल्टा-सम्मेलन में यह समझौता हुआ था कि यूरोप के किसी देश में या धुरीराष्ट्रों के भूतपूर्व पिट्ठू देशों में अस्थायी सरकार कायम करने में तीनों मित्रराष्ट्रों की सरकारें सहायता प्रदान करेंगी और यह कि इस प्रकार की अस्थायी सरकारों का निर्माण तत्सम्बन्धी देशों की जनता के सारे लोकतंत्रवादी दलों के प्रतिनिधियों को चुनकर किया जायगा) और ट्रूमन, बायर्नेस, एटली और बेविन इस बात को जानते हैं और उन्होंने ऐसा कहा भी है लेकिन इस बारे में कुछ किया नहीं है। सच तो यह है कि अमेरिका ने अपने यहां के लोकमत के दबाव की वजह से और वहाँ पर मेरी कम्युनिस्ट-दल की भी मदद से, यूरोप से अपनी अधिकांश सेनाएं वापस बुला ली हैं। पोट्सडम-सम्मेलन के समय मैंने इस्तम्बोल पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए टर्की से कार्स और अर्दाहान प्रान्त ले लेने की भी मांग की थी जो कि 'दर्रे-दानियाल के जल-डमरूमध्य के भीतर एक दुर्ग है।' अमेरिका और ब्रिटेन उस जलडमरूमध्य का मार्ग खुला रख छोड़ने के लिए राजी होगा और यह एक अच्छी बात भी थी। लेकिन उस दुर्ग के अपने अधिकार में आ जाने पर हम उस मार्ग को बन्द कर सकते हैं। आश्चर्य है कि यह तमाम बातें इतनी खामोशी के साथ स्वीकार कर ली गईं। ये लोग बहुत सक्रिय नहीं जान पड़ते। इंग्लैण्ड को अपने साम्राज्य में कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। अरब विद्रोह कर रहे हैं। चीन में फूट पैदा हो गई है। अमेरिका में कम्युनिस्ट-दल और उसके "मोर्चे" ने जनता को उलझन में डाल देने और उदार-वादियों तथा मजदूरों की कार्रवाई को निष्क्रिय बना देने का अच्छा काम किया है। जर्मन कम्युनिस्ट-दल सारे जर्मनी पर अपना दबदबा कायम कर लेने की कोशिश कर रहा है। फ्रेंच कम्युनिस्ट-दल की वजह से फ़्रांस कोई निर्णयात्मक कार्रवाई करने में असमर्थ है। यूरोप और एशियावासी भूखों मर रहे हैं। मैंने एक महान् शक्तिशाली रूसी सम्राज्य का निर्माण किया है। जब उन्होंने इतनी बड़ी बात मंजूर कर ली तो क्या वे इस भुनगे के लिए कोई आपत्ति प्रकट करेंगे? मैं देखूँगा

कि जब मैं ईरान और टर्की की ओर मुखातिब होता हूं तो वे क्या करते हैं ?"

इस तरह के मनोभाव, कठोर राष्ट्रीयता, और तानाशाही राष्ट्र के भीतर आम तौर पर पाई जाने वाली तनातनी के फलस्वरूप युद्ध छिड़ सकता है। इन्हीं कारणों से दूसरा महायुद्ध हुआ था।

इन परिस्थितियों में कुछ अमेरिकनों और अंग्रेजों का कहना है कि अमेरिका को अणु-बम बनाना बन्द कर देना चाहिए। फिर क्यों न टी० एन० टी० बम, असाधारण कोटि के हवाई किले और भारी किस्म के युद्ध-पोतों का बनाना भी बन्द कर दिया जाय ? क्यों न निःशस्त्रीकरण किया जाय ? निःशस्त्रीकरण के लिए राष्ट्र तैयार क्यों नहीं है ? इसका कारण यही है कि वे आपस में संघर्ष होने की सम्भावना देखते हैं।

मान लीजिए अमेरिका ने अणु-बम बनाना बन्द कर दिया। फिर क्या इस बात की कोई गारन्टी है कि रूस अणु-बम न बनाएगा ? क्या रूस अपने सारे देश के कारखानों और वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की बिजली के स्टेशनों, बिजली की लाइनों की पूरी-पूरी जांच करने देगा ? यह सवाल मास्को से करना चाहिए। रूस एक पुलिस-राज्य है। वर्षों से सोवियत् नागरिकों को अपने देश के ही भीतर एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए पासपोर्ट लेना पड़ता है और पुलिस में अपना नाम दर्ज कराना पड़ता है। रूस पहुंचने वाले विदेशियों पर वहां की पुलिस कड़ी निगाह रखती है, जैसा कि वहां पर विदेशी पत्रकारों के सम्बन्ध में होता है। भले ही वे सिर्फ दृश्य का अवलोकन करने, वहाँ की कुछ साधारण जनता से बातचीत करने और जानकारी हासिल करने के इरादे से किसी छोटे-मोटे प्रान्तीय नगर में जाना चाहते हों। क्या मास्को के अधिकारी विदेशी विशेषज्ञों को अपने यहां के कल-कारखानों की इस बात का पता लगाने के लिए पूरी तौर से छान-बीन करने देंगे कि कहीं उनमें अणु-बम तो नहीं तैयार किये जा रहे हैं ? क्या वे इस बात को स्वीकार करेंगे कि अणु-बम पर नियंत्रण स्थापित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्र संस्था का रूस में यूरेनियम की खानों और रूसी आणुविक कारखानों पर अधिकार हो और उसे उन खानों तथा कारखानों को संचालित करने का अधिकार मिले ? सोवियत्-प्रणाली की कुछ भी जानकारी रखने वाले व्यक्ति के लिए यह बात सर्वथा अकल्पनीय ही है। युद्ध के दिनों में जब अमेरिका रूस को उधार-पट्टा कानून के अन्तर्गत ८० खरब डालर की युद्ध-सामग्रियां पहुंचा रहा था उन दिनों भी अमेरिकन अफसरों को सिवाय थोड़ी देर के लिए सरसरी तौर पर निगाह डालने के, मोर्चे पर या सोवियत् फैक्टरियों में जाने की इजाजत नहीं दी गई थी।

कुछ लोगों का कहना है कि रूस को अणु-बम दे दिया जाय। रूस अणु-बम लेकर क्या करेगा? क्या वह जर्मनी या जापान के विरुद्ध इसका प्रयोग करेगा? इसकी अब कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जर्मनी और जापान को कुचल दिया गया है और उन पर कब्ज़ा कर लिया गया है। क्या वह संयुक्त-राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के विरुद्ध इसे काम में लायेगा? यह तो उसे अणु-बम देने का कोई उचित कारण नहीं जान पड़ता। तो क्या वह डराने-धमकाने के उद्देश्य से किसी छोटे देश के विरुद्ध इसे इस्तेमाल करेगा? यह भी तो उसे अणु-बम देने का कोई उचित कारण नहीं प्रतीत होता।

उनका कहना है, "लेकिन रूस किसी-न-किसी तरह अणु-बम प्राप्त कर लेगा और इस बीच अणु-बम पर ब्रिटेन और अमेरिका के एकाधिकार ने मास्को में सन्देह पैदा कर दिया है और दो दुनिया के बीच मतभेद की खाई और चौड़ी कर दी है।" शायद रूस के पास अणु-बम है, या शायद वह इसे प्राप्त कर लेगा। अणु-शक्ति की शोध करने वाले प्रमुख वैज्ञानिक और हेरॉल्ड जे० यूरे ने १९४६ के आरम्भ में कहा था कि मुमकिन है कि ३ मास के भीतर रूसी अणु-बम तैयार करने लग जायं। अन्य अधिकारी व्यक्तियों का ख्याल है कि रूस को अणु-बम तैयार करने में शायद ५ से १० साल तक का समय लगेगा। लेकिन मान लीजिए कि रूस २ साल या १ साल या ६ महीने के ही भीतर अणु-बम बनाने लगे। यूरोप और एशिया का नक्शा रोजाना नया बन रहा है। और यदि रूस के पास अणु-बम है तो यह नक्शा यूरोप और एशिया को हानि पहुंचाकर ही बनेगा। यदि रूस के हाथ में अणु-बम आगया तो यूरोप और एशिया के छोटे-छोटे देश इस समय जितने आतंकित हो रहे हैं उससे भी अधिक आतंकित हो उठेंगे। ब्रिटेन और अमेरिका को, जो पहले से ही रूस को तुष्ट कर रहे हैं, उसे और भी तुष्ट करना पड़ जायगा। रूस को अणु-बम देने पर हम इसी अर्थ में युद्ध से बचे रहेंगे, जैसा कि तुष्टीकरण से राष्ट्र कुछ समय के लिए हमेशा युद्ध से बच जाया करते हैं। लेकिन तुष्टीकरण के बाद जो युद्ध शुरू होता है वह निकृष्ट ही होता है।

रूस को अणु-बम का रहस्य बता देने से क्या हमारे प्रति उसके सन्देह दूर हो जायंगे?

'यह कहना गलत है कि अमेरिका के पास अणु-बम है'—ऐसा मैंने कहा है। मेरी इस बात पर सुनने वालों को विस्मय हुआ है। माना कि अमेरिका के पास अणु-बम है लेकिन उसका उपयोग अमेरिका किन परिस्थितियों में करेगा?

प्रशान्त महासागर स्थित अमेरिका जहाजी बेड़े के प्रधान एडमिरल

चेस्टर निमित्ज़ के सम्मान में वाशिंगटन में दी गई एक दावत के अवसर उन्होंने एक बहुत ही आश्चर्यजनक भाषण दिया था। उन्होंने कहा था, "जापान पर विजय अणु-बम की वजह से नहीं प्राप्त हुई। सच तो यह है कि हिरोशिमा के साथ संसार में अणु-युग आरम्भ होने की घोषणा होने और उस युद्ध में रूस के पदार्पण करने के पूर्व ही जापान संधि-प्रस्ताव कर चुका था। लेकिन यदि सर्वथा सैनिक दृष्टि से यह कहा जाय कि जापान को हराने में अणु-बम ने कोई निर्णयात्मक कार्य नहीं किया तो उसका मतलब यह नहीं कि इस नये अस्त्र का भयानक संहारकारिता को कम बताने की चेष्टा की जा रही है।"

यदि यह बात सच है—और निमित्ज़ को यह मालूम होना चाहिए—तो हिरोशिमा पर अणु-बम का गिराया जाना और फिर नागासाकी पर दूसरा अणु-बम प्रहार करना निश्चय इस दूसरे महायुद्ध में हुआ सबसे भारी अत्याचार है, बावजूद इसके कि शायद अणु-बम प्रहार से जापान-विरोधी संघर्ष जल्द समाप्त हो जाने में सहायता मिली।

जो भी हो, सच तो यह है कि ऐसा ख़्याल भी नहीं किया जा सकता कि शान्ति-काल में अमेरिका मेक्सिको या अर्जेन्टाइना, फ्रान्स या ब्रिटेन पर अणु-बम से इसलिए प्रहार करने जायगा, कि वह अपने शिकार बने राष्ट्र से कुछ हड़प कर लेने की इच्छा रखता है। इस बात की कल्पना उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक कि अमेरिका एक लोकतंत्रवादी राष्ट्र है और जब तक अमेरिकन लोक-मत शक्तिशाली, आलोचक एवं स्वतंत्र सत्ता बनाये हुए है।

अणु-बम के विरुद्ध एक रक्षा-कवच है—और वह है लोकतंत्रवाद। स्टालिन को मालूम है कि संयुक्त-राज्य अमेरिका किसी देश के विरुद्ध आक्रमण के उद्देश्य से अणु-बम का प्रयोग न करेगा। उसे शायद इस बात की उम्मीद है कि यदि किसी देश पर कोई आक्रमणकारी हमला करता है तो उसकी रक्षा करने के लिए भी अणु-बम का इस्तेमाल करने से वह हिचकेगा।

अमेरिकन समाचार पत्रों में मुझे इस आशय के कई लेख या वक्तव्य पढ़ने को मिले हैं कि सोवियत् अधिकारी हमारी नीयत पर सन्देह करते या अमेरिका से भय खाते हैं। लेकिन उनके इस कथन की सचाई का उनके लेखों या वक्तव्यों में कोई सबूत मुझे देखने को नहीं मिला है। बेशक, एक सोवियत् रूस के हिमायती अमेरिकन लेखक जॉसफ़ बार्नेस ने, रूस की यात्रा समाप्त करके वापस लौटने के कुछ ही दिनों बाद न्यूयार्क में १५ दिसम्बर १९४५ को उनके सम्मान में दी गई एक दावत में भाषण करते हुए कहा था कि मुझे वहां के

लोगों में 'उद्दण्डता और शेखी बघारने की भावना' देखने को मिली है।

रूस न कोई सन्देह रखता है, न उसे कोई डर है। इसके दो स्पष्ट कारण हैं: ब्रिटिश साम्राज्य का पतन हो रहा है और वह अपनी रक्षात्मक कार्रवाइयों में लगा है। और अमेरिका ?—वह तो युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के बाद बेसमझे-बूझे मानसिक और सैनिक विसंगठन करने में व्यस्त है। ब्रिटेन और अमेरिका के अलावा संसार में कोई तीसरा राष्ट्र है ही नहीं जो रूस पर हमला कर सके—जर्मनी या जापान, ईरान या फिन्लैंड, चीन या फ्रांस, कोई भी नहीं। ब्रिटेन की कमज़ोरी और अमेरिका का साम्राज्यवादी सैनिक विसंगठन—इन दोनों बातों से स्टालिन की हिम्मत बढ़ी है। ताक़तवर शक्ति की कद्र करता है।

रूस जिस तरह का कार्य करता है उसका असली कारण यह नहीं कि वह किसी से डरता है, बल्कि यह कि उसे किसी का डर ही नहीं रह गया है, और उसे इस बात का इतमीनान हो गया है कि उस पर कोई हमला नहीं कर सकता।

क्या आप कहेंगे कि मेरा यह विचार रूस की निस्बत ग़ैर ईमानदारी से भरा हुआ, अमेरिका के बारे में बहुत उदारतापूर्ण और ब्रिटेन के सम्बन्ध में जरूरत से ज्यादा मैत्री-सूचक है ?

मैं अपना कोई विचार प्रकट करने में बड़ी सावधानी और संयम से काम लेता हूं। मैंने अमेरिका या ब्रिटिश-सरकारों के कार्यों की आलोचना या निन्दा करने में कभी कोई संकोच नहीं किया है। स्वतंत्रता, प्रगति, शान्ति और मानव-जाति की सुख-समृद्धि का मैं उपासक हूं। जब मुझे ऐसा लगता है कि इन बातों में कोई दखल देना या बाधा डालना चाहता है, तभी मैं बोलता हूं। मेरा यह विश्वास नहीं कि किसी की आलोचना करने के कारण युद्ध छिड़ते हैं, बल्कि इसके खिलाफ मेरी राय में आलोचना न होने पर ही युद्ध छिड़ सकता है। खतरों को चिकनी-चुपड़ी बातें करके कम बताने या ग़लतियां करने से युद्ध शायद जल्द छिड़ जाने की सम्भावना रहती है। हिटलर ने अपनी सेनाएं हमला करने के लिए इस वजह से जर्मनी नहीं रवाना की थीं; क्योंकि उनके खिलाफ किसी ने कोई भाषण दिया था या कोई पुस्तक लिखी थी। स्टालिन उस समय सैन्य-संचालन का आदेश नहीं करते जब कोई ऐसा वक्तव्य या पुस्तक पढ़ते हैं, जिसमें सोवियत् राष्ट्र-संघ की घोर निन्दा की गई होती है। बल्कि इस तरह से की गई निन्दा या आलोचना का जवाब वह कड़ी निन्दा या आलोचना से ही देते हैं।

नाज़ी जर्मनी के विरुद्ध चर्चिल के आग उगलने पर भी हिटलर ने

१९३९ में इंग्लैंड पर हमला नहीं किया, उसने बहुत खामोश रहने वाले शांति-प्रिय राष्ट्र पोलैंड को अपना शिकार बनाया और ब्रिटेन को लड़ाई से बचाना चाहा। २३ अगस्त १९३९ से २२ जून १९४१ तक सोवियत् रूस के अधिकारी-गण न केवल जर्मनी की आलोचना करने से अपने को रोकते रहे बल्कि वे जर्मनी की खुशामद-दरामद करते रहे और जर्मनी ने रूस पर धावा बोल दिया।

प्रतिक्रियावादी अमेरिकन समाचार-पत्र संघ रेडियो-टिप्पणी-कर्ता, सम्पादकीय लेखक, और अमेरिकन कांग्रेस के सदस्यों से जो, रूस के खिलाफ लगातार जिहाद शुरू कर रहे हैं, मुझे नफरत है। लेकिन यह कहना ग़लत है कि इन सबकी बातों से युद्ध के जल्द छिड़ने में सहायता मिलती है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि तटस्थतावादियों के प्रचार के ही फलस्वरूप पर्ल बन्दरगाह पर एकाएक जापानियों के युद्ध शुरू हो जाने के पूर्व तक अमेरिका युद्ध से तटस्थ ही बना रहा।

प्रोपेगण्डा मनोभावों को परिपक्व बना सकता या मनोभावों के परिपक्व होने में विलम्ब लगा सकता है। लेकिन युद्ध जल्द छिड़ने में ठोस फौजी कार्र-वाइयों, सेनाओं के संचालन, नगरों पर बम-वर्षा और आक्रमण से अधिक सहायता मिलती है।

क्या ब्रिटिश सरकार या अमेरिका ने कोई ऐसी बात की है जिससे सोवियत् रूस को आशंका या व्यग्रता प्रकट करने की कोई ज़रूरत जान पड़ती हो!

अमेरिकन सरकार की इस बात के लिए आलोचना की गई है कि आर्जेन्टाइना की तानाशाही के विरुद्ध और फ़्रैंको के विरुद्ध हस्तक्षेप करने में उसने उदासीनता दिखाई है। फ़्रैंको के विरुद्ध लड़ाई में मैं सक्रियतापूर्वक लगा रहा हूँ और मैं तानाशाही से नफ़रत करता हूँ। लेकिन मेरा ख्याल है कि इस सिद्धान्त के आधार पर शान्ति-स्थापित करना संसार के लिए ख़तरनाक होगा कि बड़े राष्ट्रों को इस बात का अधिकार है कि वे दूसरे राष्ट्रों के मामलों में, जिनसे वे युद्ध की स्थिति में नहीं हैं, दखल दें। अगर आज कोई लिबरल (उदार) सरकार तानाशाही का तख्ता उलट देने के लिए हस्तक्षेप करती है तो हो सकता है कि कल कोई प्रतिक्रियावादी सरकार लोकतंत्री शासन को उलट देने के लिए हस्तक्षेप करे। पहले मामले में हस्तक्षेप का उद्देश्य ईमानदारी के साथ फाशिस्ट-विरोधी हो सकता है और दूसरे में वह साम्राज्य-वादी।

किसी विदेशी राष्ट्र के हस्तक्षेप करने पर जनता को देशभक्ति संबंधी

कारणों से वहां के तानाशाह की छत्र-छाया में एकत्र होने का अवसर प्राप्त हो जाता है, भले ही वह वर्ण सम्बन्धी तथा आर्थिक कारणा से उसका विरोध ही क्यों न करती हो।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि जो लोग सोवियत् हस्तक्षेप और आक्रमण के हामी हैं (समर्थन करते हैं) वही स्पेन और आर्जेन्टाइना के मामले में अमेरिकन हस्तक्षेप के लिए सबसे ऊँची आवाज़ उठा रहे थे। लेकिन अगर अमेरिका ने दक्षिणी अमेरिका के मामले में दखल दिया होता तो वह यूरोप और एशिया के मामलों में रूसियों के दखल देने का विरोध कैसे कर सकता था?

किसी शान्तिपूर्ण राष्ट्र के मामले में दखल देना केवल उसी हालत में ग्राह्य हो सकता है जब कि किसी प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा—जो कि किसी ऐसे एक या दो राष्ट्रों के दबाव में पड़कर कार्य न करती हो जिन्हें उस संस्था की ओर से उस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए चुने जाने की सम्भावना हो—स्वेच्छापूर्वक किये गए निर्णय के ही अनुसार ऐसा किया जाय।

लेकिन सच तो यह है कि यदि अंग्रेज और अमेरिकन आर्जेन्टाइना और स्पेन में तानाशाही की बड़े ज़ोर-शोर से निन्दा करते हैं तब भी वे उनके मामले में कोई दखल नहीं देते तो इससे रूस को और भी निश्चित हो जाना चाहिए। क्योंकि इससे यह प्रकट हो जाता है कि जब लोकतंत्रवादी राष्ट्र कमजोर राष्ट्रों के खिलाफ़—जो उनका बहुत कम प्रतिरोध कर सकते हैं—दखल देने में इतनी हिचकिचाहट दिखा रहे हैं तो साफ जाहिर है कि वे रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र पर हमला करने में कितनी अधिक हिचकिचाहट दिखाएंगे।

इण्डोनेशिया में ब्रिटेन ने जो कार्य किये उनकी निन्दा करने का मैं एक उचित आधार देखता हूँ। लेकिन जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में ब्रिटेन का यह कार्य एक पतनोन्मुख राष्ट्र को अपने से भी जर्जरित साम्राज्य को सहायता पहुंचाने के प्रयत्न के समान था। और रूस को शायद डच और ब्रिटिश साम्राज्यशाही की स्थिति और भी चकनाचूर होते देखकर, जैसा कि जावा की रक्त-रंजक घटनाओं से जाहिर होता है, सन्तोष ही हुआ होगा। इसमें कोई शक नहीं कि अगर कोई उपनिवेश पश्चिमी साम्राज्यवादियों की हुकूमत में बसने से इन्कार करता है तो इस बात से रूस के लिए कोई ख़तरा पैदा न होगा।

ग्रीस में ब्रिटिश सरकार के कार्यों की आलोचना की गई है। यह एक जटिल और उलझन-ग्रस्त स्थिति थी। क्योंकि दूसरे कई देशों, दुखी और क्षुधार्त्त देशों की भाँति ग्रीस के घरेलू मामले विदेशी राष्ट्रों के खींचतान के

बजाय उसकी अन्दरूनी कशमकश के ही प्रतीक हैं।

अमरीकन पत्र 'न्यूयार्क हेराल्ड ट्रिब्यून' के ६ मार्च १९४६ के अंक में सुमनर वेल्स ने लिखा : "यह बड़े दुःख की बात है कि नाजियों के पंजे से छुटकारा मिलने के बाद ग्रीस को सोवियत् और ब्रिटिश स्वार्थों के संघर्ष का अड्डा बन जाना पड़ा है। इससे ग्रीस में गृह-युद्ध छिड़ने में प्रोत्साहन मिला है।... निकट भविष्य में सोवियत् रूस, जो कि उस क्षेत्र में अपना शक्ति-विस्तार करने पर तुला हुआ है और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच, जिन्होंने भूमध्य सागर, स्वेज़ नहर, के मार्ग को यातायात के लिए सभी देशों के वास्ते खुला रखने का संकल्प कर लिया हैं, होने वाले संघर्ष का केन्द्र-स्थल बन रहा है।

अगर ग्रीस में कम्युनिस्ट दल या वाम-पक्षी दल का दबदबा कायम हो जाता है और अगर रूस उत्तरी अफ्रीका के ट्रिपोलीटानिया को अपने संरक्षण में कर लेने में सफलीभूत हो गया, तो उसके फलस्वरूप टर्की का आधा हिस्सा घिर जायगा, रूसी शान्ति के सामने ग्रीस बहुत पीछे पड़ जायगा और निकट भविष्य में ब्रिटेन की सारी स्थिति खतरे में पड़ जायगी।

चर्चिल ने ग्रीस के राजतंत्रवादियों को प्रोत्साहित करने की गलती की। लेकिन फिर भी चर्चिल के बारे में कोई आश्चर्य करने की बात नहीं, ऐसी गलतियां वह पहले बहुत कर चुके हैं। लेकिन इसके पूर्व ब्रिटेन की टोरी (कट्टरपंथी) सरकार ग्रीस में जो बीड़ा उठा चुकी थी उससे अब मजदूर सरकार पीछे कैसे हट सकती थी। दक्षिणी यूरोप में ब्रिटेन के बचे-खुचे आधारभूत केन्द्र-स्थलों में से एक स्थल रूसियों के हाथ पड़ जाने से बचा लेने के लिए कोशिश करने पर उसे मजबूर हो जाना पड़ा। ग्रीस में भीतर से वामपक्षीय दल और कम्युनिस्टों के आन्दोलन और बाहर से डोडिकनीज़ द्वीप पुंज ग्रीस को लौटा दिये जाने के प्रश्न पर सोवियत् रूस का रुख और ग्रीक प्रदेश प्राप्त कर लेने के लिए अलबानिया और युगोस्लाविया की मांग के रूप में रूस उस (ग्रीस) पर अपना प्रभुत्व कायम कर लेने का प्रयत्न करता है, जब कि ब्रिटेन उसके विरुद्ध प्रभावहीन अस्त्रों से लड़ रहा है।

रूस और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच संघर्ष के केन्द्र-स्थल जर्मनी और चीन हैं। ये दोनों राष्ट्र और ग्रीस तथा इटली तब तक सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त न कर सकेंगे जब तक कि रूस इंग्लैंड तथा अमेरिका के संघर्ष का निपटारा नहीं हो जाता। आज इनमें हरएक पराजित धुरी-राष्ट्रों, छोटे-छोटे तटस्थ राष्ट्रों, चीन या उसके कुछ भाग की जनता को अपनी तरफ खींच लेने की कोशिश कर रहा है।

उनका यह कार्य एक बहुत हीं रहस्यपूर्ण और ग़ैर ईमानदारी के साथ किये जाने वाले प्रचार की आड़ में हो रहा है। अपने यहां के कम्युनिस्टों के मन के मुताबिक अमेरिकन और ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा जर्मनी में नाजियों का निराकरण नहीं किया जाता तो उस पर वे बड़ा हंगामा मचाते हैं। जब बर्लिन का कम्युनिस्ट दैनिक पत्र यह प्रस्ताव करता है कि 'छोटे नाज़ियों' को कम्युनिस्ट दल में शामिल होने की इज़ाजत मिलनी चाहिए और जब उसके कुछ ही दिनों बाद चोटी का जर्मन कम्युनिस्ट विलहेमपीक नाज़ियों से 'जन सत्तात्मक और फाशिस्ट-विरोधी जर्मनी का सुनिश्चित रूप से निर्माण किये जानें में' सहायता पहुंचाने के लिए अनुरोध करता है तो इस पर निराकरण सम्बन्धी—अमेरिकन और ब्रिटिश कार्रवाइयों के आलोचक चुप्पी साध लेते हैं—और वे कुछ नहीं कहते। अगर अधिकृत जर्मनी के पश्चिमी क्षेत्रों के जर्मन-औद्योगिकों को अपना कार-बार शुरू करने की इज़ाजत दे दी जाती है तो उसका मतलब फौरन यह लगाया जाता है कि यह रूस के खिलाफ युद्ध की तैयारी हो रही है। लेकिन जब जर्मनी के रूसी क्षेत्र में जर्मन-उद्योग-धंधे अपने काम में फिर लग जाते हैं तो उसे बुद्धिमत्तापूर्ण राजनीति समझा जाता है।

महत्त्व तो इस बात का है कि जर्मन-उद्योग-धंधों का संचालन कौन करता है। जर्मन औद्योगिकों के ही कारण हिटलर और युद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। जर्मन औद्योगिकों और पूँजीवादी पश्चिमी राष्ट्रों के बीच एक स्वाभाविक और कभी-कभी आर्थिक गंठबन्धन होता है। औद्योगिकों के अन्तर्राष्ट्रीय गंठबन्धन और घरेलू कार्यों की कड़ाई के साथ जाँच होनी चाहिए और उस पर प्रतिरोध लगा देना चाहिए। फिर भी, अंग्रेजों की यह दलील बेबुनियाद नहीं है कि जर्मन-फैक्टरियों के उत्पादन पर रोक लग जाने से बेकारी और अशान्ति उत्पन्न होगी, लोग भूखों मरने लगेंगे। फलतः पश्चिमी राष्ट्रों के लिए नई कठिनाइयां उत्पन्न हो जायंगी और कम्युनिस्टों को अपने प्रभाव का प्रसार करने के नये अवसर प्राप्त हो जायंगे। सम्भवतः इस कठिनाई से बचाव का यही उपाय है कि जर्मनी के उद्योग-धंधे चालू तो किये जायं किन्तु उनके संचालक जर्मन औद्योगिक न हों।

लेकिन जर्मनी की परिस्थिति के सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय बात तो यह है कि जर्मनी का आधा भाग या तो रूस या पोलैंड में मिला लिया गया है या वह रूसा अधिकार में आ गया है। जर्मनी का यह क्षेत्र रूसियों के पंजे में आगया है और उस पर से पश्चिमी राष्ट्रों का प्रभाव हमेशा के लिए उठ गया

हैं। जर्मनी के बाकी आधे भाग में जर्मन कम्युनिस्ट और कतिपय सोवियत् समर्थक अमेरिकन, ब्रिटिश और फ्रेंच ट्रेड यूनियन के सदस्य रूसियों के हितों का प्रसार कर रहे हैं और ब्रिटेन तथा अमेरिका के हितों की जड़ खोद रहे हैं।

जर्मनी का पूर्वी अर्धभाग तानाशाही शिकंजे में पड़ गया है। हिटलर के बनाये नजरबन्द कैम्प फिर खुल गए हैं और वहाँ पर रूसी झंडे फ़हरा रहे हैं। जर्मनी के पश्चिमी अर्धभाग में लोकतंत्रवाद की आवाज अब तक बहुत धीमी पड़ी हुई है। फिर भी वहाँ पर स्वतंत्र भावना, स्वतंत्र ट्रेड यूनियन, स्वतंत्र राजनीतिक दल और स्वतत्र व्यक्ति बने रह सकते हैं।

रूस और पश्चिमी राष्ट्रों का सम्बन्ध इस प्रकार बिगड़ जाने का अर्थ यह है कि जर्मनी दो भागों में विभाजित हो जायगा।

जापान और चीन में सोवियत् सरकार की राजनीतिक अधिकार संबंधी शिकायत वाजिब है। जापान अमेरिकन अधिकृत प्रदेश है। कम्युनिस्ट-विरोधी चांग-काई-शेक के शासन में संयुक्त चीन अमेरिकन प्रभाव-क्षेत्र में निश्चित रूप से सुरक्षित रहेगा।

यह दलील पेश की जा सकती है कि 'अमेरिकन सशस्त्र सेनाओं ने जापान को हराया है।' यह सच है। लेकिन सोवियत् सशस्त्र सेनाओं ने हिटलर को बाल्टिक प्रदेशों, पोलैण्ड, रूमानिया, बलगारिया, युगोस्लाविया और हंगरी से भगाया और जर्मनी में हिटलर को कुचलने में अधिकांश खून बहाया, लेकिन तब भी उन प्रदेशों में रूस को सबसे प्रमुख स्थिति प्राप्त होने पर अमेरिका आपत्ति प्रकट करता है।

पहले कौन पैदा हुआ—मुर्गी या अण्डा? इस तरह की बहस हमेशा दिलचस्प लेकिन ज्यादातर व्यर्थ हुआ करती है। टोकियो की खाड़ी में अमेरिकन सेनाओं के उतरने और जापान को चीन से भगा दिये जाने के बहुत पहले से सोवियत् रूस ने बाल्टिक क्षेत्र, पोलैण्ड, बाल्कन प्रदेश, और मंचूरिया के लिए अपने दावे को दाँव पर लगा दिया था। रूस यह कह सकता है कि जापान और चीन में अमेरिकनों के क्या इरादे हैं इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। चर्चिल ने तो कहा ही था कि ब्रिटेन अपने साम्राज्य को छिन्न-भिन्न न होने देगा। फिर क्यों न रूस अपना साम्राज्य कायम कर लेना चाहे?

मेरी निजी राय तो यह है कि ब्रिटेन को अपना साम्राज्य खत्म कर देना चाहिए। फिर न रूस साम्राज्य प्राप्त करेगा और न अमेरिका साम्राज्य प्राप्त करने की अभिलाषा रखेगा। और तब युद्ध और युद्ध का खतरा मिट जायगा।

ब्रिटेन का साम्राज्यवाद खत्म हो रहा है। अमेरिकन साम्राज्यवाद पूर्णरूप से विकसित नहीं हुआ है। रूसी साम्राज्यवाद गतिशील, प्रसरणशील है और उसे इस बात की कोई परवाह नहीं है कि वह एक तुषार-नद की भाँति जिन प्रदेशों पर फैलता जा रहा है वहां भी जनता का क्या भविष्य होगा। ईरान, मंचूरिया की लूट-खसोट, पोलैंड के प्रदेशों का रूस में मिला लिया जाना, चेकोस्लोवाकिया, जापान, और जर्मनी तथा यूरोप में कायम की गई दमनकारी सोवियत् कठपुतली सरकारें, यह सब इसी बात के सबूत हैं।

अमेरिका या ब्रिटेन ने यूरोप में किसी प्रदेश को हड़प लिया हो, या किसी देश को लूटा-खसोटा हो, किसी देश में पहले तो सरकार कायम की हो और बाद में उस सरकार में कोई तबदीली करने से निर्वाचकों को मना कर दिया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अमेरिका के पास एक शक्तिशाली हवाई सेना और नौसेना है और वह अपने अड्डे कायम करने के लिए और अधिक द्वीप प्राप्त कर लेने की कोशिश में है। रूस ने कई लाख सशस्त्र सैनिकों को तैयार कर रखा है, वह पहले से बड़ी नौसेना का निर्माण कर रहा है और शस्त्रास्त्र तैयार करने वाले कार-खानों का उत्पादन बढ़ा रहा है। सच तो यह है कि १९३९ से रूस ने एक विस्तृत साम्राज्य कायम कर लिया है और उसका फैलाव अब तक जारी है, और इस साम्राज्य के भीतर स्वतंत्रता मर चुकी है।

इसका कोई सबूत नहीं दिया जा सकता कि अमेरिका या ब्रिटेन रूस पर आक्रमण करने का इरादा रखते हैं। यह साबित नहीं किया जा सकता कि रूस अमेरिका या ब्रिटेन पर हमला करने का कोई इरादा रखता है। लेकिन यह साफ ज़ाहिर है कि रूस का विस्तार संसार की एक महान् समस्या है—और इस विस्तार का परिणाम युद्ध होता है।

जर्मनी और जापान पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद कई महीनों तक असंख्य अमेरिकनों, अंग्रेजों तथा अन्य लोगों के मस्तिष्क को जो सन्देह बेचैन बना रहा था उसका लाभ उन्होंने रूसियों को उठाने दिया। वे केवल यही आशा कर सकते थे कि पोलैण्ड, बाल्कान प्रदेशों, आस्ट्रिया, जर्मनी और एशिया में रूसियों की कार्रवाइयां केवल अस्थायी तौर पर हो रही हैं। वे अपनी ज़बान बन्द किये चुपचाप देखते रहे। भारी-से-भारी अनिष्ट की आशंका रखते हुए भी वे रूस की सराहना करते रहे।

तेहरान, याल्टा, पोट्सडम आदि युद्ध के दौरान में हुए सभी सम्मेलनों में रूस का एक वोट ब्रिटेन और अमेरिका के दो वोटों के मुकाबले में

अधिक महत्व रखता था। रूस को नाराज़ नहीं किया जा सकता था। इसलिए रूस ने जो भी चाहा ब्रिटेन और अमेरिका ने अपने सद्विवेक के विरुद्ध उसे वही प्रदान किया।

युद्ध-काल से शान्ति-काल की कूटनीति के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए यह आवश्यक था कि समझौते के लिए किये जाने वाले प्रयत्न के स्वरूप में आधार-भूत परिवर्तन कर दिया जाय। इसके अनुसार युद्ध के बाद लन्दन में हुए प्रथम सम्मेलन में, जो कि सितम्बर १९४५ में हुआ था, अमेरिकन वैदेशिक मंत्री बायर्नेस और ब्रिटिश विदेश-मन्त्री बेविन ने मोलोटोव को शान्तिकालीन गणित के लिए एक पाठ सिखाने का प्रयत्न किया। एक बराबर होता है एक के ; एक दो से अधिक के बराबर नहीं होता। मोलोटोव ने कहा नहीं, ऐसा नहीं होता। तीनों विदेश-मंत्रियों के बीच का यह मतभेद इतना बढ़ा हुआ था कि वे इस बात पर भी सहमत नहीं हुए कि इस सम्मेलन के सम्बन्ध में इस आशय की एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर दी जाय कि तीनों विदेश-मंत्रियों में कोई समझौता नहीं हो सका। इसी प्रकार मोलोटोव ने शान्ति-सम्मेलन में फ्रांस और चीन को शामिल करने से इंकार कर दिया। मोलोटोव चाहते थे कि शान्ति-सम्मेलन में तीनों बड़े राष्ट्रों का ही बोल-बाला हो और तीनों बड़े राष्ट्रों में वह आशा रखते थे कि युद्ध-काल की गणित की उलटवासी के अनुसार—अर्थात् एक बराबर होता है दो से अधिक के—रूस का ही बोल-बाला होगा।

प्रकट रूप से रूस का यह इरादा देखकर कि वह संसार के मामले में निर्णायक का स्थान ग्रहण करना चाहता है, पश्चिमी राष्ट्र और चीन घबरा उठे। फिर भी रूस के साथ उनका सम्बन्ध इतना संकट-ग्रस्त और पहले से ही नाजुक हो चुका था कि उसके बारे में व्यर्थ की निराशावादिता प्रकट करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। बायर्नेस ने एक बार फिर कोशिश करने का निश्चय किया। दिसम्बर १९४५ में मास्को में तीनों विदेश-मंत्रियों का एक सम्मेलन फिर हुआ। ईरान और टर्की के ज्वलन्त प्रश्न चुपचाप टाल दिये गए। उस सम्मेलन में सरकारी तौर से जितने भी प्रश्नों पर विचार हुआ उनमें से प्रत्येक प्रश्न पर मोलोटोव विजयी हुए।

संयम और आशावादिता ने सन्देह को अब भी टिकने नहीं दिया। फरवरी १९४६ में पहली बार लन्दन में संयुक्त राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ। ग्रीस और युगोस्लाविया के प्रश्न पर बेविन की विशिन्स्की से जोरों की झड़प हुई। लेकिन रूस ने ईरान के प्रश्न पर, जहां पर उसके कामरेडों (साथियों) ने स्टालिन के जन्म-स्थान सोवियत् जार्जिया के निकटस्थ प्रदेश, अजरेबेजान

में एक 'स्वतन्त्र' सरकार कायम कर ली थी, वार्ता चलाने से इन्कार कर दिया। वह प्रदेश रूसी फौजों के कब्जे में था । इसके पहले रूस ने उत्तरी ईरान में तेल के सम्बन्ध में सुविधाओं की मांग की थी, जिसे ईरान सरकार ने ठुकरा दिया था।

इस घटना के फलस्वरूप ब्रिटेन और रूस तथा अमेरिका और रूस में पारस्परिक सम्बन्धों में एक संकट-ग्रस्त स्थिति उत्पन्न होगई। लन्दन-सम्मेलन से, जिसमें उन्होंने अमेरिकन प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया था, लौटने पर सीनेटर आर्थर एच० वेण्डेनबर्ग ने सीनेट में एक लम्बा भाषण दिया था जिस पर बाद में विस्तृत रूप से टीका-टिप्पणियां हुईं । उस भाषण में उन्होंने प्रश्न किया था, "रूस अब किस बात के लिए कटिबद्ध है ?" आपने कहा, "सोवियत् रूस आज संसार की सबसे बड़ी पहेली है।" इसके अलावा अमेरिकन वैदेशिक मंत्री बायर्नेस ने भी उसी सम्मेलन में एक लम्बे भाषण में अपनी व्यग्रता प्रकट की। उन्होंने रूस के 'आक्रमण' का उल्लेख किया और कहा कि संसार की परिस्थिति 'निश्चित या भय से रहित' नहीं है । उसी दिन संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के एक दूसरे अमेरिकन प्रतिनिधि जान फॉस्टर डुलेस ने, जो कई बार डिमोक्रेटिक (लोकतन्त्री) सरकार के सलाहकार रह चुके थे, फिलेडेल्फिया में वैदेशिक नीति सम्बन्धी संघ की बैठक में कहा, "सोवियत् रूस के साथ मिल-जुलकर काम करना बड़ा मुश्किल जान पड़ता है, क्योंकि ऐसा लगता है, कि सोवियत् रूस सहयोग करना नहीं चाहता।"

समाचार पत्रों के स्थायी स्तम्भों के लेखक, टिप्पणीकार, सम्पादक अमरीका और यूरोप तथा अन्य भागों की जनता सम्भावित संकट-ग्रस्त परिस्थिति की आशंका प्रकट करने लगीं। हर-एक यही पूछता, "रूस की बाबत क्या किया जाय ?"

ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री की हैसियत से ५ वर्षों तक महान् परिश्रम करने के उपरान्त चर्चिल, चित्रकार, उन दिनों फ्लोरिडा में विश्राम कर रहे थे । उन्होंने प्रेसीडेण्ट ट्रूमन के साथ एक छोटे से कस्बे फुल्टन, (मिस्स्यूरी) की यात्रा की। व्यग्र संसार उनसे कुछ सुनने के लिए उत्सुक हो उठा। ट्रूमन ने चर्चिल का परिचय कराया और कहा, "मैं जानता हूं कि अपने भाषण में चर्चिल कोई रचनात्मक बात कहेंगे।" उनको यह बात इसलिए मालूम थी क्योंकि वह जानते थे कि चर्चिल का क्या भाषण होगा । और यही बात बायर्नेस को भी मालूम थी।

चर्चिल ने श्रोताओं को सावधान किया, "समय बहुत कम है। रोग

का इलाज करने से यह बेहतर है कि रोग होने ही न दिया जाय।"

उन्होंने आगे कहा, "संयुक्त राष्ट्रों की विजय से अभी-अभी जो प्रकाश फैल उठा था उस पर एक काली छाया पड़ गई है। निकट भविष्य में सोवियत् रूस और उसका कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संगठन क्या करना चाहता है अथवा उसके विस्तार या लोगों को कम्युनिज्म की दीक्षा देने की प्रवृत्ति की कोई सीमा है या नहीं, यह कोई नहीं जानता।"

चर्चिल के ये शब्द बहुत गम्भीर थे। चर्चिल ने कहा—"मेरा यह यकीन नहीं है कि सोवियत् रूस युद्ध चाहता है। वह केवल युद्ध के परिणामों से लाभ उठाने, अपनी शक्ति और अपने सिद्धान्तों का अनिर्दिष्ट विस्तार करने की अभिलाषा रखता है।

चर्चिल ने प्रस्ताव किया, "अंग्रेज़ी भाषा-भाषी जनता का एक संघ स्थापित होना चाहिए। ब्रिटिश कामनवेल्थ, और साम्राज्य तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच विशेष सम्बन्ध स्थापित होने चाहिएं।"

'बिरादराना संघ' की व्याख्या करते हुए चर्चिल ने कहा, "इसके लिए हमारे फौजी सलाहकारों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बने रहने की आवश्यकता है, जिसके फलस्वरूप प्रच्छन्न खतरों का समान रूप से अध्ययन किया जाय, शस्त्र और सैनिक निर्देश के माध्यम एक से हों, और टेकनिकल कालेजों में अफसरों और केडटों का परस्पर आदान-प्रदान हो। इस संगठन के साथ ही पारस्परिक सुरक्षा के लिए प्राप्त हुई मौजूदा सुविधाएं बनी रहें और सारे संसार में किसी भी देश के अधिकार में रहने वाले नौ-सैनिक और हवाई अड्डों का संयुक्त रूप से प्रयोग किया जाय।......हम पहले से ही बहुत से द्वीपों का संयुक्त रूप से उपभोग करते हैं; और निकट भविष्य में हमें इसके लिए और भी द्वीप प्राप्त हो सकते हैं।......इस प्रकार चाहे जो भी हो, हमारे लिए अपने को सुरक्षित रखने का यही एक मात्र उपाय है।..."

चर्चिल का यह प्रस्ताव बहुत कुछ सैनिक-संधि का-सा जान पड़ता है।

स्टालिन ने पत्र-प्रतिनिधियों के साथ हुई एक मुलाकात में—जो कि एक बहुत ही असाधारण-सी बात थी—चर्चिल और उनके प्रस्ताव तथा ब्रिटिश मजदूर-सरकार की बुरी तरह आलोचना की। सोवियत् समाचार-पत्रों ने चर्चिल की रोषपूर्ण आलोचना की। अमेरिका में चर्चिल के भाषण की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया हुई। किसी ने तो उनके इस विश्लेषण को और प्रस्तावित संधि को पसन्द किया, तो दूसरों ने, जिनमें मैं भी शामिल था, यह महसूस किया कि जहां चर्चिल ने वर्तमान समय की ज्वलन्त समस्या की ओर हमारा ध्यान खींचकर

सत्कार्य किया है, वहां उनका यह प्रस्ताव खेदजनक और अपर्याप्त है।

संसार की शान्ति इस बात पर निर्भर करती है कि सभी मज़दूरों को इतनी मज़दूरी पर, जिससे उनका जीवन-निर्वाह हो सके, बराबर काम मिलता रहे। सभी कृषकों को जीविकोपार्जन के लिए भूमि प्राप्त हो, सभी जाति और वर्ग के लोगों को स्वतन्त्रता मिले और सभी देश और उपनिवेश आज़ाद हो जायं। संधियों से ये परिणाम नहीं निकलते।

यह साधारण मानव का युग नहीं है। यह वह युग है जिसमें साधारण मनुष्य लगातार मांगें करने लगा है। अगर उसे पूरा-पूरा काम नहीं मिलता, अगर उसे पूरा-पूरा भोजन, शिक्षा, सुरक्षा और अवसर नहीं मिलता और यदि वह भेद-भाव का शिकार बनने से छुटकारा नहीं पा जाता तो वह समष्टिवादियों का सहज ही शिकार बन सकता है, जो यह सब चीजें प्रदान करने का वचन देते हैं और जो इसके बदले में अपना वादा पूरा करने के पहले ही उसकी आज़ादी छीन लेते हैं। लोकतंत्रवाद को नष्ट कर देनें के लिए कम्यूनिस्ट लोग लोकतंत्रवादी संसार की इन सारी अपूर्णताओं से लाभ उठाएंगे। यत्र-तत्र और विशेषतः दक्षिणी अमेरिका में फाशिस्ट लोग उसी रण-नीति से काम लेंगे।

मास्को के हाथ में एक ऐसा आइना है जो उन लोगों के संकट को, जो उस आइने में देखना पसन्द करते हैं, अक्सर बहुत बढ़ाकर प्रतिबिम्बित करता है। इसके विरुद्ध कोई संधि या शान्ति प्राप्त करने की अन्य दूसरी राजनीतिक व्यवस्था उनके लिए शक्तिहीन है।

चर्चिल का प्रस्ताव उन्नीसवीं सदी का प्रस्ताव है जो शक्ति प्राप्त करने के लिए किया गया है। रूसियों की चुनौती के कुछ पहलुओं का सामना करने के लिए यह पर्याप्त हो सकता है। इससे या तो सोवियत् रूस की सैनिक चाल को रोक दिया जा सकता है या उस स्थिति का मुकाबला करने का यह एक संभावित साधन बन सकता है। लेकिन रूस महज़ एक राष्ट्र नहीं और ना ही वह महज़ पीटर महान् है। वह तो मार्क्स के विकृत और अस्वीकृत रूप द्वारा सज्जित पीटर है। किन्तु फिर भी मार्क्स का यह रूप उन बातों के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक है जो कि अपरिवर्तन की स्थिति में पड़ी रहकर जीर्ण-शीर्ण हो गई हैं।

चर्चिल पीटर के साथ उतने ही कौशल से लड़ सकता है, जितने कौशल से वह हिटलर से भिड़ा है। किन्तु मार्क्स के विरुद्ध लड़ने के लिए उसके पास कोई शस्त्र नहीं है। वास्तव में इसमें संदेह करने का कारण नहीं है कि आज चर्चिल ने हिटलर पर अन्तिम रूप से विजय पा ली है। हिटलर ने भी

सारे संसार को चुनौती दी थी। यदि यूरोप रोग से जर्जरित न हुआ होता तो हिटलर के फ़ौलादी सैन्यदल और उसके गोताखोर बम-वर्षक यूरोप को इतनी शीघ्रता से ध्वस्त न कर सकते थे। इसी प्रकार एशिया के उपनिवेशों--जावा, बर्मा, और चीन की दुखी जनता भी जापानियों के आक्रमण का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक हुई। हिटलर और जापान की अन्तिम पराजय के लिए यह आवश्यक है कि एक अपेक्षाकृत उत्तम संसार और मानव जाति को सांचे में ढाला जाय—उसका निर्माण किया जाय। अगर ऐसा नहीं होता तो हिटलर और जापानी सैनिक महाप्रभुओं का स्थान स्टालिन ग्रहण कर लेंगे।

हिटलर, मुसोलिनी और हिरोहितो ने लोकतंत्रवादी संसार को चुनौती दी थी। हमने उनका सिर कुचल दिया। अब रूस लोकतंत्री सरकारों को चुनौती दे रहा है। लोकतंत्रवाद को दी जाने वाली यह सबसे भारी चुनौती है। यह हमारे लिए सुधार करने या मिट जाने की चुनौती है।

इसमें कोई शक नहीं कि चुनौती दिये जाने वाले राष्ट्र की अपेक्षा चुनौती देने वाले राष्ट्र के लिए सुधार करने की अधिक गुंजाइश है। चुनौती देने वाले राष्ट्र की प्रजा किसी बाहरी राष्ट्र की चुनौती को सुन नहीं सकती, वह फौलादी घेरे के अन्दर बन्द रहती है। चुनौती देने वाला राष्ट्र इसलिए चुनौती नहीं देता कि वह श्रेष्ठ है, बल्कि इसलिए कि हमनें त्रुटियाँ और खामियाँ हैं।

रूस रहे या न रहे लेकिन भारत में लोग भूखों मरेंगे, चीन में असन्तोष होगा, ग्रीस में तनातनी, इटली में प्रजातंत्रवाद और स्पेन में फाशिज़्म-विरोधी भावना फैलेगी ही। सोवियत् सरकार अपने को महज़ समस्त विरोधियों का प्रवक्ता या सरदार बना लेती है। वह उनको संगठित करती और उनका शोषण करती है।

रूस को रोकने के लिए ब्रिटिश-अमेरिकन सैनिक संधि के प्रस्ताव का प्रश्न उठाया जाता है, लेकिन इस प्रकार का प्रस्ताव रूस को अपनी सीमाओं के या अपने क्षेत्र के बाहर असर फैलाने से किस प्रकार रोक सकता है? क्या रूस को इस तरह की कार्रवाई करने से रोक देने का उपाय यही है कि सोवियत् प्रदेश पर हमला किया जाय और सोवियत् सरकार को नष्ट कर दिया जाय? अगर इस तरह का हमला हो तो कितने लाख प्राणों की आहुतियां देनी पड़ेंगी? और यदि हमला सफल भी हो जाय तो क्या लोकतंत्रवाद में जो घुन लग रहा है उसका निराकरण हो जायगा? हो सकता है कि इसका शायद बिलकुल ही विपरीत प्रभाव हो।

चर्चिल इस समस्या पर सैनिक और कूटनीतिक दृष्टिकोण से विचार

करते हैं, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि-कोण से नहीं। लेकिन यह समस्या मुख्यत: सामाजिक, आर्थिक और राजनातिक ही है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विभिन्न देशों की सरकारों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने तक ही सीमित होती थी। यही वैदेशिक नीति कहलाती थी। लेकिन अब एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया है, तिस पर भी बहुत कम सरकारों के विदेशी विभागों ने इस बात को महसूस किया है। कूटनीति जनता की समस्याओं से आच्छादित हो उठी है। अमेरिका या चीन से सम्बन्ध एक मात्र चीन सरकार के प्रधान, उसके विदेश-मंत्री और विदेशी व्यापारियों से ही नहीं रह गया है। इन सबके ऊपर अमेरिका का चीन से सम्बन्ध अनिवार्य रूप में वहां के भूमि-सुधार और औद्योगीकरण से होगा। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस का जर्मनी से सम्बन्ध स्थापित होना इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ पर प्रजातंत्र-वादियों को अपने में मिला लेने और उनको हड़प कर जाने के लिए कम्युनिस्टों के जो प्रयत्न हो रहे हैं उनसे वे अपने को बचा सकते हैं या नहीं? ब्रिटेन से अमेरिका का सम्बन्ध स्थापित होने का प्रश्न समाजवाद, भारत की स्वतंत्रता और माल पर लगने वाली चुंगी पर निर्भर करता है।

यही वजह है कि कूटनीतिज्ञों का अब पहले का-सो कोई खास जामा नहीं रह गया है। कूटनीति को अब अवश्य ही कूटनीतिक 'कार्रवाइयों,' 'स्मरण-पत्रों' 'वार्ताओं' और सरकारी पत्रों के उच्च-शिखर से नीचे उतरकर किसानों की झोंपड़ियों, फैक्टरियों, और राजनीतिक दलों से अपना सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। कूटनीति को अब अवश्य ही मध्य-वर्ग के लोगों की वैराग्य-भावना और करोड़ों मनुष्यों का महत्त्वाकांक्षाओं के सवाल को हल करना होगा। क्योंकि यही सब बातें अनुचित लाभ उठाने के लिए तानाशाही का हौसला बढ़ाने वाली होती हैं।

अमेरिका और ब्रिटेन की विदेशी नीतियां विस्तृत आधार पर अवलम्बित और गहराई तक पहुंचने वाली होनी चाहिएं और उनका सम्बन्ध मानव-जीवन से भी होना चाहिए। केवल तभी वे उस चुनौती का सामना कर सकेंगे जो कि रूस ने उन्हें दी है।

सोवियत् रूस के विस्तार को देखकर संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन की सरकारें अपनी क्षत फौजी-शक्ति को पुन: संगठित करने लगी हैं और जहां कहीं सम्भव हो सका है उनका संगठन इकट्ठा किया जाने लगा है। सोवियत् रूस और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच लगातार तनातनी की स्थिति बनी रहने के फलस्वरूप एंग्लो-अमेरिकन संधि, यदि सन्धि के नाम से नहीं तो व्याव-

हारिक रूप में, अवश्य हो जायगी।

लेकिन यदि ब्रिटेन और अमेरिका इस प्रकार की संधि करके ही रह गए तो वे रूस की चुनौती का सामना न कर सकेंगे। रूस संसार के प्रत्येक देश में फूट पैदा करने की कोशिश करेगा। उस अवस्था में गरीबी और लोकतंत्रवाद की आधार-मूलक समस्याएं हल न होंगी। इसके विपरीत जनता को शस्त्रीकरण के भारी बजट से पिस जाना पड़ेगा और आजादी का दम घुटने लगेगा।

भौगोलिक दृष्टि से यह दुनिया एक है, लेकिन राजनीतिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से यह एक दुनिया एक न रहकर दो दुनिया हो गई हैं। और शायद तीन दुनिया—रूस, इंग्लैंड और अमेरिका और बाकी वह दुनिया जहां इन तीनों राष्ट्रों में संघर्ष होगा।

वैदेशिक और घरेलू कशमकश के वर्तमान युग में यूरोप या एशिया का शायद ही कोई राष्ट्र अकेला रहकर टिक सके। इन सभी देशों में और यहां तक कि उन देशों में भी, जहां पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से सोवियत् रूस का प्रभुत्व कायम हो गया है, दो दुनिया अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रही हैं।

ब्रिटिश अमेरिकन दुनिया में कम्युनिस्ट 'दरारें' आ गई हैं। पश्चिमी दुनिया का प्रवेश रूसियों के उस क्षेत्र में हो गया है, जहां जनता आज़ादी के लिए आतुर हो उठी है और वह उस अनवरत तनातनी की स्थिति से छुटकारा पा जाना चाहती है जो कि किसी एक दल की स्वेच्छाचारिता के रूप में प्रकट होती है।

इन दोनों दुनिया के बीच का मोर्चा एक सीध में नहीं है। कहीं-कहीं पर दोनों एक दूसरे को ढके हुए हैं। फ़्रांस दो दुनिया है। जर्मनी दो दुनिया है। जहां पर स्वास्थ्य तो है पर अधिक शक्ति नहीं है, जैसे स्कैण्डिनेविया का क्षेत्र। वहां पर एक दुनिया के विरुद्ध दूसरी दुनिया को सन्तुलित करने का—दोनों दुनिया से फायदा उठाने का और उनमें भी किसी एक का शिकार न बननें का प्रयत्न किया जायगा।

यह मोर्चा लम्बा है और लड़ाई लम्बी होगी। लड़ाई के क्षेत्र बदलते रहेंगे। बीच-बीच में खामोशी छा जाया करेगी। विराम संधियों पर हस्ताक्षर होंगे। युद्ध-बन्दियों का आदान-प्रदान होगा।

संधियों से काम न चलेगा। पहले महायुद्ध से दूसरे महायुद्ध का मार्ग अनाक्रमणात्मक संधियों, शान्ति-सम्मेलनों, शान्ति बनाये रखने के लिए गम्भीरता

पूर्वक किये जाने वाले वादों और शान्ति से होने वाले लाभों के आकर्षक उल्लेखों से प्रशस्त हुआ था।

युद्ध राष्ट्रों से सम्बन्धित है। और इसलिए स्वभावतः राष्ट्रों के बीच संधियों, समझौतों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और अन्ततोगत्वा विश्व-सरकार के निर्माण द्वारा ही युद्ध का निराकरण हो सकता है।

नाज़ी जर्मनी के मुकाबले में पोलैण्ड की कमजोरी ही युद्ध का तात्कालिक कारण बनी थी। यदि पोलेंड को एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सहायता प्राप्त हुई होती और यदि हिटलर को यह मालूम हो जाता कि अगर उसने पोलैण्ड पर (या अन्य किसी राष्ट्र पर) हमला किया तो वह पोलैण्ड की रक्षा के लिए बढ़ेगा तो संभवतः युद्ध रोका जा सकता था।

लेकिन इस सत्य को स्वीकार करना संसार की परिस्थिति को जरूरत से ज्यादा सरल बना देना है। सच बात तो यह है कि पोलैण्ड को किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की सहायता प्राप्त नहीं थी और उस समय वह इस तरह की कोई सहायता प्राप्त भी नहीं कर सकता था क्योंकि उस समय का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एंग्लो-फ्रेंच गुट और सोवियत् रूस के बीच मतभेद होने और अमेरिका के तटस्थ रहने के कारण शक्तिहीन हो गया था।

पहले की अपेक्षा आज परिस्थिति अच्छी है क्योंकि आज सामूहिक सुरक्षा प्राप्त हो सकती है।

किसी ऐसे क्षेत्र में जहां अमेरिका अपनी शक्ति बढ़ाना चाहे वहां शायद राष्ट्रों का कोई भी गुट उसे रोक नहीं सकता। लेकिन इस बात की सम्भावना नहीं है कि अमेरिका शक्ति-विस्तार के लिए युद्ध करने जायगा। और इंग्लेंड को कोई आक्रमणात्मक कार्रवाई करने से रोका जा सकता है।

यदि प्रत्यक्ष रूप से या एक अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन के जरिये ब्रिटेन और अमेरिका फौरन कार्रवाई करने के लिए कटिबद्ध हो जायं तो रूस को भी, कम-से-कम अगले कुछ वर्षों के लिए रोका जा सकता है। क्योंकि नाजियों को हराने में रूस को जो रक्त बहाना पड़ा है उससे वह कमज़ोर हो गया है। सोवियत् सरकार कोई बड़ी लड़ाई लड़ना नहीं चाहती। और अगर उसे यह मालूम हो जाय कि सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से अन्य बड़े राष्ट्रों के हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप यह लड़ाई भारी युद्ध में बदल जायगी, तो वह (सोवियत् रूस) अपेक्षाकृत छोटी लड़ाई लड़ने से भी बचने की पूरी तौर से कोशिश करेगा।

यदि सोवियत् रूस की प्रादेशिक विस्तार की नीति इस हद तक न पहुंच जाय कि वह असह्य जान पड़ने लगे, तो यह मानी हुई बात है कि अगले

५ या ६ वर्षों के लिए तीनों बड़े राष्ट्रों के सामने वास्तविक समस्या विश्व-व्यापी युद्ध की न होगी; बल्कि वह अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करने के इरादे से बड़े राष्ट्रों द्वारा कमज़ोर राष्ट्रों को हड़प कर लेने, उनमें घुस जाने और उनको दबा दिये जाने की ही होगी। और यही समस्या उन राष्ट्रों को, जो अपने क्षेत्र का विस्तार करने की लालसा नहीं रखते, एक खतरे के रूप में दिखाई देने लगेगी और तब मुमकिन है कि यही राष्ट्रों के बीच प्रथम आणुविक-संघर्ष का कारण बन जाय।

बहुत सम्भव है कि एंग्लो-अमेरिकन सन्धि रूस को किसी दूसरे राष्ट्र पर हमला करने से रोक दे। उस रूस पर यही प्रभाव एक ऐसा संयुक्तराष्ट्र-संघ भी डाल सकता है, जिसके निर्णय को रद्द कर देने का अधिकार किसी राष्ट्र को न प्राप्त हो। लेकिन प्रश्न यह है कि इस प्रकार की सन्धि या संयुक्तराष्ट्र संघ सोवियत् रूस को विदेशी राष्ट्रों के भीतर सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को भंग कर देने से कैसे रोक सकता है ?

अगर कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के मुकाबले में कमज़ोर पड़ता है तो इस स्थिति का मुकाबला सामूहिक सुरक्षा के निमित्त संगठित अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सहयोग द्वारा किया जा सकता है। लेकिन राष्ट्रों की आन्तरिक (घरेलू) राजनीतिक और आर्थिक विकास सम्बन्धी असमानता को, जो एक ओर तो किसी राष्ट्र को अपना विस्तार करने के लिए लालायित करती और दूसरी ओर किसी दूसरे राष्ट्र को इस तरह के विस्तार का मुकाबला करने में असमर्थ बना देती है, शक्ति-प्रयोग द्वारा किसी भी हालत में दूर नहीं किया जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और शान्ति का अन्तिम सूत्र संधियाँ या संगठन नहीं, बल्कि राष्ट्रों की घरेलू नीति और राष्ट्रीय सरकारों का सामाजिक स्वरूप ही है।

मान लीजिए, अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य कई छोटे-छोटे राष्ट्र विश्व-सरकार का संगठन करने के लिए तैयार हो गए और उसके नेतृत्व में रहने लगे, लेकिन रूस ने उसका समर्थन करने से इसलिए इन्कार कर दिया कि वह किसी पूंजीवादी सरकार का अंग बनना नहीं चाहता या उसने यह सोचा कि अगर वह इस तरह की सरकार में शामिल होता है तो उसे उस सरकार में बहुमत के सामने बुरी तरह नीचा देखना पड़ेगा, तो उस हालत में क्या किया जा सकता है ?

ग़ैर-सोवियत् राष्ट्रों के विश्व-सरकार में शामिल होने के लिए तैयार होते ही (और यह बात जितनी जल्दी हो उतनी ही अच्छी होगी) उन्हें करना

यह चाहिए कि वे फौरन रूस को इस बात पर राजी करने की पूरी तौर से कोशिश करें कि विश्व-सरकार के संगठन के कार्य में वह भी हाथ बटाए, और इसके साथ-ही-साथ इस बात का भी प्रयत्न होना चाहिए कि इस विश्व-सरकार के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र को स्वेच्छानुसार अपना व्यक्तित्व प्रकट करने के लिए विस्तृत रूप से स्वतन्त्रता दी जाय। अगर सोवियत् रूस विश्व-सरकार में शामिल न होकर उससे अलग रहना ही पसन्द करे तो उस पर कोई जोर या दबाव न डाला जाय या इसके लिए उसे दण्ड देनें की कोई कार्रवाई न की जाय। ग़ैर सोवियत् राष्ट्र उस हालत में विश्व-सरकार के केवल ४/५ भाग को ही संगठित करें; पर साथ ही रूस के लिए उसका दरवाजा बराबर खुला रख छोड़ें।

सम्भव है कि कुछ लोग फिलहाल इस तरह की विश्व-सरकार का संगठम हो जाने के विरुद्ध राय दें और यह दलील पेश कर कि अगर अभी ऐसा हुआ तो सोवियत् रूस तथा संसार के अन्य राष्ट्रों के बीच एक खाई खुद जायगी। लेकिन विश्व-सरकार संगठित न करने से भी तो यह खाई दूर नहीं हो सकती। बल्कि यह तो सिर्फ उस खाई पर परदा डालना ही होगा। क्योंकि उनके बीच यह खाई पहले से ही मौजूद है। यदि यह दुनिया एक ही दुनिया होती तो उसकी घोषणा खुशी के साथ कर सकते थे। लेकिन चूंकि दो दुनिया हैं इसलिए हमारे लिए यही बेहतर होगा कि हम इस असलियत को स्वीकार कर लें।

यदि उस समय तक, जब तक कि रूस उसमें शामिल नहीं होता, विश्व-सरकार संगठित करने से इन्कार किया जाता है तो इसका मतलब यही होगा कि रूस को ग़ैर-सोवियत् राष्ट्रों में असीम काल तक फूट पैदा करने दिया जाय जिससे कि वे रूसियों के दबाव का विरोध न कर सकें। ऐसी हालत में जबकि एक दुनिया दूसरी दुनिया की जड़ खोद रही हो और इसके साथ-ही-साथ स्वयं अपने प्रभाव-क्षेत्र को सुदृढ़ बनाती और उसका विस्तार करती जा रही हो, उस हालत में बजाय इसके कि लोकतंत्रवादी एकता की भ्रान्त धारणा की—इस तरह की भ्रान्त धारणा बोलशेविकों में नहीं है——'दोनों दुनिया' के लिए यह कहीं बेहतर होगा कि वे आपस के इस विभेद को स्वीकार कर लें।

काश, एक ही दुनिया होती——एक शानदार दुनिया। लेकिन आंखें बंद कर लेनें से ही तो ऐसा नहीं हो जाता। एक ही दुनिया——यह एक महान् लक्ष्य है। और विल्की——जिसनें मानव जाति को यह नारा दिया—एक महान् पुरुष थे। लेकिन वास्तव में यह दुनिया एक ही दुनिया नहीं है।

संसार को दो भागों में बांट देने पर उन दोनों भागों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने की सम्भावना नहीं हो, सकती-–ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्यापार, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान और यात्राएं-–यह सब बातें सफलतापूर्वक चलाई जा सकती हैं। दो देशों के बीच की प्रतिद्वन्द्विता बहुत लम्बे समय तक अहिंसात्मक बनी रह सकती है।

इस प्रतिद्वन्द्विता का क्या स्वरूप है? क्या यह सच है कि दुनिया आधी गुलाम और आधी आज़ाद नहीं रह सकती? क्या यह सच है कि बोलशेविक नेताओं को डर है कि अगर संसार को वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्त हो गई तो उस हालत में सोवियत्-सरकार—जिसने स्वयं एक बहुत बड़े पूंजीवाद का रूप धारण कर लिया है—का यह अात्याचार अनिश्चित काल तक टिका न रह सकेगा? क्या यह सच है कि संसार के पूंजीवादी राष्ट्रों को भय है कि मास्को से आदेश प्राप्त करने वाले कम्युनिस्ट और आमूल परिवर्तनवादी उनका खात्मा कर देंगे?

इस प्रतिद्वन्द्विता का चाहे जो भी कारण हो और चाहे वह जितने भी समय तक और चाहे जितनी भी गम्भीरता के साथ चलती रहे, इसका मुकाबला पूंजीवादी राष्ट्र केवल एक ही नीति द्वारा कर सकते हैं। अर्थात् वे खुद रहने के लिए अपने घर को पहले से आकर्षक और आरामदेह बनाएं। अगर वे यह कहते हैं—'हम इस घर में कई पुश्त से रह रहे हैं। यह घर हमारे बाप-दादों को पसन्द था, इसलिए हमारे लड़के-लड़कियों, हमारे मेहमानों और हमारे नौकरों को भी इसे पसन्द करना पड़ेगा,' तो उनके नौकर उस घर को त्याग देंगे, उनकी नई सन्तानें उस घर को छोड़कर चल देंगी।

यदि रूढ़िवादियों, प्रतिक्रियावादियों और मौजूदा स्थिति को ज्यों-की-त्यों बनी रहने देने के समर्थकों की, जो कि घर में कोई मरम्मत, आधुनिक ढंग से सुधार, और नई बातों का विरोध करते हैं, जीत हुई तो नई सन्तानें उस घर में टिक न सकेंगी, वे अपने रहने के लिए किसी दूसरे घर की तलाश करने निकलेंगी।

धुरी-राष्ट्रों के शिकार बनने वाले राष्ट्रों की कमज़ोरी और हमला होने पर उनकी सहायता करने के प्रति शान्तिप्रिय राष्ट्रों की उदासीनता-–इन्हीं दो बातों से धुरी-राष्ट्र आक्रमण, युद्ध और संहार करने के लिए प्रोत्साहित हुए थे।

सोवियत् सरकार का ख्याल है कि जहां अन्य राष्ट्रों को असफलता मिली वहां उसे सफलता मिल सकती है। क्योंकि वह पूंजीवादी राष्ट्रों की एक दूसरी कमज़ोरी से लाभ उठा सकती है। और वह कमज़ोरी है अन्य राष्ट्रों

द्वारा सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक समस्याओं का निराकरण न करना।

यदि रूस चीन, भूमध्यसागर, उत्तरी अफ्रीका, ट्रीस्ट, ग्रीस और अपने कम्युनिस्ट दलों के जरिए प्रत्येक पूंजीवादी राष्ट्र तक पहुंचता है, तो उसका यह प्रसार न केवल साम्राज्यवादी गर्व से बल्कि सैद्धान्तिक विश्वास से भी अनुप्राणित है। सोवियत् रूस का यह भारी आक्रमण कमजोर राष्ट्रों की अरक्षित अवस्था, बड़े देशों की तुष्टीकरण की भावना और इन सबसे बढ़कर स्वतः सोवियत् राष्ट्र के भीतर फैली हुई अशान्ति और असन्तोष से शान्ति प्राप्त करता है। किसी राष्ट्र के आक्रमणकारी बनने का कारण भी वही है जो किसी व्यक्ति के आक्रमणकारी बनने का—अर्थात् भीतर से मानसिक गुत्थियां और बाहर से उपयुक्त लक्ष्य और अक्सर इसके लिए इन दोनों कारणों में से केवल एक ही आक्रमण के लिए पर्याप्त होता है।

लोकतंत्रवादी राष्ट्र अपना माल दूसरे देशों में भेजते हैं और वे अपने विचार भी दूसरे देशों में पहुंचाने के लिए तैयार हैं। वे तानाशाही से आजादी को पसन्द करते हैं। बहुत से प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों को यकीन हो गया है कि पूंजीवाद सर्वोत्तम है। लेकिन लोकतंत्रवादी राष्ट्र लम्बे अरसे से निष्क्रिय नहीं बन रहे हैं। शायद उन्हें अपने में विश्वास नहीं रह गया है। शायद वे अपने विचारों को बलपूर्वक दूसरों पर लादने में विश्वास नहीं करते। वे वास्तव में अपने पूंजीवाद को समाजवाद में मिला रहे हैं, जिससे प्रकट होता है कि वे किसी दूसरी बात को आज़माने के लिए उद्यत हैं।

दूसरी ओर बोलशेविकों को यकीन हो गया है कि उन्होंने जिस रास्ते को अख्तियार किया है वह ठीक है और उनकी प्रणाली सर्वोत्तम है। उन्होंने इस बात को साबित नहीं किया है, लेकिन बड़े जोर-शोर से यह दावा करते हैं।

स्टालिन के आदर्शवादी आक्रमण का सूत्रपात इस निश्चय की भावना से हुआ है कि वह इसमें विजय प्राप्त कर सकता है।

स्टालिन का यह विश्वास उन गड्ढ़ों के भीतर के रक्षकों की, जिन पर वह हमला करने की आशा रखता है, बेवकूफी से और भी दृढ़ बन गया है। वे अपने किले की चहार-दीवारी में कुछ और ईंटें जोड़ देते हैं और रक्षा के लिए उसके चारों तरफ तैयार की गई खाई को और चौड़ी बना देते हैं। स्टालिन यह देखकर मुसकराने लगता है वह सोचते हैं—'इस किले की चहार-दीवारी के भीतर हमारे बहुत से मित्र हैं। चर्चिल जैसे व्यक्तियों के कारण हर रोज़ हमारे नए-नए दोस्त बनते जा रहे हैं। इस के भीतर रहने वाले दूसरे लोग या तो आक्रमण का मुकाबला करने से

अत्यधिक उदासीन या ऊबे हुए या इतने शक्ति-क्षीण हो रहे हैं कि वे लड़ ही नहीं सकते।'

संधि-प्रस्ताव को सुनकर मास्को को गुस्सा आता है। 'ठोस वार्ता' के साथ ठोस कार्य ही सोवियत् सरकार को प्रभावित कर सकता है। लेकिन जब अमेरिका और ब्रिटेन सारे संसार में स्वातंत्र्य आन्दोलनों और सामाजिक लोक-सत्ता का समर्थन करने लगेंगे तभी स्टालिन को विश्वास होगा कि अब हम यह समझ गए हैं कि उसके क्या इरादे हैं और अब हम रचनात्मक और प्रगतिशील कार्रवाइयाँ करने और उसके आक्रमण को रोक देने के लिए तैयार हो गए हैं।

चर्चिल के एंग्लो-अमेरिकन समझौते के प्रस्ताव की अपेक्षा ब्रिटिश मज़दूर-सरकार की एशिया के उपनिवेशों की आज़ादी की योजनाओं से सोवियत् सरकार को अधिक घबराहट होती है। पश्चिमी राष्ट्र निकट-पूर्व के सामन्तशाही नरेशों का समर्थन करना बन्द करके वहां के ग़रीब किसानों का समर्थन करने लग जायं और तब मास्को को मालूम हो जायगा कि दरअसल कोई महत्त्वपूर्ण बात हुई है। चीन की संघ सरकार अपने यहां भूमि-सुधार करे और तब स्टालिन कहने लगेगा—"वह चीन में एकता स्थापित कर रही है और मुझे चीन से खदेड़ रही है।" गोरी जाति के लोग इस बात का निर्विवाद प्रमाण देना चाहते हैं कि उन्होंने काली जातियों के प्रति एक नया और सम्मानपूर्ण रुख धारण किया है, और तब मास्को को महसूस होने लगेगा कि उसे लाखों शक्तिशाली राजनीतिक रंगरूटों से हाथ धोना पड़ रहा है। लोकतंत्रवादी राष्ट्रों को यहूदी विरोधी आन्दोलन का विरोध करना चाहिए और तभी समीक्षक इस निर्णय पर पहुंचेंगे कि लोकतंत्रवादी राष्ट्र फाशिस्ट-विरोधी हैं। इंग्लैंड और अमेरिका यूरोप में सामाजिक परिवर्तनकारी शक्तियों से मैत्री स्थापित कर लें, तो यूरोप यह देखेगा कि उसमें साम्राज्यवादी स्लाव कम्युनिस्ट से लड़ने की ताकत आगई है। अंग्रेज़ और अमेरिकन फाशिस्टों, पादरी प्रतिक्रियावादियों, सत्तावादियों, आर्थिक सत्तावादियों और सैनिकवादियों से नफरत करने लग जायं, तो वह देखेंगे कि लाखों की तादाद में स्वतंत्रता के पुजारी एंग्लो-अमेरिकन झंडे के नीचे आजाते हैं। इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस, हालैंड और पुर्तगाल प्रादेशिक तेल सम्बन्धी और व्यापारिक साम्राज्यवाद को त्याग दें, उन्हें किसी अन्य साम्राज्यवाद का मार्ग अवरुद्ध कर देने की एक नई नैतिक शान्ति प्राप्त हो जायगी। पश्चिमी राष्ट्र कमजोर देशों के मामले में जबरदस्ती दखल देना बन्द कर दें, फिर उन्हें सोवियत् रूस के हस्तक्षेप को रोक देने का सुअवसर प्राप्त हो जायगा। पूर्वी उपनिवेशों के प्रवक्ता न केवल

बाहरी संरक्षण से आजादी के लिए, बल्कि भीतर से सामाजिक न्याय के लिए जिहाद शुरू करें। तब वे पूर्ण स्वतंत्र होने की आशा कर सकते हैं।

यही वे अस्त्र हैं जिनसे लोकतंत्री राष्ट्रों पर होने वाले रूसी हमले को रोका जा सकता है। यह रूस के साथ सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्विता है। रूस से लड़ने के बजाय यही एक दूसरा तरीका है। अगर लोकतंत्रवादी राष्ट्र इसमें विजयी हुए तो युद्ध न होगा—संसार में कभी युद्ध न छिड़ेगा। संसार में एक विश्व-सरकार कायम होगी जिसमें अन्ततोगत्वा रूस भी शामिल हो जायगा। लेकिन अगर रूस की जीत हुई तो लोकतन्त्रवाद का नाम-निशान न रह जायगा।

इसमें शक नहीं कुछ लोग कहेंगे कि रूस के साथ यह सैद्धान्तिक प्रतिद्विन्द्वता का प्रस्ताव "सोवियत् विरोधी" है, और वह रूस तथा संसार के बाकी राष्ट्रों के बीच खाई उत्पन्न कर देगा और युद्ध को अनिवार्य बना देगा। लेकिन मैं इससे बिलकुल विपरीत बात को सच समझता हूं। इस समय सोवियत् रूस ग़ैर-सोवियत् राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त प्रादेशिक सैद्धान्तिक आक्रमण आरम्भ करने में व्यस्त है। उसे न रोकने का मतलब रूस को उस हद तक अपना विस्तार करने में सहायता पहुंचानी होगी, जहां पर दोनों पश्चिमी राष्ट्रों चौंककर बल-प्रयोग द्वारा रूस को आगे बढ़ने से रोक देना होगा।

रूसी समस्या सुलझाने के तीन उपाय हैं—(१) रूस से अभी लड़ा जाय। मैं उसका जोरदार विरोध करता हूं। (२) रूस को तुष्ट किया जाय। तुष्टीकरण में हमेशा यह बात शामिल रहती है कि आप जो कुछ कर रहे हैं वह तुष्टीकरण नहीं बल्कि रूस से मैत्री बनाये रखने का यही एक मात्र उपाय है। मैं इसे अस्वीकार करता हूं क्योंकि इससे बहुत से देशों की स्वतन्त्रता मिट जायगी और इसका परिणाम युद्ध होगा। (३) रूस के प्रादेशिक विस्तार को एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा और उसके मार्ग में पड़ने वाले देशों में सन्तोष और एकता की भावना को बढ़ाकर सोवियत् रूस के विस्तार को रोक दिया जाय। मैं इसका अनुमोदन करता हूं। इसका विरोध वही लोग करेंगे जो रूस के विस्तार को रोकना नहीं चाहते।

रूस के साथ सैद्धान्तिक जागरूक प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित वैदेशिक नीति से संसार में शान्ति स्थापित होने की सम्भावना बढ़ेगी, उदारवादियों के बीच तानाशाही विचार-धारा का समावेश होना रुक जायगा, लोकतंत्रवाद की सुरक्षा होगी, रहन-सहन का मान बढ़ेगा और स्वतंत्र संसार का नैतिक विकास

होगा, जिसकी बड़ी आवश्यकता है। रूस से सैद्धान्तिक प्रतिद्वन्द्विता के बचाव का दूसरा उपाय यही है कि रूस से अपनी पराजय पूरी तौर से स्वीकार कर ली जाय।

लेकिन वैदेशिक नीति किसी विदेश मंत्री की सनक या मनमानी योजना नहीं है। स्वत: अपने घर में अमेरिका का जो रूप है, उसी के अनुसार वह विदेशों में भी आचरण करता है। यही बात इंग्लैंड तथा अन्य राष्ट्रों के बारे में भी सच साबित होती है।

"क्या हमारे नेता इतने महान् तथा बुद्धिमान् हैं कि वे एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील नीति कार्यान्वित कर सकें?" यह प्रश्न बहुत से नागरिकों को परेशान करता रहता है। इसका उत्तर यही है कि एक लोकतंत्रवादी राष्ट्र के नेता अनिवार्यत: अपने देश की जनता से, जिनका वे नेतृत्व करते हैं, बहुत बड़े नहीं होते और न वे जनता की अपेक्षा बहुत तेजी के साथ कदम ही बढ़ा सकते हैं।

उन सभाओं में जिनमें मैं इस बात का आग्रह करता हूं कि संयुक्तराष्ट्र-संघ के अन्तर्गत राष्ट्रों के विशेषाधिकार को उड़ा देना चाहिए, अथवा मज़दूर विरोधी कानून को रद्द कर देना चाहिए, मुझसे पूछा गया है, "क्या हमें अपने कांग्रेस-सदस्यों के पास तार भेजने चाहिएं?" मैं कहता हूं, "अवश्य, आप अपने कांग्रेस-सदस्यों के पास तार भेजें। लेकिन दूसरी बार कांग्रेस के लिए ऐसे प्रतिनिधि चुनें जिन्हें तार देने की ज़रूरत ही न हो।"

वैदेशिक नीति और प्रत्येक नीति निर्धारित करने वाले स्त्री-पुरुष, वे व्यक्ति हैं जो व्यवस्थापिका सभाओं में और सरकारी दफ़्तरों में बैठते हैं। उनका चुनाव होता है अथवा उन्हें उन लोगों की इच्छा, दबाव और दलीलों को स्वीकार करना पड़ता है जो जनता द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार वैदेशिक नीति वोट पड़ने के बक्स से निर्धारित होती है, वैदेशिक नीति तथा शान्ति उस प्रत्येक नगर और गांव में निर्मित होती है जहाँ निर्वाचक लोग स्वतन्त्रता पूर्वक और ईमानदारी के साथ वोट देने जाते हैं।

दान अथवा प्रत्येक सद्गुण की भांति शान्ति सबसे पहले अपने घर से ही शुरू होती है। साधारण जनता संसार के सारे देशों की साधारण जनता की हित-कामना करती है। औसत आदमी शान्ति के लिए बहुत कुछ त्याग करेगा। वह माल पर चुंगी वसूल करने की इच्छा रखने वाले कारपोरेशनों, और सुविधाएं प्राप्त करने की इच्छा रखने वाली समितियों के हितों के मुकाबले में शान्ति को बहुत ऊंची दृष्टि से देखता है। सामान्य रूप से साधारण जनता न

तो सैनिकवादी है, न साम्राज्यवादी।

लेकिन साधारण जनता की मनोभावनाओं, विचारों और हितों की देश के राजनीतिक जीवन में पूरी-पूरी झलक देखने को नहीं मिलती। सुधारक, आदर्शवादी, पादरी नेता, सामाजिक कार्यकर्त्ता, अन्तर्राष्ट्रवादी, महिला निर्वाचकों के संघ, ट्रेड यूनियन तथा विभिन्न प्रकार के सदुद्दश्यों को लेकर स्थापित की गईं अनेकानेक सुधार-समितियां लगातार राजनीतिज्ञों के ही पीछे-पीछे लगी रहती हैं। क्या यह अच्छा न होता कि वे स्वयं राजनीति में पदार्पण करतीं? लोकतन्त्रवादी देशों के सार्वजनिक जीवन में अधिकतर नैराश्य का कारण वह खाई होती है, जो दो बातों के बीच पाई जाती है कि बहुत से लोग क्या चाहते या क्या लक्ष्य रखते और उसकी प्राप्ति के लिए वे क्या प्रयत्न करते हैं।

राजनीति को एक 'खेल' समझा जाता था। राजनीति उन लोगों से वास्ता रखती थी जो सड़कें साफ कराते, कूड़ा-कर्कट जमा कराते और पुलिस इन्स्पेक्टर को नियुक्त करते थे। लेकिन अब राजनीति जीवन का ताना-बाना बन गई है। अब वह इसका फैसला करने वाली ह कि बमों से मर मिटने के बजाय मानव जाति का सन्तुष्ट, बेकारी से मुक्त, सुखी और जीवित रहना है।

अपेक्षाकृत एक उत्तम संसार के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि संसार की जनता न केवल अवसर आने पर वोट देकर बल्कि उस चुनाव के लिए प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार भी खड़ा करके अपने देश के राजनीतिक मामलों में पहले से अधिक सक्रियता पूर्वक भाग ले। यह कार्य दल के कार्यकर्त्ताओं और पेशेवर संरक्षकों के ऊपर हर्गिज न छोड़ना चाहिए।

औसत नागरिक युद्ध या शान्ति के लिए, आज़ादी या तानाशाही के लिए, अमीरी या ग़रीबी के लिए कुछ-न-कुछ करना हा चाहता है। वह उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और खपत के रूप में कुछ न-कुछ करता हा है। अपने व्यक्तिगत आचरण द्वारा वह कुछ सहायता ही पहुंचाता है। लेकिन अब उसे राजनीतिक इकाई के रूप में इससे कुछ और अधिक करना पड़ेगा।

जिन लोगों को इस बात का पूर्वाभास मिल गया था कि एक महान् नई दुनिया (अमेरिका) का अभ्युदय होने वाला है वह अपने नौजवानों को वहां जाने और लाभ उठाने की नेक सलाह देते थे। इसी प्रकार आज प्रत्येक युवक-युवती और प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों के लिए जो एक नए, महान् और स्वतंत्र संसार के निर्माण का स्वप्न देखते हैं, यही नारा होना चाहिए कि 'राजनीति को अपनाओ—उसे ग्रहण करो।'

अपेक्षाकृत उत्तम अमेरिका, उत्तम इंग्लेंड, उत्तम फ्रांस, उत्तम जर्मनी,

उत्तम रूस, उत्तम भारत को अपेक्षाकृत उत्तम संसार के निर्माण के लिए पारस्परिक सहयोग द्वारा कार्य करना होगा। आज ादी और शान्ति की समस्या किसी करामात से—जादू से—हल नहीं की जा सकती। इसके लिए प्रत्येक परिवार, प्रत्येक जाति, प्रत्येक राज्य और प्रत्येक राष्ट्र में खून का पसीना बनाने की जरूरत है।

अपेक्षाकृत उत्तम संसारमें सभी आज़ाद होंगे, अपने विकास के लिए सभी को अवसर प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त बेकारी के जुए से मुक्ति, अन्तर्वेदना से पूरित भेदभाव से छुटकारा, अभाव की पीड़ा से आज़ादी; अरक्षा और भय से स्वतंत्रता, अत्यधिक शासन-नियंत्रण और अत्यधिक सम्पति के प्रपीड़न से मुक्ति, और काबू में न लाए जा सकनेवाले राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभुओं से छुटकारा मिल जायगा। और तब हर-एक को कुछ सीखने का, कुछ बढ़ने का और अन्यों की सेवा करते हुए अपनेपन को जान लेने का अवसर प्राप्त होगा। इस प्रकार की दुनिया में मानव और मानवों में जो शांति होगी, वही राष्ट्रों की शांति होगी।